प्रकाशकीय

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान के १०वे पुष्प के रूप में गणधरवाद का प्रकाशन प्रस्तुत करते हुये हमे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

जैन दार्शनिक जगत् मे आचार्य जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण रचित विशेषावश्यक महाभाष्य एक अद्वितीय अतिगहन दार्शनिक ग्रन्थ है। गणधरवाद, इस ग्रन्थ का एक अध्याय-प्रकरण है जिसमें विश्व के प्रमुख दार्शनिक प्रश्नों— जीव का अस्तित्व, कर्मवाद, जीव-शरीर अभिन्नवाद, पच भूतवाद, पूर्वजन्म पुनर्जन्म का अस्तित्व, पुण्य-पाप का अस्तित्व, देव-नारक का अस्तित्व और बन्ध-मोक्ष का अस्तित्व आदि का सागोपांग विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण की प्रमुख विशेषता यह है कि वैदिक विचारधारा की पृष्ठ भूमि में ही पूर्वोक्त वाद-विषयों का युक्तिसगत निरूपण करते हुए इनका अस्तित्व सिद्ध किया गया है।

आचार्य जिनभद्र ने अपने इस गणधरवाद नामक प्रकरण मे श्रमण भगवान् महावीर और उनके शासन के प्रमुख सचालक ग्यारह गणधरो—इद्रभूति गौतम, अग्निभूति गौतम, वायुभूति गौतम, व्यक्त भारद्वाज, सुधर्म अग्निवैश्यायन, मण्डिक वशिष्ठ, मौर्यपुत्र काश्यप, अकम्पित गौतम, अचलभ्राता हरित, मेतार्य कौण्डिन्य और प्रभास कौण्डिन्य को जो पूर्व मे वेद-विद्या के पारगत एव कर्मकाण्ड के धुरन्धर विद्वान् थे उनके साथ शका-समाधान, वाद-विवाद, शास्त्रार्थ करते हुये उनकी शकाओ का निरसन कर उन्हे अपने शि य बनाये।

इस ग्रन्थ पर वि० स० ११७५ मे चालुक्यवशी गुर्जरेन्द्र सिद्धराज जयसिंह द्वारा सपूजित एवं सम्मानित मलधारगच्छीय श्री हेमचन्दाचार्य ने २८००० श्लोक परिमाण मे प्राञ्जल भाषा मे विशद टीका का निर्माण किया था।

विशेषावश्यक ग्रन्थ गत गणधरवाद और उसको अभयदेवीय टीका का सवादात्मक शैली मे गुजराती अनुवाद जैन दर्शन के अप्रतिम विद्वान् प० दलसुखभाई मालवणिया ने सन् १९५२ मे किया था जो गुजरात विद्या-सभा, अहमदाबाद द्वारा सन् १९५२ मे गणधरवाद के नाम से प्रकाशित किया गया था।

श्री मालवणिया जी ने इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका में गणधरवाद मे चर्चित तात्त्विक पदार्थों का उद्गम और क्रमिक विकास का वैदिक काल से लेकर समस्त भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं के अभिमत के आलोक मे सप्रमाण जो दार्शनिक और शास्त्रीय इतिहास समीक्षात्मक अध्ययन के रूप मे प्रस्तुत किया है, वह वस्तुत अनुपम है और तज्ज्ञ विद्वानो के लिये एक स्वच्छतम निर्मल आदर्श-दर्पण है।

दो वर्ष पूर्व राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान की ओर से जैन जगत् के उद्भट दार्शनिक विद्वान् श्री दलसुख भाई मालवणिया से अनुरोध किया गया था कि आपके द्वारा लिखित, अनुदित या सम्पादित कोई ग्रन्थ प्राकृत भारती को प्रकाशनार्थ प्रदान करें तो संस्थान को अतीव हार्दिक प्रसन्नता होगी। तत्क्षण ही श्री मालवणिया जी ने अनुरोध को सहजभाव से सहर्ष स्वीकार करते हुये कहा कि गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद जो मैंने कुछ वर्षो पूर्व प्रो० पृथ्वीराज जैन से करवाया था उसे भेट स्वरूप ले जाइये और श्री महोपाध्याय विनयसागरजी से संशोधन करवा कर प्रकाशित कर दीजिये।

श्री मालवणिया जी ने नैसर्गिक भाव से गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद प्रकाशनार्थ प्रदान किया अतएव हम उनके हृदय से आभारी हैं।

प्रो० पृथ्वीराज जैन एम. ए. (जिनका गत वर्ष ही स्वर्गवास हो गया हैं) ने इस अतिगहन दार्शनिक ग्रन्थ का जिस सूझ-बूझ और परिष्कृत शैली में हिन्दी का अनुवाद कर साहित्य जगत् को कृति प्रदान की है, उसके लिये भी सस्थान की ओर से उनके हम कृतज्ञ हैं।

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान के संयुक्त सचिव एव प्रमुख विद्वान् महोपाध्याय श्री विनयसागर जी ने प्रस्तुत अनुवाद का सशोधन एव इसका सम्पादन जिस निष्ठा से किया और सह सम्पादक के रूप में श्री ओंकारलाल जी मेनारिया ने इस संशोधन आदि मे जो सहयोग प्रदान किया उसके लिये भी ये दोनो साधुवाद के पात्र हैं।

श्री जितेन्द्र सघी, अजन्ता प्रिन्टर्स जयपुर भी इस पुस्तक के मुद्रण के लिये धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में पाठको से अनुरोध है कि दृष्टिदोष अथवा प्रेस की असावधानी मे जो भी अशुद्धियाँ या त्रुटियाँ रह गई हैं उसे क्षन्तव्य समझें।

उमरावमल ढड्ढा	**राजरूप टाँक**
अध्यक्ष	अध्यक्ष
टीकमचन्द हीरावत	**देवेन्द्रराज मेहता**
सचिव	सचिव
सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

प्रथमावृत्ति में लेखक का निवेदन

विशेषावश्यक भाष्य महाग्रन्थ जब से पढने मे आया तब से उसके अनुवाद और विवेचन की जो भावना मन मे सग्रहीत कर रखी थी उसकी आंशिक पूर्ति इस गणधरवाद से होती है। इससे एक प्रकार का आनन्द होता है किन्तु कार्य त्वरित गति से करना था अतएव टिप्पणियो मे विस्तार की आवश्यकता होने पर भी नही कर सका, यह कमी मन को कचोटती भी है। अनुवाद की सवादात्मक शैली मुझे भाई फतेचन्द बेलाणी का खरडा बांचने से रुचिकर प्रतीत हुई। सवादात्मक शैली मे प्रो० चिरवात्स्की कृत कितने ही दार्शनिक ग्रन्थो के अग्रेजी अनुवाद भी देखने मे आये थे और इस शैली मे दार्शनिक ग्रन्थो के अनुवाद पठनीय बनते हैं ऐसा अनुभव भी किया था, इसलिये इसमे मैंने इसी शैली का आश्रय लिया है। इस ग्रन्थ का कार्य पूज्य पण्डित श्री सुखलालजी की प्रेरणा से मैंने स्वीकार किया था और प्रकाशन से पूर्व उन्होने एक-एक अक्षर पढकर करने योग्य सशोधन भी किये हैं तथा जहाँ पुनर्लेखन आवश्यक था वहाँ उनकी सूचना के अनुसार मैंने वैसा भी किया है। ऐसा करके मै मोटे रूप मे उनको आशिक सन्तोष दे सका हूँ। पूज्य पण्डितजी ने इस कार्य मे जो स्वाभाविक रस लिया है, उसके लिये धन्यवाद के दो शब्द पर्याप्त नही हैं। वस्तुत यह कार्य उन्ही का हो और मैं उनके कार्य मे हाथ बटा रहा हूँ ऐसा अनुभव मैंने निरन्तर किया है। इसलिये इस कृति को मैं मेरी न मान कर, उनकी ही कृति मान लेता हूँ तब उनको धन्यवाद देने का अधिकारी मैं कैसे हो सकता हूँ? सहजस्नेही भाई रतिलाल दीपचन्द देसाई ने इस कृति के प्रथमादर्श को आद्यन्त पढकर पण्डितजी को सुनाया ही नही, अपितु सुधारने योग्य सूचनायें भी प्रदान की, एतदर्थ यहाँ उनको धन्यवाद देना आवश्यक है।

यह कार्य मेरे सिर पर आ पडने मे निमित्त रूप श्री फतेचन्द बेलाणी भी हैं, इसलिए उनका भी यहाँ आभार मानता हूँ। उन्ही के अनुवाद का कच्चा खरडा मेरे सामने था, अतएव इस अनुवाद को सवादात्मक शैली मे करने की तात्कालिक सूझ के लिये भी मै उनका आभारी हूँ। इस ग्रन्थ के समस्त प्रूफ सशोधन का नीरस कार्य मान्यवर श्री के० का० शास्त्री ने सप्रेम किया है और ग्रन्थ की बाह्य सज्जा मे जो कुछ भी सौष्ठव है वह उन्ही की बदौलत है, अतएव उनका विशेष आभार मानना भी मेरा कर्त्तव्य है। अनुवाद का मुद्रण होने के पश्चात् प्रस्तावना आदि अन्य सामग्री मे पाँच-छह मास के विलम्ब को निभाने वाले और ग्रन्थ को सुन्दर बनाने की प्रेरणा देने वाले मान्यवर रसिकलाल भाई परीख, अध्यक्ष भो० जे० सशोधन विद्याभवन का विशेष रूप से ऋणी हूँ। पूज्यपाद मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने स्वय के लिये करवाई

हुई विशेषावश्यक भाष्य की प्रतिलिपि मुझे पाठान्तर लेने हेतु प्रदान की और प्रस्तावना पढकर उन्होंने वृद्धिपत्र की सूचना दी, एतदर्थ मैं उनका भी ऋणी हूँ। अन्त मे सेठ श्री भोलाभाई दलाल और श्री प्रेमचन्द भाई कोटा वालो की रुचि ही इस ग्रन्थ को प्रस्तुत रूप मे निर्माण करने मे निमित्त बनी है, अत उनका भी आभार मानता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाठको और विवेचको के समक्ष उपस्थित है। अब इसमे जो कोई दोष या त्रुटि हो उसका शोधन करने का कार्य उनका है। ऐसे ग्रन्थो की द्वितीयावृत्ति भाग्य से ही प्रकाशित होती है, तब भी सुयोग मिला तो उचित सशोधन करने का लाभ अवश्य लूगा।

—दलसुख मालवणिया

बनारस
30.8.52

गणधरवाद की हिन्दी आवृत्ति के अवसर पर

प्रस्तुत गणधरवाद गुजराती मे कई वर्षों से उपलब्ध नही है। इसके दूसरे संस्करण के लिये प्रकाशन-संस्थाओ से निवेदन एव प्रयत्न करने पर भी इसकी द्वितीयावृत्ति प्रकाशित नही हो सकी। ऐसी स्थिति मे यह हिन्दी सस्करण प्रकाशित हो रहा है, अतः मैं संतोष एव आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ।

प्रो० पृथ्वीराज जैन एम. ए. ने मनोयोग पूर्वक कई वर्षों पूर्व इसका गुजराती से हिन्दी मे अनुवाद किया था। वे आज अपने इस अनुवाद को प्रकाशित रूप मे देखकर आनन्दित होते, किन्तु खेद है कि उनका गत वर्ष ही स्वर्गवास हो गया। मैं उनका ऋणी हूँ।

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर के सचिव श्री देवेन्द्रराज जी मेहता को धन्यवाद देना मेरा परम कर्त्तव्य हो जाता है, जिनके उत्साह के बिना यह अनुवाद शायद प्रकाशित ही नही होता।

इस हिन्दी सस्करण के संशोधन का समग्र कार्य पण्डित श्री महोपाध्याय विनयसागरजी ने बडे मनोयोग एव प्रेम से किया है, अतएव उनका भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

राजस्थान प्राकृत भारती सस्थान, जयपुर ने इसे प्रकाशित करके हिन्दी भाषी पाठको के लिये यह ग्रन्थ सुलभ कर दिया, एतदर्थ मैं इस सस्थान का भी ऋणी रहूँगा।

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के समय मैं कुछ भी विशेष नहीं कर सका, इसका मुझे खेद है, क्योकि मेरा स्वास्थ्य अब ऐसा नहीं रहा कि मैं इसमे अब विशेष परिश्रम कर सकूँ।

वाचको का ध्यान एक भ्रान्ति की ओर आकर्षित करना मेरा कर्त्तव्य है। जब गणधरवाद पुस्तक गुजराती मे प्रकाशित हुई थी तब श्री अगरचन्दजी नाहटा ने मेरा ध्यान इस ओर खेचा था किन्तु प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद की छपाई के पूर्व मैं इस बात को भूल गया था, अतएव निम्न भ्रान्ति रह गई। प्रस्तावना पृष्ठ ६० मे मुद्रित है कि भवभावना-विवरण स० ११७७ मे पूर्ण हुआ, किन्तु वस्तुत वह स० ११७० मे होना चाहिए। अतएव स ११७७ मानकर भवभावना-विवरण और विशेषावश्यक-वृत्ति के पूर्वापरभाव की जो चर्चा मैंने की है वह निरर्थक है। उसे वहाँ से हटा देना चाहिए।

अहमदाबाद
दि० २९ मार्च १९८२

—दलसुख मालवणिया

भाषान्तरों में विशिष्ट विधा का ग्रन्थ

भाई श्री दलसुख मालवणिया ने गणधरवाद विषयक जो ग्रन्थ तैयार किया है उसकी प्रस्तावना देखने के पश्चात् उसमे ऐतिहासिक विभाग सम्बन्धी जो स्थल संशोधन करने योग्य लगे उसकी ओर मैंने लेखक का ध्यान आकृष्ट किया था, यह एक सामान्य बात थी। प्रस्तावना को आद्योपान्त पढने के पश्चात् मैंने यह अनुभव किया कि भाई श्री मालवणिया ने गणधरवाद जैसे अतिगहन विषय को कुशलतापूर्वक अत्यधिक सरल बना दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गणधरवाद मे चर्चित पदार्थों के उद्गम और विकास के विषय में वैदिक काल से लेकर जो सप्रमाण दार्शनिक और शास्त्रीय इतिहास प्रस्तुत किया है उससे तात्त्विक पदार्थों का क्रमिक विकास किस प्रकार होता गया और एक-दूसरे दर्शनो पर उसका किस-किस रूप मे प्रभाव पड़ा यह स्पष्ट रूप से समझ मे आ जाता है। इसके साथ ही यह भी लक्ष्य मे आ जाता है कि सम्यग् ज्ञान-दर्शन की भूमिका मे स्थित महानुभावों को तात्त्विक पदार्थों का अध्ययन, अवलोकन एवं चिन्तन किस विशाल और तटस्थ दृष्टि से करना चाहिये, जिससे उनकी सम्यग् ज्ञान-दर्शन की अवस्था दूषित न हो।

प्राचीन और गहन जैन ग्रन्थो के देश्य भाषाओ मे जो विशिष्ट भाषान्तर, ऐतिहासिक निरूपण आवश्यक विवेचन के साथ प्रकाशित हुए हैं उनमे गणधरवाद का प्रस्तुत भाषान्तर-ग्रन्थ एक विशिष्ट मानक–विधा प्रस्तुत करता है; यह एक सत्य है।

—मुनि पुण्यविजय

अहमदाबाद
भाद्रपद कृष्णा अमावस्या
वि० स० 2008

शुभ समाप्ति

कोई भी योग्य कार्य सुयोग्य हाथो से योग्य रीति से सम्पन्न होता है तो वह शुभ समाप्ति मानी जाती है। प्रस्तुत भाषान्तर ऐसी ही एक शुभ समाप्ति है। श्वेताम्बर परम्परा के सस्कार धारण करने वाले श्रद्धालुओ मे भाग्य से ही कोई ऐसे होगे जिन्होने कम से कम पर्युषण के दिनो मे कल्पसूत्र न सुना हो। कल्पसूत्र के मूल मे तो नही किन्तु उसकी टीकाओ मे टीकाकारो ने भगवान् महावीर और गणधरो के मिलन-प्रसग मे गणधरवाद की चर्चा सम्मिलित की है। मूलत इसकी चर्चा 'विशेषावश्यक भाष्य' मे आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विस्तार से की है। 'विशेषावश्यक भाष्य' जैन परम्परा के आचार-विचार से सम्बन्धित छोटे-मोटे लगभग समस्त मुख्य विषयो को स्पर्श करते हुए उन समस्त मुख्य विषयो की आगमिक दृष्टि से तर्क-पुरस्सर चर्चा करने वाला और तत्-तत्स्थानो मे सम्भावित दर्शनान्तरो के मन्तव्यो की समालोचना करने वाला एक आकर ग्रन्थ है। इसीलिए आचार्य ने गणधरवाद का प्रकरण अलकरणपूर्वक इसमे सम्मिलित किया है। इसमे जैन-परम्परा सम्मत जीव-अजीव आदि नवतत्त्वो की प्ररूपणा भगवान् महावीर के मुख से आचार्य ने इस पद्धति से कराई है कि मानो प्रत्येक तत्त्व का निरूपण भगवान् उन-उन गणधरो की शका के निवारण के लिए ही करते हो। प्रत्येक तत्त्व की स्थापना करते समय उस तत्त्व के किसी भी अश मे विरोध हो, ऐसे अन्य तैर्थिको के मन्तव्यो का उल्लेख कर, भगवान् तर्क और प्रमाण द्वारा स्वय का तात्त्विक मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं। इससे जैन तत्त्वज्ञान को केन्द्र मे रखकर प्रस्तुत गणधरवाद विक्रम की सातवी शताब्दी तक के चार्वाक, बौद्ध और समस्त वैदिक आदि समग्र भारतीय दर्शन परम्परा की समालोचना करने वाला एक गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ बन गया है। ऐसे ग्रन्थ का पं० श्री दलसुख मालवणिया ने जिस अभ्यासनिष्ठा और कुशलता से भाषान्तर किया है, वैसे ही उसके साथ मे अनेक विध ज्ञान-सामग्री सकलित कर प्रस्तावना परिशिष्ट आदि लिखे हैं, उसका विचार करते हुए कहना पडता है कि योग्य ग्रन्थ का योग्य भाषान्तर योग्य हाथो से ही सम्पन्न हुआ है।

श्री पूनमचन्द करमचन्द कोटा वाला ट्रस्ट के दोनो ट्रस्टियो (श्री प्रेमचन्द के० कोटा वाला और श्री भोलाभाई जेसिगभाई) की लम्बे समय से प्रबल इच्छा थी कि गणधरवाद का गुजराती मे उत्तम भाषान्तर हो। इसके लिए दो-तीन प्रयत्न भी हुये, किन्तु वे कार्यसाधक नही हुये। अन्त मे जुलाई, 1950 मे यह कार्य भा० जे० विद्याभवन की ओर से श्रीयुत् मालवणिया को प्रदान किया गया। अत्यधिक वाचन, अभ्यास, पर्याप्त समय और श्रम की अपेक्षा रखने वाला यह कार्य दो वर्ष जितने समय मे पूर्ण हुआ और वह भी जैसा सोचा था उससे अधिक और सुन्दर रीति से पूर्ण हुआ।

गुजराती भाषा मे जो कुछ श्रेष्ठतम दार्शनिक साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमे प्रस्तुत भाषान्तर की गणना अवश्य होगी, ऐसा इसके विचारशील अधिकारी पाठको को अवश्य ही

प्रतीत होगा। जैन दार्शनिक साहित्य के विकास मे तो यह भाषान्तर अधुना अग्रस्थान प्राप्त करने योग्य है।

इससे पूर्व श्रीयुत् मालवणिया ने 'न्यायावतारवार्तिक वृत्ति' ग्रन्थ का हिन्दी भाषा मे प्रस्तावना और टिप्पण के साथ सम्पादन कर हिन्दी भाषा के विज्ञ दार्शनिक जगत् मे एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किया ही है; अब इस गुजराती भाषान्तर के द्वारा गुर्जर भाषा के जानकार दार्शनिक मण्डल मे भी ये विशिष्ट स्थान प्राप्त करेंगे, ऐसी घोषणा करते हुए मुझे किंचित् भी सकोच नहीं हो रहा है।

मै श्रीयुत् मालवणिया के उत्तरोत्तर विस्तृत और विकसित दार्शनिक अध्ययन, चिन्तन और लेखन का पिछले 20 वर्षो से साक्षी रहा हूँ। प्रस्तुत भाषान्तर के साथ जो अन्य ज्ञान-सामग्री सयोजित की गई है, उसके वैशिष्ट्य को देखने और समझने से कोई भी व्यक्ति मेरी उक्त यथार्थ मान्यता की पुष्टि करेगा ही।

प्रस्तुत पुस्तक मे ध्यानाकर्षण योग्य विशेषताओ का यहाँ निर्देश करना अनुपयुक्त न होगा।

(1) मूल, टीका और उनके प्रणेताओ से सम्बन्धित परम्परागत एव ऐतिहासिक परिचयात्मक तथ्यो का दोहन कर, उसे प्रस्तावना मे प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया गया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने वालो का ध्यान सर्वप्रथम आकर्षित करता है।

(2) जैन दर्शन सम्मत नव तत्त्वो के विचार का विकास प्राचीन काल से चलने वाली अन्य अनेकविध दर्शन-परम्पराओ के मध्य मे किस प्रकार से हुआ है, उसकी कालक्रम से तुलना करते हुए ऐसी पद्धति से प्रतिपादन किया है जिसमे वेद, उपनिषद्, बौद्ध, पालि और सस्कृत के ग्रन्थो तथा वैदिक-सम्मत लगभग समस्त दर्शनो के प्रमाणभूत ग्रन्थो का निष्कर्ष आ जाता है। यह बात (वस्तु) तुलनात्मक दृष्टि से दार्शनिक अभ्यास करने वालो का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती है।

(3) नव तत्त्वो को, आत्मा, कर्म और परलोक इन तीन तत्त्वो (मुद्दो) मे सक्षेप कर, उनकी अन्य दर्शन-सम्मत विचारधारा के साथ विस्तार से ऐसी तुलना की गई है कि जिससे उन-उन तत्त्वो से सम्बन्धित समस्त भारतीय दर्शनो के विचार वाचक एक ही स्थान पर हृदयंगम कर सके।

प्रस्तावनागत उपरोक्त सूचित विशेषताओ के अतिरिक्त अन्य जो भी विशेषताएँ हैं उनमे से कुछ-एक निम्न प्रकार हैं—

(1) **टिप्पणियाँ**—भाषान्तर पूर्ण होने के बाद उसके अनुसन्धान में अनेक दृष्टियो से पृष्ठ 180 से 210 पर्यन्त टिप्पणियाँ दी गई हैं। मूल गाथाओ मे प्रयुक्त और अनुवाद मे आगत ऐसे अनेक दार्शनिक शब्दों का स्पष्टीकरण उनमे किया गया है। इसी प्रकार आचार्य जिनभद्र

ने कोई विचार प्रकट किये हो, अथवा कोई युक्तियाँ दी हो, अथवा किसी शास्त्र का पद या वाक्य सूचित किया हो, तो उन स्थलो की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि निर्देश करने के पश्चात् दार्शनिक विचारों की तुलना की गई है। आचार्य जिनभद्र द्वारा इन विचारो, युक्तियो और आधारो को जहा-जहाँ से ग्रहण किये जाने की सम्भावना है, उनमे से प्राप्त समस्त मूल-स्थलो को यहाँ दिखलाया गया है। केवल इतना ही नही, अपितु उनसे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न दर्शनशास्त्रो के अनेक विध ग्रन्थो मे जो कुछ प्राप्त हुआ उन सब का ग्रन्थ-नाम और स्थल के साथ उल्लेख किया है। वस्तुत ये टिप्पणियाँ ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने की इच्छा रखने वालो के लिये एक अभ्यास-ग्रन्थ जैसी हैं।

(2) मूल—'विशेषावश्यक भाष्य' की प्राचीन से प्राचीन लगभग दसवी शताब्दी मे लिखित प्रति, जो जैसलमेर भण्डार मे प्राप्त हुई है उसके साथ मिलान करने के लिये वहाँ स्वय जाकर लिये हुए पाठान्तरो के साथ मे गणधरवाद की मूल गाथाएँ परिशिष्ट मे दी गई हैं वे रचनाकालीन असली पाठशुद्धि के निकट पहुँचने के इच्छुक जिज्ञासु की दृष्टि से एव कालक्रम से लेखन और उच्चारण-भेद को लेकर किस-किस रीति से मूल पाठ मे परिवर्तन होता है वह पाठालोचन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है।

(3) टीकाकार ने जो अवतरण (उद्धरण) उद्धृत किये हैं और जो अवतरण चर्चा की भूमिका को पूर्ण करते हैं उन अवतरणो के मूल-स्थानो का उल्लेख करने वाला परिशिष्ट सशोधक विद्वानो की दृष्टि मे बहुत ही उपयोगी है।

(4) पृष्ठाक 255–264 मे दी हुई शब्दसूची, भाषान्तर मे प्रयुक्त पदो और नामो के अतिरिक्त ग्रन्थगत विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी है।

समग्र भाषान्तर ऐसी सरसता और प्रवाहबद्ध मधुर भाषा मे हुआ है कि पढने के साथ ही जिज्ञासु अधिकारी को इसका अर्थ, रहस्य समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। भाषान्तर की यह भी विशेषता है कि इसमे मूल और टीका दोनो का सम्पूर्ण आशय - पुनरुक्ति के बिना आ जाता है और यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ हो ऐसा अनुभव होता है। सवादात्मक शैली के कारण जटिलता नही रहती और भगवान् एव गणधरो के प्रश्नोत्तर पूर्णरूपेण पृथक्-पृथक् ध्यान मे आ जाते हैं। अनुवाद मे जो पारिभाषिक शब्द आये हैं, जो दार्शनिक विचार सकलित हुए हैं और जो दोनो पक्षो के तर्क दिये गये है उन सब का अत्यधिक स्पष्टीकरण हो जाने से भाषान्तर जटिल न बन कर सुगम बन गया है तथा विशेष जिज्ञासु के लिये अन्त मे टिप्पणियाँ होने से उसकी विशिष्ट जिज्ञासा भी सन्तुष्ट हो जाती है।

वैदिक, बौद्ध या जैन आदि भारतीय दर्शनो मे आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, परलोक जैसे विषयो की चर्चा साधारण है। उससे कोई भी भारतीय दर्शन की शाखा का उच्चस्तरीय अध्ययन करने वाले एम० ए० की कक्षा के विद्यार्थियो अथवा उस विषय मे शोधपूर्ण प्रबन्ध लिखकर डॉक्टरेट उपाधि के अभिलाषियो अथवा अध्यापको के लिये यह पूरी पुस्तक बहुत ही उपयोगी और बहुमूल्य सामग्री प्रदान करने वाली है।

अनेक जैन ज्ञान भण्डारो के उद्धारक और दुर्लभ सामग्री के सशोधक तथा जैन-परम्परा एवं शास्त्रो के सुज्ञाता मुनि श्री पुण्यविजयजी को मैने मुद्रित पृष्ठो का अवलोकन कर योग्य एवं आवश्यक सूचनाएँ प्रदान करने का अनुरोध किया था। उन्होने सहृदयता के साथ समग्र प्रस्तावना देखने के पश्चात् जो सूचनाएँ दी थी उनको मैने 'वृद्धिपत्र' शीर्षक से प्रदान की हैं जो टिप्पणियो के पश्चात् मुद्रित की गई हैं।

—सुखलाल

सन्दर्भ-ग्रन्थ-संकेत सूची

अगुत्तर निकाय (पाली टेक्स्ट)
अथर्ववेद
अनुयोगद्वार सूत्र
अनुयोगद्वार चूर्णि
अनुयोगद्वार हरिभद्रसूरि कृत टीका
" हेमचन्द्रसूरि कृत टीका
अभिज्ञान शाकुन्तल
अभिधम्मत्थसगहो (कौशाम्बी)
अभिधर्मकोष (काशी विद्यापीठ)
अष्टस०—अष्टसहस्री (विद्यानन्द)
आचा० नि०—आचाराग निर्युक्ति
आचाराग टीका
आत्मतत्वविवेक (उदयनाचार्य)
आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द)
आप्तमीमांसा (समन्तभद्र)
आव० नि०—आवश्यक निर्युक्ति
आव० नि० दी०—आवश्यक निर्युक्ति दीपिका
आव० नि० हरि० टी०—आवश्यक निर्युक्ति हरिभद्र कृत टीका
आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरि टीका
ईशावास्योपनिषद्
उत्तरा०—उत्तराध्ययन सूत्र
उत्त० नि०—उत्तराध्ययन निर्युक्ति
'उत्थान' महावीराक (स्था० जैन कान्फ्रेन्स, बम्बई)
उदान (सारनाथ, महाबोधि सोसायटी)
उपासकदशांग सूत्र
ऋग्वेद
ऐतरेय आरण्यक
कठो०—कठोपनिषद्
कथावत्थु (पाली टेक्स्ट)
कर्मग्रन्थ (भाग १—६, आगरा)
कर्मप्रकृति
कर्मप्रकृति चूर्णि
कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी (विजयराजेन्द्रसूरि)
कषायपाहुड—जयधवला टीका (काशी)
कौषी०—कौषीतकी उपनिषद्
गीता
चतु.शतक (विश्व भारती)
छान्दो०—छान्दोग्योपनिषद्
जिनरत्नकोष (पूना)
जीतकल्प सूत्र
जीतकल्प सूत्र चूर्णि
जैन गुर्जर कविओ (देसाई)
जैन सत्यप्रकाश (अहमदाबाद)
जै० सा० स० इ०—जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास (देसाई)
जैनागम (मालवणिया)
ज्ञानबिन्दु (सिंघी सिरीज)
तन्त्रवार्तिक
तत्त्वसग्रह
तत्त्वार्थसूत्र
—विवेचन (प० सुखलालजी)
—भाष्य
—भाष्य-सिद्धसेनवृत्ति
तत्त्वार्थ भा०टी०—तत्त्वार्थ भाष्य टीका (सिद्धसेन)
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (विद्यानन्द)
तत्त्वोपप्लवसिंह (वडोदा)
ताण्ड्य०—ताण्ड्य महाब्राह्मण

तिलोयपण्णत्ति–त्रिलोक प्रज्ञप्ति
तेजोबिन्दूपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद्
—ब्राह्मण
त्रिषष्टि०—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र
(हेमचन्द्र)
दशवै०—दशवैकालिक सूत्र
दीघनिकाय (पाली टेक्स्ट)
द्रव्य स० टी०—द्रव्य सग्रह टीका (ब्रह्मदेव)
धम्मपद
धर्मसग्रहणी (हरिभद्र)
नन्दी सू०—नन्दी सूत्र
—चूर्णि
—हरिभद्र-टीका
न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र)
न्यायकुसुमाजली (उदयनाचार्य)
न्यायप्रवेश (वडोदा)
न्यायविन्दु (वनारस)
न्यायम०—न्यायमजरी (विजयानगरम्)
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
न्यायभा०—न्याय सूत्र भाष्य
न्यायसू०—न्याय सूत्र
न्यायवा०—न्यायवार्तिक
न्यायवतार० टि०—न्यायवतार वार्तिकवृत्ति
टिप्पण (मालवणिया)
पचसग्रह (डभोई)
पद्मचरित
परिभाषेन्दुशेखर
पाटण जैन भण्डार ग्रन्थ सूची (वडोदा)
पेतवत्थु (सारनाथ)
प्रकरण पंजिका
प्रमाण मी० भा० टि०—प्रमाण मीमासा
भाषा टिप्पण
प्रमाण० अलं०—प्रमाणवार्तिकालकार
(पटना)
प्रमाणवा०—प्रमाणवार्तिक
प्रमेयकमलमार्तण्ड
प्रवचनसारोद्धार
प्रशस्तपाद—पदार्थधर्म सग्रह (प्रशस्तपादकृत)
प्रशम०—प्रशमरति
प्रश्नोपनिषद्
वन्धशतक
वुद्धचरित (कौशाम्बी)
वुद्धचरित (अश्वघोष)
वुद्धचर्या (राहुल)
वृहत्कल्प भाष्य
वृहदा०—वृहदारण्यक उपनिषद्
वृहदा० भा० वा०—वृहदारण्य भाष्य वार्तिक
वोधिचर्यावतार
वोधिचर्यावतार पजिका
ब्रह्मजाल सुत्त (दीघनिकायगत)
ब्रह्मविन्दु उप०—ब्रह्मविन्दु उपनिषद्
ब्रह्मसूत्राणुभाष्य (गुजराती अनुवाद–सह)
भगवती सूत्र (विद्यापीठ)
भगवती आराधना
भावप्राभृत
मज्झिमनिकाय
महापुराण (आदिपुराण)
महापुराण (पुष्पदन्त)
महाभारत
महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सवाक
महावीर स्वामी नो अन्तिम उपदेश
माठर वृत्ति—साख्यकारिका टीका
माध्यमिककारिका (नागार्जुन)
—वृत्ति (चन्द्रकीर्ति)
मिलिन्द प्रश्न (बम्बई)
मीमासा श्लो०—मीमासा श्लोक वार्तिक
मुण्डक उपनिषद्
मैत्रायणी उपनिषद्
मैत्रायणी स०—मैत्रायणी सहिता
मैत्रेय्युपनिषद

यजुर्वेद
युक्त्यनुशासन
योगदर्शन
योगदर्शन भाष्य
योगदृ०—योगदृष्टिसमुच्चय
योगशिखोपनिषद्
लोकतत्त्वनिर्णय
वाक्यपदीय
विग्रहव्यावर्तिनी (नागार्जुन)
विजयोदया—भगवती आराधना टीका
विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि
विनयपिटक—महावग्ग
विविधतीर्थ कल्प
विशेषणवती (जिनभद्र)
विशेषा० भा०—विशेषावश्यक भाष्य
विसुद्धिमग्ग
वैशे०—वैशेषिक सूत्र
व्यो०—व्योमवती-प्रशस्तपाद भाष्य टीका
शतपथ ब्राह्मण
शाबर भाष्य
शास्त्रदी०—शास्त्रदीपिका
शास्त्रवार्तासमुच्चय
श्रीमद् भागवत (छायानुवाद)
श्लोकवा०—मीमांसा श्लोकवार्तिक
श्वेता०—श्वेताश्वतर उपनिषद्
षट्खण्डागम—धवला टीका
षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्र)
षोडशक (हरिभद्र)
संयुत्तनिकाय (पाली टेक्स्ट)
सन्मतितर्क (गुजराती)
समयसार
समवायांग सूत्र
सर्वसारोपनिषद्
सर्वार्थसिद्धि—तत्त्वार्थ टीका
सांख्यका०—सांख्य कारिका
सांख्यत०—सांख्यतत्त्वकौमुदी
सामवेद
सुत्तनिपात
सूत्रकृ०नि०
सूत्र० नि० } —सूत्रकृतांग निर्युक्ति
सूर्यप्र०—सूर्य प्रज्ञप्ति
सौन्दरनन्द
स्थानांग
स्याद्वादमञ्जरी
स्याद्वादर०—स्याद्वादरत्नाकर (पूना)
हरिवंश पुराण
हेतुबिन्दु
—Outlines of Indian Philosophy—Hiryanra
—Buddhist Conception of spirits—Law
—Buddhist Philosophy—Keith
—E R E (Encyclopaedia of Religion and Ethics)
—Heaven and Hell—Law
History of Indian Philosophy Vol-II—The Creative period—Belvelkar and Ranade
—Hyms of Rigveda
—Nature of Conciousness in Hindu Philosophy—Saxena
—Origin and development of Religion in Vedic Literature—Deshmukh

—0—

विषयानुक्रम

प्रस्तावना पृष्ठ १–१६०

गणधरवाद—पृ० १-१७९

१. प्रथम गणधर इन्द्रभूति—जीव के अस्तित्व सम्बन्धी चर्चा ३–२८

२. द्वितीय गणधर अग्निभूति—कर्म के अस्तित्व की चर्चा २९-४८

३. तृतीय गणधर वायुभूति—जीव-शरीर-चर्चा ४९-६६

४. चतुर्थ गणधर व्यक्त—शून्यवाद-निरास ६७-९३

५ पचम गणधर सुधर्मा—इस भव तथा परभव के सादृश्य की चर्चा ९४–१०२

६. छठे गणधर मण्डिक—बन्ध-मोक्ष चर्चा १०३–१२०

७. सातवें गणधर मौर्यपुत्र—देव-चर्चा १२१–१२७

८. आठवें गणधर अकम्पित—नारक-चर्चा १२८–१३३

९. नवमें गणधर अचलभ्राता—पुण्य-पाप-चर्चा १३४–१५१

१० दशवें गणधर मेतार्य—परलोक-चर्चा १५२–१५८

११. ग्यारहवें गणधर प्रभास—निर्वाण-चर्चा १५९-१७९

प्रस्तावना

1. गणधरवाद क्या है ?

आवश्यक सूत्र जैनश्रुत का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जैनश्रुत की सर्वप्रथम प्राकृत गद्य-व्याख्या अनुयोगद्वार सूत्र मे दृष्टिगोचर होती है और वह आवश्यक सूत्र की व्याख्या के रूप मे है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन अनेक निर्युक्तियो की रचना की है उनमे आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति का विशेष स्थान है। अन्य निर्युक्तियो के समान उसमे प्राकृत पद्य मे आवश्यक सूत्र की व्याख्या की गई है। आवश्यक सूत्र के छ अध्ययन हैं जिनमे सामायिक अध्ययन प्रथम है। आचार्य जिनभद्र ने उस सामायिक अध्ययन तथा उस पर उक्त निर्युक्ति तक के सीमित भाग की प्राकृत पद्य मे अति विस्तृत व्याख्या की है, वह विशेषावश्यक भाष्य के नाम से सुविख्यात है। विशेषावश्यक भाष्य की अनेक व्याख्याओ मे आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की विस्तृत सस्कृत व्याख्या सर्वाधिक प्रसिद्ध है। प्रस्तुत पुस्तक आचार्य जिनभद्र के भाष्य की इस विस्तृत व्याख्या के आधार पर 'गणधरवाद' नामक प्रकरण का भाषान्तर है।

भाषान्तर की शैली

मेरे विचार मे प्रस्तुत ग्रन्थ को केवल भाषान्तर न समझ कर रूपान्तर समझना अधिक उपयुक्त होगा। प्रकरण के नाम के अनुसार इसमे उस वाद का समावेश है जो भगवान् महावीर और ब्राह्मण-पण्डितो मे हुआ था। इस वाद के पश्चात् ये ब्राह्मण पण्डित भगवान् से प्रभावित हुए, उनके मुख्य शिष्य बने और गणधर कहलाए। इसीलिए इस वाद का नाम 'गणधरवाद' है। अत भाषान्तर की शैली सवादात्मक रखी गई है। सवाद को अनुकूल रूप प्रदान करने के लिए मलधारी की व्याख्या के वाक्यो का भाषान्तर के साथ-साथ रूपान्तर भी करना पडा है। अत यह भाषान्तर सस्कृत से गुजराती भाषा मे केवल अनुवाद नही है प्रत्युत इस व्याख्या को सवादात्मक रूप मे उपस्थित करने का एक प्रयत्न है। इसी कारण मैंने इसे रूपान्तर कहा है।

सस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि उसमे ऐसी परम्परा विद्यमान है जिसके आधार पर गम्भीर दार्शनिक विषयो की चर्चा अति सक्षिप्त शैली मे हो सकती है और फिर भी विषय की अस्पष्टता लेशमात्र नही रहती। गुजराती भाषा की तथा सस्कृत भाषा की शैली मे भी भेद है। अत भाषान्तर को सुवाच्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शैली गुजराती हो। केवल शब्दश अनुवाद करने से भावो के अस्पष्ट रहने की अधिक सभावना रहती है। यह भी सभव है कि भाषान्तर गुजराती मे हो और उस मे गुजरातीपन भी दृग्गोचर न हो। इन कारणो से भाषान्तरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल शब्दो का नही अपितु शब्दो और भावो को मिलाकर सस्कृत भाषा से गुजराती भाषा मे रूपान्तर करे। इस भाषान्तर मे इसी नीति के अनुसार कार्य करने का विनम्र प्रयास किया है। मुझे इसमे कहा तक सफलता मिली, इस बात का निर्णय तो पाठक ही कर सकते है।

इस प्रयत्न मे मेरा यह ध्येय रहा है कि सामान्य सस्कृत को जानने वाला परन्तु दर्शन-शास्त्र से ग्रनभिज्ञ पाठक भी गुजराती पढने के बाद यदि सस्कृत को सामने रखे तो वह सरलता पूर्वक मूल ग्रन्थ मे प्रवेश कर सके। ग्रत मूल सस्कृत की कोई भी ग्रावश्यक बात छोडी नही गई ग्रौर क्रम भी मूल ग्रन्थ का ही रखा गया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए भाषा की सरलता की ग्रोर विशेष ध्यान दिया गया है किंतु मैंने उसमे कोई नई बात नही जोड़ी, यदि ऐसा किया जाता तो यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन जाता, भाषान्तर ग्रथवा रूपान्तर नही रहता। जहा कोई नवीन बात लिखने की थी, उसे मैंने बाद मे टिप्पणी मे लिखना उचित समझा है।

ग्रावश्यक सूत्र तथा उसका प्रथम ग्रध्ययन

समस्त जैनागम साहित्य मे ग्रावश्यक सूत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका प्रचार ग्रपने रचनाकाल से लेकर उत्तरोत्तर बढता ही गया है। ग्राज भी जितना साहित्य इस सूत्र के सबध मे प्रकाशित होता है, उतना ग्रन्य किसी भी सूत्र के सबध में नही। इसका कारण यह है कि इसमे श्रमण ग्रौर श्रावक के दैनिक कर्तव्य—ग्रावश्यक क्रिया का निरूपण है, ग्रत प्रत्येक श्रमण ग्रौर श्रावक को इसकी प्रतिदिन ग्रावश्यकता रहती है। इस ग्रन्थ का विषय धार्मिक पुरुषो के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण उसके जीवन में ग्रोतप्रोत हो गया है। इसलिए इस ग्रन्थ की टीकाग्रो ग्रौर उपटीकाग्रो के ग्रतिरिक्त इसके एक-एक विषय को लेकर ग्रनेक स्वतत्र ग्रन्थो की रचना हुई है। ये स्वतत्र ग्रन्थ भी टीकाग्रो तथा उपटीकाग्रो से ग्रलकृत हुए है। भाषा की दृष्टि से देखा जाए तो इस ग्रन्थ की प्राचीन प्राकृत ग्रौर सस्कृत टीकाग्रो से ग्रारम्भ कर ग्राधुनिक गुजराती व हिन्दी भाषा मे उपलब्ध साहित्य इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक शताब्दी में ग्रावश्यक सूत्र पर कुछ न कुछ लिखा गया है। जैनागमो के वर्गीकरण में प्राचीन पद्धति के ग्रनुसार ग्रग-बाह्य के एक वर्ग मे ग्रावश्यक-सूत्र तथा दूसरे वर्ग मे ग्रावश्यकेतर सूत्रो को रखा गया है। इससे भी इस सूत्र का महत्व प्रकट होता है।[1]

ग्रावश्यक सूत्र का प्रथम ग्रध्ययन सामायिक के विषय मे है। ग्राचार्य भद्रबाहु के मतानुसार यह सामायिक समग्र श्रुतज्ञान के ग्रादि मे है। श्रुतज्ञान का एक मात्र सार चारित्र है ग्रौर चारित्र का सार निर्वाण है[2]। इस प्रकार सामायिक की चर्चा करने वाले ग्रावश्यक सूत्र के प्रथम ग्रध्ययन का मोक्ष मे सीधा सम्बन्ध है। ग्रागम मे जहा भगवान् महावीर के श्रमणो के श्रुतज्ञान के ग्रध्ययन का वर्णन है वहा सर्वत्र उन के ग्रध्ययन मे सामायिक को प्रथम स्थान दिया गया है।[3] ग्रन्य ग्रंग-ग्रथो का स्थान उसके उपरान्त है। ग्रत केवल ज्ञान की दृष्टि से ही नही, परन्तु ग्राचार की दृष्टि से भी सामायिक का स्थान सर्वप्रथम है।

---

1. नन्दी सूत्र सू० 43
2. सामाइयमाईयं सुयनाण जाव बिन्दुसाराग्रो।
   तस्स वि सारो चरण सारो चरणस्स निव्वाण। ग्राव० नि० 93
3. भगवती 2.1

आचार्य भद्रबाहु के मतानुसार भगवान् ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् सबसे पहले अर्थत उपदेश सामायिक का ही दिया था। अर्थात् उनके प्रथम उपदेश मे सामायिक का अर्थ समाविष्ट था। यही नही, वाद के पश्चात् गणधरो ने भी सर्वप्रथम सामायिक का ही उपदेश ग्रहण किया था।[1] इस उपदेश से गणधरो को क्या लाभ हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य ने कहा है कि, उन्हे इससे शुभाशुभ पदार्थों का ज्ञान हुआ। इस ज्ञान के कारण सयम और तप मे उनकी प्रवृत्ति हुई। इससे वे नवीन पाप-कर्म से निवृत्त हुए, बद्ध कर्मों के नाश मे समर्थ वने, अशरीरी हुए और अशरीरी होकर उन्होने अव्यावाध मोक्ष-सुख को प्राप्त किया।[2]

श्रमण दीक्षा मे सर्वप्रथम सामायिक चारित्र को ही ग्रहण किया जाता है। वस्तुत यही चारित्र परिपूर्ण होने पर यथाख्यात अथवा सम्पूर्ण चारित्र कहलाता है और वही मोक्ष का साक्षात् कारण वनता है। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र दोनो मे सामायिक की ही प्रधानता है। इसीलिए आचार्य जिनभद्र ने निर्युक्ति सहित केवल इस सामायिक अध्ययन की विशेषरूपेण व्याख्या करना उचित समझा और विशेषावश्यक भाष्य नामक एक महान् ग्रन्थ की रचना की।

विशेषावश्यक भाष्य मे गणधरवाद का प्रसंग

आवश्यक निर्युक्ति मे सामायिक अध्ययन की व्याख्या करते हुए उपोद्घात रूप मे आचार्य भद्रबाहु ने कुछ[3] प्रश्नो का समाधान किया है। उसमे उन्होने सामायिक के निर्गम अर्थात् आविर्भाव के प्रश्न की चर्चा की है और इन प्रश्नो का समाधान किया है कि, सामायिक किस परिस्थिति मे, किसमे, कव और कहा आविर्भूत हुई। इसी चर्चा के अन्तर्गत उन्होने यह भी वताया है कि, भगवान् महावीर के जीव ने पूर्वभव मे जगल मे रास्ता भूले हुए साधुओ को मार्ग वताकर क्रमशः किस प्रकार मिथ्यात्व[4] से वाहर निकल कर सम्यक्त्व की प्राप्ति[5] की। भगवान् महावीर उत्तरोत्तर कपायो का क्षय करते हुए जिस प्रकार सर्वज्ञ के पद पर पहुँचे, उसका भी वहा विस्तार-पूर्वक वर्णन है। अन्त मे उन्होने इस वात का भी उल्लेख किया है कि, छद्मस्थज्ञान के नष्ट होने पर जव उन्हे अनन्त केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई, तव वे विहार कर रात्रि के समय महासेन वन मे[6] पहुचे। अर्थात् मध्यमापावा मे इस महासेन वन मे देवताओ ने धर्म चक्रवर्ती भगवान् महावीर के द्वितीय समवसरण—महासभा की रचना[7] की। इसी नगरी मे सोमिलार्य ब्राह्मण ने यज्ञ

---

1. आव० नि० 733-35, 742-45
2. आव० नि० 745-48
3. आव० नि० 140-141, 145
4. विशेषा० भाष्य मे 'मिच्छत्ताइतमाओ' इत्यादि गाथा को भाष्य की गाथा माना है, आवश्यक हारिभद्रीय मे भी इस गाथा की व्याख्या नही की गई, किन्तु विशे० के सपादक ने उस गाथा को निर्युक्ति की गाथा माना है। पीछे छपा हुआ मूल देखें।
5. आव० नि० 146 (पथ किर 'देसित्ता')
6. आव० नि० 539
7. आव० नि० 540

रचाया था। अत दूर-दूर के शहरो से महान् विद्वान् पण्डित उसमे भाग लेने आए थे। इसी यज्ञ-मण्डप के उत्तर मे देवगण भगवान् महावीर के समवसरण मे उत्सव मना रहे थे।[1] अत यज्ञ मे उपस्थित लोगो ने अनुमान किया कि उनके यज्ञानुष्ठान से सन्तुष्ट होकर देव स्वय यज्ञवाटिका मे आ रहे हैं[2], किन्तु जब उन्होने देखा कि वे देव यज्ञवाटिका की ओर न आकर किसी दूसरे स्थान की तरफ उत्तर मे जा रहे हैं, तब उनके आश्चर्य की सीमा नही रही। अन्य लोगो ने भी जब यह समाचार सुनाया कि, देवता स्वय आकर सर्वज्ञ भगवान् महावीर की महिमा मे वृद्धि कर रहे हैं तब अभिमानी पण्डित इन्द्रभूति ने सोचा कि, मेरे अतिरिक्त अन्य कौन सर्वज्ञ हो सकता है ? अत वह स्वय भगवान् के समवसरण मे उपस्थित हुआ।[3] उसे आया हुआ जानकर भगवान् महावीर ने उसे उसके नाम और गोत्र से बुलाया।[4] उन्होने उसे यह भी कहा कि, तुम्हारे मन मे जीव के अस्तित्व के विषय मे सन्देह है। साथ ही भगवान् महावीर ने बताया कि, वस्तुत तुम वेद के पदो का अर्थ नही जानते, इसीलिए तुम्हे ऐसा सन्देह है। मैं तुम्हे उन पदो का सच्चा अर्थ बताऊगा[5]। फलस्वरूप जब इन्द्रभूति के सशय का समाधान हो गया तब उसने अपने 500 शिष्यो के साथ भगवान् महावीर के पास दीक्षा ले ली[6]। यही इन्द्रभूति भगवान् के मुख्य गणधर बने। उसके दीक्षित होने का समाचार जानकर अग्निभूति आदि अन्य ब्राह्मण पण्डित भी क्रमशः भगवान् के पास आए, उन्हे भी भगवान् ने उसी प्रकार उनके गोत्र सहित नाम से पुकारा और उन के मन मे विद्यमान भिन्न-भिन्न शकाए भी बतादी। समाधान होने पर वे भी अपने-अपने शिष्य समुदायो सहित दीक्षित हो गए और गणधर पद को प्राप्त किया[7]।

प्रथम विद्वान् इन्द्रभूति के मन मे वर्तमान सशय के कथन से लेकर अतिम ग्याहरवें विद्वान् प्रभास की दीक्षा विधि तक के प्रसग की आवश्यक नि० की 42 गाथाओ (600-641) की व्याख्या करते हुए आचार्य जिनभद्र ने 'गणधरवाद' की रचना की है। केवल इन 42 गाथाओं की व्याख्या के रूप मे उन्होने 11 गणधरो के वाद सम्बन्धी जिन गाथाओ की रचना की है, उनकी सख्या इस प्रकार है '—1-56, -35, 3-38, 4-79, 5-28, 6-58, 7-17, 8-16, 9-40, 10-19, 11-49

आव० नि० की उक्त 42 गाथाओ मे ग्यारह गणधरो के नाम, शिष्य सख्या, सशय का विषय, उनका वेद-पदो के अर्थ का अज्ञान, और मैं तुम्हे वेद-पदो का सच्चा अर्थ बताता हू,

1. आव० नि० 541-42, 592
2. आव० नि० 591
3. आव० नि० 598
4. आव० नि० 598
5. आव० नि० 600
6. आव० नि० 601
7. आव० नि० 602-641

भगवान् का यह कथन—इन्ही बातों का समावेश है। गणधरों के मन मे वेद के किन वाक्यो के आधार पर उस विषय मे किस प्रकार सशय उत्पन्न हुआ ? उस सशय के सबध मे उनकी क्या युक्तिया थी ? भगवान् ने उन का क्या उत्तर दिया ? भगवान् ने वेद-पदो का क्या अर्थ किया ? इत्यादि बातें आव० नि० मे नही हैं। इन सब विषयो की पूर्ति कर और पूर्वोत्तर पक्ष की स्थापना करके आचार्य जिनभद्र ने अपने भाष्य मे विस्तृत 'गणधरवाद' की रचना की है। साराश यह है कि आव० नि० मे प्रस्तुत वाद के सम्बन्ध मे कोई भी विशेष उल्लेख दृग्गोचर नहीं होता। वहा केवल वाद का निर्देश है। इस निर्देश के आधार पर आचार्य जिनभद्र ने गणधरवाद की ऐसी रचना की है जो एक विद्वान् टीकाकार के लिए शोभास्पद है।

इस प्रकार प्रस्तुत अनुवाद-ग्रन्थ (गणधरवाद) के साथ आवश्यक सूत्र, भद्रबाहु कृत उपोद्घात-निर्युक्ति, जिनभद्र रचित विशेषावश्यक भाष्य और हेमचन्द्रसूरि मलधारी प्रणीत बृहद्वृत्ति इतने ग्रन्थो का सम्बन्ध है। अतएव इस प्रस्तावना मे उन-उन ग्रन्थो के प्रणेता आचार्यों का परिचय देना उचित समझता हूँ और अन्त मे गणधरो का सामान्य परिचय देकर, प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रदेशरूप आत्मवाद, कर्मवाद और उसके विरोधी वादो—अनात्मवाद एव अकर्मवाद विषयो का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से निरूपण किया है। इससे गणधरवाद से सम्बन्धित दार्शनिक भूमिका क्या है ? वह पाठको के ध्यान मे आ जावेगी।

2. आवश्यक के सूत्र कर्त्ता कौन ?

जैन आगम शास्त्र के दो भेद किये जाते हैं—अर्थागम और सूत्रागम अर्थात् शब्दागम। अनुयोगद्वार मे कहा गया है कि, तीर्थंकर आगम का उपदेश करते हैं इसलिये वे स्वय अर्थागम के कर्त्ता हैं। वह अर्थागम गणधरो को तीर्थंकर से साक्षात् (प्रत्यक्ष) मे मिलने के कारण गणधरो की अपेक्षा से वह अनन्तरागम है। किन्तु उस अर्थागम के आधार से गणधर सूत्रो की रचना करते हैं इसलिये सूत्रागम या शब्दागम के प्रणेता गणधर ही कहे जाते है। गणधरो के प्रत्यक्ष शिष्यो की अपेक्षा से अर्थागम परम्परागम कहलाता है और उनको गणधरो के पास से प्रत्यक्ष मे मिलने के कारण उनकी अपेक्षा से वह सूत्रागम अनन्तरागम कहा जाता है। गणधरो के प्रशिष्यो की अपेक्षा से दोनो प्रकार के आगम परम्परागम कहलाते है।[1]

इस आधार से यह निष्कर्ष निकलता है कि, आगम के अर्थ का उपदेश तीर्थंकरो ने दिया था और उसको ग्रन्थबद्ध करने का श्रेय गणधरो को दिया जाता है। इसलिये जहाँ-जहाँ आगम को तीर्थंकर प्रणीत कहने मे आता है वहा उसका इतना ही अर्थ समझना चाहिए कि, इस आगम मे जिस बात का प्रतिपादन हुआ है उसका मूल तीर्थंकर के उपदेश मे है। उसका शब्दार्थ यह नही होता है कि, ये ग्रन्थ भी तीर्थंकरो ने बनाये है। आचार्य भद्रबाहु ने भी आवश्यक निर्युक्ति मे इसी मत का समर्थन किया है :—

---

1. अनुयोगद्वार सू 147, पृ. 219, विशेषावश्यक भाष्य 948–949

अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तई ॥92॥[1]

आवश्यक के प्रणेता के सम्बन्ध में दो मान्यतायें :—

अब इस प्रश्न पर विचार करें कि, किन-किन ग्रन्थों की रचना गणधरो ने की है? और उसमे आवश्यक सूत्र का समावेश होता है या नहीं? इस प्रश्न पर आगम-ग्रन्थ एकमत हो, ऐसा नहीं दिखता।

अनुयोगद्वार सूत्र मे आगमो के सम्बन्ध मे प्रतिपादन किया गया है। उसमे तीर्थंकरो को आचाराग से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह अगो के प्रणेता कहा गया है।[2] इसका अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं कि, तीर्थंकरो के उपदेश के आधार पर गणधरो ने द्वादशागी की रचना की। इसी बात का नन्दीसूत्र मे भी सम्यक् श्रुत का प्रतिपादन करते हुए अनुयोगद्वार के शब्दो मे वर्णन किया गया है।[3] षट्खण्डागम की धवला टीका और कषायपाहुड की जयधवला टीका मे भी गणधर इन्द्रभूति को द्वादशाग और चौदह पूर्व[4] के सूत्रकर्त्ता के रूप मे कहा गया है।[5]

इस मान्यता का समर्थन अन्य ग्रन्थो मे भी मिलता है। आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ-सूत्र भाष्य मे आगमों मे अग और अग-बाह्य का भेद किन कारणो से किया गया है? इसका समाधान करते हुए कहा है कि, जो गणधर-कृत हैं वे अग है और जो स्थविर रचित हैं वे अगबाह्य[6] है। बृहत्कल्पभाष्य[7] और विशेषावश्यक भाष्य[8] मे अग और अगबाह्य के तीन प्रकार से भेद बताये गये हैं। उनमें मे एक प्रकार आचार्य उमास्वाति द्वारा निर्दिष्ट मत का अनुसरण करता है। इसके साथ यह भी ज्ञात होता है कि, उनके समय मे आचार्य उमास्वाति निर्दिष्ट

---

1 इस वस्तु का समर्थन भगवती आराधना गा० 34, विजयोदया पृ० 125, षट्खण्डागम धवला टीका (पृ० 60) और कषायपाहुड की जयधवला टीका (पृ० 84) मे तथा महापुराण (आदि पुराण) 1,202, तिलोयपण्णत्ति 1,33, 1,80, तत्त्वार्थभाष्य–सिद्धसेन-वृत्ति 1,20 मे भी है।

2 अनुयोगद्वार सूत्र 147 पृ० 218

3 नन्दी सूत्र 40

4 चौदह पूर्वों का समावेश बारहवे अग मे होने से धवला और जयधवला मत पूर्वोक्त मत से भिन्न नहीं है।

5 षट्खण्डागम धवला टीका भाग 1 पृ० 65 और कषायपाहुड-जयधवला टीका भाग 1 पृ० 84

6 तत्वार्थ-भाष्य 1,20

7. बृहत्कल्पभाष्य गा० 144

8 विशेषा० भा० गा० 550, यहाँ यह कथन करने योग्य है कि, बृहत्कल्पभाष्य और विशेषा० भा० की गाथा मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

मान्यता मे शिथिलता आने लग गई थी। यही कारण है कि, अगबाह्य का भेद उमास्वाति द्वारा प्रतिपादित एक प्रकार का न होकर, तीन प्रकार का बताया गया है।

नन्दी सूत्र की चूर्णि[1] मे तथा आचार्य हरिभद्र रचित नन्दी सूत्र की टीका[2] मे अग-बाह्य की रचना के विषय मे दो धारायें (मत) प्राप्त होते हैं उसमे भी एक मत तो आचार्य उमास्वाति स्वीकृत मत ही है कि, जो गणधर रचित है वे अग है और स्थविर-प्रणीत होते हैं वे अग-बाह्य हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे 'अग-बाह्य गणधर-कृत हैं' ऐसी मान्यता की तरफ आकर्षित होते हुए भी आचार्य-गण प्राचीन मान्यता को स्मरण मे रखते हुए, उल्लेख करते रहे।

जो कुछ भी हो, किन्तु प्राचीन मान्यता से यह प्रतिपादित होता है कि, आवश्यक सूत्र अग-बाह्य होने से इसके कर्त्ता गणधर नही अपितु कोई स्थविर थे।

यह कहना कठिन है कि इस मान्यता के विरुद्ध दूसरी मान्यता कब से प्रारभ हुई ? तो भी इतना तो निश्चित है कि, यह आवश्यक सूत्र भी गणधर-प्रणीत है। इस प्रकार की मान्यता का सर्वप्रथम स्पष्ट प्रतिपादन आवश्यक निर्युक्ति मे दिखाई पडता है।

आवश्यक सूत्र के सामायिकाध्ययन की उपोद्घात-निर्युक्ति मे उद्देशादि[3] अनेक द्वारो मे जो प्रश्न उठाये गये हैं उनका निर्युक्तिकार ने क्रमश उत्तर दिया है। उसका निरन्तर स्वाध्याय करने वाले की दृष्टि मे यह तथ्य स्पष्ट हुए बिना नही रहता कि, निर्युक्तिकार बारम्बार यही तथ्य सिद्ध करना चाहते है कि, सामायिकादि अध्ययनो की रचना भगवान् के उपदेश के आधार पर गणधरो ने की है। इसी बात का समर्थन निर्युक्ति का भाष्य करते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्र ने किया है।[4] निर्युक्ति और भाष्य के टीकाकार आचार्य हरिभद्र, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र भी उस-उस प्रसग पर इसी बात का अनुसरण करें, यह कोई आश्चर्य की बात नही। आचार्य भद्रबाहु ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि, 'इसमे मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह परम्परा से प्राप्त हुआ है'।[5] इस परम्परा का अनुसन्धान करें तो हमे यह बात आवश्यक की प्राचीनतम व्याख्या अनुयोगद्वार मे मिलती है। वहा भी आवश्यक के अध्ययनो के विषय मे आवश्यक निर्युक्ति मे आगत 'उद्देशादि' प्रदर्शक गाथाये

1. नन्दी चूर्णी पृ० 47
2 पृ० 90
3 आव० नि० गा० 140–141
4. आव० नि० की विशेषरूप से उसके भाष्यादि टीकाओ के साथ निम्नाकित गाथाएं द्रष्टव्य हैं :— गा० 80, 90, 270, 734, 735, 742, 745, 750, विशेषा० 948–49, 973–974, 1484–1485, 1533, 1545–1548, 2082, 2083, 2089।
5 आव० नि० 87

उसी रूप मे हैं ।[1] अनुयोगद्वार चूर्णि में इन गाथाओं पर विशेष-विवरण के रूप मे कुछ भी नही कहा गया है, किन्तु आचार्य हरिभद्र ने स्वरचित आवश्यक टीका मे इनका विवेचन करने की प्रतिज्ञा की है ।[2] यह कहने की आवश्यकता नही कि, वह विवेचन आवश्यक निर्युक्ति का ही अनुसरण करता है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र भी आवश्यक निर्युक्ति का ही उपयोग करके इन गाथाओ की व्याख्या करते हैं ।[3] ऐसी अवस्था मे यह मान सकते हैं कि, अनुयोग की उक्त गाथाओ का तात्पर्य यह है कि आवश्यक सूत्र गणधर-प्रणीत है। यह परम्परा टीकाकारो को मान्य है तथा वह आवश्यक निर्युक्ति जितनी ही प्राचीन भी है। आचार्य भद्रवाहु स्वय कहते हैं कि, मैं परम्परा के अनुसार सामायिक-विषयक विवेचन करता हू । इसलिये यह माना जा सकता है कि, आचार्य भद्रवाहु के भी पहले कभी यह मान्यता रही कि मात्र अग ही नहीं अपितु अग-वाह्य ग्रन्थो मे से आवश्यक सूत्र के अध्ययन भी गणधर-प्रणीत हैं। यह मान्यता केवल यहीं नहीं रुकी अपितु समस्त अग-वाह्य आगम-ग्रन्थो को गणधर-रचित हैं, ऐसा माना जाने लगा। इसके प्रमाण दिगम्बर ग्रन्थो मे भी प्राप्त होते है। इसी मान्यता का अनुसरण दिगम्बर आचार्य जिनसेन (वि० 840) स्वरचित हरिवश पुराण मे करते हैं। वे लिखते हैं कि, भगवान् महावीर ने पहले वारह अगो का अर्थत उपदेश दिया[4], इसके पश्चात् गौतम गणधर ने उपाग सहित द्वादशागी की रचना की ।[5]

जैसा कि नन्दी सूत्र के मूल मे एक स्थान पर द्वादशागी को ही जिन-प्रणीत कहा है तो भी चूर्णिकार अगवाह्य को भी इसके साथ जोडने की सूचना देते हैं ।[6] चूर्णिकार सकेत करते है कि, उनके सन्मुख अगवाह्य को भी गणधरकृत मानने की परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी। इसीलिये वे दूसरे स्थान पर मूल मे जहा अग और अग-वाह्य दोनो की गणना है वहा वे दोनो के लिये लिखते है कि, वे दोनो अरिहत के उपदेशानुसार है ।[7] आचार्य हरिभद्र को भी 'नन्दी' की टीका मे चूर्णि की मान्यता का अनुसरण करना पडा, जब कि चूर्णिकार और हरिभद्र दोनो 'अथवा' कहकर इस मान्यता के विरुद्ध जो मान्यता प्रचलित थी उसका भी सकेत करना नही भूलते कि, गणधर-रचित द्वादशागी है और स्थविर-प्रणीत अगवाह्य है ।[8]

अग-वाह्य आगम गणधर-कृत हैं यह मान्यता यही नही अटकी, वल्कि जैन पुराणकारो ने स्वय के पुराणो की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उपोद्घात मे स्पष्ट करना

---

1. अनुयोगद्वार सूत्र 155
2. अनुयोगद्वारवृत्ति हरिभद्रकृत पृ० 122
3 पृ० 258–259 ।
4 हरिवश पुराण 2,92–105
5 हरिवश पुराण 2,111
6 पृ० 38
7 पृ० 49
8. पृ० 82, 89–90

उचित समझा कि, ये पुराण भी मूलत गणधर-कृत है और हमे तो यह वस्तु परम्परा से प्राप्त हुई है, अतएव उसी के आधार से रचना करने मे आई है।[1] इस प्रकार गणधर-रचित न केवल अग ग्रन्थ ही अपितु अग-बाह्य ग्रन्थो के साथ पुराण भी गणधर-कृत माने जाने लगे।

इस प्रस्तुत चर्चा का उपयोगी निष्कर्ष यह है कि, प्राचीन मान्यता के अनुसार यह आवश्यक अगबाह्य होने से गणधर-प्रणीत नही माना जाता था किन्तु बाद मे आचार्यगण इसको भी गणधर-रचित मानने लगे। साथ ही यह भी कहना चाहिए कि, अगबाह्य ग्रन्थो मे से सर्व-प्रथम आवश्यक को ही गणधर-रचित मानने की परम्परा प्रारम्भ हुई और उसके बाद दूसरे अग-बाह्य ग्रन्थो को भी गणधर-कृत ग्रन्थो मे सम्मिलित करने लगे।[2]

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा किसलिए करना पडा ? इसका सीधा समाधान तो यह हो सकता है कि, गणधर विशिष्ट ऋद्धि सम्पन्न माने जाते थे और उन्होने भगवान् से सीधा उपदेश ग्रहण किया था। इसलिये दूसरो की अपेक्षा उनकी रचना की प्रामाणिकता बढ़ जाय यह स्वाभाविक है। इसलिये पीछे के आचार्यों ने आगम मे समावेश हो जाय ऐसे समस्त साहित्य को गणधरो के नाम चढाना उचित समझा, जिससे उसकी प्रामाणिकता मे सदेह की गु जाइश ही न रहे। इस प्रकार क्रमश आवश्यक से लेकर पुराणो तक समस्त अग-बाह्य साहित्य गणधर-कृत माना जाने लगा।

अग-बाह्य मे तो अनेक ग्रन्थ थे, तो भी आवश्यक को सर्वप्रथम गणधर-रचित मानने की परम्परा का प्रचलन इसलिये हुआ कि आगम-ग्रन्थो मे अनेक स्थलो पर जहा-जहा भगवान् महावीर के साक्षात् शिष्यो के श्रुतज्ञान-अभ्यास का निर्देश है वहा-वहा उन्होने "सामायिकादि ग्यारह अंगो का अध्ययन किया" ऐसे उल्लेख मिलते हैं। सामायिक, यह आवश्यक का प्रथम प्रकरण है। अध्ययन-क्रम मे यदि उसका स्थान ग्यारह अगो मे भी पहिले है, तो आवश्यक को गणधर-कृत मानने मे कोई विशेष आपत्ति नही होती। अतएव अग-बाह्य मे से आवश्यक को गणधरो की कृति के रूप मे सर्वप्रथम स्वीकार करें, यह स्वाभाविक है।

और, आवश्यक की सब से प्राचीनतम व्याख्या अनुयोगद्वार सूत्र के उपक्रमद्वार मे प्रमाणभेद की चर्चा करते हुए सूत्रागम आदि भेद किये हैं। आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन की ही चर्चा के प्रसग मे उक्त भेदो के करने से निर्युक्तिकार, भाष्यकार और अन्य टीकाकारो ने सामायिक अध्ययन को सामने रखकर ही इन भेदो का प्रतिपादन किया हो, यह स्वाभाविक है। इसी कारण वे समस्त, सामायिक के अर्थकर्त्ता के रूप मे तीर्थंकर को, सू कर्त्ता के रूप मे गणधर को मानते हैं। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि, अनुयोगद्वार सूत्र मे आगम के सूत्रागम आदि भेद करते हुए भी प्रस्तुत सामायिक सूत्र मे उसका उपसहार

---

1. पद्मचरित 1, 41–42, महापुराण (आदिपुराण) 1, 26, 1, 198–201
2. अगबाह्य की जिन भिन्न-भिन्न व्याख्याओ का उल्लेख करने मे आया है, उन कारणो पर विचार करने से एक कारण यह प्रतीत होता है कि, श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा और उनके साहित्य के सम्बन्ध मे ज्यो-ज्यो मतभेद तीव्रतम होता गया त्यो-त्यो अगबाह्य गणधरकृत मानने और मनवाने की प्रवृत्ति सबलता के साथ बढती गई और पुराण जैसे ग्रन्थो को भी गणधर-कृत कृतियो मे समावेश करते गए।

नही किया है। अनुयोगद्वार की अन्य स्थलो पर यह पद्धति है कि, प्रस्तुत, अप्रस्तुत समस्त भेदो का उल्लेख कर, अन्त मे उपसहार मे अप्रस्तुत का निराकरण कर, प्रस्तुत क्या है? उसका उल्लेख करते है।

3 आवश्यक निर्युक्ति के कर्त्ता

आचार्य भद्रबाहु नाम के अनेक आचार्य होने से एक की जीवन-घटना दूसरे के नाम पर, और एक का ग्रन्थ दूसरे के नाम पर चढ जाने की अधिक सम्भावनायें होती है। उदाहरण, स्वरूप, निर्युक्तियो मे प्रथम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के पश्चात् अनेक आचार्यो का नामोल्लेख होने पर भी आज तक यह मान्यता प्रचलित थी कि, समस्त निर्युक्तियां चतुर्दश पूर्वधर रचित है और आज भी बहुत से श्रद्धालु जीव इसी मान्यता से जुडे हुए है। साथ ही जहा श्वेताम्बर आगमो के अनुसार ऐसी कथा है कि, चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु योग साधना के लिए नेपाल गये, वहाँ यही भद्रबाहु दक्षिण मे गये थे, ऐसी कथा दिगम्बर साहित्य मे प्रचलित है। ऐसा लगता है कि, ये दोनो भिन्न-भिन्न भद्रबाहु के जीवन की घटनाए एक के नाम चढ गई हैं। इसमे कौनसी घटना कौन से भद्रबाहु के जीवन मे घटी है, यह अभी तक शोध का विषय है। आवश्यक आदि की जो निर्युक्तिया उपलब्ध हैं वे प्रथम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की नही, अपितु विक्रम की छठी शताब्दी मे विद्यमान दूसरे भद्रबाहु की रचना है, ऐसा मुनि श्री पुण्यविजयजी ने स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है।

आचार्य भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के ससारी अवस्था के भ्राता थे। जैन परम्परा मे वे नैमित्तिक और मन्त्रवेत्ता के रूप मे प्रसिद्ध हैं। वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका की प्रशस्ति मे रचना-काल शक सवत् 427 अर्थात् विक्रम सवत् 562 बताया है। इसलिये हम ऐसा कह सकते हैं कि, आचार्य भद्रबाहु छठी शताब्दी मे विद्यमान[1] थे।

---

1. भद्रबाहु चाहे छठी शताब्दी मे हुए हो, किन्तु प्रश्न यह है कि इनकी लिखी हुई निर्युक्तियो मे कोई प्राचीन भाग सम्मिलित है अथवा नही। श्री कुन्दकुन्द आदि के ग्रन्थो मे बहुत-सी गाथाएँ निर्युक्ति की है, भगवती आराधना और मूलाचार मे भी हैं, अत यह कैसे कहा जा सकता है कि उपलब्ध निर्युक्ति की समस्त गाथाएँ केवल छठी शताब्दी मे ही लिखी गई है ? यदि पुरानी गाथाओ का समावेश कर नई कृति उपलब्ध रूप मे उस समय बनी तो समग्र निर्युक्ति को छठी शताब्दी की ही कैसे माना जाए ? इसमे सन्देह नही कि हम यह निश्चय नही कर सकते कि पुरानी गाथाएँ कौन-कौन सी है और कितनी है ? फिर भी निर्युक्ति की व्याख्यान-पद्धति अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। अनुयोगद्वार प्राचीन है, उसकी गाथाए भी निर्युक्ति मे है। अत यदि छठी शताब्दी के भद्रबाहु ने उपलब्ध रचना लिखी हो, तो भी यह मानना पडता है कि प्राचीनता की परम्परा निराधार नही। छठी शताब्दी के भद्रबाहु की कृति मे से प्राचीन माने जाने वाले दिगम्बर ग्रन्थो मे गाथाएँ ली गई, यह कल्पना कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण मालूम होती है। यह अधिक सभव है कि समान पूर्व-परम्परा से दोनो मे कुछ लिया गया हो, जैसे कि कर्म-शास्त्र और जीवादि तत्वो की परिभाषा के विषय मे हुआ है।

आचार्य भद्रबाहु के नाम से विख्यात ग्रन्थो मे छेदसूत्र तो चतुर्दश पूर्वधर प्रथम भद्रबाहु की रचनाएँ है। निम्न ग्रन्थो की निर्युक्तिया प्रस्तुत भद्रबाहु द्वितीय की रचनाएँ स्वीकार की जानी चाहिए —

1 आवश्यक, 2 दशवैकालिक, 3. उत्तराध्ययन, 4 आचाराग, 5 सूत्रकृताग, 6 दशाश्रुतस्कन्ध, 7 कल्प-बृहत्-कल्प, 8 व्यवहार, 9 सूर्य प्रज्ञप्ति, 10 ऋषि-भाषित।

इन दस निर्युक्तियो के लिखने की प्रतिज्ञा स्वय भद्रबाहु ने आवश्यक[1] निर्युक्ति मे की है। इनमें से अन्तिम दो को छोडकर शेष सब उपलब्ध है।

प्राकृत-स्तोत्र उवसग्गहर भी इन्ही भद्रबाहु की रचना माना जाता है। इसमे शका करने का कोई कारण भी नही है। भद्रबाहु-सहिता भी उनकी कृति मानी जाती है, किन्तु इस नाम की उपलब्ध रचना उनकी हो, यह सन्देहास्पद है।

ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति, पचकल्पनिर्युक्ति, ये तीनो निर्युक्तियाँ क्रम से आव० नि०, दशवैकालिक नि० और कल्प-बृहत्-कल्प नि० की अशरूप हैं, अत वे पृथक् ग्रन्थ रूप नें नही गिनी गई। इनसे भिन्न ससक्तनिर्युक्ति, ग्रहशातिस्तोत्र, सपादलक्ष वसुदेवहिण्डी जैसे ग्रन्थो को उनकी रचना मानने में कई बाधाएँ है।[2]

4. आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्तियों का उपोद्घात

निर्युक्ति का स्वरूप

जिस प्रकार यास्क ने निरुक्त लिखकर वैदिक-शब्दो की व्याख्या निश्चित की, उसी प्रकार आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य मे निर्युक्तिया लिखकर जैनागम के पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या निश्चित की। उनकी इन निर्युक्तियो की सामान्य रूपेण यह विधा है—वे कभी भी ग्रन्थ के प्रत्येक शब्द अथवा प्रत्येक वाक्य का अर्थ या विवरण नही लिखते। वे साधारणत ग्रन्थ के नाम का प्रस्तुत अर्थ बताते है, ग्रथ के आधारभूत अन्य आगम प्रकरणो का उल्लेख करते हैं, तत्पश्चात् समस्त ग्रन्थ का विषयानुक्रम सक्षेप मे सूचित करते है। इसके अनन्तर प्रत्येक अध्ययन की निर्युक्ति लिखते समय सम्बन्धित अध्ययन के नाम का प्रस्तुत अर्थ स्पष्ट करते हैं और अध्ययन मे वर्णित कुछ महत्वपूर्ण शब्दो का विवरण लिखकर सन्तोष का अनुभव करते हैं। शब्दो के प्रस्तुत अर्थ का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये वे निक्षेप-पद्धति से शब्द के सभी सम्भावित अर्थ बताते है और अप्रस्तुत अर्थों का निराकरण कर, केवल प्रस्तुत अर्थ को स्वीकार करने की प्रेरणा प्रदान कर तथा तत्सम्बन्धी विशेष उल्लेखनीय बातो का प्रतिपादन कर व्याख्यापूर्ण कर देते हैं।

---

1. आव० नि० गा० 84–85।
2. आचार्य भद्रबाहु सम्बन्धी उक्त सभी तथ्य मुनि पुण्यविजयजी के महावीर जैन विद्यालय के रजत-महोत्सव अक (पृ० 185) मे प्रकाशित लेख के आधार पर लिखे गए है। उनका आभार मानता हूँ।

आवश्यक निर्युक्ति

सामान्य क्रम वैसा ही है जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है तथापि आवश्यक निर्युक्ति उनकी सर्वप्रथम निर्युक्ति है, अत उसमे कुछ विशेषताएँ दृग्गोचर होती हैं। इस निर्युक्ति मे उस विशेषता को इसलिए स्थान दिया गया है कि वह सभी निर्युक्तियो के लिए उपयोगी सिद्ध हो तथा उसकी पुनरावृत्ति न करनी पड़े। भारतीय सस्कार के अनुसार शुभ कार्य का प्रारम्भ मगल से होता है। अत आचार्य भद्रवाहु ने भी आवश्यक-निर्युक्ति मे पाच ज्ञान रूप नन्दी[1] मगल की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर मगलाचरण किया है। साथ ही उन्होने यह भी सकेत किया है कि जैन धर्म के अनुसार किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा गुण की महत्ता अधिक है। पीठिका-वन्ध स्वरूप (प्रस्तावना रूप) इस मगल कार्य को करने के वाद आचार्य ने अन्त मे लिखा है कि, इन पाच ज्ञानो मे श्रुतज्ञान का ही अधिकार प्रस्तुत है, क्योकि यही एक ऐसा ज्ञान है जो दीपक के समान स्व-पर-प्रकाशक है। अत श्रुतज्ञान के द्वारा ही अन्य मत्यादि ज्ञानो का और स्वय श्रुत का भी निरूपण हो सकता है।[2]

इतनी पीठिका वनाकर उन्होने उपोद्घात की रचना के लिए कुछ प्रासगिक वातें लिखी हैं। उसमे उन्होने सर्वप्रथम सामान्य रूप मे सभी तीर्थकरो को नमस्कार करने के वाद भगवान् महावीर को नमस्कार किया है, क्योकि उनका तीर्थ–शासन आजकल प्रवर्तमान है। भगवान् महावीर के उपदेश को धारण कर जिन्होने प्रथम वाचना दी, उन प्रवाचक गणधरो को नमस्कार करके गुरु परम्परा रूप गणधरवश–आचार्यवश तथा अध्यापक-परम्परा रूप वाचक वश–उपाध्याय

---

1 प्राकृत पद 'नन्दी' को सस्कृत मे 'नान्दी' कहते है। नाटको के प्रारम्भ मे सूत्रधार द्वारा किए गए मगलपाठ को नान्दी कहा जाता है। नाटको मे यह उल्लेख उपलब्ध होता है कि 'नान्द्यन्ते सूत्रधार'। इसका भाव यही है कि, मगलाचरण करने के पश्चात सूत्रधार आगे की प्रवृत्ति का प्रारम्भ करता है। मगल करना जनसाधारण की सामान्य प्रवृत्ति है। कही किसी पाठरूप मे और कही पुष्प, अक्षत आदि द्रव्यार्पण रूप मे। अनेक प्रकार का मगलाचरण माना जाता है। शास्त्र के प्रारम्भ मे देवस्तुति, नमस्कार आदि के रूप मे भी मगलानुष्ठान होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से जैन परम्परा शुद्ध गुण की पूजक और उपासक रही है। आध्यात्मिक गुणो मे ज्ञान का स्थान सर्वोपरि है। ज्ञान सर्वगम्य वस्तु है और वह चारित्र का अतरग कारण भी है। इसीलिए ही शास्त्र मे ज्ञान का वर्णन और वर्गीकरण मगलरूप मे भी किया गया है। जैन परम्परा मे मगल शब्द का व्यवहार भी अति प्राचीन काल से होता रहा है। दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम मे 'धम्मो मगल-मुक्किट्ठ' का प्रयोग है। ऐसा प्रतीत होता है कि, जव नाटक खेलने और लिखने की प्रवृत्ति अधिक लोकप्रिय होती गई और उसमे मगलसूचक नान्दी शब्द का प्रयोग सर्वसाधारण हो गया तव जैन ग्रन्थकारो ने भी इस शब्द का मगल अर्थ मे प्रयोग कर आध्यात्मिक दृष्टि से स्वाभिप्रेत ज्ञान गुण को मगलरूप प्रगट करने के लिए इसका उपयोग किया। इसी भावना के कारण ज्ञानो का वर्णन करने वाला शास्त्र 'नन्दी' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

2 आव० नि० गा० 79

यश को नमस्कार किया है[1] और भद्रबाहु ने यह प्रतिज्ञा की है कि, इन्होने श्रुत का जो अर्थ बताया है, वे उसकी निर्युक्ति अर्थात् श्रुत के साथ अर्थ की योजना[2] करेंगे। उन्होने प्रारम्भ मे यह भी सकेत कर दिया है कि, वे कौन-कौन से श्रुत के अर्थ की योजना करने का विचार रखते है। उन श्रुतों के नाम ये है—1 आवश्यक, 2 दशवैकालिक, 3 उत्तराध्ययन, 4. आचाराग, 5. सूत्रकृताग, 6 दशाश्रुतस्कन्ध,[3] 7 कल्प-वृहत्-कल्प, 8 व्यवहार, 9 सूर्य-प्रज्ञप्ति, 10. ऋषिभाषित।

रचना-क्रम

मेरा अनुमान है कि उन्होने जिस क्रम से आवश्यक निर्युक्ति में ग्रन्थो का उल्लेख किया है, उसी क्रम से उनकी-निर्युक्तियो की रचना की होगी। इस बात का समर्थन निम्न लिखित कतिपय प्रमाणो से होता है :—

1. उत्तराध्ययन निर्युक्ति मे 'विनय' की निर्युक्ति करते हुए कहा गया है कि, इस विषय मे पहले लिखा जा चुका है,[4] यह बात दशवैकालिक के 'विनय समाधि' नामक अध्ययन की निर्युक्ति को लक्ष्य मे रखकर लिखी गयी है। इससे सिद्ध होता है कि, उत्तराध्ययन निर्युक्ति से पहले दशवैकालिक निर्युक्ति की रचना हो चुकी थी।

2 'कामा पुव्वुद्दिट्ठा'–उत्तराध्ययन निर्युक्ति गा० 208 से सकेत किया है कि, काम के विषय मे पहले विवेचन हो चुका है। यह दशवैकालिक निर्युक्ति 161 मे है। अत उत्तराध्ययन निर्युक्ति से पहले दशवैकालिक निर्युक्ति की रचना हुई।

3 उत्तराध्ययन निर्युक्ति की–100वी गाथा आवश्यक निर्युक्ति मे से वैसी की वैसी उद्धरित की गई है (आवश्यक निर्युक्ति 1279)।

4 आवश्यक निर्युक्ति मे निह्नववाद सम्वन्धी जो गाथाएँ हैं (778 से) वे सभी सामान्यत उसी रूप मे उत्तराध्ययन मे ली गई है, (नि० गा० 164 से)। इससे और आवश्यक निर्युक्ति के प्रारम्भ की प्रतिज्ञा से भी सिद्ध होता है कि, उत्तराध्ययन निर्युक्ति से पहले आवश्यक निर्युक्ति वन चुकी थी।

5. आचाराग निर्युक्ति 5 मे कहा है कि 'आचार' और 'अग' के निक्षेप का कथन पहले हो चुका है। इससे दशवैकालिक निर्युक्ति तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति की रचना आचाराग निर्युक्ति से पहले सिद्ध होती है। कारण यह है कि, दशवैकालिक के क्षुल्लिकाचार अध्ययन की निर्युक्ति मे 'आचार' की तथा उत्तराध्ययन के 'चतुरग' अध्ययन की निर्युक्ति मे 'अंग' की जो निर्युक्ति की गई है, आचार्य ने उसी का उल्लेख किया है।

6 इसी प्रकार आचाराग निर्युक्ति 176 मे कहा है कि 'लोगो भणिओ'। इसमे भी आवश्यक निर्युक्ति के 'लोगस्स' पाठ की निर्युक्ति का निर्देश है।

---

1. आव० नि० गा० 82
2 आव० नि० गा० 83
3 आव० नि० गा० 84–86
4. उत्त० नि० 29 'विणओ पुव्वुद्दिट्ठो'

7 आचारांग निर्युक्ति 346 में कहा है कि, उत्तराध्ययन के 'मोक्ष' शब्द की निर्युक्ति के समान ही 'विमुक्ति' शब्द की व्याख्या समझ लेनी चाहिए। इससे भी ज्ञात होता है कि उत्तराध्ययन निर्युक्ति की रचना आचारांग निर्युक्ति से पहले हुई।

8 सूत्र० नि० में 'करण' की व्याख्या (गा० 5–13) आवश्यक सूत्र० नि० की गाथाओं (1030 आदि) जैसी ही है। यही गाथाएँ उत्त० (183 आदि) में भी हैं।

9 सूत्र० नि० गा० 99 में कहा है कि 'धर्म' शब्द का निक्षेप पहले लिखा जा चुका है। यह उल्लेख दश० नि० गा० 39 को लक्ष्य में रख कर किया गया है। अत सूत्र० नि० से पहले दश० नि० की रचना हुई।

10 सूत्र० नि० 127 में कहा है कि 'ग्रन्थ' का निक्षेप पहले आ चुका है। इसमें उत्त० नि० 240 की ओर संकेत है। अत उत्त० नि० सूत्र० नि० से पहले लिखी गई।

निर्युक्ति का शब्दार्थ

इस प्रकार जितनी निर्युक्तियां लिखने की उनकी इच्छा थी, उन सब का एक साथ निर्देश करने के पश्चात् उन्होंने क्रम-प्राप्त सामायिकाध्ययन की निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है तथा निर्युक्ति शब्द की व्याख्या भी स्पष्ट की है। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। निर्युक्ति का प्रयोजन यह है कि, वह इस बात की शोध करे कि कौनसा अर्थ अधिक उपयुक्त है, अथवा भगवान् के उपदेश के समय सर्वप्रथम अमुक शब्द के साथ कौन-सा अर्थ सम्बद्ध था। इस शोध के अनन्तर निर्युक्ति सूत्र के शब्दों के साथ उस अर्थ की उपपत्ति का निश्चय[1] करती है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये अनिवार्य है कि, निर्युक्ति में सर्वत्र निक्षेप-पद्धति का आश्रय लिया जाए। अत आचार्य जिस शब्द की व्याख्या करना चाहते हैं, सब से पहले वे उसके निक्षेपों के सम्भावित अर्थों की योजना करते हैं और फिर अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण कर प्रस्तुत अर्थ को सूत्रों के शब्दों के साथ सम्बद्ध करते हैं।

निर्युक्ति का लक्षण लिखने के उपरान्त आचार्य ने एक सुन्दर रूपक द्वारा यह वर्णन किया है कि, जैन शास्त्रों का उद्भव कैसे हुआ ? "अमित ज्ञानी तप-नियम ज्ञान रूप वृक्ष पर आरूढ होकर भव्यजनों के बोध के उद्देश्य से ज्ञान की वृष्टि करते हैं। गणधर उसे सम्पूर्णत अपने बुद्धिपट में धारण करते हैं। फिर वे प्रवचन के निमित्त तीर्थंकर-भाषित की माला का गूथन करते हैं।"[2]

भगवान् के उपदेश को सूत्रबद्ध अथवा ग्रन्थबद्ध करने का यह लाभ है कि, जिन व्यक्तियों ने भगवान् का उपदेश न सुना हो, अथवा जो सुन कर भी सम्पूर्ण विषय को स्मृति-पट में न रख सके हों, वे इन ग्रन्थों का आश्रय लेकर भगवान् के उपदेश को सरलता पूर्वक ग्रहण कर सकते हैं, उसका अभ्यास कर सकते हैं तथा उसे धारण कर सकते हैं। इसी उद्देश्य से गणधर प्रवचन-माला गूथते हैं।[3]

---

1. आव० नि० गा० 88
2. आव० नि० गा० 89-90
3. आव० नि० गा० 91

पुनश्च भगवान् केवल सक्षेप से ही अर्थ का कथन करते है, उस कथन को कुशलता पूर्वक व्यवस्थित सूत्र-ग्रन्थ का रूप प्रदान करना गणधरो का ही कार्य है। इस प्रकार शास्त्रो की प्रवृत्ति शासन के हित के लिए हुई है।[1] आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट रूप से शास्त्र-प्रवर्तन का जो यह इतिहास बताया है, वह सभी शास्त्रो के लिए सामान्य है। उन्हे जिन शास्त्रो की निर्युक्ति लिखनी थी, वे या तो गणधरो की कृतियाँ है अथवा उसके आधार पर लिखी गई रचनाएँ हैं। अत उन्होने इस तथ्य का कथन आवश्यक निर्युक्ति के प्रकरण मे ही करना उचित समझा।

अगो मे आचाराग का क्रम सर्वप्रथम है, तथापि आचार्य भद्रबाहु ने गणधर-कृत सम्पूर्ण श्रुत के आदि मे सामायिक का तथा अन्त मे बिन्दुसार का उल्लेख कर लिखा है कि, श्रुत-ज्ञान का सार चारित्र है तथा चारित्र का सार निर्वाण है।[2] आचाराग के स्थान पर सामायिक को प्रथम क्रम देने का कारण यह प्रतीत होता है कि, अग-ग्रन्थो मे भी जहा-जहा भगवान् महावीर के श्रमणो के श्रुतज्ञान सम्बन्धी अभ्यास की चर्चा है, वहा अनेक स्थलो पर बताया गया है कि वे अग-ग्रन्थो से भी पूर्व सामायिक का अध्ययन करते थे। इसीलिए आचार्य भद्रबाहु ने केवल गणधर-कृत माने जाने वाले अगो मे आवश्यक सूत्र का समावेश करना उचित माना। कारण यह है कि सामायिक आवश्यक सूत्र का प्रथम अध्ययन है।

इसी प्रसग पर आचार्य ने इस बात का कुछ विस्तार-पूर्वक प्रतिपादन किया है कि, ज्ञान और चारित्र दोनो ही मोक्ष के लिए आवश्यक है और अन्त मे अन्धे और लगडे व्यक्तियो के साख्य-प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा बताया है कि, ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3] इस विषय का यहा उल्लेख इसलिए आवश्यक था कि कुछ लोग क्रिया-जड बन कर ज्ञान की आवश्यकता स्वीकार नही करते थे और कुछ ज्ञान-गौरव के अभिमान मे चूर होकर क्रिया-शून्य बन जाते थे। अत उन्हे यह बताना जरूरी था कि, श्रुत-ग्रन्थो को पढ कर भी अन्त मे तदनुसार आचरण किए बिना निर्वाण-प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। यह प्रयत्न भी निर्वाण-मार्ग के लिए लाभप्रद था। अत उसको स्वीकार किया गया।

तत्पश्चात् सामायिक के अधिकारी के निरूपण के व्याज से वस्तुत श्रुत-ज्ञान के अधिकारी का ही निरूपण किया गया है। क्योकि श्रुत-ज्ञान के अधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि, वह सर्वप्रथम सामायिक का ही अध्ययन करे। अधिकारी किस प्रकार क्रमश विकास की सीढी पर आरूढ होता है, यह भी उपशम और क्षपक श्रेणी के वर्णन द्वारा प्रतिपादित किया गया है। विकास-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ जीव केवली बनता है और समस्त लोकालोक को जानता है।[4] ऐसे केवली का उपदेश ग्रहण करके ही गणधर शास्त्रो की रचना करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण विकास-मार्ग का निदर्शन कराकर आचार्य के कथन का तात्पर्य यही है कि जो

---

1 आव० नि० गा० 92

2 आव० नि० गा० 93

3 आव० नि० गा० 94–102

4 आव० नि० गा० 104–127

सामायिक श्रुत का अधिकारी होता हैं, वही कभी क्रमेण विकास-मार्ग का आश्रय लेकर तीर्थंकर वन सकता है और सुने हुए ज्ञान को साक्षात् ज्ञान मे परिणत करने के पश्चात् अपना शासन स्थापित करने मे सफल होता हैं तथा जिन प्रवचन को उत्पन्न कर सकता है।

इस पद्धति से जिन प्रवचन की उत्पत्ति के सामान्य क्रम का उल्लेख कर, जिन प्रवचन सूत्र तथा अर्थ अर्थात् अनुयोग के पर्याय सगृहीत किए गए हैं जो ये हैं[1]—

प्रवचन—श्रुत, धर्म, तीर्थ, मार्ग ये पर्यायवाची हैं।

सूत्र—तत्र, ग्रथ, पाठ, शास्त्र ये पर्यायवाची हैं।

अनुयोग—नियोग, भाष्य, विभाषा, वार्तिक ये पर्यायवाची हैं।

उपोद्घात

अनुयोग तथा अननुयोग का सोदाहरण निक्षेप सहित विवरण[2] करने के वाद भाषा, विभाषा और वार्तिक के भेद दृष्टान्त सहित स्पष्ट किए[3] गए हैं। व्याख्यान विधि का विवेचन करते हुए आचार्य तथा शिष्य की योग्यता का सदृष्टान्त निरूपण[4] किया गया है।

इतनी प्रासगिक चर्चा करने के उपरान्त आचार्य सामायिक अध्ययन के उपोद्घात की रचना करते है। अर्थात् उन्होने सामायिक सम्बन्धी कुछ प्रश्न उठाए हैं और उनकी चर्चा द्वारा उन सम्बन्धित विषयो का निरूपण किया हैं जिनका ज्ञान सामायिक के सूत्र-पाठ की व्याख्या करने से पहले सामान्यत आवश्यक है। आजकल किसी भी पुस्तक की प्रस्तावना मे जिन बातो की चर्चा आवश्यक होती है, वैसी ही वातो की चर्चा आचार्य ने उपोद्घात मे की है जो इस प्रकार हैं[5] :—

1 उद्देश—जिसकी व्याख्या करनी हो, उसका सामान्य कथन, जैसे कि, अध्ययन। 2. निर्देश—जिसकी व्याख्या करनी हो उसका विशेष कथन, जैसे कि सामायिक। 3. निर्गम—व्याख्येय वस्तु का निर्गम, सामायिक का आविर्भाव किस से हुआ ? 4. क्षेत्र—उसके क्षेत्र-देश की चर्चा। 5. काल—उसके समय की चर्चा। 6 पुरुष—किस पुरुष से इस वस्तु की प्राप्ति हुई ? 7 कारण चर्चा। 8 प्रत्यय—श्रद्धा की चर्चा। 9 लक्षण चर्चा। 10 नय विचार। 11 समवतार—नयो की अवतारणा। 12 अनुमत—व्यवहार निश्चय की अपेक्षा से विचार। 13 किम्—यह क्या है ? 14 उसके भेद कितने हैं ? 15 किसको है ? 16 कहा है ? 17. किसमे है ? 18 किस तरह प्राप्त होती है ? 19 कितने समय स्थिर रहती है ? 20. कितने प्राप्त करते हैं ? 21 विरह काल कितना है ? 22 अविरह काल कितना है ? 23 कितने भव तक प्राप्त करता है ? 24. कितनी वार स्वीकार करता है ? 25 कितने क्षेत्र का स्पर्श करता है ? और 26. निरुक्ति।

---

1 आव० नि० गा० 130-131

2. आव० नि० गा० 132-134

3 आव० नि० गा० 135

4. आव० नि० गा० 136-139

5 आव० नि० गा० 140-141

भगवान् ऋषभदेव—परिचय

निर्गम के विवरण मे आचार्य ने उददेशादि के समान निर्गम के भी नामादि छह निक्षेप[1] करके उसके अनेक अर्थ बताए है। इस प्रसग पर यह भी लिखा है कि, भगवान् महावीर का मिथ्यात्वादि से निर्गम[2]—निकलना किस प्रकार हुआ? इस व्याज से भगवान् महावीर के पूर्व-भवो की चर्चा करते हुए भगवान् ऋषभदेव के युग से पूर्वकालीन कुलकरो के समय से आचार्य ने इतिहास प्रारम्भ किया है।[3] उसमे कुलकरो[4] के पूर्वभव, जन्म, नाम, प्रमाण, सहनन, सस्थान, वर्ण, उनकी स्त्रिया, आयु, कितने वर्ष की आयु मे कुलकर बने, मर कर कौन से भव मे गए, उनके समय की नीति–इन विषयो की चर्चा की गई है। अन्तिम कुलकर नाभि की पत्नी का नाम मरु देवी था। विनीता भूमि मे उनका निवास था। ऋषभदेव उनके पुत्र थे। ऋषभदेव पूर्वभव मे वैरनाभ नाम के राजा थे। उस भव मे उन्होने तीर्थंकर नाम-कर्म बाधा और वे सर्वार्थसिद्धि मे देव हुए। वहा से च्युत होकर वे ऋषभदेव बने।[5] यहा पर ऋषभदेव के भी अनेक पूर्व-भवो का वर्णन है।[6] जिन बीस कारणो के आधार पर उनके जीव ने तीर्थंकर नाम-कर्म का बधन किया, उनके नाम का भी निर्देश है।[7] तीर्थंकर नाम-कर्म सम्बन्धी कुछ और बातो का भी उल्लेख है।[8] उस के बाद ऋषभदेव के जीवन के विषय मे निम्नलिखित बातो का वर्णन है—जन्म, नाम, वृद्धि, जाति-स्मरण, विवाह, सन्तान, अभिषेक, राज्य-सग्रह।[9] तत्पश्चात् आचार्य ने आहार, शिल्प, कर्म, परिग्रह, विभूषा इत्यादि 40 विषयो की चर्चा द्वारा उस युग का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न किया है और बताया है कि उस युग के निर्माण मे ऋषभदेव की क्या देन थी।[10] निर्युक्ति मे इन सब विषयो की चर्चा नही की गई, केवल उनका निर्देश है। ऋषभदेव का चरित्र-वर्णन करते हुए 24 तीर्थंकरो के चरित्र पर भी साधर्म्य, वैधर्म्य, सम्बोधन, परित्याग इत्यादि 21 विषयो के आधार पर विचार किया गया है।[11] यहा अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे 24 तीर्थंकरो के जीवन का सार दे दिया गया है। इन सब बातो का वर्णन क्यो करना पडा, इस का पूर्वापर सम्बन्ध बताते हुए आचार्य ने कहा है कि, सामायिक के निर्गम के विचार मे भगवान् महावीर के पूर्वभवो की चर्चा के अन्तर्गत उन के मरीचि जन्म का विचार आवश्यक था, अत भगवान्

---

1 आव० नि० गा० 145
2 आव० नि० गा० 146
3 आव० नि० गा० 150
4. आव० नि० गा० 152
5 आव० नि० गा० 170
6 आव० नि० गा० 171–178
7. आव० नि० गा० 179–181
8 आव० नि० गा० 182–184
9 आव० नि० गा० 185–202
10. आव० नि० गा० 203 से
11. आव० नि० गा० 209–312

ऋपभदेव का प्रसग उपस्थित हुग्रा[1], क्योकि मरीचि ऋपभदेव के पौत्र थे। इस सम्वन्ध का प्रतिपादन करने के उपरात ग्राचार्य ने दीक्षा के प्रसग से ऋपभ-चरित्र पुन प्रारम्भ करते हुए लिखा है कि, उन्हे एक वर्प के वाद भिक्षा प्राप्त हुई। इम जगह ग्राचार्य ने वताया है कि, 24 तीर्थंकरो का पारणा कौन-कौन से नगर मे हुग्रा था[2], किस-किस ने उन्हे प्रथम भिक्षा दी, उनके नाम क्या थे।[3] उस समय जो दिव्य वृष्टि हुई, उसका भी ग्रतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया गया है ग्रौर यह भी लिखा है कि, भिक्षा देने वालो मे कुछ उसी भव मे तथा कुछ तीसरे भव मे निर्वाण को प्राप्त हुए।[4]

भगवान् के दर्शनार्थ घर से निकलने पर भरत को उन के दर्शन नही हुए, ग्रतः उसने उनके स्मरण मे धर्म-चक्र की स्थापना की। इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि, ऋपभदेव एक हजार वर्प तक छद्मस्थ पर्याय मे विचरण करते रहे, उसके वाद उन्हें केवलज्ञान हुग्रा। ग्रत उन्होने पाँच महाव्रतो की प्ररूपणा की ग्रौर देवो ने उत्सव मनाया।[5] केवलज्ञान की उत्पत्ति के दिन ही भरत की ग्रायुधशाला मे चक्र रत्न भी उत्पन्न हुग्रा। सेवको ने तत्क्षण ही भरत को ये दोनो समाचार सुनाए। उसने विचार किया कि, पहले ग्रपने पिता ऋपभदेव की पूजा करनी चाहिए, क्योकि चक्र केवल इसी भव मे उपकारी है किन्तु पिताजी परलोक के लिए भी हितकारी हैं।[6] भगवान् की माता मरुदेवी, पुत्र, पुत्री, पौत्र ग्रादि उनके दर्शनार्थ ग्राए ग्रौर उपदेश सुनकर कई दीक्षित हो गए। भगवान् महावीर के पूर्वभव के जीव मरीचि ने भी दीक्षा ली।[7] भरत की दिग्विजय ग्रौर भगवान् की धर्म विजय शुरु हुई। भरत ने ग्रपने छोटे भाईयो से कहा कि, वे उसकी ग्राज्ञा के ग्रधीन हो जाएँ। उन्होने भगवान् से परामर्श किया ग्रौर उन के उपदेशानुसार वाहुवलि के ग्रतिरिक्त सभी ने दीक्षा लेली। दूत से यह समाचार सुनकर वाहुवलि क्रुद्ध हुग्रा ग्रौर उसने भरत को युद्ध के लिए ललकारा। सेना का सहार करने की ग्रपेक्षा वे दोनो ही युद्ध कर ले, यह निश्चय हुग्रा। ग्रन्त मे भरत को ग्रधर्म-युद्ध करते हुए देख वाहुवलि के मन मे वैराग्य उत्पन्न हुग्रा ग्रौर उसने दीक्षा ले ली।[8]

इसके पश्चात् ग्राचार्य ने परीपह सहने मे ग्रसमर्थ होने के कारण मरीचि द्वारा त्रिदडी सम्प्रदाय की स्थापना, व्राह्मणो की उत्पत्ति ग्रौर उनके पतन का वर्णन किया है।[9] किसी ग्रन्य

---

1 ग्राव० नि० गा० 313
2 ग्राव० नि० गा० 323–325
3 ग्राव० नि० गा० 326–329
4 ग्राव० नि० गा० 330–334
5. ग्राव० नि० गा० 335–341
6 ग्राव० नि० गा० 342–343
7. ग्राव० नि० गा० 344–347
8. ग्राव० नि० गा० 348–349
9. ग्राव० नि० गा० 350–366

प्रसग पर भरत ने भगवान् से जिन और चक्री के विषय मे प्रश्न किया और उन्होने इनका विस्तृत वर्णन करके वासुदेव और वलदेव के विषय मे भी कई वातें वताई ।[1]

भरत ने भगवान् से पूछा कि, क्या इस सभा मे कोई भावी धर्मवर चक्रवर्ती-तीर्थंकर है ? इसके उत्तर मे भगवान् ऋषभदेव ने अपने पौत्र ध्यानस्थ परिव्राजक मरीचि को दिखाया और कहा कि, वह 'वीर' नाम का अन्तिम तीर्थंकर होगा, वही अपनी नगरी मे त्रिपृष्ठ नाम का आदि वासुदेव और विदेह क्षेत्र की मूकानगरी मे प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती भी होगा। यह सुनकर भरत भगवान् को नमस्कार करके मरीचि को नमस्कार करने गया और वन्दना नमस्कार करके कहने लगा, "मैं इस परिव्राजक मरीचि को नमस्कार नही कर रहा हूँ किन्तु तुम भविष्य मे तीर्थंकर होने वाले हो, इसलिए तुम्हे नमस्कार करता हू।" यह सुनकर मरीचि गर्व से फूल गया और हर्षोन्मत्त होकर अपने श्रेष्ठ कुल की प्रशसा करने लगा ।[2]

भगवान् ऋषभदेव विचरण करते हुए अष्टापद पर्वत पर पहुँचे और वहा उन्होने निर्वाण प्राप्त किया ।[3] निर्वाण के उपरान्त उनकी चिता की रचना की गई और उस समय उनकी अस्थियाँ तथा भस्म ग्रहण करने से याचक आहिताग्नि की परम्परा किस प्रकार प्रसिद्ध हुई, इसका उल्लेख किया है। आचार्य ने यह भी लिखा है कि, उस स्थान पर स्तूपो और जिनगृहो का निर्माण हुआ। तत्पश्चात वताया गया है कि, आदर्शगृह-काचगृह मे अँगूठी के गिरने से भरत किस प्रकार वैराग्य एव ज्ञान-पथ पर आरूढ हुए और दीक्षित हुए ।[4]

भगवान् के निर्वाण के वाद मरीचि ने अन्तिम अवस्था में कपिल नाम का शिष्य वनाया। अव तक मरीचि अपनी निर्वलता स्वीकार किया करता था और भगवान् के धर्म का ही प्ररूपण करता था। यदि कोई दीक्षार्थी आता तो वह उसे दूसरे साधुओ को सौंप देता, किन्तु अव उसने कपिल से कहा कि, यहा भी धर्म है। अत कपिल ने उसके पास दीक्षा ली। इस मिथ्या-भाषण के कारण मरीचि कोटा-कोटी सागरोपम तक ससार सागर मे भटकता रहा। कुल-मद के कारण उसने नीच गोत्र भी बाधा। मरकर वह ब्रह्मलोक मे उत्पन्न हुआ और उसने साख्य तत्व का प्रचार किया ।[5]

भगवान् महावीर

इसके उपरान्त मरीचि के अनेक भवो का वर्णन करने के पश्चात् वताया गया है कि, अन्त मे वह ब्राह्मणकुण्ड ग्राम मे कोडाल-सगोत्र ब्राह्मण के घर देवानन्दा की कुक्षि मे देवलोक से च्युत होकर उत्पन्न हुआ ।[6]

---

1 आव० नि० गा० 367–421
2. आव० नि० गा० 422–432
3 आव० नि० गा० 433–434
4 आव० नि० गा० 435–436
5. आव० नि० गा० 437–439
6. आव० नि० गा० 440–457

यहा से भगवान् महावीर का चरित्र प्रारम्भ होता है। आचार्य ने निर्देश किया है कि निम्न बातों का वर्णन किया जाएगा—1 स्वप्न, 2 गर्भापहार, 3. अभिग्रह, 4. जन्म, 5. अभिषेक, 6 वृद्धि, 7 जाति-स्मरण, 8 देव द्वारा डराने का प्रयत्न, 9. विवाह, 10. अपत्य, 11. दान, 12 सम्बोधन, 13 महाभिनिष्क्रमण[1]। महावीर ने माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् दीक्षा ली।[2] गोप द्वारा परीषह किए जाने के बाद शक्रेन्द्र भगवान् के पास सहायतार्थ आया, इसकी भी सूचना निर्युक्ति में है। कोल्लाक सन्निवेश मे ब्राह्मण बहुल द्वारा पारणे के निमित्त वसुधारा[3] का उल्लेख है। महावीर अपने पिता के मित्र दुइज्जत की कुटी मे भी रहे। वहाँ उन्होंने पाँच तीव्र अभिग्रह–प्रतिज्ञाएँ स्वीकार की—1. जहा रहने से मकान का मालिक नाराज हो वहाँ नही रहना, 2. प्राय· कायोत्सर्ग अवस्था मे रहना, 3 प्राय मौन रहना, 4 भिक्षा हाथ मे ही लेना, पात्र मे नही और 5. गृहस्थ को वन्दना नही करना।[4] कोल्लाक सन्निवेश से प्रस्थान कर उन्होंने अस्थिग्राम मे चातुर्मास किया। वहाँ शूलपाणि का उपद्रव[5] हुआ, उसने अनेक भयकर उपसर्ग किए और अन्त मे हार मानकर उसने भगवान् की स्तुति की।[6]

भगवान् के साधनाकालीन[7] विहार मे उनमे गोशालक मिला। निर्युक्ति मे गोशालक के पराक्रम (?) भगवान् के उग्र परीषह, उपसर्ग तथा सन्मान का वर्णन कर बताया गया है कि, उन्हे जृम्भिक गाँव के बाहर, ऋजुवालुका नदी के तट पर, वैयावृत्य चैत्य के निकट, श्यामाक गृहपति के क्षेत्र में, शाल वृक्ष के नीचे, षष्ठभक्त के तप की अवस्था मे, उकडु आसन की स्थिति मे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।[8]

इसके बाद आचार्य ने भगवान की सम्पूर्ण तपस्या का उल्लेख किया[9] है और कहा है कि उन की छद्मस्थ पर्याय बारह वर्ष और साढे छह महीने की थी।[10]

गणधर-प्रसग

केवलज्ञान होने के उपरान्त भगवान् महावीर रात के समय मध्यमापापा नगरी के निकट महासेन वन के उद्यान मे पहुँच गए। वहाँ दूसरा समवसरण हुआ। सोमिलार्य नाम के ब्राह्मण के घर दीक्षा (सस्कार विशेष) के अवसर पर यज्ञवाटिका मे एक विशाल समुदाय

---

1 आव० नि० गा० 458
2 आव० नि० गा० 459–460
3 आव० नि० गा० 461
4 आव० नि० गा० 462–463
5 आव० नि० गा० 463
6 आव० नि० गा० 464
7. आव० नि० गा० 464–525
8 आव० नि० गा० 472–526
9 आव० नि० गा० 527–536
10 आव० नि० गा० 537–538

एकत्रित हुआ था। यज्ञवाटिका के उत्तर मे एकान्त स्थान मे देवेन्द्र व दानवेन्द्र जिनेन्द्र की महिमा का गान कर रहे थे।[1] आचार्य ने समवसरण का भी विस्तृत वर्णन किया है।[2]

दिव्य घोष का श्रवण कर यज्ञवाटिका मे बैठे हुए लोगो को प्रसन्नता हुई कि उनके यज्ञ से आकृष्ट होकर देवता आ रहे है। भगवान् के 11 गणधर उस यज्ञवाटिका मे आए हुए थे। वे सभी उच्चकुलो के थे। आचार्य ने उनके नाम भी गिनाए है। उन्होने दीक्षा क्यो ली ? उनके मन मे क्या-क्या सशय थे ? उनके शिष्यो की सख्या कितनी थी ? इन सब बातो का भी वर्णन किया है।[3]

किन्तु जब उन्हे ज्ञात हुआ कि देवता तो जिनेन्द्र का यशोगान कर रहे है, तब अभिमानी इन्द्रभूति क्रोध के साथ भगवान् महावीर के पास आया। भगवान् ने उसे नाम-गोत्र से बुलाया। भगवान् ने उसके मन मे विद्यमान सशय का कथन करके कहा कि, तुम वेद-पदो का अर्थ नही जानते, मैं तुम्हे उनका सच्चा अर्थ बताता हूँ। जब उसके सशय का निवारण हो गया, तब उसने अपने पाँच-सौ शिष्यो के साथ दीक्षा लेली। इसी प्रकार अन्य गणधरो की दीक्षा हुई।[4] इस उल्लेख के बाद आचार्य ने गणधरो के सम्बन्ध मे कुछ बाते लिखी है।[5]

शेष-द्वार

इस पद्धति से उपोद्घात निर्युक्ति के द्वारो मे से निर्गम द्वार का वर्णन करते हुए सामायिक के अर्थकर्ता तीर्थंकर और सूत्रकर्ता गणधरो के निर्गम का प्रतिपादन किया।[6] तत्पश्चात् निर्गम के कालादि अन्य निक्षेपो की विवेचना है।[7] इस प्रसग मे विशेषतः इच्छाकार, मिथ्याकार आदि दस प्रकार की सामाचारी की व्याख्या विस्तार पूर्वक की गई है।[8]

क्षेत्र-काल विवेचन मे प्रश्न किया है कि प्रस्तुत क्या है ? **खेत्तम्मि कम्मि काले विभासिय जिणवरिंदेण'**[9] (733) अर्थात् किस क्षेत्र और किस काल मे जिनवरेन्द्र ने (सामायिक को) प्रकट किया ? इसके उत्तर मे कहा है कि, वैशाख शुक्ल एकादशी के दिन पूर्वाह्न मे महासेन उद्यान मे भगवान् ने सामायिक को प्रकट किया। अर्थात् इस क्षेत्र और इस समय मे (सामायिक का) साक्षात् निर्गम है। अन्य क्षेत्रो और काल मे उसका परम्परा से निर्गम है।[10]

---

1 आव० नि० गा० 539–542
2. आव० नि० गा० 543–590
3 आव० नि० गा० 591–597
4 आव० नि० गा० 598–641
5 आव० नि० गा० 642–659
6 'उक्त सामायिकार्थसूत्रप्रणेतृणा तीर्थकर-गणधराणा निर्गम' आव० नि० हरि० टी० पृ० 257 गा० 660 का उत्थान।
7 आव० नि० गा० 660
8 आव० नि० गा० 666–723
9 आव० नि० गा० 733 (विशेषा० 2082)
10 आव० नि० गा० 734 (विशेषा० 2083, 2089)

उद्देशादि द्वार गाथा के पुरुष का अन्त मे भाव-पुरुष रूप तात्पर्य बता कर[1] कारण द्वार का कुछ विस्तृत वर्णन[2] किया है। साथ ही ससार और मोक्ष के कारण की भी चर्चा की गई है।[3] यहाँ इस बात का भी स्पष्टीकरण किया गया है कि तीर्थंकर किसलिए सामायिक अध्ययन का कथन करते हैं और गणधर उसे क्यो सुनते हैं ?[4] प्रत्यय द्वार का भी ऐसे ही स्पष्टीकरण किया है।[5]

लक्षण द्वार मे वस्तु के लक्षण की चर्चा की गई है।[6] नय द्वार मे सात मूल नयो के नामो का उल्लेख है[7] और उनके लक्षण भी बताए गए हैं। प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद होते हैं। पाँच मूल नयो को स्वीकार करने की मान्यता का भी निर्देश किया गया है।[8] नय के द्वारा दृष्टिवाद मे प्ररूपणा की गई है।[9] वस्तुत जिनमत मे एक भी सूत्र अथवा अर्थ ऐसा नही जो नय-विहीन हो। अत नय-विशारद को चाहिए कि वह श्रोता की योग्यता देख कर नय सम्बन्धी विवेचन करे।[10] किन्तु आजकल कालिक श्रुत मे नयावतारणा नही होती।[11] आचार्य ने यह भी लिखा है कि ऐसा क्यो हुआ ? उनका कथन है कि, पहले कालिक का अनुयोग अपृथक् था, किन्तु आर्य वज्र के बाद कालिक का अनुयोग पृथक् किया गया है।[12] इस अवसर पर आचार्य ने आर्य वज्र की जीवन घटनाओ का अत्यन्त आदर पूर्वक वर्णन किया है[13] और अन्त मे लिखा है कि आर्य रक्षित ने चारो अनुयोग पृथक् किए[14]। आर्य रक्षित का भी सक्षिप्त जीवन लिखा गया है।[15]

आर्य रक्षित के शिष्य गोष्ठामाहिल से अबद्धिक निह्नव का प्रारम्भ हुआ। इस प्रकरण के अन्तर्गत भगवान् महावीर के शासन मे आचार्य के समय तक जितने निह्नव हुए; उन सब का सक्षेप मे वर्णन किया गया है।[16]

---

1 आव० नि० गा० 736
2 आव० नि० गा० 737
3 आव० नि० गा० 740–741
4 आव० नि० गा० 742–748
5 आव० नि० गा० 749–750
6 आव० नि० गा० 751
7 आव० नि० गा० 754–758
8. आव० नि० गा० 759
9 आव० नि० गा० 760
10 आव० नि० गा० 761
11. आव० नि० गा० 762
12 आव० नि० गा० 763
13 आव० नि० गा० 764–772
14 आव० नि० गा० 774–777
15 आव० नि० गा० 775–776
16. आव० नि० गा० 778–788 (मलयगिरि)

सामायिक

इतनी प्रासगिक चर्चा करने के पश्चात् अनुमत[1] द्वार की व्याख्या करके आचार्य ने 'सामायिक क्या है ?[2] इस द्वार की चर्चा प्रारम्भ की है। यहाँ नय-दृष्टि से सामायिक पर विचार किया गया है। सामायिक के भेदो पर विचार करते हुए उसके तीन भेद बताए गए हैं:— सम्यक्त्व, श्रुत, चारित्र।[3] 'सामायिक किस की होती है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि, जिसकी आत्मा सयम, नियम और तप मे रमण करती है, उसी की सामयिक है। जो सब जीवो के प्रति सम-भाव रखता है, उसकी सच्ची सामायिक है।[4] तदनन्तर सामायिक के कारण–आचरण का उपदेश दिया गया है।[5] 'सामायिक कहाँ है' इस प्रश्न के उत्तर मे क्षेत्र आदि अनेक द्वारो पर विचार किया गया है।[6] 'किसमे है'[7] इस पर विचार प्रकट कर आचार्य ने यह भी उल्लेख किया है कि वह किस प्रकार प्राप्त होती है[8] और साथ ही मनुष्य-भव की दुर्लभता का दृष्टान्त सहित विवेचन किया है।[9] श्रुत की दुर्लभता[10] और बोधि–सामायिक की दुर्लभता का भी वर्णन किया गया है और उसकी प्राप्ति का क्रम स-दृष्टान्त स्पष्ट किया गया है।[11] 'वह कब तक स्थिर रहती है' इत्यादि[12] प्रश्नो का समाधान कर, सामायिक के सम्यक्त्व आदि भेदो के पर्यायो का सग्रह[13] कर तथा उपोद्घात-निर्युक्ति के निरुक्ति नामक अन्तिम द्वार का विवेचन कर, उन आठ प्रसिद्ध महापुरुषो के उदाहरण दिए गए गए हैं जिन्होने सामायिक का पालन करके महर्षि पद को प्राप्त किया।[14] उन्हे नमस्कार करने के बाद उपोद्घात निर्युक्ति का प्रकरण समाप्त हो जाता है।

उपसंहार

उपोद्घात निर्युक्ति के उक्त विषयानुक्रम को सविस्तार इसलिए प्रतिपादित किया गया है कि पाठक यह बात समझ सकें कि आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक के उपोद्घात के व्याज से

---

1. आव० नि० गा० 789
2. ,, ,, 790-794
3. ,, ,, 795
4. ,, ,, 796-97
5 ,, ,, 799-803
6. ,, ,, 804-829
7. ,, ,, 830
8. ,, ,, 831
9 ,, ,, 832-40
10 ,, ,, 841-843
11. ,, ,, 844-48
12. ,, ,, 849-60
13. ,, ,, 861-864
14. ,, ,, 865-879

वस्तुत समस्त टीकाओ का उपोद्घात किया है । अत जो कुछ उन्हे अन्यत्र अवश्यमेव लिखना था, उन सब विषयो का यहाँ समावेश कर दिया गया है । अन्य निर्युक्तियों मे इन विषयों की पुनरावृत्ति नहीं की गई है । आवश्यक निर्युक्ति के केवल उपोद्घात मे ही इतनी अधिक गाथाएँ हैं, कि उतनी कई पूरे निर्युक्ति ग्रन्थो मे दृग्गोचर नही होती । मूल आवश्यक सूत्र का परिमाण अन्य सूत्रो की अपेक्षा बहुत ही कम है, तथापि उसकी उपोदघात निर्युक्ति का ही प्रमाण अन्य अनेक सम्पूर्ण निर्युक्तियो के परिमाण से बहुत बढ जाता है। इनमे स्पष्ट होता है कि सर्वत्र उपयोगी होने के कारण इस उपोद्घात का विस्तृत होना अनिवार्य था ।

शास्त्रो की उत्पत्ति कैसे हुई, ? यह बताने के लिए आचार्य जैन-परम्परा के मूल तक पहुँचे है। उन्होने न केवल भगवान् महावीर के अपितु भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त जैन-परम्परा के समग्र इतिहास का उल्लेख किया है। भगवान् महावीर किस क्रम से तीर्थंकर बने, यह बात बताने के उद्देश्य से उन्होने उनके अन्तिम जीवन का ही वर्णन नही किया, प्रत्युत भगवान् ऋषभदेव से भी पूर्वकालीन युग से भगवान् महावीर के पूर्वभवो की शोध की है और अन्त मे उनके तीर्थंकर बनने तक के आरोह-अवरोह का इतिहास उपलब्ध साहित्य की दृष्टि से क्रमबद्ध करने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया है। वस्तुत उपलब्ध जैन साहित्य मे जैन-परम्परा का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित इतिहास लिखने का श्रेय आचार्य भद्रबाहु को है । उनकी निर्युक्ति मे उपलब्ध तथ्यो के आधार पर ही उत्तरकालीन समस्त साहित्य मे जैन-परम्परा की इतिहास सम्बन्धी बातो का वर्णन किया गया है। उनके द्वारा प्रतिपादित तथ्यो के आलोक मे (ढाँचे मे) कवियो ने रग भर कर महापुराणो तथा महाकाव्यो की रचना की है।

उन्होने साम्प्रदायिक परम्परा के कुछ ऐसे तथ्य वर्णित किए हैं जो उनके ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्यत्र कही भी उपलब्ध नही होते । निह्नवो की चर्चा इसका एक उदाहरण है। यदि निर्युक्ति मे इस विषय मे विशेष वक्तव्य न होता, तो निह्नवो सम्बन्धी सम्पूर्ण इतिहास अन्धकार मे ही रहता । ऐसी अन्य अनेक चर्चाएँ हैं।

सम्प्रदाय-प्रसिद्ध दृष्टान्त-माला को एक दो गाथाओ मे ही बद्ध कर देने की उनकी विशेषता अद्वितीय है । साथ ही वे सारी कथा का साराश जिस प्रकार सक्षेप मे लिख देते है, वह उनकी अद्भुत कुशलता का उदाहरण है। उनकी लेखिनी मे यह चमत्कार है कि जिस व्यक्ति ने वह कथा पूरी पढी हो अथवा सुनी हो, उसके सम्मुख एक या दो गाथाओ मे ही सपूर्ण कथा का चित्र उपस्थित हो जाता है ।

निर्युक्ति की व्याख्यान-शैली का वर्णन करते हुए आचार्य ने स्वय कहा है कि "आहरणहेउकारणपदनिवहमिणं समासेणं (गा० 86) ।' अर्थात् इसमे दृष्टान्त-पद, हेतु-पद तथा कारण-पद का आश्रय लेकर सक्षिप्त निरूपण करना है । अन्यत्र भी आचार्य ने कहा है:—

"जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णई कत्थवी उदाहरणं ।
आसज्ज उ सोयारं हेऊवि कहचिय भणेज्जा ॥"

दशवै० नि 49

इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् ने जो उपदेश दिया वह तो सिद्ध ही है, उसे अनुमान द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नही है, तथापि श्रोता की दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर कही आवश्यक प्रतीत हो तो वहाँ दृष्टान्त का उपयोग करना चाहिए और श्रोता की योग्यता के अनुसार हेतु देकर भी समझाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि, भगवान् के वचन का प्रामाण्य मान्य है, अर्थात् वह स्वतन्त्र आगम प्रमाण है। उनके वचन मे कई ऐसी बाते हो सकती हैं जो अनुमान या दृष्टान्त से सिद्ध न हो सके। ऐसी वाते भी सम्भव हैं जो दृष्टान्त और हेतु द्वारा समझाई जा सकें। उनका यह आशय उनकी समस्त निर्युक्तियो मे लक्षित होता है। जिस वस्तु को वे दृष्टान्त योग्य समझते थे, उसका स्पष्टीकरण उन्होने एक नही अनेक दृष्टान्तो द्वारा किया है। अनेक विषयो के सम्बन्ध मे दृष्टान्त के साथ-साथ हेतुओ का भी प्रतिपादन किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए उनकी अधिकतर उपमायें पूर्णोपमा होती हैं।

व्याख्या करने की उनकी विशेषता यह है कि वे पहले व्याख्येय विषय के द्वार निश्चित कर लिख देते है और तत्पश्चात् एक-एक द्वार का स्पष्टीकरण करते हैं। द्वारो मे विशेषतः अनेक स्थल ऐसे है जहाँ नामादि निक्षेपो का आश्रय लिया गया है। व्याख्येय शब्द के पर्याय-वाची शब्द अवश्य लिखे जाते है और शब्दार्थ के भेदो-प्रकारो का भी उल्लेख किया जाता है। इन सब बातो के परिणामस्वरूप अत्यन्त सक्षेप मे वस्तु सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य वाते अनावश्यक विस्तार के बिना ही बताई जा सकती है।

शब्दो की व्युत्पत्ति अर्थ-प्रधान और शब्द-प्रधान दोनो प्रकार से करते हैं। यहाँ प्राकृत भाषा के शब्द व्याख्येय हैं, उनकी व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य सस्कृत-धातुओ से चिपके नही रहते, वे प्रयत्न करते हैं कि शब्द को तोडकर किसी भी प्रकार प्राकृत शब्द के आधार पर ही व्युत्पत्ति की जाए और उससे इष्ट अर्थ की प्राप्ति की जाए। इसके उदाहरण के लिए 'मिच्छा मि दुक्कड' (गा० 686–87) की निर्युक्ति द्रष्टव्य है। आचार्य ने 'उत्तम' शब्द की जो व्युत्पत्ति की है वह मनस्वी होने के साथ-साथ आध्यात्मिक अर्थ-युक्त होने के कारण रोचक प्रतीत होती है. (आव० नि० गाथा 1100 टी०), ऐसे अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं[1]।

आचार्य की किसी भी निर्युक्ति को देखने से यह बात शीघ्र ध्यान मे आ जाती है कि आचार्य का जैन परिभाषा तथा परम्परा सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त तलस्पर्शी है। आचार्य ने जैन

---

1 'मिच्छा मि दुक्कड' इस पद मे छह अक्षर है। उनमे 'मि' का 'मृदुता'; 'छा' का 'दोपाच्छादन', 'मि' का 'मर्यादा मे रहते हुए', 'दु' का 'दोषयुक्त आत्मा की जुगुप्सा', 'क' का किया गया दोष' और 'ड' का 'अतिक्रमण' अक्षरार्थ करके एक प्रकार से यह अर्थ सूचित किया है—'नम्रता पूर्वक चारित्र की मर्यादा मे रहकर दोष निवारण के निमित्त मैं आत्मा की जुगुप्सा करता हूँ। और किये गये दोप का इस समय अतिक्रमण करता हूँ।' जिस प्रकार निर्युक्ति ग्रन्थो मे व्युत्पत्ति की गई है, उसी प्रकार बौद्ध पालि-ग्रन्थो मे भी

आचार के गली-कूचों मे भ्रमण किया है, इसमे लेशमात्र भी सन्देह नही है। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होने जैन तत्वज्ञान का भी पान किया हुआ है।

इसी उपोद्घात निर्युक्ति मे ही उन्होने गणधरवाद के वीज रख दिये हैं। इस विषय की विशेष चर्चा आगे की जायेगी। यह वात तो निश्चित है कि गणधरो की शकाओ के जिन विषयो का उन्होने निर्देश किया है, उनमे उन सव महत्वपूर्ण विषयो का समावेश हो जाता है, जिनकी उस काल मे भारतीय दर्शनो मे चर्चा होती थी। गणधर ब्राह्मण थे, अत उनकी शकाओ के आधार वेद-वाक्य थे, यह बात आचार्य ने निर्युक्ति मे प्रतिपादित की है। इसका उल्लेख निर्युक्ति से पूर्व किसी भी ग्रन्थ मे नही है। अत विद्वान् सहज ही यह वात स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाते है कि यह उल्लेख आचार्य भद्रवाहु की प्रतिभा का ही परिणाम है।

उपोद्घात निर्युक्ति के उत्तरवर्ती आवश्यक निर्युक्ति ग्रन्थ मे सूत्र का स्पर्श करते हुए आवश्यक सूत्र के छह अध्ययनो की व्याख्या की गई है।

व्युत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है। यहाँ इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा—'अरिहत' पद जैन और बौद्ध दोनो परम्पराओ मे सामान्य है। बुद्धघोष ने 'विसुद्धि-मग्ग' मे उसकी व्युत्पत्ति निम्नप्रकार से की है —

अर्हत् के लिए उन्होने पालि मे 'अरिहत, अरहत और अरह' ये तीन शब्द दिये हैं। उनके क्रमश दो, एक और दो अर्थों की उपपत्ति की गई है।

(1) अरिहन्त अर्थात् (अ) क्लेश रूपी अरि को आरात्–दूर करने से अरिहन्त, (ब) क्लेश रूपी अरि का हन्त अर्थात् हनन करने से अरिहन्त।

(2) अरहन्त–ससार रूपी चक्र के आराओ का हनन करने से अरहन्त।

(3) अरह—(अ) वस्त्रपात्रादि के दान के 'अर्ह' योग्य होने से अरह।

(ब) रह .—एकान्त मे पाप 'अ'—नही करने मे अरह।

आरकत्ता हतत्ता च किलेसारीन सो मुनि।
हत ससार चक्कारो पच्चयादीनचारहो।
न रहो करोति पापानि अरह तेन वुच्चतीति।

जैन परम्परा मे अरिहत और अरहत इन दो प्राकृत शब्दो के अतिरिक्त एक अरुहत शब्द भी उपलब्ध होता है। इसकी व्युत्पत्ति ऐसे की गई है —

अरुह—अर्थात् जो दुबारा न जन्मे, प्रकट न हो वह अरुहन्त।

वैदिक परम्परा के व्युत्पत्ति-प्रधान निरुक्त शास्त्र मे भी ऐसी ही व्युत्पत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणत यास्क ने दुहिता (पुत्री) की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की है—

(1) दुर + हिता = जिसका हित साधन-वर की खोज कठिन है।

(2) दूरे + हिता = जो माता-पिता आदि कुटुम्ब से दूर रहने पर ही हितावह है।

(3) दुह् + उता = जो सदा धन, वस्त्र आदि से माता-पिता का दोहन करती है।

अन्य निर्युक्तियो मे भी आवश्यक के समान आचार्य ने प्रारम्भ मे इन-उन मूल ग्रन्थो के प्रादुर्भाव की कथा का वर्णन किया है, किन्तु यह वर्णन उसी ग्रन्थ मे है जिसकी उत्पत्ति की कथा आवश्यक से भिन्न है। अन्यत्र अध्ययनो के नाम और विषयो का निर्देश कर, उनकी निष्पत्ति का मूल-स्थान या ग्रन्थ बताकर और प्राय प्रत्येक अध्ययन के नाम का निक्षेप कर व्याख्या की गई है। अध्ययन के अन्तर्गत किसी महत्वपूर्ण शब्द अथवा उसमे विद्यमान मौलिक भाव को लेकर आचार्य ने उसका अपने ढग से विवेचन करके ही सन्तोष माना है। अन्य ग्रन्थो मे आवश्यक के समान सूत्र-स्पर्शी निर्युक्ति अत्यन्त अल्प दिखाई देती है। यही कारण है कि अन्य ग्रन्थो की निर्युक्ति का परिमाण मूल-ग्रन्थ की अपेक्षा बहुत कम है। आवश्यक की स्थिति इससे विपरीत है।

5. आचार्य जिनभद्र

पूर्व-भूमिका

इस विश्व का मूल सत् है अथवा असत् है, इस विषय मे दो परस्पर विरोधी वादो का खण्डन-मण्डन उपनिषदो मे उपलब्ध होता है। त्रिपिटक तथा गणिपिटक—जैन आगम मे भी विरोधी का खण्डन करने की प्रवृत्ति दृग्गोचर होती है, अत हम यह विश्वास कर सकते हैं कि, वाद-विवाद का इतिहास अति प्राचीन है और उत्तरोत्तर उसका विकास होता रहा है। किन्तु दार्शनिक विवादो के इतिहास मे नागार्जुन से लेकर धर्मकीर्ति के समय तक का काल ऐसा है जिसमे दार्शनिको की वाद-विवाद सम्बन्धी प्रवृत्ति तीव्रतम हो गई है। नागार्जुन, वसुबन्धु और दिग्नाग जैसे बौद्ध आचार्यो के तार्किक प्रहारो के वार सभी दर्शनो पर सतत् पडे थे और उनके प्रतीकार के रूप मे भारतीय दर्शनो मे पुनर्विचार की धारा प्रवाहित हुई थी। न्यायदर्शन मे वात्स्यायन और उद्द्योतकर, वैशेषिक दर्शन मे प्रशस्तपाद, मीमासा दर्शन मे शवर और कुमारिल जैसे प्रौढ विद्वानो ने अपने दर्शनो पर होने वाले प्रहारो के प्रत्युत्तर दिए। यही नही, उन्होने इस व्याज से स्वदर्शन को भी नया प्रकाश प्रदान कर उन्हे सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दार्शनिक विवादके इस अखाडे मे जैन तार्किको ने भी भाग लिया और अपने आगम के आधार पर जैन दर्शन को तर्क-पुरस्सर सिद्धकरने का प्रयत्न किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि, आचार्य उमास्वाति ने इस विवाद से 'तत्वार्थ-सूत्र' लिखने की प्रेरणा प्राप्त की, परन्तु उन्होने उन सब का खण्डन कर जैन दर्शन को स्वकीय रूप प्रदान करने का कार्य नही किया, उन्होंने केवल जैन दर्शन के तत्वो को सूत्रात्मक शैली मे उपस्थित किया और विवाद का काम बाद मे होने वाले पूज्यपाद, अकलक, सिद्धसेन गणि, विद्यानन्द आदि टीकाकारो के लिए छोड दिया।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस विवाद मे से जैन न्याय की आवश्यकता का अनुभव कर 'न्यायावतार' जैसी अत्यन्त सक्षिप्त कृति की रचना की और जैन-न्याय मे महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले अनेकान्तवाद के मूल मे स्थित नयवाद का विवेचन करने के लिए 'सन्मतितर्क'

लिखा। किन्तु इन दोनो कृतियो मे अधिकतर प्रयत्न इसी बात का किया गया है कि दार्शनिक जगत् का तटस्थ अवलोकन कर अपने दर्शन को व्यवस्थित किया जाए, अन्य दार्शनिकों की युक्तियो का खण्डन करने का कार्य गौण है।

आचार्य सिद्धसेन के विषय मे यह तो नही कहा जा सकता कि वे दार्शनिक अखाडे मे एक प्रबल प्रतिमल्ल के रूप मे अपने ग्रन्थो को लेकर उपस्थित हुए। उनके ग्रन्थो मे जैन दर्शन की व्यवस्था के बीज विद्यमान है, किन्तु उनमे अन्य दार्शनिको की छोटी-बडी सभी महत्वपूर्ण युक्तियो का खण्डन करने का प्रयास नही किया गया है। छोटी-छोटी युक्तियो के वाग्जाल मे न पडकर केवल महत्व की बातो का खण्डन-मण्डन उनके ग्रन्थो मे है। आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थो के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। उन्होने विस्तार की अपेक्षा सक्षेप को अधिक महत्व दिया है। दोनो केवल प्रबल वादी ही नही, प्रत्युत् महावादी है। तथापि उनके ग्रन्थ, उद्द्योतकर अथवा कुमारिल के समान अत्यधिक बारीकी मे नही जाते। इन दोनो आचार्यों ने तर्क-प्रतितर्क का जाल बिछाने का कार्य नही किया, किन्तु निष्कर्ष मे उपयोगी युक्तिया देकर निर्णय किया है। वे युक्तियाँ ऐसी अकाटच है कि उनके ही आधार पर उनकी टीकाओ मे प्रचुर मात्रा मे विवादो की रचना की जा सकी है। साराश यह है कि इन दोनो अचार्यों ने तर्कजाल मे न पडकर केवल अन्तिम कोटि का तर्क कर सतोष किया है।

किन्तु इससे उनके ग्रन्थो मे ऐसा सामर्थ्य नही आया जिसमे कि उन्हे आचार्य दिग्नाग, कुमारिल अथवा उद्द्योतकर जैसे मल्लों के सन्मुख प्रतिमल्ल के रूप मे रखा जा सके। अति-विस्तार के सामने अतिसक्षेप ढक जाता है। जब उनके ग्रन्थो की 'वादमहर्णव' जैसी तथा 'अष्टसहस्री' जैसी टीकाएँ तैयार हुई, तभी उन ग्रन्थो की प्रतिमल्लता की ओर ध्यान जाता है। किन्तु आचार्य जिनभद्र के विषय मे यह बात नही है। उनके ग्रन्थ 'विशेषावश्यक भाष्य' की रचना ऐसी शैली मे हुई है कि उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक जगत् के अखाडे मे सर्वप्रथम जैन प्रतिमल्ल का स्थान यदि किसी को दिया जाए तो वह आचार्य जिनभद्र को ही दिया जा सकता है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होने दर्शन के सामान्य तत्वो के विषय मे ही तर्कवाद का अवलम्बन नही लिया, किन्तु जैन दर्शन की प्रमाण एव प्रमेय सम्बन्धी छोटी-बडी महत्वशाली सभी बातो के सम्बन्ध मे तर्कवाद का प्रयोग कर दार्शनिक अखाडे मे जैन दर्शन को एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से ही नही प्रत्युत सर्वतन्त्र समन्वय रूप मे भी उपस्थित किया है। उनकी युक्तियाँ और तर्क-शैली इतनी अधिक व्यवस्थित है कि आठवी शताब्दी मे होने वाले महान् दार्शनिक हरिभद्र तथा बारहवी शताब्दी मे होने वाले आगमो के समर्थ टीकाकार मलयगिरि भी ज्ञान-चर्चा मे आचार्य जिनभद्र की ही युक्तियो का आश्रय लेते हैं। इतना ही नही, अपितु अठारहवी शताब्दी मे होने वाले नव्यन्याय के असाधारण विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी भी 'अपने जैन तर्क परिभाषा, अनेकान्त व्यवस्था, ज्ञानबिन्दु' आदि ग्रन्थो मे उनकी दलीलो को केवल नवीन भाषा मे उपस्थित कर सन्तोष मानते है, उन ग्रन्थो मे अपनी ओर से नवीन वृद्धि शायद ही की गई है। इससे स्पष्ट है कि सातवी शताब्दी मे आचार्य जिनभद्र ने सम्पूर्ण-रूपेण प्रतिमल्ल का कार्य सम्पन्न किया था।

आचार्य जिनभद्र का विशेषावश्यक महाग्रन्थ जैन आगमो को समझने की कुञ्जी है। इस ग्रन्थ मे सभी महत्वपूर्ण विषयो की चर्चा की गई है। जैसे बौद्ध-त्रिपिटक का सारग्राही ग्रन्थ 'विशुद्धिमार्ग' है, उसी प्रकार विशेषावश्यक भाष्य जैन-आगम का सारग्राही है। साथ ही उसकी यह विशेषता है कि उसमे जैन-तत्व का निरूपण केवल जैन दृष्टि से ही नही किया गया, अपितु अन्य दर्शनो की तुलना मे जैन-तत्वो को रखकर समन्वयगामी मार्ग द्वारा प्रत्येक विषय की चर्चा की गई है। विषय-विवेचन के प्रसग मे जैनाचार्यों के उन विषयो के सम्बन्ध मे अनेक मतभेदो का खण्डन करते हुए भी वे उन पर आँच नही आने देते। कारण यह है कि ऐसे प्रसग पर वे आगमो के अनेक वाक्यो का आधार देकर अपना मन्तव्य उपस्थित करते हैं। किसी भी व्यक्ति की कोई भी व्याख्या यदि आगम के किसी वाक्य से विरुद्ध हो, तो वह उन्हे असह्य प्रतीत होती है और वे प्रयत्न करते है कि, उसके तर्क-पुरस्सर समाधान की शोध की जाए। उन्होने आगम के परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले मन्तव्यो का समाधान ढूँढने का भी प्रयास किया है। उन्होने यह भी स्पष्ट किया है कि, विरोधी प्रतीत होने वाले वाक्यो की भी परस्पर उपपत्ति कैसे हो सकती है। सच बात तो यह है कि आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य लिखकर जैनागमो के मन्तव्यो को तर्क की कसौटी पर कसा है और इस तरह इस काल के तार्किको की जिज्ञासा को शान्त किया है। जिस प्रकार वेद-वाक्यो के तात्पर्य के अनुसन्धान के लिए मीमासा-दर्शन की रचना हुई, उसी प्रकार जैनागमो के तात्पर्य को प्रकट करने के लिए जैन-मीमासा के रूप मे आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यक की रचना की।

जीवन और व्यक्तित्व :

आचार्य जिनभद्र का अपने ग्रन्थो के कारण जैन धर्म के इतिहास मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, तथापि इस महान् आचार्य के जीवन की घटनाओ के सम्बन्ध मे जैन ग्रन्थो मे कोई सामग्री उपलब्ध नही होती, इसे एक आश्चर्यजनक घटना समझना चाहिए। वे कब हुए और किन के शिष्य थे ? इस सम्बन्ध मे परस्पर विरोधी उल्लेख मिलते है और वे भी 15 वी या 16 वी शताब्दी मे लिखी गई पट्टावलियो मे है। अत हम यह मान सकते है कि उन्हे सम्यक प्रकारेण पट्ट-परम्परा मे सभवत स्थान नही मिला, परन्तु उनके साहित्य का महत्व समझकर तथा जैन साहित्य मे सर्वत्र उनके ग्रन्थो के आधार पर लिखे गए विवरण देखकर उत्तरकालीन आचार्यो ने उन्हें महत्त्व प्रदान किया, उन्हे युगप्रधान बना डाला और आचार्य-परम्परा मे भी कही न कही उन्हें सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न कल्पित था, अत यह बात स्वाभाविक है कि उसमे मतैक्य न हो। इसीलिए हम देखते हैं कि उनके सम्बन्ध मे यह असगत उल्लेख भी उपलब्ध होता है कि वे आचार्य हरिभद्र के पट्ट पर बैठे।

आगमो से यह सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर के समय मे पूर्व देश मे जैन धर्म का प्राबल्य था, किन्तु बाद मे उसका केन्द्र पश्चिम तथा दक्षिण की ओर हटता गया। ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग मथुरा मे तथा पाँचवी शताब्दी के लगभग वलभी नगरी मे जैन धर्म का प्राबल्य दिखाई देता है। क्रमश इन दोनों स्थानो मे आगम की वाचना हुई। इससे उक्त काल मे दोनो नगरो का महत्व सिद्ध होता है। दिगम्बर शास्त्र षट्खण्डागम की रचना का

मूल स्रोत भी पश्चिम देश मे ही है, अतः हम सहज ही यह अनुमान कर सकते हैं कि प्रथम शताब्दी के बाद जैन साधुओ का विहार विशेषतः पश्चिम मे हुआ। जैन दृष्टि मे वलभी नगरी का महत्त्व उसके नष्ट होने तक रहा है और उसके नष्ट होने के बाद वलभी के निकटवर्ती पालीताना आदि नगर जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण केन्द्र रहे हैं।

आचार्य जिनभद्र-कृत विशेषावश्यक भाष्य की प्रति शक सवत् 531 मे लिखी गई और वलभी के किसी जैन मन्दिर को समर्पित की गई। इससे ज्ञात होता है कि वलभी नगरी से आचार्य जिनभद्र का कोई सम्बन्ध होना चाहिये। इससे हम यह अनुमान मात्र कर सकते हैं कि वलभी और उसके आसपास उनका विहार हुआ होगा।

'विविधतीर्थकल्प' मे मथुरा-कल्प के प्रसग मे आचार्य जिनप्रभ ने लिखा है कि—आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने मथुरा मे देवनिर्मित स्तूप के देव की एक पक्ष की तपस्या कर आराधना की और दीमक द्वारा खाए हुए महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया[1]। इससे यह तथ्य ज्ञात होता है कि जिनभद्र ने वलभी के उपरान्त मथुरा मे भी विचरण किया था और उन्होने महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया था।

अभी कुछ ही समय पूर्व अकोट्टक (अर्वाचीन, अकोटा गाँव) से प्राप्त हुई प्राचीन जैन मूर्तियो का अध्ययन करते हुए श्री उमाकान्त प्रेमानन्द शाह को दो अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ मिली हैं। उन्होंने जैन सत्यप्रकाश (अक 196) मे उन मूर्तियो का परिचय दिया है। कला तथा लिपि विद्या के आधार पर उन्होने इन्हे ई० सन् 550 से 600 तक के काल मे रखा है। उन्होंने यह भी निर्णय किया है कि इन मूर्तियो के लेख मे जिन आचार्य जिनभद्र का नाम है, वे विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता क्षमाश्रमण जिनभद्र ही हैं, अन्य नही। उनकी वाचनानुसार[2] एक मूर्ति के पभासण (पद्मासन) के पृष्ठ भाग मे 'ओ देवधर्मोय निवृतिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य' ऐसा लेख है और दूसरी मूर्ति के भा-मण्डल मे 'ओ निवृतिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य' यह लेख उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त वर्णन से निश्चयरूपेण ये तीन नई बाते ज्ञात होती हैं—आचार्य जिनभद्र ने इन मूर्तियो को प्रतिष्ठित किया होगा; उनके कुल का नाम निवृति कुल था और वे वाचनाचार्य कहलाते थे। इसमे एक तथ्य यह भी फलित होता है कि वे चैत्यवासी थे,[3] क्योकि लेख मे लिखा है कि 'जिनभद्रवाचनाचार्य का'। इस तथ्य को इस कारण विचाराधीन समझना चाहिए

---

1. इत्थ देवनिम्मिअथूभे पक्खक्खमणेण देवय आराहित्ता जिणभद्दखमासमणेहिं उद्देहिया भक्खियपुत्थयपत्तत्तणेण तुट्ट भग्ग महानिसीह सधिअ। वि० तीर्थकल्प पृ० 19.
2. श्री शाह की वाचना प्रामाणिक है और उनका लिपि के समय का अनुमान भी ठीक है। इस बात का समर्थन बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के प्राचीन लिपि विशारद प्रो० अवधकिशोर ने भी किया है, अत इसमे शका का अवकाश नही है।
3. श्री शाह ने भी यह सकेत किया है, परन्तु कारण अन्य बताया है।

कि इस विषय मे इस लेख के अतिरिक्त अन्य प्रमाण नही मिल सकता। पुनश्च, ये मूर्तियाँ अकोट्टक मे मिली है, अतः यह अनुमान भी शक्य है कि वलभी के उपरान्त उस काल मे भरुच के आस-पास भी जैनो का प्रभाव था और आचार्य जिनभद्र का इस ओर भी विहार हुआ होगा।

इस लेख मे आचार्य जिनभद्र को क्षमाश्रमण नही कहा गया है, किन्तु वाचनाचार्य कहा है। इस विषय मे कुछ विचार करना आवश्यक है। परम्परा के अनुसार वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर तथा वाचक एकार्थक शब्द माने गए है[1]। वाचक और वाचनाचार्य भी एकार्थक हैं, अत परम्परा के अनुसार वाचनाचार्य और क्षमाश्रमण शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं। फिर भी यह विचार करने योग्य बात है कि ये शब्द एकार्थक क्यो माने गए? आचार्य जिनभद्र ने स्वयं वाचनाचार्य पद का उल्लेख किया है, तथापि उनकी विशेष प्रसिद्धि क्षमाश्रमण के नाम मे क्यो हुई? इन प्रश्नो का उत्तर कल्पना के आधार पर देना चाहे तो दिया जा सकता है।

प्रारम्भ मे 'वाचक' शब्द शास्त्रविशारद के लिए विशेष प्रचलित था, परन्तु जब वाचको मे क्षमाश्रमणो की सख्या बढती गई, तब क्षमाश्रमण शब्द भी वाचक के पर्याय-रूप मे प्रसिद्ध हो गया, अथवा क्षमाश्रमण शब्द आवश्यक सूत्र मे सामान्य गुरू के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है, अत सम्भव है कि, शिष्य विद्या-गुरु को क्षमाश्रमण के न म से सम्बोधित करते रहे हो, इसलिए यह स्वाभाविक है कि क्षमाश्रमण वाचक का पर्याय बन जाए। जैन समाज मे जब वादियो की प्रतिष्ठा स्थापित हुई, तब शास्त्र-वैशारद्य के कारण वाचको का ही अधिकतर भाग वादी नाम से विख्यात हुआ होगा, अत कालान्तर मे वादी का भी वाचक का ही पर्यायवाची बन जाना स्वाभाविक है। सिद्धसेन जैसे शास्त्रविशारद विद्वान् अपने को दिवाकर कहलाते होगे अथवा उन के साथियो ने उन्हे 'दिवाकर' की पदवी दी होगी, इसलिए वाचक के पर्यायो मे दिवाकर को भी स्थान मिल गया। आचार्य जिनभद्र का युग क्षमाश्रमणों का युग रहा होगा, अत. सम्भव है कि, उनके बाद के लेखको ने उनके लिए 'वाचनाचार्य' के स्थान पर 'क्षमाश्रमण' पद का उल्लेख किया हो।

आचार्य जिनभद्र का कुल 'निवृति कुल' था, यह तथ्य उक्त लेख के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नही होता। भगवान् महावीर के 17वें पट्ट पर आचार्य वज्रसेन हुए थे। उन्होने सोपारक नगर के सेठ जिनदत्त और सेठानी ईश्वरी के चार पुत्रो को दीक्षा दी थी। उनके नाम थे—नागेन्द्र, चन्द्र, निवृति और विद्याधर। भविष्य मे इन चारो के नाम से भिन्न-भिन्न चार परम्पराएँ चली और वे नागेन्द्र, चन्द्र, निवृति तथा विद्याधर कुलो के नाम से प्रसिद्ध हुई[2]। उक्त मूर्ति-लेख के आधार पर यह सिद्ध होता है कि, आचार्य जिनभद्र निवृति कुल मे हुए। महापुरुष-चरित नामक प्राकृत-ग्रन्थ के लेखक शीलाचार्य, उपमिति-भव-प्रपचा-कथा के लेखक

---

1 कहावली का उद्धरण देखे—सत्यप्रकाश अक 196, पृ० 89

2. खरतर गच्छ की पट्टावली देखें–जैन गुर्जरकविओ भाग 2, पृष्ठ 669। 'निवृति' शब्द के 'निवृत्ति, निर्वृत्ति' ये रूप भी भिन्न-भिन्न स्थानो मे दृग्गोचर होते है।

सिद्धर्षि, नवागवृत्ति के सशोधक द्रोणाचार्य जैसे प्रसिद्ध आचार्य भी इस निवृति कुल मे हुए हैं, अत इस बात मे सन्देह नही कि यह कुल विद्वानो की खान के समान है।

इस बात को छोडकर उनके जीवन के सम्बन्ध मे और कोई बात ज्ञात नही है। केवल उनका गुण-वर्णन उपलब्ध होता है। उसका सार यह है कि, वे एक महाभाष्यकार थे, तथा प्रवचन के यथार्थ ज्ञाता और प्रतिपादक थे। उनके गुणो का व्यवस्थित वर्णन उनके द्वारा रचित जीतकल्प-सूत्र के टीकाकार ने किया है। उसके आधार पर मुनि श्री जिनविजयजी ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह यह है[1]—तत्कालीन प्रधान-प्रधान श्रुतधर भी इनका बहुत मान करते थे। वे श्रुत व श्रुतेतर दोनो शास्त्रो के कुशल विद्वान् थे। जैन सिद्धान्तो मे ज्ञान-दर्शन के क्रमिक उपयोग का जो विचार किया गया है, वे उसके समर्थक थे। अनेक मुनि ज्ञानाभ्यास के निमित्त उनकी सेवा मे उपस्थित रहते थे। भिन्न-भिन्न दर्शनो के शास्त्रो तथा लिपि-विद्या, गणित शास्त्र, छन्द शास्त्र और व्याकरण आदि शास्त्रो मे उनका अनुपम पाण्डित्य था। पर-समय के आगम मे भी वे विशेष निपुण थे। वे स्वाचार पालन मे तत्पर थे तथा सर्व जैन श्रमणो मे मुख्य थे।

जब तक और नई बातें ज्ञात न हो, तब तक उक्त गुणवर्णन से ही उनके व्यक्तित्व की कल्पना कर हमे सन्तोष रखना चाहिए।

सत्ता-समय

वीर निर्वाण स० 980 (वि० स० 510, ई० स० 453) मे वालभी वाचना के समय आगम व्यवस्थित हुए और उन्हे अन्तिम रूप प्राप्त हुआ। उसके बाद उनकी सर्वप्रथम पद्यटीकाएँ प्राकृत भाषा मे लिखी गईं। आज-कल उपलब्ध होने वाली ये प्राकृत टीकाएँ निर्युक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। उन सब के प्रणेता आचार्य भद्रबाहु हैं। उनका समय वि० स० 562 (ई० स० 505) के लगभग है, अत हम मान सकते हैं कि, आगम के वालभी सकलन के बाद के 50 वर्षों मे वे लिखी गई होगी। इस निर्युक्ति की पद्यबद्ध प्राकृत टीका लिखी गई, जो मूल-भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है, इस मूल-भाष्य के कर्त्ता के विषय मे अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है, किन्तु आचार्य हरिभद्र आदि के उल्लेखो से ज्ञात होता है कि आव० नि० की प्रथम टीका के रूप मे किसी भाष्य की रचना हुई थी। सम्भव है कि, उसे आचार्य जिनभद्र के भाष्य से पृथक् करने के लिए आचार्य हरिभद्र ने 'मूल-भाष्य' का नाम दिया हो। कुछ भी हो, किन्तु इस मूल भाष्य के बाद आचार्य जिनभद्र ने आव० नि० के सामायिक अध्ययन तक प्राकृत-पद्य मे जो टीका लिखी, वह विशेषावश्यक भाष्य के नाम से विख्यात है। अत आचार्य जिनभद्र के विशेषा० के समय की पूर्वावधि निर्युक्ति कर्त्ता भद्रबाहु के समय से और पूर्वोक्त मूल-भाष्य के समय से पहले नहीं हो सकती। आचार्य भद्रबाहु वि० सं० 562 के लगभग विद्यमान थे, अत. विशेषा० की पूर्वावधि वि० स० 600 से पहले सम्भव नहीं है।

मुनि श्री जिनविजयजी ने जैसलमेर की विशेषा० की प्रति के अन्त मे लिखित दो

---

1. जीतकल्प सूत्र की प्रस्तावना पृष्ठ 7.

गाथाओ के आधार पर निर्णय किया है कि, उनकी रचना वि० स० 666 मे हुई। वे गाथाएँ ये हैं :—

"पच सता इगतीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स ।
तो चेत्तपुण्णिमाए बुधदिण सातिमि णक्खत्ते ।।
रज्जे ण् पालणपरे सी [लाइ]च्चम्मि णरबरिंदम्मि ।
वलभीणगरीए इम महवि ·······मि जिणभवणे ।।"

श्री जिनविजयजी इन गाथाओ का तात्पर्य यह बताते हैं कि, शक सवत् 531 मे वलभी मे जब शिलादित्य राज्य करते थे, तब चैत्र की पूर्णिमा, बुधवार तथा स्वाति नक्षत्र मे विशेषावश्यक की रचना पूर्ण हुई। किन्तु मूल गाथाओ से उनका बताया हुआ तात्पर्य नही निकलता। इस गाथा मे रचना के विषय मे कुछ भी नही कहा गया है। टूटे हुए अक्षरो को हम यदि किसी मन्दिर का नाम मानलें तो इन दोनो गाथाओ मे कोई क्रिया ही नही है, इसलिए यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि, इस भाष्य की रचना शक सवत् 531 (वि० स० 666) मे हुई। इस बात की सम्भावना अधिक है कि, वह प्रति उस वर्ष लिखी गई और उस मन्दिर मे रखी गई। गाथाओ का तात्पर्य रचना से नही, अपितु मन्दिर मे स्थापित करने से है, यह बात निम्नलिखित कारणो से अधिक सगत प्रतीत होती है —

1 ये गाथाएँ केवल जैसलमेर की प्रति मे ही मिलती हैं, अन्यत्र किसी भी प्रति मे ये नही हैं, अत यह मानना पडेगा कि ये गाथाएँ मूल कर्त्ता की नही, किन्तु प्रति के लिखे जाने और उक्त मन्दिर मे रखे जाने की सूचक हैं। जो प्रति मन्दिर मे रखी गई होगी, उसी की नकल जैसलमेर की प्रति होगी, अत उसमे भी इन गाथाओ के सम्मिलित हो जाने की सम्भावना है। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि, इस प्रति के आधार पर दूसरी कोई प्रति नही लिखी गई, इसीलिए अन्य किसी प्रति मे इनका समावेश नही हुआ।

2. यदि इन गाथाओ को रचनाकाल सूचक माना जाए तो यह भी स्वीकार करना पडेगा कि, इन्हे आचार्य जिनभद्र ने बनाया। ऐसी दशा मे उनकी टीका भी उपलब्ध होनी चाहिए, किन्तु जिनभद्र द्वारा आरम्भ की गई और आचार्य कोट्टार्य द्वारा पूर्ण की गई, विशेषावश्यक की सर्व-प्रथम टीका मे, अथवा कोट्याचार्य और आचार्य हेमचन्द्र मलधारी की टीकाओ मे भी इन गाथाओ की टीका दृग्गोचर नहीं होती, यही नही, इन गाथाओ के अस्तित्व का भी सकेत नही मिलता। अत हम कह सकते हैं कि, ये गाथाएँ आचार्य जिनभद्र की रचना नही है। अर्थात् हो सकता है कि, प्रति की नकल करने वाले या करवाने वाले ने इन्हे लिखा हो। तब इन गाथाओ मे उल्लिखित समय रचना सवत नही, किन्तु प्रति-लेखन सवत् सिद्ध होता है। कोट्टार्य के उल्लेख से यह भी सिद्ध होता है कि, आचार्य जिनभद्र की अन्तिम कृति विशेषावश्यक भाष्य है। कोट्टार्य ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि, उस भाष्य की स्वोपज्ञ टीका उनका स्वर्गवास हो जाने के कारण पूर्ण न हो सकी।

अब यदि विशेषा० की यह प्रति शक सवत् 531 मे अर्थात् वि० स० 666 मे लिखी गई, तो उसकी रचना का समय वि० 660 के बाद का तो हो ही नही सकता। हम यह भी

जानते है कि, यह आचार्य जिनभद्र की अन्तिम कृति थी। उसकी टीका भी उनके स्वर्गवास के कारण अपूर्ण रही, अत स्वय जिन भद्र की भी उत्तरावधि वि० 650 के पश्चात् नही हो सकती।

एक परम्परा के आधार पर भी उनकी इस उत्तर अवधि का समर्थन होता है। 'विचार-श्रेणी' के उल्लेख के अनुसार आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास वि० 650 मे निश्चित किया जा सकता है, क्योकि उसमे वीर निर्वाण 1055 मे आचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास[1] लिखा है और उसके वाद 65 वर्ष तक जिनभद्र का युगप्रधान काल वताया हे, अतः आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास 1120 वीर-निर्वाण सवत् मे निश्चित होता है, अर्थात् वि० 650 मे उनका स्वर्गवास हुआ। विचारश्रेणी के अनुसार हम इसी परिणाम पर पहुँचते है, विचारश्रेणी का यह मत हमारी उपर्युक्त विचारणा के अनुकूल है, अत उसे यदि निश्चय-कोटि मे नही तो सम्भव-कोटि मे अवश्यमेव रख सकते है।

दूसरी परम्परा के अनुसार आचार्य जिनभद्र वीर निर्वाण 1115 मे युगप्रधान वने। इसका उल्लेख धर्मसागरीय पट्टावली मे है। इस युगप्रधान-काल को 60 या 65 वर्ष का गिनने से उनका स्वर्गवास विक्रम 705–710 मे निश्चित होता है, किन्तु इसके साथ उक्त प्रति के उल्लेख का मेल नही वैठता, क्योकि वह वि० 666 मे लिखी गई थी, अत उसका निर्माण उससे पहले ही पूर्ण हो चुका था। अन्तिम कृति होने के कारण उसके निर्माण और आचार्य की मृत्यु के समय मे 10 या 15 वर्ष से अधिक के अन्तर की कल्पना भी नही की जा सकती। फिर भी यदि कल्पना करे कि, यह उल्लेख ग्रन्थ के निर्माण का सूचक है तो ऐसी दशा मे इस ग्रन्थ की रचना के चालीस वर्ष वाद उनकी मृत्यु माननी पडेगी, किन्तु कोट्टार्य का उल्लेख इसमे स्पष्ट रूप से वाधक है, अत. धर्मसागरीय पट्टावली मे वर्णित समय से विचारश्रेणी मे प्रतिपादित समय अधिक उपयुक्त है, अर्थात् आचार्य जिनभद्र का स्वर्गवास अधिक से अधिक वि० 650 मे हुआ, यह मानना अधिक ठीक है।

ऐसी जनश्रुति है कि, आचार्य जिनभद्र की पूर्ण आयु 104 वर्ष की थी। उसके अनुसार उनका समय वि० 545 से 650 तक माना जा सकता है, जब तक इसके विरुद्ध प्रमाण न मिले, तव तक हम आचार्य जिनभद्र के इस समय को प्रामाणिक मान सकते हैं।

उनके ग्रन्थो मे उपलब्ध होने वाले उल्लेखो की शोध करने पर भी ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता जो इस मान्यता मे वाधक हो। सामान्यत उनके ग्रन्थो मे आचार्य सिद्धसेन, पूज्यपाद, दिग्नाग जैसे प्राचीन आचार्यों के मतो का निर्देश है, किन्तु वि० 650 के वाद के किसी भी आचार्य का उल्लेख उनके ग्रन्थो मे देखने मे नही आता। जिनदास की चूर्णि मे जिनभद्र के मत का उल्लेख मिलता है। इससे भी उक्त समयावधि का समर्थन हो जाता है।

---

1. आचार्य हरिभद्र के समय के विषय मे यह उल्लेख भ्रान्त है। यह वात आचार्य जिनविजयजी ने सप्रमाण अपने लेख मे सिद्ध की है, वह उचित है, फिर भी आचार्य जिनभद्र का समय अभ्रान्त हो सकता है।

नन्दी चूर्णि तो निश्चित रूप मे 733 वि० मे बनी थी और उसमे पग-पग पर विशेषावश्यक का उल्लेख है ।

6 आचार्य जिनभद्र के ग्रन्थ

निम्न लिखित ग्रन्थ आचार्य जिनभद्र के नाम से प्रसिद्ध हैं —

1 विशेपावश्यक भाष्य—प्राकृत पद्य
2 विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति—सस्कृत गद्य
3 बृहत् सग्रहणी—प्राकृत पद्य
4. बृहत् क्षेत्रसमास—प्राकृत पद्य
5 विशेषणवती—प्राकृत पद्य
6 जीतकल्प सूत्र – प्राकृत पद्य
7 जीतकल्पसूत्र भाष्य—प्राकृत पद्य
8. ध्यानशतक

(1) विशेषावश्यक भाष्य—

यदि इस ग्रन्थ को जैन-ज्ञान-महोदधि की उपमा दी जाए, तो इसमे लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नही होगी । इसमे जैन आगमो मे बिखरी हुई अनेक दार्शनिक चर्चाओ को सम्यक् और व्यवस्थित रीति से तर्क-पुरस्सर सुव्यवस्थित कर उपस्थित किया गया है । जैन परिभाषाओ को स्थिर रूप प्रदान करने मे इस ग्रन्थ को जो श्रेय प्राप्त है, वह शायद ही अन्य अनेक ग्रन्थो को एक साथ मिलाकर मिल सके । जब से इस महान् ग्रन्थ की रचना हुई, तब से जैन आगम की व्याख्या करने वाला कोई भी ऐमा ग्रन्थ नही वना जिसमे इस ग्रन्थ का आधार न लिया गया हो। इस से हम सहज ही यह समझ सकते हैं कि इस ग्रन्थ का महत्व कितना है । इस ग्रन्थ के अनेक प्रकरण ऐसे हैं, जो स्वतन्त्र ग्रन्थ के समान हैं । पाँच ज्ञान चर्चा, गणधरवाद, निह्नववाद, नयाधिकार, नमस्कार प्रकरण, सामायिक विवेचन तथा अन्य ऐसे अनेक प्रकरण हैं, जो स्वतन्त्र ग्रन्थ का उद्देश्य पूरा करते हैं । आचार्य जब किसी भी विषय की चर्चा का आरम्भ करते हैं, तब उस की गहराई मे तो जाते ही है, साथ ही उसका विस्तृत वर्णन करने मे भी सकोच नही करते । फलत किसी भी विषय की गम्भीर व विस्तृत चर्चा एक ही स्थान पर पाठको को उपलब्ध हो जाती है ।

यह ग्रन्थ आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति की टीका के रूप मे लिखा गया है, अत इसका मूल के अनुसार होना स्वाभाविक है, किन्तु आचार्य वस्तु-सकलन मे इतने कुशल हैं कि, मूल की स्पष्टता के आधार पर वे अनेक सम्बद्ध विषयो की चर्चा कर देते हैं । इस ग्रन्थ के परिचय के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के लिखे जाने की आवश्यकता है, अत यहाँ उसका अधिक विस्तार करना अनावश्यक समझ कर सामान्य परिचय देकर ही सन्तोष मानना उचित है ।

इस भाष्य की 3606 गाथाएँ हैं, उनकी टीका स्वय आचार्य ने सस्कृत मे लिखी थी। वह ग्रन्थ के आरम्भ से छठे गणधर तक है, उनके स्वर्गवास के कारण शेष टीका अधूरी रह गई, अत उसे आचार्य कोट्टार्य ने पूरा किया ।

दूसरी टीका कोट्याचार्य की है और तीसरी मलधारी हेमचन्द्र की। प्रस्तुत अनुवाद इसी तीसरी टीका के आधार पर तैयार किया गया है।

(2) विशेषावश्यक-भाष्य स्वोपज्ञ-वृत्ति

आचार्य ने यह टीका सस्कृत मे लिखी है। प्राय प्राकृत गाथाओ का वक्तव्य सस्कृत भाषा मे लिख दिया गया है और यत्र-तत्र कुछ अधिक चर्चा भी की है। यह वृत्ति अत्यन्त सक्षिप्त है, अत साधारण पाठक मूल का तात्पर्य नही समझ सकते, इसीलिए आचार्य कोट्याचार्य तथा मलधारी हेमचन्द्र ने इस पर उत्तरोत्तर विस्तृत टीका लिखना उचित समझा। इस टीका का विशेष परिचय मुनि श्री पुण्यविजयजी ने ही कुछ समय पूर्व दिया है और उन्होने ही सर्वप्रथम उसकी शोध की है।

आचार्य ने इस टीका मे आचार्य सिद्धसेन के नाम का उल्लेख किया है, अतः अब यह बात निश्चित हो जाती है कि अन्य टीकाकारो ने जिन कुछ मतो को सिद्धसेन के मत के रूप मे माना है, उनका आधार प्रस्तुत टीका ही है[1]। उनकी स्वोपज्ञ टीका से यह भी सिद्ध होता है कि, उन्होने स्वय ही इस भाष्य का नाम विशेषावश्यक[2] रखा। गाथा 1863 तक आचार्य ने व्याख्या की, तत्पश्चात् उनकी मृत्यु हो जाने के कारण व्याख्या अधूरी रह गई[3]।

(3) बृहत् संग्रहणी

बृहत् सग्रहणी के विवरण के मगलाचरण प्रसग पर आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ के कर्ता के रूप मे आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का उल्लेख अत्यन्त आदर-पूर्वक किया है[4], अत. इस बात मे सन्देह नही रह जाता कि इस कृति के कर्ता आचार्य जिनभद्र है। आचार्य जिनभद्र ने स्वय इस ग्रन्थ का नाम सग्रहणी[5] लिखा है, किन्तु अन्य सग्रहणियो से पृथक् करने के लिए इसे बृहत् सग्रहणी कहा जाता है। इसमे चारो गति के जीवो की स्थिति आदि का सग्रह किया गया है, अत इस ग्रन्थ का नाम सग्रहणी पडा। प्रारम्भ की दो गाथाओ मे आचार्य ने इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का सग्रह किया है, उससे ज्ञात होता है कि, देवो व नारको की

---

1. गाथा 65 की व्याख्या देखें।
2. गाथा 1442 की व्याख्या देखें।
3. निर्माप्य षष्ठगणधरवक्तव्य किल दिवगता पूज्याः।
   अनुयोगमार्य (र्ग) देशिकजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणा ॥
   तानेव प्रणिपत्यातः परमवि (व) शिष्टविवरण क्रियते।
   कोट्टार्यवादिगणिना मन्दधिया शक्तिमनपेक्ष्य ॥ गाथा 1863.
4. नमत जिनबुद्धितेज प्रतिहतनि शेषकुमघनतिमिरम्।
   जिनवचनैकनिपण्ण जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणम् ॥
   यामकुरुत सग्रहणि जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यः।
   तस्या गुरूपदेशानुसारतो वच्मि विवृतिमहम् ॥
5. 'ता सगहणि त्ति नामेण' ॥ गा० 1.

स्थिति, भवन तथा अवगाहना, मनुष्यो व तिर्यंचो के देह-मान तथा आयु प्रमाण, देवो और नारको के उपपात तथा उद्वर्तन के विरहकाल, सख्या, एक समय मे कितनो का उपपात तथा उद्वर्तन होता है और समस्त जीवो की गति व आगति का इस ग्रन्थ मे क्रमश वर्णन किया गया है[1] ।

वस्तुत यह ग्रन्थ भूगोल व खगोल के अतिरिक्त देवो तथा नारको के विषय मे सक्षेप मे जैन-मन्तव्य का प्रतिपादन करता है । यही नही, मनुष्यो तथा तिर्यंचो के सम्बन्ध मे भी अनेक ज्ञातव्य बातें इसमे सगृहीत हैं । वास्तविक रूप में इस ग्रन्थ को जीव व जगत् विषयक मन्तव्यो का सग्राहक ग्रन्थ कहना चाहिए । आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ की कलश-रूप जो टीका लिखी है, उससे इस ग्रन्थ का स्थान सहज ही जीव व जगत् सम्बन्धी जैन मन्तव्यो के एक विश्वकोश का हो जाता है । अन्त मे आचार्य ने लिखा है कि, इसमे जो कुछ प्रतिपादित किया गया है, वह मूल श्रुत-ग्रन्थो और पूर्वाचार्यों द्वारा कृत ग्रन्थो के आधार पर स्व-मति से उद्धृत है । इसमे यदि कोई त्रुटि हो तो श्रुतधर और श्रुतदेवी क्षमा करे[2] ।

इस ग्रन्थ की कुल गाथाएँ 367 है, किन्तु आचार्य मलयगिरि के अनुसार उनमे कुछ अन्यकृत[3] और कुछ मतान्तर सूचक प्रक्षिप्त[4] गाथाएँ भी हैं । उन्हे निकाल कर मूल गाथाओ की सख्या 353 है । प्रक्षेप की चर्चा के अवसर पर यह भी बताया गया है कि आचार्य हरिभद्र ने भी इसकी एक टीका लिखी थी ।

(4) बृहत् क्षेत्रसमास

आचार्य मलयगिरि ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ मे और अन्त मे क्षेत्रसमास को आचार्य जिनभद्र की कृति बताया है । बृहत् क्षेत्रसमास के नाम से प्रसिद्ध क्षेत्र-समास कृति आचार्य जिनभद्र की है, इसमे सन्देह का स्थान नही है । आचार्य जिनभद्र ने स्वय इस ग्रन्थ का नाम[5] समय-क्षेत्र-समास अथवा क्षेत्र-समास प्रकरण[6] सूचित किया है । आचार्य मलयगिरि ने मगलाचरण के प्रसग पर आरम्भ मे इसका नाम क्षेत्र-समास सूचित किया है । दूसरे क्षेत्र-समास से इसके पृथक्करण के लिए तथा इसके बृहद् होने के कारण यह ग्रन्थ बृहत् क्षेत्र-समास के नाम से विशेषरूपेण प्रसिद्ध है, तदपि आचार्य ने स्वय इसका जो 'समय-क्षेत्र-समास' नाम प्रदान किया है, वह भी सार्थक है । कारण यह है कि इसमे जितने क्षेत्र मे सूर्यादि की गति के आधार पर

---

1. गाथा 2 व 3 देखें ।
2. गाथा 367
3. गाथा 9, 10, 15, 16, 68, (सूर्य प्र०), 69 (सूर्य प्र०), 72 (सूर्य प्र०)
4. अथेय प्रक्षेपगाथेति कथमवसीयते ? उच्यते, मूलटीकाकारेण हरिभद्रसूरिणा । लेशतोऽप्यस्या असूचनात् । एवमुत्तरा अपि मतान्तरप्रतिपादिका गाथा प्रक्षेपगाथा अवसेया । मलयगिरि टीका गाथा 73 से 79 तक की गाथाएँ प्रक्षिप्त है ।
5. गाथा 1,1,76.
6. गाथा 50, 75

समय की गणना की गई है, इसने समय क्षेत्र के विषय में ही—अर्थात् मनुष्य क्षेत्र अथवा ढाई द्वीप के विषय में संक्षिप्त कथन है, किन्तु इसे संक्षेप में 'क्षेत्र-समास' कहते हैं।

इस ग्रन्थ में जम्बू द्वीप, लवण समुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि और पुष्करवर द्वीपार्ध नामक पाँच प्रकरणों में इन द्वीपों तथा समुद्रों का वर्णन किया गया है। जम्बू द्वीप का निरूपण करते समय सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों की गति के विषय में विस्तार-पूर्वक प्ररूपणा की गई है। लवणोदधि के वर्णन के समय अन्तर्द्वीपों की भी विस्तृत प्ररूपणा है। यह समझना चाहिए कि आचार्य ने इस ग्रन्थ में जैन भूगोल और खगोल का समावेश किया है, साथ ही इसमें गणितानुयोग का भी वर्णन है।

जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर ने इस ग्रन्थ को आचार्य मलयगिरि की टीका के साथ प्रकाशित किया है, उसमें कुल 656 गाथाएँ हैं। जिस गाथा में ग्रन्थ की गाथा-संख्या का उल्लेख है, उस गाथा[1] में एक पाठान्तर के अनुसार 655 गाथाओं का निर्देश है, किन्तु आचार्य मलयगिरि ने 637 गाथाओं का पाठ स्वीकृत किया है, फिर भी उन्होंने जो व्याख्या की है, वह 656 गाथाओं की है। ग्रन्थ-प्रशस्ति-रूप अन्तिम गाथा को निकाल कर पाठान्तर-निर्दिष्ट शेष 655 गाथाएँ मूल-ग्रन्थ की मानी जा सकती हैं। आचार्य मलयगिरि ने किसी भी गाथा के सम्बन्ध में प्रक्षेप की सूचना नहीं दी है। ऐसा क्यों हुआ? यह अनुमान करना कठिन है। सम्भव है कि मूल गाथाएँ 637 ही हों, बाद में उनमें प्रक्षेप हुआ हो, परन्तु आचार्य मलयगिरि उस प्रक्षेप का पता न लगा सके हों। उन्होंने बिना गिने ही जो पाठ मिला, उसकी टीका लिख दी, परन्तु गाथा का पाठान्तर सम्भवतः उनके ध्यान में नहीं आया, फिर भी यह पाठान्तर उपलब्ध है, अतः प्रक्षेप की सम्भावना अयथार्थ नहीं है।

रचना के उपरान्त इस ग्रन्थ का अत्यधिक प्रचार हुआ। यही कारण है कि इस ग्रन्थ के अनुकरण पर अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं और इस पर अनेक टीकाएँ भी रची गई हैं।

जिन रत्न कोश में इस ग्रन्थ की दस टीकाओं का उल्लेख है :—

1. आचार्य हरिभद्र कृत वृत्ति—यह वृत्ति प्रसिद्ध याकिनीसूनु हरिभद्र की नहीं, किन्तु बृहद्गच्छ के मानदेव—जिनदेव उपाध्याय के शिष्य हरिभद्र कृत है। यह संवत् 1185 में लिखी गई है।

2. सिद्धसेनसूरि कृत वृत्ति—उपकेश गच्छ के देवगुप्तसूरि के शिष्य सिद्धसेनसूरि ने [illegible] श्लोक प्रमाण वृत्ति की रचना संवत् 1192 में पूर्ण की।

3. आचार्य मलयगिरि कृत वृत्ति—यह वृत्ति प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलयगिरि [illegible] 7887 [illegible]। आचार्य मलयगिरि प्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्य के समकालीन थे।

4. विजयसिंह कृत चूर्णि—इसकी रचना संवत् 1215 में हुई। इसका परिमाण [illegible] है। [illegible] के अनुसार [illegible] विजयसिंह वही हैं जिन्होंने जम्बूद्वीप

1 [illegible]
2 [illegible] पृ० 250

समास की टीका लिखी है और वे चन्द्रगच्छीय अभयदेव[1]परम्परा मे—धनेश्वर–अजितसिंह–वर्द्धमान–चन्द्रप्रभ–भद्रेश्वर–हरिभद्र–जिनचन्द्र के शिष्य थे।

5. देवानन्द कृत वृत्ति—यह वृत्ति पद्मप्रभ के शिष्य देवानन्द ने सवत् 1455 मे 3332 श्लोक प्रमाण लिखी।

6. देवभद्र कृत वृत्ति—सवत् 1233 मे देवभद्र ने एक हजार श्लोक प्रमाण इस वृत्ति की रचना की।

7. आनन्दसूरि कृत वृत्ति—देवभद्र के शिष्य जिनेश्वर के शिष्य आनन्दसूरि ने इसकी रचना की। इसका प्रमाण 2000 श्लोक है।

8–10. वृत्तियाँ—ये किन की हैं, ज्ञात नही, किन्तु मगलाचरणो से पता चलता है कि पूर्वोक्त वृत्तियो से ये भिन्न है।

(5) विशेषणवती[2]

आचार्य जिनभद्र तर्क की अपेक्षा आगम को अधिक महत्व देते थे, अत आगम-गत असगतियो का निराकरण करना उनका परम कर्त्तव्य था। विशेषणवती ग्रन्थ लिखकर उन्होने अपने इस कर्त्तव्य का का पालन किया। उन्होने असगति का निराकरण विशेष प्रकार की अपेक्षा को सन्मुख रखकर किया है। अर्थात् एक ही विषय मे दो विरोधी मत उपस्थित हो, तब उन दोनो की विशेषता किस बात मे है, यह बताकर असगति का निवारण करते समय उन मन्तव्यो को विशेषण से विशिष्ट करना पडता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम विशेषणवती पडा। पुनश्च आगम-गत असगतियो के उपरान्त जैनाचार्यों के ही कतिपय ऐसे मन्तव्य थे जो आगम की मान्यता के विरुद्ध थे। उनका आचार्य जिनभद्र ने इस ग्रन्थ मे निराकरण करते हुए और आगम-पक्ष की स्थापना की है। इस ग्रन्थ मे जिन विषयो की चर्चा की गई है उनमे से कुछ ये हैं —

प्रारम्भ मे ही उत्सेधागुल, प्रमाणागुल और आत्मागुल के माप की चर्चा है। भगवान् महावीर की ऊँचाई जिस शास्त्र मे बताई गई है, उसके साथ इन अँगुलो के माप का मेल नही है। ऐसी स्थिति मे इसका समाधान कैसे करना चाहिये, यह प्रश्न उपस्थित कर उसका अपेक्षा विशेष से समाधान किया है[3]। कुलकरो की शास्त्रो मे जो सात, दस और पनरह सख्या दृष्टिगोचर होती है, उसका भी सक्षेप व विस्तार-दृष्टि से विवेचन किया है[4]। तिर्यंच मे चारित्र नही है, यह बात आगम मे बताई गई है, फिर भी तिर्यंच को महाव्रत आरोपण करने के उदाहरण शास्त्र मे मिलते हैं। इस विरोध का परिहार यह कह कर किया है कि महाव्रता-

---

1 जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास पृ० 278

2. रतलाम की ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पेढी की ओर से वि० स० 1984 में प्रत्याख्यान स्वरूपादि पाँच ग्रन्थ एक साथ प्रकाशित हुए हैं, उनमे एक यह 'विशेषणवती' है।

3. गाथा 1 से

4. गाथा 18 से

रोपण होने पर भी चारित्रिक परिणामो का अभाव होना है[1]। विग्रहगति के चार व पाँच समय के निर्देश की असगति का भी निराकरण किया है[2]। एक स्थान पर ऋषभ के सात भव और अन्यत्र बारह भव बताये हैं, उसका स्पष्टीकरण भी सक्षेप विस्तार से समझ लेना चाहिए, यह बताया गया है[3]। सिद्धो को आदि अनन्त माना है, किन्तु सिद्धि को कभी भी सिद्धो से शून्य स्वीकार नही किया गया, अत या तो सिद्धो की आदि नही मानी जा सकती, अथवा सिद्धि को किसी समय सिद्ध-शून्य भी मानना पडेगा। आचार्य ने इस समस्या का यह समाधान किया है कि जिस प्रकार जीव के समस्त शरीर सादि हैं, फिर भी हम यह नही कह सकते कि कौन-सा शरीर आदि अथवा सर्वप्रथम है, क्योकि काल अनादि है और जीव के शरीर अनादि-काल मे जीव के साथ सम्बद्ध होते आये हैं, अथवा सभी रातें और सभी दिन सादि हैं, फिर भी हम यह नही बता सकते कि अमुक दिन या अमुक रात सर्वप्रथम थी, उसी प्रकार सिद्धो के विषय मे यह समझना चाहिए कि सभी सिद्ध सादि है, तथापि यह नही कहा जा सकता कि कौन-सा सिद्ध सर्वप्रथम था, अतएव सिद्धो के सादि होने पर भी सिद्धि को कभी भी सिद्धि-शून्य नही माना जा सकता[4]। सिद्धान्त मे जिस उत्कृष्ट आयु और ऊँचाई का निर्देश है, उसके साथ वासुदेव, मरुदेवी और कुर्मापुत्र आदि की आयु व ऊँचाई का मेल नही है। इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि तीर्थंकर की जो उत्कृष्ट आयु और ऊँचाई होती है, वह सामान्य मनुष्य की नही होती। अथवा यह समझना चाहिए कि कुर्मापुत्रादि सम्बन्धी आयु आदि आश्चर्य है, अथवा सिद्धान्त-प्रतिपादित आयु और ऊँचाई सामान्य रूप से है, विशेष रूप से नही[5]। वनस्पति के जीवो का सख्यातीत पुद्गल परावर्त ससार होता है, तब मोक्ष जाने वाला मरुदेवी का जीव उपान्त्य भव मे वनस्पति रूप मे किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर मे बताया है कि उक्त स्थिति कायस्थिति की अपेक्षा से समझनी चाहिए[6]। चतुर्दश पूर्व के विच्छेद के साथ ही प्रथम सघयण विच्छिन्न होता है और प्रथम सघयण के बिना सर्वार्थ मे जाना सम्भव नहीं, यह बात सिद्धान्त मे प्रतिपादित है। ऐसी अवस्था मे वज्र, प्रथम सघयण के अभाव मे सर्वार्थ मे कैसे गये? इसका समाधान यह कह कर किया है कि वज्र सर्वार्थ सिद्ध में गये है, ऐसा उल्लेख आगम मे नही है, अत इसमे विरोध की कोई बात नही है[7]।

आगम मे यह बात बार-बार कही गई है कि विभगज्ञानी को भी अवधि-दर्शन होता है तो कर्मप्रकृति मे वर्णित अवधि-दर्शन के निषेध के साथ इसकी सगति कैसे होगी? इसका समाधान अपेक्षा विशेष से किया गया है[8]। देवकृत अतिशय 34 से भी अधिक हैं तो आगम मे

1. गाथा 21 मे
2. गाथा 23 मे
3. गाथा 31 मे
4. गाथा 35 मे
5. गाथा 38 से 45
6. गाथा 46 मे
7. गाथा 101–103
8. गाथा 104–106

इन गाथाओं का अर्थ मैंने अपनी समझ मे किया है, सम्भव है उसमें भूल हों।

केवल 34 का ही क्यो निर्देश है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि 34 का कथन नियत अतिशयो की अपेक्षा से है। अन्य अनियत कितने ही हो सकते हैं[1]। आचार्य सिद्धसेन का मत है कि केवली मे ज्ञान-दर्शनोपयोग का भेद ही नही है। दूसरे आचार्यों के मत मे केवली मे ज्ञान-दर्शन का उपयोग युगपद् है, किन्तु आचार्य जिनभद्र की मान्यता है कि आगम में ज्ञान-दर्शन का उपयोग क्रमिक लिखा है। सिद्धसेन आदि आचार्य आगम-पाठो का अपनी पद्धति से अर्थ कर उनकी सगति का प्रतिपादन करते है, किन्तु आचार्य जिनभद्र ने आगम के अनेक पाठ तथा मन्तव्य उपस्थित कर विरोधी मतो की समालोचना की है और वताया है कि पूर्वापर-सगति की दृष्टि से आगम के प्रमाणानुसार क्रमिक उपयोग ही मानना चाहिए[2]। इस ग्रन्थ मे यह प्रकरण सवसे लम्वा है और लगभग एक सौ गाथाओ मे इसकी चर्चा है। इस चर्चा के उपसहार में आचार्य ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है और यह स्पष्ट किया है कि उनकी वुद्धि स्वतन्त्र नही किन्तु आगम-तन्त्र से वन्धी हुई है। इन गाथाओ से आचार्य जिनभद्र की प्रकृति का ठीक-ठीक परिचय मिल जाता है। वे कहते हैं कि मुझे क्रमिक उपयोग के विषय में कोई एकान्त अभिनिवेश नही, जिसके आधार पर मैं किसी भी प्रकार उस मत की स्थापना का प्रयत्न करूँ[3], तथापि मुझे यह कहना चाहिए कि जिनमत को अन्यथा करने की मुझ में शक्ति नही है। पुनश्च, आगम और हेतुवाद की मर्यादा भिन्न है, अतः उनका कथन है कि तर्क[4] को एक ओर रखकर मात्र आगम का ही अवलम्बन करना चाहिए और तदनन्तर यह विचार करना चाहिए कि युक्त क्या है और अयुक्त क्या है ? अर्थात् युक्तियो को आगम का अनुकरण करना चाहिए, न कि जिस विषय का युक्ति से पहले विचार कर लिया जाये, उसके समर्थन मे आगमो को रखा जाये[5]। उन्होने यह भी कहा है कि आगम में जो कुछ कहा है वह अहेतुक

---

1. गाथा 109–110
2 गाथा 153–249
3 ण वि अभिणिवेसवुद्धी अम्ह एगतरोवओगम्मि।
तह वि भणिमो न तीरइ ज जिणमयमण्णहा काउ। गाथा 247
4 मोत्तूण हेउवाय आगममेत्तावलविणो होउ।
सम्ममणुचिंतणिज्ज किं जुत्तमजुत्तमेय ति।
5. यह वात ध्यान में रखनी चाहिए कि सिद्धसेन दिवाकर ने हेतुवाद और आगमवाद के पारस्परिक विरोध का परिहार दोनो वादो के विपय को पृथक् करके किया है। (देखें-सन्मतितर्क, काण्ड 3, गाथा 43–45, गुजराती विवेचन)। हेतु-अहेतुवाद का सघर्ष मात्र एक परम्परा में ही नही है। ऐसा सघर्प प्रत्येक दर्शन परम्परा मे उत्पन्न होता ही है। उदाहरणत पूर्व मीमासा और उत्तर मीमासा दोनो श्रुति या आगम का ही मुख्य आश्रय लेते है। वे तर्क का उपयोग आगम के समर्थन के लिए ही करते हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं। इसके विपरीत साख्य जैसे दर्शन मुख्यत हेतुजीवी है, वे तर्क-सिद्ध वस्तु की स्थापनार्थ ही श्रुति का अवलम्वन लेते है, ऐसा सघर्प अनिवार्य है, इसीलिए जैनाचार्यों ने इसका समाधान अपने-अपने ढंग से प्रदर्शित किया है, उसमें क्षमाश्रमण जिनभद्र का पहला स्थान है और सिद्धसेन का दूसरा।

अथवा निराधार तो नही है, अतः हेतु मे आगम का समर्थन करना चाहिए, किन्तु हेतु से आगम-विरोधी वस्तु का प्रतिपादन कदापि न करना चाहिए[1]। इसी विषय को अन्य प्रसग पर और भी अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा है कि आप ऐसा अभिनिवेश क्यो रखते हैं कि आपको जो तर्क-सगत प्रतीत हो वही जिनमत होना चाहिए ? तर्क मे सर्वज्ञ अथवा जिन के मत का निषेध करने का सामर्थ्य नही है, अत तर्क को आगम का अनुसरण करना चाहिए, आगम को तर्क का नही[2]।

इस छोटे से प्रकरण ग्रन्थ में जिन अनेक आगम और आगमेतर प्रकरणो के मतो का समन्वय किया गया है, वे आगम और आगमेतर ग्रन्थ ये हैं —

आगम—

प्रज्ञापना[3], स्थानाग[4], प्रज्ञप्ति (भगवती)[5], द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति[6], जीवाभिगम-प्रज्ञप्ति[7], जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति[8], सूर्य प्रज्ञप्ति[9], आवश्यक[10], सामायिक[11], चूर्ण आचारप्रणिधि[12], सोमिल पृच्छा (भगवती)।

आगमेतर—

कर्मप्रकृति[13], सयरी[14], वसुदेव चरित्र[15]

(6) जीतकल्प सूत्र :

आचार्य जिनभद्र ने इस ग्रन्थ की रचना 103 गाथाओ मे की है और उसमे जीत-व्यवहार के आधार पर दिये जाने वाले प्रायश्चित्तो का सक्षिप्त वर्णन है (गा० 1)। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध मोक्ष के कारणभूत चारित्र से है, क्योकि चारित्र की शुद्धि का मुख्य आधार

---

1. गाथा 249
2. गाथा 274
3 गाथा 220, 275
4. गाथा 18
5. गाथा 13, 18, 254, 220, 172
6. गाथा 9
7. गाथा 13, 242
8. गाथा 13
9. गाथा 17 का उत्थान
10 गाथा 253
11. गाथा 31
12. गाथा 252
13. गाथा 83, 85, 104, 126
14. गाथा 90–92
15 गाथा 31

प्रायश्चित्त है, अत मोक्षार्थियो के लिए प्रायश्चित्त का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन वताकर (गा० 2–3) आचार्य ने प्रायश्चित्त के आलोचनादि दस भेद वताये हैं (गा० 4) और तदनन्तर उन्होने प्रत्येक प्रायश्चित्त के योग्य अपराध-स्थानो का निर्देश किया है—अर्थात् कौन-सा अपराध होने पर क्या प्रायश्चित्त लेना चाहिए, इसका निर्देश किया है (गा० 5–101)। अन्त मे उन्होने कहा है कि अनवस्थाप्य तथा पाराचिक नाम के दो प्रायश्चित्त चौदह पूर्वधारियो के सत्ता-काल पर्यन्त दिये जाते थे—अर्थात् आचार्य भद्रवाहु के समय तक इनका व्यवहार था, उसके वाद उनका विच्छेद हो गया (गा० 102)। उपसहार करते हुए वताया गया है कि इस जीतकल्प की रचना सुविहितो पर अनुकम्पा की दृष्टि से की गई है। इस शास्त्र का उपयोग गुणो की परीक्षा कर के करना चाहिए।

(7) जीतकल्प भाष्य .

आचार्य जिनभद्र ने अपने 103 गाथा परिमाण वाले मूल जीतकल्प सूत्र पर 2606 गाथाओ का भाष्य लिखा है। इसमे मूल-सम्वद्ध अनेक विपयो की चर्चा करके आचार्य ने जीत-व्यवहार शास्त्र का ही नही, अपितु सम्पूर्ण छेदशास्त्र का रहस्य प्रकट किया है।

मूल-सूत्र के एक-एक शव्द की व्याख्या प्रथम पर्याय वताकर और तत्पश्चात् भावार्थ का प्रदर्शन कर की गई है। आचार्य को इससे भी सन्तोप न हुआ, अत अनेक शव्दो की व्युत्पत्ति वताकर भी इप्टार्थ की सिद्धि की है। भाष्य का उद्देश्य केवल अर्थ-प्रदर्शन नही अपितु उसमे प्रतिपादित विपयो से सम्वद्ध अनेक उपयोगी विषयो का स्पष्टीकरण करने मे भी आचार्य ने सकोच का अनुभव नही किया और इस प्रकार इस ग्रन्थ को उन्होने एक शास्त्र का रूप प्रदान कर दिया।

आचार्य ने मूल में (गा० 1) प्रवचन को नमस्कार किया है, अत भाष्य मे सर्वप्रथम प्रवचन शव्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है (गा० 1–3) और फिर प्रायश्चित्त शव्द की व्याख्या की है कि—

> **पावं छिंदति जम्हा पायच्छित्तं ति भण्णते तेण।**
> **पायेण वा वि चित्तं सोहयई तेण पच्छित्त ॥ गा० 5॥**

सस्कृत शव्द प्रायश्चित्त के प्राकृत मे दो रूप प्रचलित हैं—पायच्छित्त और पच्छित्त। अत दोनो शव्दो की स्वतन्त्र व्युत्पत्ति दी गई है—जो पाप का छेद करे वह पायच्छित्त और जिसके द्वारा प्राय चित्त शुद्ध होता है वह पच्छित्त। ये दोनो व्युत्पत्तियाँ शव्द रूपानुसारी हैं। इन शव्दो के मूल मे कौन-सी धातु थी, इसको लक्ष्य मे रखकर व्युत्पत्ति नही की गई है। इससे ज्ञात होता है कि प्राकृत शव्दो की व्युत्पत्ति करने मे टीकाकार कितने स्वतन्त्र है। प्रथम गाथा-गत जीत-व्यवहार शव्द की व्याख्या के प्रसग मे (गा० 7) आगम, श्रुत आदि सब मिलाकर पाँच व्यवहारो की विस्तार से विवेचना की है (गा० 8–705)। जीत-व्यवहार की व्याख्या यह की है कि, जो व्यवहार परम्परा प्राप्त हो, महाजन सम्मत हो और वहुश्रुतो ने जिसका बार-बार सेवन किया हो, परन्तु उनके द्वारा जिसका निवारण न किया गया हो, वह जीत-व्यवहार कहलाता है (गा० 675–677)। आगम, श्रुत, आज्ञा अथवा धारणा मे से जिस व्यवहार का एक भी आधार न हो, वह जीत-व्यवहार कहलाता है, क्योकि उसके मूल मे

आगमादि कोई व्यवहार नहीं, अपितु केवल परम्परा ही होती है (गा० 678)। जो जीत-व्यवहार चारित्र की शुद्धि करता है, उसी का आचरण करना चाहिए और जो जीत आचार-शुद्धि का कारण न हो उसका आचरण नही करना चाहिए (गा० 692)। यह भी सम्भव है कि ऐसा भी कोई जीत-व्यवहार हो जिसका आचरण केवल एक व्यक्ति ने किया हो, फिर भी यदि वह व्यक्ति सवेग-परायण हो, सयमी हो और वह आचार-शुद्धि कर सिद्ध हुआ हो, तो ऐसे जीत-व्यवहार का अनुसरण करना चाहिए (गा० 694)। इस प्रकार प्रथम मूल गाथा की व्याख्या के प्रसंग पर पाँच व्यवहारो की व्याख्या करने मे ही 705 भाष्य गाथाओ की रचना की गई है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होने पाँच व्यवहारो की ही व्याख्या नही की, किन्तु अनेक प्रासगिक विषयो का विशद विवेचन किया है। आगम व्यवहार के स्पष्टीकरण मे पाँच ज्ञानो का सक्षेप मे विवेचन है (गा० 11–106)। उसमे विशेषत 'अक्ष' शब्द की व्युत्पत्ति मे नैयायिकादि अन्य दर्शन-सम्मत 'अक्ष' शब्द के इन्द्रिय अर्थ का निराकरण किया है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को आचार्य ने प्रत्यक्ष नही, प्रत्युत लैंगिक[1] कहा है (गा० 14–18)
केवलज्ञान के प्रसग मे —

> सव्वेहि जियपदेसेहि जुगवं जाणति पासई।
> दंसणेण य णाणेणं पईवो अब्भमस्स वा। 92।
>
> अंबरे व कतो संतो तं सव्व तु पगासती।
> एवं तु उवणतो हो ति सभिण्ण तु जं वयं। 93।

इन गाथाओ से वाचको को सहसा यह प्रतीत हो सकता है कि आचार्य युगपदुपयोगवादी हैं, परन्तु वस्तुतः वे अपने विशेषावश्यक भाष्य[2] तथा विशेषणवती ग्रन्थो के आधार पर क्रमक्रियोपयोगवादी ही हैं। अत इन गाथाओ के 'जुगव' शब्द का सम्बन्ध 'जुगव जाणई, जुगव पासई' इस प्रकार प्रत्येक के साथ जोडना चाहिए, जिससे आचार्य का तात्पर्य सुगृहीत हो सके। पूज्य मुनि श्री पुण्यविजयजी ने जीतकल्प की गाथा 60 के आधार पर यह बात सिद्ध[3] की है कि आचार्य ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना इस ग्रन्थ से पहले की थी। यदि विशेषावश्यक भाष्य की रचना के उपरान्त उनके मत मे परिवर्तन हुआ होता, तो वे प्रस्तुत जीतकल्प भाष्य मे इस प्रसग पर विस्तार से इस विषय की चर्चा करते तथा विशेषावश्यक भाष्य मे दी गई युक्तियो का खण्डन कर केवली के युगपदुपयोग की सिद्धि करते। आचार्य ने ऐसा नही किया, अत. उक्त गाथाओ में 'जुगव' शब्द का सम्बन्ध पूर्वोक्त प्रकार से करना उचित है।

ज्ञान विवेचन के अनन्तर प्रायश्चित देने वाले की योग्यता तथा अयोग्यता का विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है (गा० 149–256)।

---

1. विशेषावश्यक के प्रारम्भ में पाँचो ज्ञानो की चर्चा अति विस्तार-पूर्वक की गई है। गाथा 91 से
2. विशेषावश्यक भाष्य गाथा 3089 से
3. जीतकल्प भाष्य की प्रस्तावना देखें

वर्तमान काल मे ऐसी योग्यता वाले महापुरुष नही है, तो प्रायश्चित्त कैसे दिया जाए ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि यह सत्य है कि अधुना केवली और 14 पूर्वधारी नही हैं, परन्तु प्रायश्चित्त की विधि का मूल प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु मे है और उसके आधार[1] पर कल्प प्रकल्प तथा व्यवहार इन तीन ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। वे आज भी विद्यमान हैं और उनके ज्ञाता भी, अत इन ग्रन्थो के आधार पर प्रायश्चित्त का व्यवहार अत्यन्त सरलता मे हो सकता है। इससे चारित्र की शुद्धि भी हो सकती है फिर उसका आचरण क्यो न किया जाए ? (गा० 254–273)

प्रायश्चित्त देते हुए, देने वाले को दया-भाव रखना चाहिए और जिसको प्रायश्चित्त देना हो, उसकी शक्ति का भी विचार करना चाहिए। ऐसा होने पर ही प्रायश्चित्त करने वाला सयम मे स्थिर होता है, अन्यथा प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और वह शुद्धि के स्थान पर सयम का ही सर्वथा त्याग कर देता है। किन्तु दया-भाव इतना महान् न होना चाहिए कि प्रायश्चित्त देने का विचार ही छोड दिया जाए। ऐसा करने से दोप-परम्परा की वृद्धि होती है और चारित्र-शुद्धि नही हो पाती (गा० 307)। प्रायश्चित्त न देने से चारित्र स्थिर नही रहता और उसके अभाव मे तीर्थ, चारित्र-शून्य हो जाता है। तीर्थ मे चारित्र न हो तो निर्वाण की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? निर्वाण-लाभ के अभाव मे कोई दीक्षा ही क्यो लेगा ? यदि कोई दीक्षित साधु ही न होगा, तो तीर्थ का व्यवहार ही शक्य नही, अत तीर्थ की स्थिति-पर्यन्त प्रायश्चित्त की परम्परा जारी रखनी ही चाहिए। (315–317)

प्रसगवश भक्त-परिज्ञा (322–511), इगिनीमरण (512–515) और पादपोपगमन (516–559) नामक तीन प्रकार की मारणान्तिक साधना का विवेचन इसलिए किया गया है कि वर्तमान काल मे भी ऐसी कठिन तपस्या का आचरण करने वाले विद्यमान है। सामान्य प्रायश्चित्तो का आचरण तो उसकी अपेक्षा अत्यन्त सरल है, अत उसका अवलम्बन विच्छिन्न क्यो माना जाए ?

मूल की प्रथम गाथा के भाष्य मे आचार्य ने इसके अतिरिक्त अनेक अन्य प्रासगिक विपयो की विशद चर्चा की है। इसके बाद मूलानुसारी भाष्य है अर्थात् मूल मे जहा साधुओ से होने वाले दोप गिनाए हैं और उनकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्तो का विधान है, वहाँ सर्वत्र मूल के एक-एक शब्द की व्याख्या के पश्चात आवश्यक-सम्बद्ध विषयो की चर्चा भी आचार्य ने भाष्य मे की है और भाष्य को एक सुविस्तृत एव विशद ग्रन्थ का रूप दिया है।

मुनिराज श्री पुण्यविजयजी ने भाष्य सहित जीतकल्प का सम्पादन किया है और उसे श्री बबलचन्द केसवलाल मोदी ने अहमदाबाद से प्रकाशित किया है।

---

1 कल्प, बृहत्कल्प के नाम से ज्ञात ग्रन्थ है, प्रकल्प अर्थात् निशीथ, तथा व्यवहार यह व्यवहार-सूत्र नाम का ग्रन्थ है, ये तीनो आज भी विद्यमान है।

आचार्य सिद्धसेन ने जीतकल्प भाष्य की चूर्णि[1] लिखी है। यह सिद्धसेन प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न है, क्योंकि दिवाकर आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं। इस चूर्णि की विषम-पद-व्याख्या श्रीचन्द्रसूरि ने वि० 1227 मे पूर्ण की थी, अत सिद्धसेनसूरि का समय वि० 1227 से पूर्व होना चाहिए।

आचार्य जिनभद्र के बाद होने वाले तत्त्वार्थ-भाष्य-व्याख्याकार सिद्धसेन गणि तथा उपमिति भवप्रपचा कथा के लेखक सिद्धर्षि अथवा सिद्ध-व्याख्यानिक ये दो प्रसिद्ध आचार्य तो इस चूर्णि के लेखक ज्ञात नही होते, क्योंकि चूर्णि अत्यन्त सरल भाषा मे लिखी हुई है तथा उक्त दोनो आचार्यों की शैली अत्यन्त क्लिष्ट है, फिर इन दोनो आचार्यों की कृतियो मे इस चूर्णि की गिनती भी नही की जाती, अत प्रस्तुत सिद्धसेन इनसे भिन्न ही होने चाहिए। मेरा अनुमान है कि सम्भवत आचार्य जिनभद्र के बृहत् क्षेत्रसमास की वृत्ति के रचयिता जो सिद्धसेनसूरि हैं वही इस चूर्णि के कर्त्ता हो। कारण यह है कि उन्होंने उक्त वृत्ति वि० स० 1192 मे पूर्ण की थी[2]। अत इस चूर्णि की जो व्याख्या 1227 मे पूरी हुई, उससे पहले वे इस चूर्णि की रचना करने मे समर्थ हुए। इस सिद्धसेन के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धसेन का इस समय के लगभग पता भी नही चलता, अत. इस बात की सम्भावना है कि बृहत् क्षेत्रसमास के वृत्तिकार तथा चूर्णिकार एक ही सिद्धसेन हो, यदि ऐसा हो तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि चूर्णिकार सिद्धसेन उपकेश गच्छ के थे और देवगुप्तसूरि के शिष्य तथा यशोदेवसूरि के गुरु भाई थे। इन्ही यशोदेवसूरि ने उन्हे शास्त्रार्थ सिखाया था[3]।

सिद्धसेन-कृत चूर्णि के विषम-पदो की व्याख्या श्रीचन्द्रसूरि ने की है। प्रशस्ति के लेखानुसार यह व्याख्या वि० 1227 मे पूर्ण हुई। प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि श्रीचन्द्र के गुरु का नाम धनेश्वरसूरि था।

सिद्धसेन ने स्वय यह उल्लेख[4] किया है कि जीतकल्प सूत्र की एक अन्य भी चूर्णि थी, किन्तु आचार्य जिनविजयजी ने प्रस्तावना मे कहा है कि वह उपलब्ध नही है।

जिनरत्नकोष से ज्ञात होता है कि जीतकल्प का एक विवरण प्राकृत मे उपलब्ध है। प्रोफेसर वेलणकर का अनुमान है कि तिलकाचार्य ने अपनी वृत्ति का आधार इस विवरण को बनाया होगा।

जीतकल्प की 1700 श्लोक प्रमाण एक अन्य वृत्ति श्री तिलकाचार्य ने भी लिखी थी, वह संवत् 1275 मे पूरी हुई। वे शिवप्रभसूरि के शिष्य थे। इसके अतिरिक्त जिनरत्नकोष मे एक अज्ञातकर्तृक अवचूरि का भी उल्लेख है।

---

1. आचार्य जिनविजयजी ने 'जीतकल्पसूत्र' नाम से जो ग्रन्थ छपवाया है, उसमे यह चूर्णि और उसकी व्याख्या भी है। प्रकाशक . जैनसाहित्य संशोधक समिति, अहमदाबाद।
2. जिनरत्नकोष, जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास–पृ० 240
3. जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास पृ० 240
4. जीतकल्प चूर्णि पृ० 23, पं० 23–'अहवा बितियचुन्निकाराभिप्पाएण'

आचार्य जिनभद्र के जीतकल्प के आधार पर सोमप्रभसूरि ने यति-जीतकल्प की रचना की और मेरुतु ग ने जीतकल्पसार लिखा ।

8 ध्यानशतक

इस नाम का प्राकृत-गाथा-बद्ध ग्रन्थ आचार्य जिनभद्र के नाम से विख्यात है । उसे शतक कहते हैं किन्तु वस्तुत उसकी 105 गाथाएँ है । यह शतक आवश्यक निर्युक्ति मे समाविष्ट है । आचार्य हरिभद्र ने उसकी सभी गाथाओ की व्याख्या भी की है[1], किन्तु उसमे उन्होने इस ग्रन्थ को 'शास्त्रान्तर[2], कहकर भी यह नही बताया कि वह किसकी रचना है ? आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने भी अपनी टिप्पणी मे रचयिता के विषय मे कोई सकेत नही किया, अत इस कृति का आचार्य जिनभद्र द्वारा लिखा जाना सदिग्ध है । आचार्य हरिभद्र के उल्लेख के अर्थानुसार यह ध्यानशतक शास्त्रान्तर है, यह बात तो निश्चित ही है, किन्तु उससे यह अर्थ फलित नही होता कि यह आचार्य भद्रबाहु की कृति नही है ।

वस्तुत आवश्यक निर्युक्ति मे अनेक बार तीर्थंकरो को नमस्कार किया गया है, विशेषत जहाँ नवीन प्रकरण शुरु होता है, वहाँ नमस्कार किया गया है । इसके अनुसार ध्यान प्रकरण के प्रारम्भ मे भी आचार्य ने नमस्कार किया है । मध्य मे आये हुए इस नमस्कार के औचित्य को सिद्ध करने के लिए आचार्य हरिभद्र ने यह लिखा है कि अब ध्यानशतक मे बहुत कुछ कहना है, अथवा यह विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अत वास्तव मे यह प्रकरण शास्त्रान्तर का स्थान ग्रहण करता है । इसीलिए आचार्य ने प्रारम्भ मे नमस्कार किया है, इससे ज्ञात होता है कि आचार्य हरिभद्र ने ध्यानशतक मे प्रतिपादित विषय की महत्ता के कारण ही इसे शास्त्रान्तर कहा है । इस उल्लेख से हम यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि आचार्य हरिभद्र ने आचार्य जिनभद्र के इस ध्यानशतक को उपयोगी समझ कर आवश्यक निर्युक्ति मे समाविष्ट कर लिया और उसकी व्याख्या भी कर दी । यदि यह कृति भद्रबाहु की न होती तो हरिभद्र स्पष्टतः इस बात को लिखते और यह भी बताते कि यह किसकी रचना है ? ऐसी किसी भी सूचना के अभाव मे इस प्रकरण को आवश्यक निर्युक्ति का अश ही समझना चाहिए ।

ध्यानशतक को श्री विनय-भक्ति-सुन्दर-चरण ग्रन्थमाला के तीसरे पुष्प के रूप मे आचार्य जिनभद्र की कृति बताकर पृथक् भी प्रकाशित किया गया है ।

7 मलधारी हेमचन्द्राचार्य

गुजरात के इतिहास का स्वर्णयुग, सिद्धराज जयसिंह और राजर्षि कुमारपाल का राज्य-काल है । इस युग मे गुजरात की राजनैतिक दृष्टि से उन्नति हुई, किन्तु इससे भी बढकर उन्नति सस्कार निर्माण की दृष्टि से हुई । इसमे जैन अमात्य, महामात्य और दण्डनायको की

---

1 आवश्यक निर्यु क्ति की गाथा 1267 के बाद ध्यानशतक का समावेश है ।
2. ध्यानशतकस्य च महार्थत्वादवस्तुत शास्त्रान्तरत्वात् प्रारम्भ एव विघ्नविनायकोपशान्तये मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमाह ।

जो देन है, उसके मूल मे महान् जैनाचार्य विराजमान हैं। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य को उक्त दोनो राजाओ की राजसभा मे जो सम्मान प्राप्त हुआ, वह सहसा नही मिला, किन्तु वि० 802 मे अणहिल्लपुर पाटन की स्थापना से लेकर इस नगर मे उत्तरोत्तर जैनाचार्यों और महामात्यो का सम्बन्ध बढता ही गया था और उसी के फलस्वरूप राजा कुमारपाल के समय मे जैनाचार्यों के प्रभाव की पराकाष्ठा का दिग्दर्शन आचार्य हेमचन्द्र मे हुआ। सिद्धराज की सभा मे आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिष्ठा वि० 1181 के बाद ही स्थापित हुई होगी, क्योंकि प्रबन्ध-चिन्तामणि के उल्लेखानुसार दिगम्बर कुमुदचन्द्र के साथ वादी देवसूरि के शास्त्रार्थ के समय आचार्य हेमचन्द्र वहाँ दर्शक के रूप मे उपस्थित थे, किन्तु वि० 1191 मे मालव विजय के उपरान्त वापिस आए हुए सिद्धराज को आचार्य हेमचन्द्र ने जैनो के प्रतिनिधि के रूप मे आशीर्वाद दिया था। इससे प्रतीत होता है कि वि० 1181 से 1191 की अवधि मे आचार्य हेमचन्द्र का प्रभाव उत्तरोत्तर बढता गया था और 1191 मे वे जैनो के प्रतिनिधि के रूप मे सिद्धराज की सभा मे उपस्थित थे।

आचार्य हेमचन्द्र के इस प्रभाव की भूमिका मे जो पूर्ववर्ती आचार्य थे, उनमे आचार्य अभयदेवसूरि मलधारी का स्थान सर्वोच्च प्रतीत होता है। उनके इस स्थान की रक्षा उनके ही पट्टधर आचार्य हेमचन्द्र मलधारी ने की है। इन दोनो मलधारी आचार्यों ने राजा सिद्धराज के मन मे अपने तप एव शील के बल पर जो भक्ति उत्पन्न की थी, उसी का लाभ उनकी मृत्यु के पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र को मिला और उससे वे अपनी साहित्यिक-साधना के आधार पर कलिकाल सर्वज्ञ के रूप मे तथा कुमारपाल के समय मे जैन शासन के महाप्रभावक पुरुप के रूप मे इतिहास में प्रकाशमान हुए।

उक्त आचार्य अभयदेवसूरि की परम्परा मे होने वाले पद्मदेवसूरि और राजशेखर ने यह प्रतिपादित किया है[1] कि आचार्य अभयदेव को राजा 'कर्णदेव' ने मलधारी की पदवी प्रदान की थी। इससे स्पष्ट है कि राजा कर्णदेव पर भी आचार्य अभयदेव का प्रभाव था। कर्ण के बाद राजा सिद्धराज पर उनका जो प्रभाव था उसका आँखो देखा वर्णन उनके प्रशिष्य श्रीचन्द्र ने बिना अतिशयोक्ति के किया है। उससे ज्ञात होता है कि राजा आचार्य के परमभक्त थे। इसका मुख्य कारण राजा तथा आचार्य की परमत-सहिष्णुता थी। आचार्य की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्य मलधारी हेमचन्द्र ने सिद्धराज पर अयभदेव के प्रभाव को स्थिर रखा। राजा को उपदेश देकर उन्होने अनेक प्रकार से जैनधर्म की प्रभावना मे वृद्धि की। सिद्धराज पर मलधारी हेमचन्द्र के प्रभाव का कारण उनका त्याग और तप तो था ही, परन्तु, सभव है कि उनके पूर्व-जीवन के प्रभाव का भी इसमे यथेष्ट भाग हो।

मलधारी हेमचन्द्र की परम्परा मे होने वाले राजशेखर ने प्राकृत द्व्याश्रय की वृत्ति 1387 वि० मे पूर्ण की थी। उसकी प्रशस्ति मे लिखा है कि—"मलधारी हेमचन्द्र का

---

1. पद्मदेव-कृत सद्‌गुरुपद्धति और राजशेखर-कृत प्राकृत द्व्याश्रय की वृत्ति की प्रशस्ति देखें, किन्तु विविधतीर्थकल्प में लिखा है कि राजा सिद्धराज ने यह सम्मान दिया पृ० 77, यदि राजा सिद्धराज ने ऐसा किया होता तो श्रीचन्द्रसूरि इसका उल्लेख अवश्य करते, अत. अधिक सम्भावना यही है कि यह पदवी राजा कर्णदेव ने दी हो।

गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था और वे राजमन्त्री थे। उन्होने अपनी चार स्त्रियो को छोडकर आचार्य अभयदेव मलधारी के पास दीक्षा ली थी[1]।" इससे ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र मलधारी राजमन्त्री थे और सम्भव है कि इसके कारण उनका अनेक राजाओ पर प्रभाव पडा हो। मुनिसुव्रत चरित्र की प्रशस्ति[2] मे श्रीचन्द्रसूरि ने उक्त दोनो आचार्यो का जो प्रभावशाली जीवन लिखा है, वह इतना रोचक और वास्तविक है कि उसके विषय मे विशेष कहने की आवश्यकता नही रहती, अतः वही से उसे उद्धृत करता हूँ —

71–73. भगवान् पार्श्वनाथ के 250 वर्ष बाद तीर्थंकर महावीर हुए जिनका तीर्थ आज भी प्रवर्तमान है। इन अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ मे, श्री प्रश्नवाहन कुल मे, हर्षपुर गच्छ मे, शाकभरी मण्डल मे श्री जयसिंहसूरि एक प्रसिद्ध आचार्य हुए। वे गुणो के भण्डार थे और आचार परायण थे।

74–76 उनके शिष्य गुणरत्न की खान के समान अभयदेवसूरि हुए। उन्होने अपने उपशम गुण द्वारा सुरगुरु (?) का मन आकर्षित कर लिया। उनके गुणगान की शक्ति सुरगुरु मे भी नही है, फिर मुझ मे यह सामर्थ्य कहाँ ? फिर भी उनके असाधारण गुणो की भक्ति के अधीन होकर उनके गुण माहात्म्य का गान करता हूँ।

77. ऐसा प्रतीत होता है कि उनके उच्च गुणो का अनुसरण करने के निमित्त ही उनका शरीर-परिमाण भी ऊँचा था अर्थात् आचार्य लम्बे और बलिष्ठ थे।

78. उनका रूप देखकर कामदेव भी पराजित हो गया। इसीलिए वह कभी उनके समीप नही आया अर्थात् आचार्य सुन्दर भी थे और काम-विजेता भी।

79–81 तीर्थंकर-रूपी सूर्य के अस्त होने पर भारतवर्ष मे लोग सयम-मार्ग के विषय मे प्रमादी हो गए, किन्तु उन्होने तप, नियमादि द्वारा धर्मदीप को प्रदीप्त किया, अर्थात् उन्होने क्रियोद्धार किया।

82 उनके किसी भी अनुष्ठान मे कषाय का अल्पाश भी नही रहता था। स्वपक्ष तथा परपक्ष के विषय मे उनका व्यवहार माध्यस्थपूर्ण था, अर्थात् वे सर्व-धर्म-सहिष्णु थे।

83 वे आचार्य, मात्र एक चोलपट्ट (कटिवस्त्र) तथा एक चादर का ही उपयोग निरीह भाव से करते थे, अर्थात् वे अपरिग्रही जैसे थे।

84 यशस्वी आचार्य वस्त्र एव देह मे मलधारण करते थे, ऐसा ज्ञात होता था कि आभ्यन्तरमल भयभीत होकर बाहर आ गया था।

85 आचार्य रसगृद्धि से भी रहित थे, घी के अतिरिक्त उन्होने शेष सभी विगयो (विकृतियो) का जीवन पर्यन्त त्याग किया था।

86. वे अपने कर्मों की निर्जरा के लिए ग्रीष्म ऋतु मे ठीक मध्याह्न के समय मिथ्यादृष्टि के घर भिक्षार्थ जाया करते थे।

---

1 जैन साहित्य स० इ० पृ० 245

2 पाटन जैन भण्डार ग्रन्थ सूची देखे –पृ० 314 (गायकवाड सिरीज)

87–90 जव वे भिक्षा लेने के लिए निकलते, तव श्रावक अपने-अपने घर मे भिक्षा देने का लाभ लेने की अभिलाषा से तैयार रहते और आमण सेठ जैसे भी उन्हे अपने हाथ से भिक्षा देते। वे जिस गाँव मे विराजमान होते, वहाँ के भक्तजन प्राय: उनका दर्शन किए विना भोजन नही करते थे। श्री वीरदेव के पुत्र ठाकुर श्री जज्जग्र जैसे व्यक्ति तो आचार्यश्री के पाँच कोस तक दूर रहने पर भी उनका दर्शन करके ही भोजन करते थे।

91–93 वे ऐसे वन्दनीय थे कि, अणहिलपुर पाटन मे यदि किसी एक व्यक्ति को जिनायतन मे बुलाया जाता तो शेप सभी श्रावक विना बुलाए ही एकत्रित हो जाते। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने उनकी मूर्ति अमृत-रस से निर्मित की थी। उनके दर्शन से जीवो का कषाय-विप उतर जाता था।

94 अन्य मतावलम्वी भी उनका दर्शन कर आनन्दित होते और उन्हे अपने देवता के अवतार स्वरूप मानते।

95–99 उनके मुख से सदैव ऐसे वचन निकलते जिनका श्रवणकर श्रोताओ का मन शान्त हो जाता। जिन मन्दिर मे दर्शनार्थ जाने के नियम को लेकर रोप के कारण श्रावको मे जो कलह[1] हुआ था, उसे उन्होने शान्त किया था। जहाँ दो भाई आपस मे नही वोलते थे, उन्हे उपदेश देकर वे उनमे सन्धि करवाते। जो लोग राज-कृपा के कारण अभिमानी हो गए थे, जो लोग अपने गच्छ के अतिरिक्त अन्य साधुओ को नमस्कार नही करते थे, अथवा जो राजा के मन्त्री थे, उन्हे भी उन्होने सामान्य मुनियो के प्रति आदरशील वनाया।

100–101 गोपगिरि (ग्वालियर) के शिखर पर स्थित भगवान् महावीर के मन्दिर के द्वार को वहाँ के अधिकारियो ने वन्द करवा दिया था। इस कार्य के लिए ये आचार्य स्वय राजा भुवनपाल के पास गए और उसे समझा कर उस मन्दिर के द्वार खुलवा दिए।

102 उन्होने गरणग के पुत्र शान्तु मन्त्री को कह कर भरूच मे स्थित श्री समलिका विहार के ऊपर सुवर्ण कलश चढवाया।

103 राजा जयसिंहदेव को कह कर समस्त देश मे पर्युपणादि पर्व दिनो मे अमारी की घोपणा करवाई।

104 शाकम्भरी (अजमेर के निकट साँभर) के राजा पृथ्वीराज को पत्र लिख कर रणथम्भोर के जिनमन्दिर पर सुवर्ण कलश चढवाया।

105–106 उपवास या वेला करने पर भी दोनो समय की धर्मदेशना देने का काम उन्होने कभी वन्द नही किया। वे श्रावको को अष्टाह्निका जैसे उत्सवो मे प्रवृत्त रहने को प्रेरित करते थे।

107–111 जव उन्हे अपने ज्ञान के वल पर यह मालूम हुआ कि, उनका अन्त अव निकट है तव शरीर के नीरोग रहने पर भी उन्होने एक-एक ग्रास का आहार क्रमश कम

---

1 पहले दर्शन कौन करे? इस विषय मे श्रावको मे झगडा हुआ होगा ऐसा प्रतीत होता है।

करते हुए अन्त मे भोजन का सर्वथा त्याग कर दिया। उनके इस उत्तम व्रत की वात ज्ञात कर परतीर्थिक लोग भी अश्रुपूर्ण नेत्रो से उनका दर्शन करने आने लगे। गुर्जुरनरेन्द्र-नगर मे ऐसा कोई भी व्यक्ति न था, जो उस समय उनका दर्शन करने न आया हो। शालिभद्रादि अनेक सूरि भी शोक सहित उनके पास गए थे।

112–116. भादो के महीने मे 13वाँ उपवास होने पर भी किसी की सहायता लिए विना स्वय पैदल चल कर राजमान्य तथा निकटस्थ सभी प्रदेशो मे सम्मानित सीयअ (श्रीयक) सेठ की अन्तिमकालीन दर्शन की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए सोहिअ (शोभित) श्रावक के घर से निकल कर वे उस सेठ के पास गए और दर्शन देकर उसकी मृत्यु को सफल किया। इससे ज्ञात होता है कि, आचार्य वस्तुत दाक्षिण्य के समुद्र और परोपकार-रसिक थे। इस सेठ ने आचार्यश्री के उपदेश से धर्मव्रत (कार्य) मे वीस हजार द्रम खर्च किये।

117 आचार्य की सलेखना का समाचार सुनकर प्राय समस्त गुजरात के नगरो और गाँवो के लोग उनके दर्शनार्थ आए थे।

118 आचार्य ने 47 दिन के समाधि-पूर्वक अनशन के पश्चात् धर्म-ध्यान-परायण रहते हुए शरीर का त्याग किया। चन्दन की पालकी मे प्रतिष्ठित कर उनका शरीर वाहर लाया गया। उस समय घर की रक्षा के लिए एक-एक आदमी को रखकर सभी लोग उनकी शवयात्रा मे भक्ति तथा कौतुक से सम्मिलित हुए। अनेक प्रकार के वाद्यो की ध्वनि से आकाश गूँज उठा था।

119. स्वय राजा जयसिंह भी अपने परिवार सहित पश्चिम अट्टालिका मे आकर इस शवयात्रा का दृश्य देख रहे थे। इस आश्चर्यजनक घटना को देखकर राजा के नौकर परस्पर बात करते थे कि, यद्यपि मृत्यु अनिष्ट है, तथापि ऐसी विभूति मिले तो वह भी इष्ट ही है।

120–130 शवयात्रा का विमान प्रात सूर्योदय के समय निकला था और वह मध्याह्न मे यथास्थान पहुँचा। वहाँ लोगो ने उसका सत्कार करने के लिए उस पर अनेक प्रकार के वस्त्रो का ढेर लगा दिया। चन्दन की पालकी और इन वस्त्रो सहित ही उनकी देह का दाह सस्कार किया गया। लोगो ने चन्दन और कपूर की ऊपर से वर्षा भी की। आग बुझने पर लोगो ने राख लेली और राख समाप्त होने पर उस स्थान की मिट्टी भी उठा ली. अत. उस जगह पर शरीर परिमाण गढ्ढा पड गया। इस राख और मिट्टी से मस्तक-शूल जैसे अनेक प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं।

131. मैंने भक्तिवश होकर भी इसमे लेश मात्र भी मिथ्या कथन नही किया, जो कुछ मैंने उनके जीवन मे प्रत्यक्ष देखा, उसी के एक-मात्र अश का वर्णन किया है।

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ऐसे प्रभावशाली गुरु के शिष्य थे। उनके ही शिष्य श्रीचन्द्रसूरि ने उनका जो परिचय दिया है, वह उनके जीवन पर प्रकाश डालता है, अत. यहाँ उसे उद्धृत किया जाता है। यह परिचय उक्त प्रशस्ति मे ही आचार्य अभयदेव के परिचय के अनन्तर वर्णित है।

132 अपने तेजस्वी स्वभाव से उत्तम पुरुषों के हृदयो को आनन्द देने वाले कौस्तुभ-मणि के समान श्री हेमचन्द्रसूरि आचार्य अभयदेव के बाद हुए।

133 वे अपने युग मे प्रवचन के पारगामी और वचनशक्ति सम्पन्न थे। 'भगवती' जैसा शास्त्र तो अपने नाम के समान उनके जिह्वाग्र पर स्थित था।

134 उन्होंने मूल-ग्रन्थ, विशेषावश्यक, व्याकरण और प्रमाणशास्त्र आदि अन्य विषयो के हजारो ग्रन्थो का अध्ययन किया था।

135 वे राजा और मन्त्री जैसे लोगों मे जिनशासन की प्रभावना करने मे परायण और तत्पर तथा परम कारुणिक थे।

136–137. जब वे मेघ के समान गम्भीर ध्वनि से उपदेश देते, तब लोग जिनभवन के बाहर खड़े रह कर भी उनके उपदेश का रसपान करते। वे व्याख्यानलब्धि सम्पन्न थे, अत. शास्त्र-व्याख्यान के समय जड बुद्धि मनुष्य भी सरलता से बोध प्राप्त कर लेते थे।

138–141. सिद्धव्याख्यानिक ने वैराग्य उत्पन्न करने वाली उपमिति भव-प्रपचा कथा बनाई तो थी, किन्तु उसका समझना अत्यन्त कठिन था, अत कितने ही समय से कोई व्यक्ति सभा मे उसका व्याख्यान नही करता था, किन्तु जब आचार्य ने उस कथा का व्याख्यान किया तो मुग्धजन भी उस कथा को समझने लगे और लोग आचार्य से यह विनती करने लगे कि बारम्बार उस कथा को ही सुनाया जाए, इस प्रकार निरन्तर तीन वर्ष तक आचार्य ने उस कथा का व्याख्यान किया। इसके बाद उस कथा का खूब प्रचार हुआ। आचार्य ने जिन ग्रन्थो की रचना की, वे इस प्रकार हैं :—

142–145 आचार्य ने सर्वप्रथम उपदेशमाला मूल तथा भव-भावना मूल की रचना की। तत्पश्चात् दोनो की क्रमश 14 हजार और 13 हजार श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी। तदनन्तर अनुयोगद्वार, जीव-समास और शतक (बन्ध-शतक) की क्रमश छह, सात और चार हजार श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी। मूल आवश्यक वृत्ति (हरिभद्र कृत) का टिप्पण पाँच हजार श्लोक प्रमाण लिखा। इस टिप्पण की रचना उक्त वृत्ति के विषम स्थानो का बोध करवाने के लिए की गई थी। विशेषावश्यक सूत्र की विस्तृत वृत्ति 28000 श्लोक प्रमाण लिखी।

146–154 उनके व्याख्यान की प्रसिद्धि सुनकर गुर्जरेन्द्र जयसिंहदेव स्वय अपने परिवार सहित जिनमन्दिर मे आकर धर्म-कथा सुनते थे। कई बार दर्शन की उत्कण्ठा से वे स्वय उपाश्रय मे आकर दर्शन करते और काफी समय तक बातचीत करते रहते। एक बार वे अत्यन्त मान-पूर्वक आचार्य को अपने घर ले गए और दूब, फल, फूल, जल आदि द्रव्यो से उनकी आरती कर तथा उनके चरण-कमलो के निकट ये सब द्रव्य रख कर उन्होने पचाग प्रणाम किया और अपने लिए परोसी गई थाली मे से अपने ही हाथो से चार प्रकार के आहार का दान दिया। तदनन्तर हाथ जोड कर कहने लगे, 'आज मैं कृतार्थ हुआ हूँ, आज मेरा घर आपके पादस्पर्श से कल्याण स्थान बन गया है। मुझे ऐसे आनन्द का अनुभव हो रहा है कि, मानो स्वय भगवान् महावीर मेरे घर पधारे हैं।'

155-162 आचार्य ने राजा जयसिंह को कह कर जैन मन्दिरो पर सुवर्ण कलश

चढवाए तथा धधुका और सच्चउर (सत्यपुर-साचोर) में परतीर्थिक-कृत पीडा का निवारण करवा कर जयसिंह की आज्ञा से उन स्थानो मे तथा अन्यत्र रथयात्रा चालू करवाई। पुनश्च, जैनमन्दिर के भाग की जो आय बन्द हो गई थी, उसे चालू करवायी और जो आय राज-भण्डार मे जमा हो चुकी थी उसे भी राजा को समझा कर वापिस दिलवाई। अधिक क्या कहा जाए! जहाँ-जहाँ जैन धर्म का पराभव हुआ था, वहाँ-वहाँ सैकड़ो उपाय कर पुन जैन धर्म की प्रतिष्ठा की। जैनशासन की प्रभावना के लिए ऐसे-ऐसे काम किए कि, दूसरे जिनकी कल्पना भी न कर सकें। उन्होने ऐसा प्रबन्ध करवाया कि कही भी कभी किसी साधु का अनादर न हो सके।

163–177 अणहिलपुर नगर से तीर्थ यात्रा के निमित्त निकले हुए सघ ने प्रार्थना कर आचार्यश्री को अपने साथ लिया। इस सघ मे विविध प्रकार के 1100 तो वाहन थे और घोडे आदि जानवरो की सख्या का तो पार ही न था। इस सघ ने वामणथली (वथली) मे पडाव किया। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि, मानो राजा की बहुत बडी सेना ने पडाव किया हो। श्रावको ने सोने के बहुमूल्य आभूषण पहन रखे थे। यह सब समृद्धि देख कर सोरठ के राजा खेगार के मन मे दुर्भावना उत्पन्न हुई। दूसरो ने भी उसे भडकाया कि, सम्पूर्ण अणहिलवाड नगर की समृद्धि पुण्य प्रताप से तुम्हारे आँगन मे आई है, इसलिए इस पर अधिकार कर अपना भण्डार भर लेना चाहिए, तुम्हे एक करोड का द्रव्य मिलेगा। लोभवश हो उस राजा ने सघ से सारा धन छीन लेने का निश्चय किया, किन्तु दूसरी ओर यह कार्य लोक-मर्यादा के विरुद्ध था, अतः लज्जावश उसने अपने उक्त निर्णय को दबाए रखा। लूं या न लूं, इस दुविधा मे पड कर किसी न किसी बहाने वह सघ को आगे नही बढने देता था। कहने पर भी वह सघ के किसी भी व्यक्ति से मिलता नही था। इस अवधि मे उसके किसी स्वजन की मृत्यु हो गई। इस निमित्त आचार्य हेमचन्द्र शोक निवारण के बहाने से राजा के पास गए और उसे समझा कर सघ को मुक्त करवाया। बाद मे सघ ने क्रमश गिरनार तथा शत्रुजय मे नेमिनाथ और ऋषभदेव के दर्शन किए। उस अवसर पर गिरनार तीर्थ मे पचास हजार और शत्रुञ्जय मे तीस हजार पारुत्थय (सिक्का) की आय हुई। आचार्य के उपदेश को ग्रहण कर भव्य-जन भाविक श्रावक बन जाते और यथाशक्ति देश-विरति अथवा सर्व-विरति आचार को ग्रहण करते।

178–179 अन्त मे उन्होने अपने गुरुदेव अभयदेव के समान ही मृत्यु समय मे आराधना की। अन्तर यह था कि, इन्होने सात दिन का अनशन किया था तथा राजा सिद्धराज स्वय इनकी शवयात्रा मे सम्मिलित हुए थे।

180 उनके तीन गणधर थे—विजयसिंह, श्रीचन्द्र और विबुधचन्द्र, उनमे से श्रीचन्द्रसूरि उनके पट्टधर हुए।

इन श्रीचन्द्र आचार्य ने गुरु के स्वर्गवास के उपरान्त थोडे ही समय मे 'मुनिसुव्रत चरित' लिखा था, वह सवत् 1193 मे पूर्ण हुआ था[1]।

---

1. समय सूचक प्रशस्ति गाथा अशुद्ध है, किन्तु बृहट्टिप्पनिका मे सम्वत् 1193 का निर्देश है। पाटन भण्डार की सूची की प्रस्तावना देखे—पृष्ठ 22

मलधारी राजशेखर ने उपर्युक्त तथ्यों में यह वात और कही है कि आचार्य ने वर्ष मे 80 दिन की अमारी घोषणा राजा सिद्धराज से करवाई थी[1]।

विविध-तीर्थ-कल्प मे आचार्य जिनप्रभ ने लिखा है कि, कोका वसति के निर्माण में आचार्य मलधारी हेमचन्द्र का मुख्य हाथ था[2]।

आचार्य विजयसिंह ने धर्मोपदेशमाला की वृहद्वृत्ति लिखी है, उसकी समाप्ति वि० स० 1191 मे हुई थी। उसकी प्रशस्ति मे भी आचार्य विजयसिंह ने अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्र मलधारी तथा उनके गुरु आचार्य अभयदेव का परिचय दिया है, उससे ज्ञात होता है कि वि० स० 1191 मे आचार्य हेमचन्द्र मलधारी का स्वर्गवास हुए वहुत वर्ष हो चुके थे[3]; अतः इस वात को स्वीकार करने मे कोई असगति दृग्गोचर नही होती कि, अपने गुरु अभयदेव की वि० स० 1168 मे मृत्यु उपरान्त वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और लगभग वि० स० 1180 तक उस पद को सुशोभित करते रहे। इसका समर्थन इस वात से भी होता है कि, उनके ग्रन्थ के अन्त मे कथित प्रशस्ति मे वि० स० 1177 के वाद के वर्ष का उल्लेख नहीं मिलता।

आचार्य हेमचन्द्र के अपने हाथ से लिखी हुई जीवसमास-वृत्ति की प्रति के अन्त मे उन्होंने अपना जो परिचय दिया है, उसके अनुसार वे यम, नियम, स्वाध्याय, ध्यान के अनुष्ठान मे रत तथा परम नैष्ठिक, अद्वितीय पण्डित और श्वेताम्वराचार्य भट्टारक थे। यह प्रशस्ति उन्होंने सम्वत् 1164 मे लिखी थी। प्रशस्ति इस प्रकार है :—

"ग्रन्थाग्र० 6627। सम्वत् 1164 चैत्र सुदि 4 सोमेऽद्येह श्रीमदणहिलपाटके समस्त-राजावलिविराजितमहाराजाधिराज-परमेश्वर-श्रीमज्जयसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये एव काले प्रवर्तमाने यमनियमस्वाध्यायानुष्ठानरतपरमनैष्ठिकपण्डित-श्वेताम्वराचार्य-भट्टारक-श्रीहेमचन्द्राचार्येण पुस्तिका लि० श्री"

—श्री शान्तिनाथजी ज्ञान भण्डार की प्रति—श्रीप्रशस्ति संग्रह अहमदावाद—पृष्ठ 49.

8. आचार्य मलधारी हेमचन्द्र के ग्रन्थ

जिन विशेषावश्यक-भाष्य-विवरण के आधार पर गणधरवाद का प्रस्तुत अनुवाद किया गया है, उसके अन्त मे आचार्य ने एक आध्यात्मिक रूपक मे इस वात का निर्देश किया है कि, उन्होंने किस उद्देश्य से किस क्रम से ग्रन्थो की रचना की है। इस रूपक का सार इस प्रकार है—

मैं जन्म, जरा आदि दुःखो से परिपूर्ण ससार समुद्र मे डूवा हुआ था, इतने मे एक

---

1 कदली पञ्जिका और प्राकृत द्व्याश्रय की वृत्ति की प्रशस्ति। जैन सा० स० इ० पृष्ठ 246 देखें।

2 विविधतीर्थकल्प पृष्ठ 77

3. श्रीहेमचन्द्र इति सूरिरभूदमुष्य शिष्यः शिरोमणिरशेषमुनीश्वराणाम्।
यस्याधुनापि चरितानि शरच्छशाङ्कच्छायोज्ज्वलानि विलसन्ति दिशा मुखेषु ॥13॥
पाटन भण्डार ग्रन्थ सूची देखें—पृष्ठ 313.

महापुरुष ने मुझे ससार समुद्र पार करने के लिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप विशाल नौका मे बिठा दिया, जिससे मैं उसकी सहायता से शिवरत्नद्वीप (मोक्ष) को सरलता से प्राप्त कर सकूँ ।

नौका मे बिठाने के बाद इस महापुरुष ने सद्भावना-की मजूषा मे रखकर मुझे शुभ मनोरूप एक महान् रत्न दिया । उन्होने साथ ही यह कहा कि, जब तक तुम इस शुभ मन-रूपी रत्न की रक्षा कर सकोगे, तब तक तुम्हारी नौका सुरक्षित रूपेण आगे बढकर निर्विघ्न रूप से तुम्हे यथेष्ट स्थान पर ले जाएगी, यदि इस शुभ मन की रक्षा नही कर सकोगे तो तुम्हारी नौका टूट जाएगी । फिर तुम्हारे पास यह शुभ मनोरूप रत्न है, इसलिए मोहराज के सैनिक चोर इसकी चोरी करने के लिए तुम्हारा पीछा करेंगे । तब सम्भव है कि, मजूषा के पटिये टूट जाएँ, उस समय उस मजूषा को किसी भी प्रकार से उसके नवीन अगो का निर्माण कर उस को सुरक्षित रखने की विधि भी गुरु ने मुझे समझा दी । कुछ समय तक मेरे साथ नौका विहार कर वे अन्तर्धान हो गए । यह समाचार प्रमाद नगरी मे रहने वाले मोहराज के कानो मे पहुँचा । उसी समय उसने अपने सैनिको को सावधान कर दिया कि, अपने शत्रु ने अमुक ससारी जीव को शिवरत्नद्वीप का मार्ग बता दिया है और वह उस मार्ग को ज्ञात कर यात्रा करने के लिए आगे बढ रहा है; यही नही, उसने अपने आदर्श को मानने वाले अन्य अनेक साथियो को भी अपने साथ लिया है, इसलिए वे हमारे इस ससार नाटक को समाप्त न कर दें, इस उद्देश्य से तुम लोग शीघ्र ही उनके पीछे दौडो, ऐसा कह कर वह दुर्बुद्धि-नाव मे सवार हुआ और उसके साथी कुवासना-नावो मे सवार हो गए । मेरी नौका के समीप आने पर तो आसुरी तथा दैवी वृत्तियो का युद्ध प्रारम्भ हुआ । उस समय उन्होने मेरी सद्भावना मजूषा के अग जर्जरित कर दिये, अत उस महापुरुष के उपदेश का अनुसरण करते हुए मैंने उस मजूषा के नूतन अगो के निर्माण का सकल्प करके सर्वप्रथम (1) आवश्यक टिप्पण की नई पट्टी उस मजूषा मे जड दी और तत्पश्चात् क्रमेण मजूषा के जो नवीन-नवीन अग जडित किए वे ये हैं—2 शतक विवरण 3 अनुयोगद्वार वृत्ति, 4 उपदेशमाला सूत्र, 5 उपदेश-माला वृत्ति, 6 जीवसमास विवरण, 7 भव-भावना सूत्र, 8 भव-भावना विवरण, 9. नन्दि टिप्पण 10 विशेपावश्यक विवरण (विशेपावश्यक भाष्य वृहद्वृत्ति)

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि मलधारी हेमचन्द्र ने अपने गुरु की आज्ञा से उक्त दस ग्रन्थ लिख थे । लिखने मे उनका मुख्य उद्देश्य अपने शुभाध्यवसाय को स्थिर रखना था, गौण उद्देश्य यह था कि, उनके ग्रन्थो को पढ कर दूसरे व्यक्ति भी मोक्ष-मार्ग की शुद्धि कर शिवनगरी की ओर प्रयाण करें ।

उनके ग्रन्थो मे जैन सिद्धान्त-प्रसिद्ध चारो अनुयोगो का समावेश हो जाता है । उनके ग्रन्थ जैन धर्म के आचार और जैन दर्शन के विचार इन दोनो क्षेत्रो को आच्छादित कर लेते है । उन्होने केवल विद्वद्भोग्य ग्रन्थ ही नही लिखे, प्रत्युत ऐसे ग्रन्थ भी लिखे जिन्हें सामान्य व्यक्ति भी अपनी भाषा मे समझ सके, अर्थात् उनकी ग्रन्थ-रचना सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ मे है । अनुयोगद्वार वृत्ति और विशेपावश्यक-भाष्य-वृत्ति जैसे गम्भीर ग्रन्थो का भी उन्होने निर्माण किया तथा साथ ही उपदेशमाला और भव-भावना जैसे लोक-भोग्य ग्रन्थो का भी स्वोपज्ञ टीका सहित निर्माण किया ।

विस्तार की दृष्टि से देखा जाये तो उनके उपलब्ध ग्रन्थों का परिमाण 75 हजार श्लोकों से अधिक है। सभी ग्रन्थ विषय की दृष्टि से प्राय. स्वतन्त्र हैं, अत. पुनरावृत्ति का भी विशेष अवकाश नही रहता[1]। यह बात माननी पडेगी कि उनकी लेखन प्रवृत्ति निरन्तर जारी रही होगी। 1164 मे उनका छठा ग्रन्थ लिखा गया तथा 1177 मे अन्तिम, अत· हम यह अनुमान कर सकते हैं कि उनका साक्षर-जीवन कम से कम पच्चीस वर्ष का अवश्य रहा होगा।

1. आवश्यक टिप्पण ·

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विशेषावश्यक-भाष्य-विवरण के अन्त मे और इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे, इस ग्रन्थ का नाम स्वय मलधारी ने 'आवश्यक टिप्पण' सूचित किया है, तदपि इसका पूरा और सार्थक नाम तो 'आवश्यक वृत्ति प्रदेश व्याख्यानक' है। इसकी सूचना उन्होंने इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति मे दी है[2]। इसका कारण यह कि यह ग्रन्थ आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित आवश्यक सूत्र की लघुवृत्ति के अश का टिप्पण है, टिप्पण होने पर भी यह पूर्णत छोटा ग्रन्थ नही, इसका परिमाण 4600 श्लोक का है। यह ग्रन्थ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्वार फण्ड की पुस्तक माला के 53वे पुष्प रूप मे प्रकाशित हो चुका है।

आचार्य हरिभद्र की वृत्ति मे जहाँ-जहाँ स्पष्टीकरण की आवश्यकता थी, वहाँ-वहाँ आचार्य ने इस ग्रन्थ मे अपनी प्राञ्जल शैली मे विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, प्रथम शब्दार्थ लिखकर तत्पश्चात् भावार्थ लिखने की शैली मे इस टिप्पण की रचना हुई है।

2 बन्धशतक वृत्ति विनयहिता ·

उक्त विशेषावश्यक टीका के अन्त में जिस ग्रन्थ का उल्लेख शतक विवरण के नाम से किया गया है, वही यह बन्धशतक वृत्ति है। वृत्ति के प्रारम्भ मे स्वय आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि शिवशर्मसूरि ने शतक नाम के कर्म-ग्रन्थ की रचना की थी। कर्ता ने स्वय प्रथम गाथा मे इस ग्रन्थ का नाम बन्धशतक लिखा है। कर्त्ता ने यह बात स्वय स्वीकार की है कि इस ग्रन्थ की रचना दृष्टिवाद के आधार पर की गई है, अत. इस ग्रन्थ का महत्व स्वतः सिद्ध है। प्रारम्भ मे यह भी बताया गया है कि इस ग्रन्थ मे निम्नलिखित विषयो का सक्षिप्त वर्णन है : चौदह गुण-स्थानो और चौदह जीव-स्थानो मे उपयोग और योग कितने है, किस गुण-स्थान मे किन बन्ध-हेतुओं के कारण बन्ध होता है, गुण-स्थानो मे बन्ध, उदय तथा उदीरणा कितनी कर्म-प्रकृतियों की होती है, अमुक प्रकृति के बन्ध के समय किन किन प्रकृतियो की उदय और उदीरणा होती है। बन्ध के प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुमान ये चार भेद हैं, इससे हम अनुमान कर सकते है कि इस ग्रन्थ मे आचार्य ने कर्म-शास्त्र के महत्वपूर्ण विषयो का सक्षेप मे निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है।

ऐसे महत्वपूर्ण सर्वसग्राही ग्रन्थ की 'विनयहिता' नामक वृत्ति लिखकर आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ को सुबोध बना दिया है। इसमे मूल मे (गा० 9) तो चौदह गुणस्थानो का

---

1 'मक्षपादावश्यकविषय टिप्पनमह वच्मि।'

2. श्रीमदभयदेवसूरिचरणाम्बुजचञ्चरीकश्रीहेमचन्द्रसूरिविरचितमावश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्यानक समाप्तम्।

नाम निर्देश भी पूरा नही दिया गया है, किन्तु आचार्य ने टीका मे इन सब का मनोरम निरूपण किया है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ विशेष विवरण की आवश्यकता थी, वहाँ-वहाँ आचार्य ने निस्सकोच होकर विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इस समस्त विवरण से ज्ञात होता है कि कर्म-शास्त्र जैसे अति गहन माने जाने वाले विषय को भी वे अत्यन्त सरलता से उपस्थित कर सकते थे। इससे सिद्ध होता है कि वे इस विषय मे निष्णात थे। मूल की केवल 106 गाथाओ की उन्होने 3740 श्लोक प्रमाण वृत्ति लिखी है।

इस ग्रन्थ के अन्त मे जो प्रशस्ति है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अत उसे यहाँ उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है —

'श्रीप्रश्नवाहनकुलाम्बुनिधिप्रसूत, क्षोणीतलप्रथितकीर्तिरुदीर्णशाख ।
विश्वप्रसाधितविकल्पितवस्तुरुच्चैश्छायाश्रितप्रचुरनिर्वृनभव्यजन्तु ।1।

ज्ञानादिकुसुमनिचित फलित श्रीमन्मुनीन्द्रफलवृन्दैः ।
कल्पद्रुम इव गच्छः श्रीहर्षपुरीयनामास्ति ।2।

एतस्मिन् गुणरत्नरोहणगिरिर्गाम्भीर्यपाथोनिधिस्तुङ्गत्वप्रकृतिक्षमाधरपति सौम्यत्वतारापति ।
सम्यग्ज्ञानविशुद्धसयमतप स्वाचारचर्यानिधि, शान्त श्रीजयसिंहसूरिरभवन्नि सगचूडामणि ।3।

रत्नाकरादिवैतस्माच्छिष्यरत्नं बभूव तत् ।
स वागीशोऽपि नो मन्ये यद्गुणग्रहणे प्रभुः ।4।
श्रीवीरदेवविबुधैः सन्मन्त्राद्यतिशयप्रचुरतोयै ।
द्रुम इव य संसिक्तः कस्तद्गुणकीर्तने विबुध ।5।

तथा हि— आज्ञा यस्य नरेश्वरैरपि शिरस्यारोप्यते सादरं,
यं दृष्ट्वापि मुदं व्रजन्ति परमां प्रायोऽतिदुष्टा अपि ।
यद्वक्त्राम्बुधिनिर्यदुज्ज्वलवच पीयूषपानोद्यतै—
र्गीर्वाणैरिव दुग्धसिन्धुमथने तृप्तिर्न लेभे जनै ।6।

कृत्वा येन तप सुदुष्करतरं विश्वं प्रबोध्य प्रभो—
स्तीर्थं सर्वविदः प्रभावितमिदं तैस्तै स्वकीयैर्गुणै ।
शुक्लीकुर्वदशेषविश्वकुहरं भव्यैर्निबद्धस्पृहं,
यस्याशास्वनिवारित विचरति श्वेतांशुगौरं यश ।7।

यमुनाप्रवाहविमलश्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिसम्पर्कात् ।
अमरसरितेव सकलं पवित्रित येन भुवनतलम् ।8।

विस्फूर्जत्कलिकालदुस्तरतम सतानलुप्तस्थिति,
सूर्येणेव विवेकभूधरशिरस्यासाद्य येनोदयम् ।
सम्यग्ज्ञानकरैश्चिरन्तनमुनिक्षुण्ण समुद्द्योतितो,
मार्ग सोऽभयदेवसूरिरभवत्तेभ्य प्रसिद्धो भुवि ।9।
तच्छिष्यलवप्रायैरगीतार्थैरपि शिष्टजनतुष्ट्यै ।
श्रीहेमचन्द्रसूरिभिरियमनुरचिता शतकवृत्ति ।10।

इस प्रशस्ति का भावार्थ यह है कि, प्रश्नवाहन-कुल के हर्षपुरीय गच्छ मे, आचार्य जयसिंहसूरि हुए, उनके शिष्य महाप्रभावक आचार्य अभयदेवसूरि हुए, उनके शिष्य हेमचन्द्रसूरि ने इस वृत्ति की रचना की।

इस बन्ध शतक प्रकरण को अहमदाबाद के वीर समाज ने श्रीचक्रेश्वरसूरि के भाष्य तथा आचार्य मलधारी हेमचन्द्र की वृत्ति के साथ प्रकाशित किया है। उसके अन्त मे एक लघु भाष्य भी दिया हुआ है।

3 अनुयोगद्वार वृत्ति .

अनुयोगद्वार की प्रथम टीका 'चूर्णि' प्राकृत मे थी। वह सक्षिप्त भी थी। आचार्य हरिभद्र जैसे समर्थ विद्वान् ने सस्कृत टीका का निर्माण किया था, किन्तु वह भी अधिकतर चूर्णी के अनुवाद रूप और सक्षिप्त थी, अत अत्यन्त कठिन समझे जाने वाले इस ग्रन्थ की सरल एव विस्तृत टीका आवश्यक थी। आवश्यक सूत्र की हरिभद्रीय व्याख्या पर आचार्य मलधारी ने पहले टिप्पण लिखा था, उस अनुभव ने उन्हे प्रेरित किया कि, अनुयोगद्वार की हरिभद्रीय व्याख्या का टिप्पण नही, वरन् स्वतन्त्र व्याख्या लिखी जाए। स्वतन्त्र व्याख्या लिखने मे पारतन्त्र्य कम होता है, अत इसमे जो विषय आवश्यक प्रतीत हो, उसकी स्वतन्त्रता-पूर्वक चर्चा करने का अवकाश रहता है। टीका का टिप्पण लिखते हुए यह अवकाश नही मिलता। आचार्य की यह कृति क्रम से तीसरी है, किन्तु उनकी लेखिनी-प्रौढता और गहन विषय को भी अति सरल कर उपस्थित करने की पद्धति किसी भी पाठक के हृदय मे उनकी विद्वत्ता के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती है। यह टीका अनेक उद्धरणो से व्याप्त है। इससे उनके विशाल अध्ययन का पता चलता है, किन्तु यह कहना ठीक नही कि केवल विशाल अध्ययन से इस ग्रन्थ की टीका लिखने की शक्ति प्राप्त होती है। जैन आगम मे प्रतिपादित तत्वो के मर्म को हृदयगम किये विना और उन तत्वो को स्पष्ट कर मन्दमति शिष्यो के हृदय मे अकित करने की कला तथा शक्ति के विना इस ग्रन्थ की टीका करने लगना कठिन वस्तु को और भी कठिनतर करना है। इस टीका का अध्ययन करने वाले से यह वात छिपी नही रह सकती कि आचार्य आगमो के मर्मज्ञ थे, यही नही, उस मर्म को सुव्यक्त करने की शक्ति भी उनमे विद्यमान थी। यह वात सत्य है कि अनुयोगद्वार सूत्र आगमो को समझने की कुन्जी है, किन्तु इस कुन्जी के प्रयोक्ता आचार्य मलधारी जैसे समर्थ विद्वान् इस प्रकार की टीका न लिखते तो इस चावी को जग लग जाता और समय आने पर आगम का ताला खोलने मे यह चावी असमर्थ रहती।

इस टीका का परिमाण 5900 श्लोक जितना है। वह देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्वार के 37वें ग्रन्थ रूप मे प्रकाशित हुई है।

4. उपदेशमाला सूत्र

505 प्राकृत गाथाओ मे लिखित इस प्रकरण का दूसरा नाम सम्पादक ने पुष्पमाला लिखा है, किन्तु स्वय ग्रन्थकार ने इस का गौण नाम कुसुममाला सूचित किया है।

इस ग्रन्थ मे दान, शील (ब्रह्मचर्य), तप तथा भाव धर्म का सदृष्टान्त विवेचन किया गया है।

आवश्यक, शतक तथा अनुयोग का विवेचन शास्त्रीय अभ्यासियो के लिए उपयोगी है, किन्तु यह उपदेशमाला सामान्य कोटि के जिज्ञासुओ को धर्म का रहस्य समझाती है। आवश्यक

नथा अनुयोग मुख्यत सयमी के लिए लाभदायक ग्रन्थ है, जब कि यह उपदेशमाला धर्म के जिज्ञासुओ को यह बात सिखाती है कि उत्तरोत्तर आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर आगे कैसे बढना चाहिए । इस उपदेशमाला को वस्तुत आचार-शास्त्र की बाल-पोथी कहना चाहिए ।

5. उपदेशमाला विवरण

उपदेशमाला की यह टीका सस्कृत मे लिखी गई है, किन्तु उसका अधिकतर भाग प्राकृत गद्य और पद्य की कथाओ द्वारा भरा हुआ है । मूल मे आचार्य ने दृष्टान्त का सकेत किया है, परन्तु विवरण मे उसके सम्पूर्ण कथानको को कथाकार के ढग से वर्णित कर दिया है, अत इस विवरण का परिमाण खूब बडा हो गया है और वह परिमाण 13868 श्लोक का है । जैन कथा-साहित्य के अभ्यासी के लिए यह ग्रन्थ कथा-कोष का काम देता है ।

आचार्य ने अधिकतर कथानक अन्य ग्रन्थो से उद्धृत किये हैं और कुछ को अपनी भाषा मे प्रतिपादित किया है, अत इस ग्रन्थ से अधिकतर कथाओ को उनके प्राचीन रूप मे ही सुरक्षित रखने का उद्देश्य पूरा हो जाता है ।

आचार्य सिद्धर्षि की रूपक-कथा उपमिति-भव-प्रपचा से मलधारी हेमचन्द्र बहुत प्रभावित हुए, अत उन्होने उससे आध्यात्मिक अर्थ गर्भित कथानक भी इस ग्रन्थ मे लिए हैं और प्रारम्भ मे ही उसका आभार माना है । विवरण सहित उपदेशमाला रतलाम की श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पेढी से प्रकाशित हुई है ।

6 जीवसमास विवरण

अथवा जीवसमास वृत्ति नाम का ग्रन्थ आचार्य ने वि० 1164 से पूर्व लिखा होगा । इसका कारण यह है कि उनके हस्ताक्षर वाली वि० 1164 की लिखी हुई एक प्रति खम्भात के शान्तिनाथ भण्डार मे विद्यमान[1] है । जीवसमास का कर्ता कौन है ? यह ज्ञात नही हो सका । इसका लेखक कोई प्राचीन आचार्य होना चाहिए । इससे पहले शीलाकाचार्य ने भी जीवसमास की टीका लिखी थी[2], इससे उनके समय मे भी इस ग्रन्थ का महत्व सिद्ध होता है । आगमोदय समिति ने मूल सहित यह विवरण मुद्रित किया है और उसका गुजराती भावार्थ मास्टर चन्दुलाल नानाचन्द ने प्रकाशित किया है ।

जीवसमास—अर्थात् जीवो का चौदह गुण-स्थानो मे सग्रह । अनुयोग के सत्पद प्ररूपणा आदि आठ द्वारो से जीवसमास का विचार इस ग्रन्थ मे मुख्यत किया गया है । प्रसगवश अजीव के विषय मे भी कुछ वर्णन है, तदपि ग्रन्थ रचना का मुख्य प्रयोजन जीवो के गुणस्थान-कृत भेदो पर विचार करना है, अत इसका जीवसमास नाम सार्थक है । आचार्य मलधारी ने पूर्वाचार्य-कृत टीकाओ के विद्यमान होने पर भी अपनी प्रकृति के अनुसार नई टीका लिखी, इसमे उनका प्रधान लक्ष्य सम्पूर्ण विषय को हस्तामलकवत् स्पष्ट कर देना था । पाठक यह अनुभव किये बिना नही रह सकते कि आचार्य को इसमे पूर्ण सफलता मिली । इस वृत्ति के बहाने आचार्य ने जीव-तत्व का सर्वग्राही विवेचन कर दिया है ।

---

1. जैन साहित्य स० इ० पृष्ठ 247
2. जिनरत्नकोश देखें ।

इस ग्रन्थ की मूल गाथाएँ 286 है और इसकी वृत्ति का परिमाण 6627 श्लोक जितना है। इससे प्रकट है कि टीकाकार ने विवेचन मे कितना विस्तार किया है।

7. भवभावना सूत्र

इस ग्रन्थ की रचना 531 प्राकृत गाथाओ मे हुई है। इस का गौण नाम 'मुक्ताफल-माला' अथवा 'रत्नमालिका' अथवा 'रत्नावलि' भी सूचित किया है। इस ग्रन्थ मे बारह भावनाओ मे से भव-भावना अथवा ससार-भावना का मुख्यरूपेण वर्णन है, अत इसका नाम भव-भावना रखा गया। प्रसगवश आचार्य ने बारह भावनाओ का भी वर्णन कर दिया है, तथापि 531 मे से 322 गाथाएँ तो केवल एक भव-भावना के विवरण की ही है, अत इसका यह नाम सर्वथा उचित है। इसमे जीव की चारो गति के भवो और उनके दु खो का वर्णन तो है ही, इसके अतिरिक्त एक भव मे भी बाल्यादि जो विविध अवस्थाएँ है, उनका भी विशेषरूपेण वर्णन है।

8 भवभावना विवरण

पूर्वोक्त ग्रन्थ का विवरण वृत्ति के नाम से स्वय आचार्य ने लिखा है। इसका परिमाण 12950 श्लोक जितना है। इस विवरण का अधिकतर भाग नेमिनाथ तथा भुवनभानु के चरित्रो से परिपूर्ण है। विवरण संस्कृत मे लिखा गया है, किन्तु उपदेशमाला विवरण के समान उद्धृत कथाएँ प्राकृत मे ही हैं। सामान्यत इसमे उन कथाओ का समावेश नही है जो उपदेशमाला विवरण मे आ चुकी हैं, अत ये दोनो ग्रन्थ कथा-साहित्य की दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक है। विषय की दृष्टि से भी दोनो के सम्बन्ध मे यही बात है। यह मानना होगा कि, ये दोनो ग्रन्थ मिलकर जैन धर्म का आचार विषयक समस्त उपदेश दृष्टान्त सहित उपस्थित करते हैं। उपदेशमाला के विवरण की भाँति इसमे भी आध्यात्मिक रूपको की योजना की गई है और उसका आधार सिद्धर्षि की उपमिति-भव-प्रपचा कथा है, यह बात आचार्य ने भी स्पष्ट कर दी है।

इस वृत्ति का निर्माण आचार्य ने वि० स० 1177 के श्रावण मास की पचमी के दिन रविवार को पूर्ण किया, इस बात का उल्लेख ग्रन्थ के अन्त मे है। वह उल्लेख इस प्रकार है —

'सप्तत्यधिकैकादशवर्षशतैर्विक्रमादतिक्रान्तै ।
निष्पन्ना वृत्तिरियं श्रावणरविपञ्चमीदिवसे ॥'

विशेषावश्यक भाष्य की वृत्ति के अन्त मे उसका रचना-काल बताया गया है, वह विक्रम 1175 है और इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि० 1177 निर्दिष्ट है। उन्होने ग्रन्थ-रचना का जो क्रम बताया था, उसमे विशेषावश्यक वृत्ति का निर्देश सब के अन्त मे था, उसके स्थान पर प्रस्तुत ग्रन्थ को अन्तिम स्थान मिलना चाहिए, किन्तु आचार्य ने विशेषावश्यक वृत्ति को सब के अन्त मे क्यो रखा ? इसका कारण ज्ञात करने का कोई साधन नही है। विवरण सहित भव-भावना ग्रन्थ श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पीढी ने रतलाम से प्रकाशित किया है।

9 नन्दि टिप्पण—

इस ग्रन्थ की किसी प्रति का अब तक कही निर्देश नही किया गया है, अत इसकी प्रति का उल्लेख जिनरत्न-कोश मे भी नही मिलता। श्री देसाई ने भी इस ग्रन्थ की प्रति के

विषय मे कुछ नही लिखा। अधिकतर यह टिप्पण भी आवश्यक के समान आचार्य हरिभद्र की नन्दि टीका पर होना चाहिए। नन्दिसूत्र मे पाँच ज्ञानो की विवेचना है, अत इस टिप्पण का भी यही विषय होना चाहिए।

10. विशेषावश्यक विवरण

यह वही ग्रन्थ है जिसके एक प्रकरण के आधार पर प्रस्तुत अनुवाद किया गया है। आवश्यक सूत्र के सामायिक-अध्ययन तक का भाष्य आचार्य जिनभद्र ने लिखा था। इस भाष्य की स्वोपज्ञ आदि अनेक टीकाएँ थी, किन्तु आचार्य मलधारी की टीका की रचना के बाद वे सभी टीकाएँ उपेक्षित हो गई। यही कारण है कि इसकी प्रति अनेक भण्डारो मे उपलब्ध है। यह टीका विशद और सरल है और दार्शनिक विषयो को अत्यन्त स्पष्ट करती हैं, अत अन्य टीकाओ की अपेक्षा इसका महत्त्व बढ गया है। अन्य टीकाएँ अत्यन्त सक्षिप्त हैं और यह अति विस्तृत है, इसलिए इसका 'बृहद्वृत्ति' यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ, किन्तु ग्रन्थकार ने तो इसे वृत्ति ही कहा है।

वि० स० 1175 की कार्तिक सुदि पचमी के दिन आचार्य ने इस वृत्ति को पूर्ण किया, इसका परिमाण 28000 श्लोक जितना है।

यह वृत्ति यशोविजय ग्रन्थ माला मे प्रकाशित हुई है और इसका गुजराती भाषान्तर आगमोदय समिति ने दो भागो मे प्रकाशित किया है।

इस वृत्ति के लेखनकार्य मे जिन व्यक्तियो ने आचार्य मलधारी को सहायता प्रदान की थी, उनके नामो का निर्देश आचार्य ने ग्रन्थ के अन्त मे किया है, वह इस प्रकार है —

1 अभयकुमारगणि, 2 धनदेवगणि, 3 जिनभद्रगणि, 4 लक्ष्मणगणि तथा 5 विबुधचन्द्र नाम के मुनि और 1 श्री महानन्दा तथा 2. महत्तरा श्री वीरमति गणिनी नाम की साध्वियाँ।

इस ग्रन्थ के अन्त मे भी वही प्रशस्ति दी गई है जो बन्धशतक-वृत्ति के अन्त मे है, केवल उपान्त्य श्लोक मे शतकवृत्ति के स्थान पर 'प्रकृतवृत्ति' लिखा है और अन्तिम श्लोक नया रचा है, जिसमे लेखनकाल वि० स० 1175 दिया गया है।

9 गणधरों का परिचय

आगमो मे गणधरो के सम्बन्ध मे बहुत ही कम उल्लेख हैं। समवायाग सूत्र मे गणधरो के नामो तथा आयु के विषय मे बिखरी हुई बातें उपलब्ध है[1]। कल्पसूत्र मे भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र वर्णित है, किन्तु उसमे गणधरवाद का कोई भी उल्लेख नही है। कल्पसूत्र की टीकाओ मे गणधरवाद के प्रसग का वर्णन है। कल्पसूत्र मे स्थविरावलि[2] के प्रकरण मे कहा है कि भगवान् महावीर के नव गण और ग्यारह गणधर थे। उसके स्पष्टीकरण मे कल्पसूत्र मे 11 गणधरो के नाम, गोत्र तथा प्रत्येक की शिष्य सख्या

1. समवायाग–11, 74, 78, 92, इत्यादि।
2. कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ० 215.

का निर्देश है। साथ ही इनकी योग्यता के विषय में लिखा है कि सभी गणधर द्वादशांगी तथा चौदह पूर्व के धारक थे। यह भी कहा है कि सभी गणधर राजगृह में मुक्त हुए; उनमें से स्थविर इन्द्रभूति तथा सुधर्मा के अतिरिक्त सभी ने भगवान् महावीर के जीवन-काल में ही मोक्ष प्राप्त किया था। इस समय जो श्रमण संघ है, वह आर्य सुधर्मा की परम्परा में है, शेष गणधरों का परिवार विच्छिन्न है[1]। स्थविर सुधर्मा के शिष्य आर्य जम्बूस्वामी थे और उनके शिष्य आर्य प्रभव, इस प्रकार आगे स्थविरावलि का वर्णन किया गया है[2]। सभी गणधरों के विषय में उपर्युक्त सामान्य बातें उक्त आगम में वर्णित हैं।

कल्पसूत्र में प्रधान गणधर इन्द्रभूति के विषय में लिखा है कि जिस रात्रि में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात को भगवान् के ज्येष्ठ-अन्तेवासी गौतम इन्द्रभूति गणधर का भगवान् महावीर सम्बन्धी प्रीति-बन्धन टूट गया और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई[3]। एक जगह यह भी लिखा है कि भगवान् महावीर के इन्द्रभूति प्रमुख 14000 शिष्य[4] थे। इससे ज्ञात होता है कि सभी गणधरों में इन्द्रभूति प्रमुख थे और उन्हें भगवान् में अपार प्रेम था। भगवान् के जीवन-काल में उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ था, इस बात का समर्थन भगवती सूत्र के एक प्रसंग से भी होता है[5]।

भगवान् महावीर और इन्द्रभूति गौतम का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर था और वह चिरकालीन भी था। भगवान् के प्रति गौतम का अपार स्नेह था, इन बातों का उल्लेख भगवती के एक संवाद में दृष्टिगोचर होता है। भगवान् गौतम से कहते हैं, हे गौतम! तू मेरे साथ बहुत समय से स्नेह से बद्ध है। हे गौतम! तूने बहुत समय से मेरी प्रशंसा की है। हे गौतम! हम दोनों का परिचय दीर्घकालीन है। हे गौतम! तूने दीर्घकाल से मेरी सेवा की है, मेरा अनुसरण किया है, मेरे साथ अनुकूल व्यवहार किया है। हे गौतम! अनन्तर देवभव में और तुरंत के मनुष्य भव में इस प्रकार तुम्हारे साथ सम्बन्ध है) अधिक क्या? मृत्यु के बाद शरीर का नाश हो जाने पर, यहाँ से चलकर हम दोनों समान, एकार्थ (एक प्रयोजन अथवा एक सिद्धि-क्षेत्र में रहने वाले), विशेषता तथा भेदरहित हो जायेंगे[6]।

इस प्रसंग का टीकाकार अभयदेव ने यह स्पष्टीकरण किया है कि गौतम के शिष्यों को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई, फिर भी गौतम को नहीं हुई। गौतम इस बात से खिन्न थे, अतः भगवान् ने उक्त प्रकारेण उन्हें आश्वासन दिया।

गणधरों के जो प्रश्न उपलब्ध होते हैं, उनसे इतना तो ज्ञात होता है कि उनका स्वभाव शंका (जिज्ञासा) करने का था। गौतम इन्द्रभूति तो भगवान् से बारीक से बारीक प्रश्न पूछकर तीनों

---

1 कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ० 215

2 वही पृ० 217

3 वही-सूत्र 120

4 वही—सूत्र 134

5. भगवती 14 7

6. भगवती अनुवाद 14,7, पृ० 354 भाग 3.

लोक की बातें जानने के लिए उत्सुक है, अत उनके अधिकतर प्रश्नो की पृष्ठभूमि मे जिज्ञासा का तत्व है, किन्तु कुछ ऐसे भी प्रश्न है जिनसे उनकी जिज्ञासा के अतिरिक्त पूर्ण तुष्टि हुए बिना कोई भी बात स्वीकार न करने की उनके स्वभाव की विशेषता विदित होती है, इसके उदाहरण स्वरूप आनन्द श्रावक के अवधिज्ञान के प्रसग का उल्लेख किया जा सकता है[1]। आनन्द श्रावक को अमुक मर्यादा मे अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई थी, यह जानकर भी गौतम ने कहा, गृहस्थ को अवधिज्ञान होता तो है किन्तु इतना अधिक नही, अत तू आलोचना कर और और प्रायश्चित्त ले, किन्तु आनन्द ने प्रत्युत्तर मे उन्हे कहा कि आलोचना मुझे नही, अपितु आपको ही करनी है। यह सुनकर इन्द्रभूति शका, काक्षा और विचिकित्सा मे पड गए और भगवान् के पास जाकर सारी बात उनसे कही। भगवान् ने गौतम से कहा कि जो कुछ आनन्द ने कहा है, वही तथ्य है, अत तुम्हे उससे क्षमा माँगनी चाहिए। गौतम सरल स्वभाव के थे, अत उन्होने जाकर आनन्द से क्षमा माँगी[2], इससे गौतम की नम्रता भी स्पष्ट होती है।

इसी प्रकार किसी भी परतीर्थिक की बात सुनकर गौतम तत्काल भगवान् के पास आते हैं और स्पष्टीकरण करते है तब ही उन्हे सन्तोष होता है[3]। यदि कोई नई बात प्रत्यक्ष हुई हो, तो वे उसका भी शीघ्र ही समाधान कर लेते थे, उदाहरणत वह प्रश्न लिया जा सकता है जो उन्होने नन्दा के स्तन मे से दूध की धारा बहने पर किया था[4]।

आगमो मे जैसे गौतम के भगवान् महावीर के साथ हुए सवादो का उल्लेख है, उसी प्रकार उनके अन्य स्थविरो के साथ हुए सवाद भी निर्दिष्ट हैं। दृष्टान्त के रूप मे केशी-गौतम सवाद लिया जा सकता है। उसमें गौतम, केशी श्रमण को महावीर और पार्श्वनाथ के शासन-भेद का रहस्य समझाते हैं और अन्त मे उन्हे महावीर के शासन मे दीक्षित करते हैं[5]।

'समय गोयम मा पमायए'–इस प्रसिद्ध पद्याश वाला अध्ययन अत्यन्त प्रसिद्ध है। वह गौतम के बहाने सर्व जन-साधारण को भगवान् द्वारा दिए गए अप्रमाद के उपदेश का सुन्दर उदाहरण है[6]। गौतम की समय-सूचकता का परिचय देने वाले कुछ प्रसग आगम मे उल्लिखित हैं। अन्यतीर्थिक स्कदक के आगमन का समाचार भगवान् से सुनकर वे उसके पास गए और उसे बता दिया कि वह भगवान् के पास क्यो आया है? और उसके मन मे क्या शकाएँ है? इससे स्कदक परिव्राजक भगवान् का श्रद्धालु बन जाता है[7]।

आगम मे हम इन्द्रभूति को भगवान् महावीर के सन्देशवाहक का कार्य करते हुए भी देखते हैं। महाशतक की मारणान्तिक सलेखना के समय भगवान् से प्रायश्चित्त करने की प्रेरणा

---

1 उपासकदशाग अ० 1

2 उपासकदशाग अ० 1

3 भगवती 2 5 इत्यादि

4 भगवती 9 33 गुज० अनुवाद भाग 3, पृ० 164

5 उत्तराध्ययन अ० 23

6. उत्तराध्ययन अ० 10

7 भगवती शतक 2, उ० 1

लेकर वे उसके पास जाते है और उसे कहते है कि तुमने अपनी पत्नी रेवती को मृत्यु होते हुए भी जो कटु वचन कहे हैं, उनका प्रायश्चित्त करना आवश्यक है[1]। इन्द्रभूति का गुण-वर्णन भगवती मे तथा अन्यत्र एक समान मिलता है, वह इस प्रकार है—"उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर के पास (बहुत दूर नही और बहुत निकट भी नहीं) ऊर्ध्वजानु खडे होकर अध शिर (शिर झुकाकर) और ध्यानरूप कोष्ठ मे प्रविष्ट होकर उनके ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति नाम के अणगार साधु, सयम और तप द्वारा आत्मा को शुद्ध करते हुए विचरते रहते थे। वे गौतम गोत्र वाले, सात हाथ ऊँचे, समचोरस सस्थान वाले, वज्रऋषभनाराच सहनन धारण करने वाले, सोने के कडे की रेखा के समान और पद्मकेसर के समान धवल वर्ण वाले, उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, तप्ततपस्वी, महातपस्वी, उदार, अतिशय गुण वाले, अतिशय तप वाले घोर ब्रह्मचर्य के पालन के स्वभाव वाले, शरीर के सस्कारो का त्याग करने वाले, शरीर में रहने पर सक्षिप्त एव दूरगामी होने पर विपुल ऐसी तेजोलेश्या वाले, पूर्व के ज्ञाता, चार ज्ञान सम्पन्न और सर्वाक्षर सन्निपाती थे[2]।"

विद्यमान आगमो का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उनमे से कई का निर्माण इन्द्रभूति गौतम के प्रश्नो के आधार पर ही हैं, ऐसे आगमो मे उववाइ सूत्र, रायपसेणइय, जबूद्वीप-प्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति को गिना जा सकता है। भगवती सूत्र का अधिकतर भाग भी इन्द्रभूति के प्रश्नो का आभारी है, ऐसा हम कह सकते है। शेष आगमो मे भी कही-कही गौतम के प्रश्न हैं।

आगमो मे इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त यदि किसी दूसरे गणधर के कुछ उल्लेख है तो वे आर्य सुधर्मा के सम्बन्ध मे हैं, किन्तु उनकी जीवन-घटनाओ का आगमो मे कोई उल्लेख नही है, केवल यही उपलब्ध होता है कि जम्बू के प्रश्न के उत्तर मे उन्होंने अमुक आगम का अर्थ कहा।

केवल भगवती सूत्र ही प्रश्न-बहुल है और उसमे भी गौतम इन्द्रभूति के प्रश्नो की अधिकता है। यह एक महान् आश्चर्य है कि सुधर्मा की परम्परा के सघ के विद्यमान होने पर भी और प्रस्तुत आगमो की वाचना, परम्परा से सुधर्मा से प्राप्त होने की मान्यता होते हुए भी तथा कई आगमो की प्रथम वाचना सुधर्मा द्वारा जम्बू को दिये जाने पर भी और इस बात के उन आगमो से सिद्ध[3] होने पर भी, समस्त आगमो मे सुधर्मा द्वारा भगवान् से पूछे गए किसी भी प्रश्न का निर्देश नही है। इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त केवल अग्निभूति[4], वायुभूति[5] तथा मडियपुत्त[6] द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्नो का उल्लेख भगवती मे है।

इन्हे छोडकर किसी और गणधर द्वारा किया गया प्रश्न आगमो मे दृष्टिगोचर नही होता।

---

1. उपासकदशाग अ० 8
2. भगवती शतक 1 (विद्यापीठ, प्रथम भाग पृ० 33)
3. ज्ञाताधर्मकथाग, अनुत्तरोपपातिक, विपाक, निरयावलिका सूत्रो के प्रारम्भिक वक्तव्य से स्पष्ट है कि उनकी प्रथम वाचना आर्य सुधर्मा ने जम्बू को दी।

4. 5 भगवती 3 1

6 भगवती 3 3

'सुय मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं' इस वाक्य से आगमो का जो प्रारम्भ होता है, उसकी व्याख्या करते हुए टीकाकारो ने यह स्पष्ट मत प्रकट किया है कि इससे भगवान् के मुख से सुनने वाले आर्य सुधर्मा अभिप्रेत है और वे अपने शिष्य जम्बू को इस श्रुत का अर्थ सम्बन्धित आगमो मे बताते हैं। उक्त वाक्य से शुरु होने वाले आगमो मे आचाराग, स्थानाग, समवायाग का निर्देश किया जा सकता है। कुछ ऐसे भी आगम है जिनके अर्थ की प्ररूपणा जम्बू के प्रश्न के आधार पर सुधर्मा ने की है, किन्तु उस विषय का ज्ञान भगवान् महावीर से ही प्राप्त हुआ था; ऐसे आगम ये है—ज्ञाताधर्म कथा, अनुत्तरोपपातिक, विपाक, निरयावलिका।

आर्य सुधर्मा का गुण-वर्णन भी इन्द्रभूति गौतम जैसा ही है, भेद केवल यह है कि उन्हे ज्येष्ठ नही कहा है।

गणधरो के सम्बन्ध मे इतनी बातें मूल आगमो मे मिलती हैं। इनमे यह बात ध्यान देने योग्य है कि गणधरवाद मे प्रत्येक गणधर के मन की जिन शकाओ की कल्पना की गई है, उन्हे उन्होने भगवान् के सन्मुख पहले व्यक्त किया अथवा भगवान् ने उनकी शकाएँ पहले ही बतादी, इस विषय मे कुछ भी उल्लेख प्राप्त नही होता। कल्पसूत्र से इस बात की आशा की जा सकती थी किन्तु उसमे भी इस सम्बन्ध मे निर्देश नही है। गणधरवाद का मूल सर्वप्रथम आवश्यक निर्युक्ति की हीं एक गाथा मे मिलता है। इस गाथा मे 11 गणधरो के सशयो को क्रमश इस प्रकार गिनाया गया है —

जीवे[1] कम्मे[2] तज्जीव[3] भूय[4] तारिसय[5] बंधमोक्खे[6] य।
देवा[7] णेरइय[8] या पुण्णे[9] परलोय[10] णेव्वाणे[11] ॥
आव० नि० गाथा 596

1. जीव है या नही ?
2 कर्म है या नही ?
3 शरीर ही जीव है अथवा अन्य ?
4 भूत है या नही ?
5 इस भव मे जीव जैसा है, परभव मे भी वैसा ही होता है या नही ?
6 बन्ध-मोक्ष है या नही ?
7 देव हैं अथवा नही ?
8 नारक हैं अथवा नही ?
9. पुण्य-पाप है या नही ?
10 परलोक है या नही ?
11 निर्वाण है अथवा नही ?

इसके अतिरिक्त निर्युक्ति मे गणधरो के विषय मे जो व्यवस्थित बातें उपलब्ध होती है, उन्हे अगले पृष्ठ पर कोष्ठक के रूप मे प्रतिपादित किया गया है[1]।

---

1 इसी प्रकार का एक कोष्ठक कल्पसूत्रार्थ-प्रबोधिनी मे आचार्य विजयराजेन्द्रसूरि ने दिया है (पृ० 255)। उनमे कुछ और बातें मिलाकर मैंने इसे तैयार किया है। देखें—आ० नि० गा० 593–659

संख्या	नाम	पिता	माता	जाति	गोत्र	धन्धा	जन्म नगर	जन्म नक्षत्र	गृहवास पर्याय
1.	इन्द्रभूति	वसुभूति	पृथ्वी	ब्राह्मण	गौतम	अध्यापक	मगधदेश गोब्बर	ज्येष्ठा	50
2.	अग्निभूति	,,	,,	,,	,,	,,	,,	कृत्तिका	46
3	वायुभूति	,,	,,	,,	,,	,,	,,	स्वाति	42
4	व्यक्त	धनमित्र	वारुणी	,,	भारद्वाज	,,	कोल्लाग सन्निवेश	श्रवण	50
5.	सुधर्मा	धम्मिल	भद्दिला	,,	अग्नि-वैश्यायन	,,	,,	हस्तोत्तर	50
6	मडिक (त)	धनदेव	विजयदेवा	,,	वाशिष्ठ	,,	मोरीय सन्निवेश	मघा	53
7.	मौर्य-पुत्र	मौर्य	,,	,,	काश्यप	,,	,,	रोहिणी	65
8.	अकम्पित	देव	जयन्ती	,,	गौतम	,,	मिथिला	उत्तरा-षाढा	48
9.	अचलभ्राता	वसु	नन्दा	,,	हरित	,,	कोसला	मृगशिर	46
10	मेतार्य	दत्त	वरुणादेवा	,,	कौण्डिन्य	,,	वत्सभूमि तुंगिय सनि०	अश्विनी	36
11	प्रभास	बल	अतिभद्रा	,,	,,	,,	राजगृह	पुष्य	16

छद्मस्थ पर्याय	केवल पर्याय	सर्वायु	शिष्य	शिष्य-परम्परा	निर्वाण भूमि	संस्थान	संघयण	निर्वाण समय	शास्त्र	
30	12	92	500	×	राजगृह	समचतुरस्र	वज्रऋषभ नाराच	महावीर के बाद	बारह अंग चौदह पूर्व	
12	16	74	500	×	,,	,,	,,	महावीर से पहले	,,	ये तीनों सगे भाई थे।
10	18	70	500	×	,,	,,	,,	,,	,,	
12	18	80	500	×	,,	,,	,,	,,	,,	
42	8	100	500	जम्बू आदि	,,	,,	,,	महावीर के बाद	,,	
14	16	83	350	×	,,	,,	,,	महावीर से पहले	,,	ये दोनों एक ही माता परन्तु भिन्न-भिन्न पिता के पुत्र थे।
14	16	95	350	×	,,	,,	,,	,,	,,	
9	21	78	300	×	,,	,,	,,	,,	,,	
12	14	72	300	×	,,	,,	,,	,,	,,	
10	16	62	300	×	,,	,,	,,	,,	,,	
8	16	40	300	×	,,	,,	,,	,,	,,	

भगवान् के गणधर ग्यारह थे, परन्तु गण नव ही थे, यह बात कल्पमूत्र मे निर्दिष्ट है[1] और इसका वहाँ स्पष्टीकरण भी किया गया है । गण-भेद का आधार वाचना-भेद है । अर्थ का अभेद होने पर भी शब्द-भेद के कारण वाचना मे भेद पड़ता है । भगवान् के उपदेश को प्राप्त कर, गणधरो ने जिन आगमो की रचना की, उनमे शब्द-भेद के कारण नौ वाचनाएँ थीं । एक ही प्रकार की वाचना लेने वाला साधु-समुदाय गण कहलाता है । ऐसे गण नौ थे, अत 11 गणधर होने पर भी गण 9 ही थे । अन्तिम चार गणधरो मे आर्य अकम्पित और आर्य अचलभ्रात[2] दोनो की मिलकर 600 शिष्यो की एक ही वाचना थी, अतः उनके दो गणो के स्थान पर एक ही गण गिना जाता जाता है । इसी प्रकार आर्य मेतार्य और प्रभास दोनो की 600 शिष्यो की एक ही वाचना थी, अत उन दो गणो के स्थान पर भी एक ही गण गिना जाता है, अत ग्यारह गणधरो के ग्यारह गणो के स्थान पर नव गण गिने गये हैं[3] ।

आवश्यक निर्युक्ति मे भगवान् के साथ इन्द्रभूति आदि के प्रथम परिचय का वर्णन है । उसमे लिखा है कि जिनवरेन्द्र[4] की देवकृत महिमा सुनकर, अभिमानी इन्द्रभूति मात्सर्य युक्त होकर भगवान् के पास आया । जाति, जरा, मरण मे रहित जिन भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे, अत उन्होंने उसे उसके नाम और गोत्र मे बुलाया और कहा कि तू वेद-पदो का यथार्थ अर्थ नहीं जानता, इसीलिए तुझे यह सशय है कि जीव है अथवा नही । वेद-पदो का वास्तविक अर्थ तो यह है । जब उसका सशय दूर हो गया तब उसने अपने 500 शिष्यो सहित दीक्षा ले ली । उसे दीक्षित हुये सुनकर अग्निभूति भी मात्सर्यवश होकर और यह विचार कर कि भगवान् के पास जाकर इन्द्रभूति को वापस ले आऊँ भगवान् के पास आया । उसे भी भगवान् ने उसके मन मे स्थित कर्म-विषयक सन्देह बता दिया । वह भी अपनी शिष्य मण्डली सहित दीक्षित हो गया । शेष गणधर मात्सर्य मे नहीं, अपितु भगवान् के महत्व को समझकर उनके पास क्रमश उनकी वन्दना और सेवा करने के उद्देश्य से आते हैं और सभी दीक्षा ग्रहण करते हैं । यह सामान्य उल्लेख निर्युक्तिकार ने किया है ।

इन सामान्य तथ्यो के आधार पर कल्पसूत्र के अनेक टीकाकारो ने इस प्रसग का आलकारिक भाषा मे विविध रीति से वर्णन किया है, किन्तु भाषा के अलकार हटा दें तो उनमे विशेष नई बातें ज्ञात नही होतीं । विशेषावश्यक भाष्यकार ने गणधरो की शकाओ से

---

1 कल्पसूत्र (कल्पलता) पृ० 215

2 ,, ,, ,,

3. श्री विजयराजेन्द्रसूरि ने स्मृति-भ्रश मे कल्पसूत्रार्थ-प्रबोधिनी मे अकपित और अचल-भ्राता की माता एक तथा पिता भिन्न बताकर गोत्र-भेद लिखा है, वस्तुत यह विधान मडिक-मौर्य पुत्र के लिए होना चाहिये । आ० नि० हरि० टीका गाथा 648 देखे ।

4. आ० नि० गा० 589–641.

सकेत लेकर उन्हे वाद का रूप प्रदान किया है। उसी का अनुसरण कर आवश्यक निर्युक्ति तथा कल्पसूत्र के टीकाकारो ने भी उस प्रसग पर वाद की रचना की है। यह समस्त वाद प्रस्तुत ग्रन्थ मे दिया ही गया है अत उनका विशेष विवेचन यहाँ अनावश्यक है।

गणधरो के जीवन के सम्बन्ध मे जो नई बाते बाद के साहित्य मे उपलब्ध होती हैं, उनका निर्देश कर यह प्रकरण पूरा करूँगा।

आचार्य हेमचन्द्र ने उस समय मे सुज्ञात कथानुयोग का दोहन कर त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र लिखा था। अत उसमे वर्णित तथ्यो के आधार पर ही यहाँ कुछ लिखना उचित है। उसमे भी इन्द्रभूति गौतम के अतिरिक्त अन्य गणधरो के विषय मे कोई विशेष बात दृग्गोचर नही होती, अत इन्द्रभूति गौतम के जीवन की वर्णनीय बातो का ही यहाँ प्रतिपादन किया जाता है।

छद्मावस्था मे सुदंष्ट्र नामक नागकुमार ने भगवान् को उपसर्ग किया था। वह वहाँ से मरकर एक किसान बना था। उसे सुलभ-बोधि जीव देखकर भगवान् ने गौतम इन्द्रभूति को उस किसान के पास उपदेश देने के लिए भेजा। गौतम ने उसे उपदेश देकर दीक्षा दी। तत्पश्चात् गौतम अपने गुरु भगवान् महावीर के अतिशयो का वर्णन करके उसे उनके पास ले जाने लगे। भगवान् महावीर को देखते ही किसान के मन मे पूर्वभव के वैर के कारण उनके प्रति घृणा उत्पन्न हुई और वह यह कहकर चलता बना कि "यदि यही तुम्हारे गुरु हैं, तो मुझे आपसे कोई प्रयोजन नहीं।" इसका कारण पूछने पर भगवान् ने गौतम को अपने पूर्वभव का सम्बन्ध बताते हुए कहा, "मैंने त्रिपृष्ठ के भव मे जिस सिंह को मारा था, उसी का जीव यह किसान है। उस समय क्रोध से उद्दीप्त उस सिंह को तुमने मेरे सारथि के रूप मे आश्वासन दिया था, इसी से वह सिंह तब से तुम्हारे प्रति स्नेहशील और मेरे प्रति द्वेष-युक्त बना।" पर्व 10, सर्ग 9.

इस घटना का मूल मालूम करना हो तो वह भगवती सूत्र मे मिल जाता है। वहाँ भगवान् ने गौतम से स्वय कहा है कि हमारा सम्बन्ध कोई नया नहीं, किन्तु पूर्वजन्म से चला आता है। सम्भव है कि इसे या अन्य किसी ऐसे उद्गार को आधार बनाकर कथाकारो ने महावीर और गौतम का उक्त कथा मे निर्दिष्ट सम्बन्ध जोडा हो।

इसी प्रकार अभयदेव आदि टीकाकार भगवती के इसी प्रसग को गौतम के लिए आश्वासन रूप समझते हैं। उसके अनुसन्धान मे जिस कथा की रचना की गई है वह यह है—गौतम ने पृष्ठ-चम्पा के गागली राजा को उसके माता-पिता के साथ दीक्षा दी थी और वे सब भगवान् को वन्दना करने के लिए पृष्ठ-चम्पा से चम्पा जा रहे थे। इसी अवधि मे उन्हे केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई, किन्तु गौतम को इस बात का पता न था, अत जब भगवान् की प्रदक्षिणा करके वे केवली परिषद् मे बैठने लगे तब गौतम कहने लगे, "प्रभु को वन्दना तो करो।" यह सुनकर भगवान् ने गौतम से कहा, "तुमने केवली की आशातना की है", तब गौतम ने प्रायश्चित्त किया, किन्तु उनके मन मे दु ख हुआ कि जब मेरे शिष्यो को केवलज्ञान हो जाता है, तो मुझे क्यो नही होता[1] ?

1. त्रिषष्टि० पर्व 10, सर्ग 9

ऐसे ही एक अन्य प्रसग का वहाँ वर्णन हैं। गौतम ने अपने ऋद्धि बल से अष्टापद का आरोहण किया और वापिस लौटते हुए तापसो को दीक्षा देकर, ऋद्धिबल मे अष्टापदारोहण करवाकर तथा तीर्थंकरो का दर्शन करवाकर ऋद्धिबल मे ही पारणा करवाया। इन सब तापसो को भी गौतम के प्रति भक्ति के अतिरेक से, उनके गुणो का चिन्तन करते-करते तथा भगवान् के मात्र मुख-दर्शन से केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। भगवान् के समवसरण मे शालली के समान ही घटना-घटित हुई। इसमे भी गौतम को विशेष रूप से दु ख हुआ कि उन्हे केवलज्ञान क्यो नही होता ? इस प्रसग पर भगवान् ने गौतम को आश्वासन दिया कि धैर्य रखो, हम दोनो समान बनेंगे।

कथाकार की तथा प्राय सभी आचार्यो की मान्यता है कि गौतम के हृदय मे भगवान् के प्रति जो दृढ-राग था, वही उनके केवलज्ञान की प्राप्ति मे बाधक था। जिस क्षण वह दूर हुआ, उसी क्षण उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। यह क्षण भगवान् के निर्वाण के बाद का था। उस प्रसग का वर्णन करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि, उसी रात को अपना मोक्ष ज्ञात कर प्रभु ने विचार किया कि मेरे प्रति गाढ-राग के कारण ही गौतम को केवलज्ञान नही होता, अत इस राग के उच्छेद का उपाय करना चाहिए। यह सोचकर उन्होने गौतम को एक निकटस्थ गाँव मे देवशर्मा को प्रतिबोधित करने के निमित्त भेज दिया। उनके वापिस आने से पूर्व ही भगवान् का निर्वाण हो गया। भगवान् के निर्वाण का सुनकर गौतम को पहले तो दु.ख हुआ कि अन्तिम समय मे भगवान् ने मुझे अपने से दूर क्यो किया, किन्तु अन्त मे उन्होने विचार किया कि मैं ही अब तक भ्रांति मे ग्रस्त था। निर्मम तथा वीतराग प्रभु मे मैंने राग और ममता रखी, मेरा राग और मेरी ममता ही बाधक है, इस विचार-श्रेणी पर चढते-चढते उन्हे केवलज्ञान हो गया[1]।

वस्तुत उक्त सभी कथाओ की उत्पत्ति भगवती सूत्र के उक्त एक ही प्रसंग के आधार पर हुई ज्ञात होती है। कारण यह है कि उसमे विशेषरूपेण यह बात कही गई है कि गौतम का भगवान् के प्रति दृढ अनुराग था, उन दोनो का पूर्व-जन्म मे भी सम्बन्ध था और वे दोनो भविष्य मे भी एक सदृश होने वाले थे[2]।

10. विषय प्रवेश

शैली—

प्राचीन उपनिषदो मे अथवा भगवद्गीता मे जिस प्रकार की सवादात्मक शैली दिखाई देती है, अथवा जैन आगमो एव बौद्ध त्रिपिटक मे जिन विविध संवादो की रचना की गई है, उसी प्रकार के सवाद की रचना कर आचार्य जिनभद्र ने 'गणधरवाद' के प्रकरण की रचना नही की, परन्तु उस समय के प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थो मे जिस शैली से दर्शन के विविध विषयो की चर्चा की जाती थी, उसी शैली का आश्रय प्रस्तुत 'गणधरवाद' के लिखने मे लिया गया

---

1 त्रिषष्टि० पर्व 10, सर्ग 13

2 भगवती सूत्र 14 7

था। इस शैली की यह विशेषता है कि ग्रन्थकर्ता स्वय अपने मन्तव्य को तो उपस्थित करता ही है, किन्तु साथ ही प्रतिस्पर्धी के मन मे उसके विरोध मे जिन युक्तियो के दिये जाने की सम्भावना हो, उनका भी स्वय ही प्रतिवादी की ओर से उल्लेख कर, ग्रन्थकर्ता द्वारा निराकरण कर दिया जाता है। सवाद-शैली मे दोनो व्यक्ति अपने-अपने मन्तव्य को स्वयमेव उपस्थित करते हैं, किन्तु प्रस्तुत शैली मे एक ही व्यक्ति वक्ता होता है, और वही अपनी और विरोधी की बात स्वय कहता है। प्रस्तुत प्रकरण मे आचार्य जिनभद्र ने भगवान् महावीर को मुख्य वक्ता बनाया है, अत वही उन युक्तियो का उल्लेख करते हैं जो गणधरो के मन मे उठ सकती है, साथ ही उनका खण्डन करते जाते हैं। ग्यारह ही गणधरो के साथ होने वाले वाद मे इसी शैली को अपनाया गया है।

समस्त वाद की भूमिका यह है कि भगवान् महावीर सर्वज्ञ थे और वे सभी के सशयो को ज्ञात कर उन सब का निवारण करने मे समर्थ थे, अत. गणधरो के मुख से उनकी अपनी शकाओ को कहलवाने के स्थान पर यह अधिक सगत है कि भगवान् महावीर गणधरो के मन मे स्थित शकाओ को बताकर उनका निवारण करे। इसीलिए भगवद्गीता के कृष्णार्जुन सवाद की शैली का अनुसरण करने की अपेक्षा प्रतिवादी के मन मे रही हुई शका का उल्लेख कर उसके निराकरण करने की शैली प्रस्तुत प्रकरण के अधिक अनुकूल है, अत आचार्य ने सवाद को न अपना कर इसी शैली का अनुकरण किया है। इसलिए प्रत्येक वाद के प्रारम्भ मे जब इन्द्रभूति आदि भगवान् के सन्मुख उपस्थित होते हैं, तब वे कुछ कहना शुरु करे, इससे पहले ही भगवान् उन्हे नाम-गोत्र से सम्बोधित कर उनके मन की शका को ही नही, प्रत्युत उस शका की आधारभूत युक्तियो का भी कथन कर देते है[1]।

यहाँ यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि आचार्य जिनभद्र ने प्रस्तुत गणधरवाद की रचना निर्युक्ति के आधार पर की है, अत उनके लिए निर्युक्ति की शैली का अनुसरण करना उचित था। निर्युक्ति की प्रस्तुत वाद की व्यवस्था को देखते हुए आचार्य जिनभद्र के सन्मुख सवादात्मक शैली का आश्रय लेने का प्रश्न ही उपस्थित नही हो सकता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भगवान् की सर्वज्ञता को लक्ष्य मे रखकर प्रत्येक वाद की चर्चा का आरम्भ करना अनिवार्य था, अत आचार्य जिनभद्र ने निर्युक्ति की मूल रूपरेखा को सन्मुख रख और अपनी ओर से केवल पूर्वोत्तर पक्ष की युक्तियाँ उपस्थित कर विविध वादो की चर्चा करना उचित समझा।

यद्यपि भगवान् की सर्वज्ञता को आधार बनाकर चर्चा की गई है, तथापि सम्पूर्ण चर्चा श्रद्धा-प्रधान नही अपितु तर्क-प्रधान बन गई है। यह बात सहज ही विद्वानो के ध्यान मे आ जाती है। जिज्ञासु के मन की शकाओ का तर्क के बल से समाधान करके ही कुछ स्थलो पर अपनी सर्वज्ञता का कथन[2] कर भगवान् महावीर उन सिद्धान्तो को स्वीकार करने का आग्रह करते है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि केवल आगम-वाक्य को नही, प्रत्युत तर्क शुद्ध

---

1. देखें—गा० 1549–1553, 1609 इत्यादि, 1648 इत्यादि
2 गाथा 1563, 1577 इत्यादि

आगम-वाक्य को प्रमाण मानना चाहिए, अन समस्त चर्चा आगम-मलक होने पर भी तर्क द्वारा शुद्ध किये जाने के कारण आगमिक के स्थान मे तार्किक ही हो गई है और इस प्रकार आगम गौण बन गये हैं। जिस प्रकार कृष्ण स्वय भगवान् होकर भी अर्जुन को केवल श्रद्धा से नही परन्तु तर्क-पुरस्सर युक्तियो से युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं, उसी प्रकार भगवान् महावीर ने दलीलें देकर अपना मन्तव्य प्रकट किया है तथा गणधरो की शकाओ का निवारण किया है। तर्क-पुरस्सर युक्तियो के अतिरिक्त जैसे गीता मे भगवान् कृष्ण ने अपने विराट रूप का भी साक्षात्कार करवाना उचित समझा, वैसे ही भगवान् महावीर ने भी अनेक वार अपनी सर्वज्ञता का कथन किया है। गीताकार ने लिखा है कि अर्जुन ने भगवान कृष्ण के विराट रूप का साक्षात्कार किया। फिर भी आधुनिक विद्वान् जैसे इस बात को केवल श्रद्धा-प्रधान मानते है, उसी प्रकार अपनी सभा मे उपस्थित देवो को भगवान् महावीर द्वारा कराया गया साक्षात्कार[1] और वैसी अन्य अनेक वातें श्रद्धा-प्रधान किंवा श्रद्धागम्य अथवा प्रत्यक्ष प्रतीति से परे ही माननी चाहिए।

आचार्य जिनभद्र और टीकाकार हेमचन्द्र के समक्ष जो दार्शनिक ग्रन्थ थे, उन सब की शैली का प्रभाव इन दोनो लेखको पर पडा है। शका उपस्थित करते हुए दोनो पक्षो की सबलता बताना आवश्यक है, अन्यथा शका का उत्थान ही सम्भव नही। प्राचीन दार्शनिक सूत्र-भाष्य ग्रन्थो मे दो विरोधी पक्षो की सम-बलता का उल्लेख कर शका उपस्थित करने की परम्परा थी[2]। वही से ही प्रेरणा प्राप्त कर प्रस्तुत प्रकरण मे भी गणधरो की शकाओ को उसी प्रकार उपस्थित किया गया है। तदनन्तर जैसे सूत्रो मे समाधान किया जाता था, वैसे ही यहाँ आचार्य जिनभद्र महावीर द्वारा शका का समाधान करवाते हैं।

मूल, भाष्य और टीका की शैली इसी प्रकार की है, किन्तु प्रस्तुत गुजराती भाषान्तर मे इस शैली का रूपान्तर सवादात्मक शैली मे कर दिया गया है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

शंका का आधार :

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि भगवान् महावीर से प्रथम परिचय के समय प्रत्येक गणधर के मन मे जीवादि विषयक संशय होने की बात का सर्वप्रथम कथन हमे आवश्यक निर्युक्ति मे ही उपलब्ध होता है। आगम मे तत्सम्बन्धी कोई निर्देश नही है। आचार्य भद्रबाहु ने गणधरो के मन की शकाओ का निर्माण किया है अथवा इस विषय मे उन्हे भी परम्परा से कुछ प्राप्ति हुई है, इस बात का निश्चित निर्णय करने के लिए हमारे पास कोई साधन नही है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति के प्रारम्भ मे यह बात स्वीकार करते हैं कि उन्हे सामायिक की निर्युक्ति आचार्य-परम्परा से जिस प्रकार[3] प्राप्त हुई है, उसी प्रकार वे करेंगे,

---

1 गाथा 1869

2 न्याय-सूत्र व भाष्य 2 2 40; 2 2 58, 3 1 19, 3 1 33, 2 2 13, 3 1 1, ब्रह्मसूत्र शाकर-भाष्य 1 1 28 आदि।

2 आ० नि० गाथा 87

परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इसमे जो कुछ लिखा गया है, वह सब अक्षरश गुरु-परम्परा से प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत गणधरो की शकाओ के विषय मे सबसे बडा बाधक प्रमाण तो यह है कि चौदह पूर्वधर भद्रबाहु-कृत माने गये कल्पसूत्र मे इस विषय मे सकेत तक भी नही है, अत इस सम्बन्ध मे जो सम्भावना प्रतीत होती है, उसका निर्देश आवश्यक है। बहुत सम्भव है कि आगम के गम्भीर अभ्यास के परिणाम-स्वरूप उस समय चर्चा-ग्रस्त दार्शनिक विषयो को उन्होने गणधरो की शका के बहाने व्यवस्थित कर लिया हो। सामान्यत दार्शनिक चर्चा ब्राह्मणो मे हुआ करती थी। ब्राह्मणो के मुख्य शास्त्र वेद थे, अत आचार्य भद्रबाहु ने इन शकाओ का सम्बन्ध भी वेद के वाक्यो से स्थापित करने का कौशल दिखाया है, यह बात मानने में औचित्य को क्षति नही पहुँचती।

आचार्य भद्रबाहु के परवर्ती दिगम्बर ग्रन्थो मे भी कही-कही गणधरो की जीवादि सम्बन्धी शकाओ का उल्लेख मिलता है। इससे भी यह बात कही जा सकती है कि आचार्य भद्रबाहु के समय तथा उसके उपरान्त भी इन मान्यताओ ने गहरी जडे जमा दी थी[1]।

कुछ भी हो, किन्तु एक बात निश्चित है कि गणधरो के मन की शका वेदो के परस्पर विरोधी अर्थ वाले वाक्यो के आधार पर ही बताई गई है और भगवान् महावीर पहले तर्क द्वारा और तत्पश्चात् वेदवाक्यो का ही यथार्थ अर्थ करके उनका समाधान करते है, यह बात महत्वपूर्ण है। इस मे हम उस भावना का दर्शन कर सकते हैं जो जैन धर्म की सर्व-समन्वय-शील भावना है। सामान्यत दार्शनिको के विषय मे यह बात देखी जाती है कि जब उन्हे अपनी मान्यता की बात का प्रतिपादन करना होता है तो वे प्रतिपक्षी के मत के खण्डन की ओर ही दृष्टि रखते है और अपने सन्मुख अपनी परम्परा के ही प्रमाण रखते है। ऐसी स्थिति मे चर्चा के अन्त मे दोनो वही के वही रहते है, क्योकि दोनो मे अपने मत का कदाग्रह होता है। भारतीय सभी दर्शनो के विषय मे अधिकतर यही बात दिखाई देती है, किन्तु यहाँ इससे विपरीत मार्ग का आश्रय लिया गया है। इसमे दोनो पक्ष वेद के आधार पर ही लिए गये है और कथा भी वीतराग कथा है। प्रतिपक्षी को पराजित कर विजय प्राप्त करने की भावना के स्थान पर प्रतिपक्षी को सद्बुद्धि प्रदान करने की भावना यहाँ मुख्य है, अत भगवान् महावीर वेद-वाक्यो का ही यथार्थ अर्थ बताते हैं और उसके समर्थन मे भी अन्य वेद-वाक्य ही उपस्थित करते है। प्रतिपक्षी अपनी वेद-भक्ति के कारण भी शीघ्र ही भगवान् महावीर की बात मानले, इस योजना से इस व्यवहार-कुशलता का दिग्दर्शन कराया गया है। इसमे भगवान् महावीर को पूर्ण सफलता भी मिली है। इससे एक और बात भी सिद्ध होती है, वह यह है कि किसी भी शास्त्र का सर्वथा तिरस्कार करने की अपेक्षा उस शास्त्र का युक्ति-युक्त अर्थ निकाल कर उपयोग करने की भावना का प्रचार करना चाहिए। आचार्य की यह अभिरुचि जैन-दृष्टि का ही अनुसरण करने वाली है। नन्दी सूत्र मे कहा है कि महाभारत जैसे शास्त्र एकान्त मिथ्या अथवा एकान्त-सम्यक् नही, किन्तु जो मनुष्य उसे पढता है उसकी दृष्टि के अनुसार उसका परिणमन होता है, अर्थात् जो वाचक सम्यग्-दृष्टि है, वह स्वय उस शास्त्र को पढकर उसका उपयोग निर्वाण-मार्ग मे करता है, अत उसके लिये वह शास्त्र सम्यक् है। किन्तु यदि मिथ्या-दृष्टि

---

1. महापुराण (पुष्पदन्त) 97,6, त्रिलोक प्रज्ञप्ति 1 76–79

वाला श्रावक उस शास्त्र को पढता है तो वह अपनी दृष्टि के कारण उसका उपयोग ससार-वृद्धि के लिए करता है, अत उसके लिए वह शास्त्र मिथ्या है[1]।

निर्युक्तिकार ने शका का आधार वेद-वाक्य बताए हैं, किन्तु आचार्य जिनभद्र तथा टीकाकारो ने जिन वाक्यो के आधार पर शकाओ की उत्पत्ति बताई है, वे प्राय उपनिषदो के ही हैं। भगवान् महावीर के समय मे उपनिषदो का निर्माण हो गया था, अत इन शका-स्थानो अथवा शका के विषयो की चर्चा उपनिषदो मे है या नही, इस विषय पर प्रकाश डाला जायेगा। उपनिषद् वेदो के ही परिशिष्ट हैं, अत उन्हे वेद कहना अनुचित नही।

शका-स्थान

गणधरो के मन मे जिन विषयो के सम्बन्ध मे सन्देह था, वे क्रमश ये हैं —

1. जीव का अस्तित्व
2. कर्म का अस्तित्व
3. तज्जीव-तच्छरीर अर्थात् जीव और शरीर एक ही है
4. भूतो का अस्तित्व
5. इस भव और पर भव का सादृश्य
6. बन्ध-मोक्ष का अस्तित्व
7. देवो का अस्तित्व
8. नारको का अस्तित्व
9. पुण्य-पाप का अस्तित्व
10. परलोक का अस्तित्व
11. निर्वाण का अस्तित्व

इन 11 शका स्थानो को यदि हम गौण-मुख्य भाव से विभाजित करे तो उनमे 1 भूतो का अस्तित्व, 2 जीव का अस्तित्व, 3 कर्म का अस्तित्व, 4 बन्ध का अस्तित्व, 5 निर्वाण का अस्तित्व और 'परलोक का अस्तित्व' ये छह शका स्थान मुख्य हैं और शेष सब इनके ही अवान्तर शका-स्थान है।

उक्त छह शका स्थानो का भी सक्षेप करना हो तो जीव, भूत और कर्म इन तीन मे हो सकता है और इनका भी सक्षेप जीव तथा कर्म मे हो सकता है। कारण यह है कि कर्म भौतिक भी है। तात्पर्य यह है कि जीव और कर्म के सम्बन्ध के आधार पर ही बन्ध-विश्व-प्रपच है और उनके वियोग से ही जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। बन्ध की तरतमता के आधार पर ही देव-नारक की कल्पना है, परलोक की कल्पना है, पुण्य-पाप की कल्पना है। इस भव का परभव से सादृश्य है या नही ? इस शका का आधार भी जीव और कर्म का सम्बन्ध ही है। सक्षेप मे ससार और मोक्ष की कल्पना भी जीव और कर्म की कल्पना पर आधारित है। अत मुख्य प्रश्न यही है कि जीव और कर्म का अस्तित्व है या नही ? इस मुख्य प्रश्न के साथ परलोक का विचार सम्बन्धित है, अत इस विषय प्रवेश मे आत्मा, कर्म और परलोक इन तीन समस्याओ के अन्तर्गत समस्त चर्चा को प्रतिपादित करने की विचारणा ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से आगे की गई है।

---

1. नन्दी सूत्र 40, 41, देखे 'जैनागम' पत्रिका पृ० 3

(अ) आत्म-विचारणा

1 अस्तित्व

प्रथम गणधर इन्द्रभूति ने जीव के अस्तित्व के विषय मे शका उपस्थित की है और तृतीय गणधर वायुभूति ने 'जीव शरीर से भिन्न है अथवा नही' इस सम्बन्ध मे सन्देह प्रस्तुत किया है। इसलिए स्वभावत यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, इन दोनो शकाओ मे क्या अन्तर है ? इस प्रश्न का उत्तर हमे दोनो गणधरो के साथ होने वाले वाद से मिल जाता है। जब हम किसी भी विषय पर विचार करना प्रारम्भ करते है, तब सर्वप्रथम उसके अस्तित्व का प्रश्न विचारणीय होता है, तत्पश्चात् ही उसके स्वरूप का प्रश्न सामने आता है। इसी नियम के अनुसार यहाँ भी 'जीव का अस्तित्व है या नही' इस विषय पर मुख्य रूप से विचार किया गया है। इन्द्रभूति का कथन था कि, किसी भी प्रमाण से जीव को सिद्ध नही किया जा सकता, किन्तु भगवान् महावीर ने बताया कि, प्रमाण द्वारा जीव की सिद्धि शक्य है। इस प्रकार जीव का अस्तित्व सिद्ध हुआ, परन्तु जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न विद्यमान रहता है कि, उसका स्वरूप कैसा माना जाए ? शरीर को ही जीव क्यो न मान लिया जाए ? तृतीय गणधर वायुभूति ने इस विवाद का प्रारम्भ किया। तात्पर्य यह है कि, प्रथम और तृतीय गणधरो की चर्चा का विषय प्रधानत जीव का अस्तित्व एव उसका स्वरूप रहा है। इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि, हम जीव के अस्तित्व के सम्बन्ध मे भारतीय दर्शनो की विचारणा पर दृष्टिपात कर लें।

ब्राह्मणो एव श्रमणो की बढती हुई आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण आत्मवाद के विरोधी लोगो का साहित्य सुरक्षित नही रह सका। ब्राह्मणो ने अनात्मवादियो के सम्बन्ध मे जो भी उल्लेख किए है, वे केवल प्रासगिक है और उनके आधार पर ही वैदिक-काल से लेकर उपनिषद् काल तक की उनकी मान्यताओ के विषय मे कल्पनाएँ की जा सकती है। उसके बाद हम जैन-आगम और बौद्ध-त्रिपिटको के आधार पर यह मालूम कर सकते है कि, भगवान् महावीर और बुद्ध के समय तक अनात्मवादियो की क्या मान्यताएँ थी। दार्शनिक टीका-ग्रन्थो के प्रमाण से यह कहा जा सकता है कि, दार्शनिक सूत्रो के रचना-काल मे अनात्मवादियो ने अपनी मान्यताओ का प्रतिपादन बृहस्पति सूत्र मे किया, किन्तु दुर्भाग्यवश वह मूल-ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है। ऐसी परिस्थिति मे अनात्मवादियो से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री का आधार मुख्यत विरोधियो का साहित्य ही है, अत उसका उपयोग करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है, क्योकि विरोधियो द्वारा किए गए वर्णन मे न्यून या अधिक मात्रा मे एकाङ्गीपन की सम्भावना रहती ही है।

अनात्मवादी चार्वाक यह नही कहते कि 'आत्मा का सर्वथा अभाव है।' किन्तु उनकी मान्यता का सार यह है कि, जगत् के मूलभूत एक या अनेक जितने भी तत्त्व है, उनमे आत्मा कोई स्वतन्त्र तत्त्व नही है। दूसरे शब्दो मे उनके मतानुसार आत्मा मौलिक तत्त्व नही है। इसी तथ्य को दृष्टि-सन्मुख रखते हुए न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने कहा है कि, आत्मा के अस्तित्व

के विषय मे दार्शनिको मे सामान्यत विवाद ही नही है, यदि विवाद है तो उसका सम्बन्ध आत्मा के विशेष स्वरूप से है। अर्थात् कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को और कोई संघात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति है जो इन सबसे पृथक् स्वतन्त्र आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं[1]।

जब तक मनुष्य मे विचार-शक्ति का समुचित विकास नही होता, वह बाह्य-दृष्टि बना रहता है और जब तक उसकी दृष्टि बाह्य विषयो तक सीमित रहती है, वह बाह्य इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य तत्वो को ही मौलिक तत्त्व मानने के लिए उत्सुक रहता है। यही कारण है कि, हमे उपनिषदो मे ऐसे अनेक विचारक दृष्टिगोचर होते है, जिनके मत मे जल[2] अथवा वायु[3] जैसे इन्द्रिय-ग्राह्य भूत विश्व के मूलरूप तत्त्व हैं। उन्होने आत्मा जैसे किसी पदार्थ को मूल तत्वो मे स्थान प्रदान नही किया, किन्तु इन भौतिक मूल तत्त्वो से ही आत्मा अथवा चैतन्य जैसी वस्तु की सृष्टि को स्वीकृत किया है। इस बात की विशेष सम्भावना है कि, जब बाह्य दृष्टि का त्याग कर मनुष्य ने विचार-क्षेत्र मे पदार्पण किया, तब इन्द्रिय-ग्राह्य तत्त्वो को मौलिक तत्त्व न मान कर उसने असत्[4], सत्[5] अथवा आकाश[6] जैसे तत्त्वो को मौलिक तत्त्व के रूप मे मान्य किया हो जो बुद्धि-ग्राह्य होने पर भी बाह्य थे, और यह भी सम्भव है कि, उसने इस प्रकार के अतीन्द्रिय तत्त्वो से ही आत्मा की उपपत्ति की हो।

जब विचारक की दृष्टि बाह्य तत्वो से हट कर आत्माभिमुख हुई—अर्थात् जब वह विश्व के मूल को बाहर न देख कर अपने अन्तर मे ही ढूंढने लगा—तब उसने प्राण तत्त्व को मौलिक मानना शुरू किया[7]। इस प्राण तत्त्व के विचार से ही वह ब्रह्म अथवा आत्माद्वैत तक पहुँच गया।

आत्मा के लिए प्रयुक्त होने वाले विविध नामो से भी आत्म-विचारणा की उत्क्रान्ति के उपर्युक्त इतिहास का समर्थन होता है। आचाराग सूत्र मे जीव के लिए भूत, सत्व, प्राण जैसे शब्दो का प्रयोग आत्म-विचारणा की उत्क्रान्ति का सूचक है।

हमारे पास ऐसे साधन नही हैं जिनसे यह ज्ञात हो सके कि इस उत्क्रान्ति मे कितना समय लगा होगा? कारण यह है कि, उपनिषदो मे जिन विविध मतो का उल्लेख है, वे उसी काल मे आविर्भूत हुए, ऐसा कथन शक्य नही है। हाँ, हम यह मान सकते है कि, इन मतो की परम्परा दीर्घकाल से चली आ रही थी और उपनिषदो मे उसका संग्रह कर दिया गया।

---

1 न्यायवार्तिक पृष्ठ 366
2 बृहदारण्यक 5 5 1
3. छान्दोग्य 4 3
4 छान्दोग्य 3.19 1, तैत्तिरीय 2 7
5. छान्दोग्य 6.2
6 छान्दोग्य 1 9 1; 7.12
7. छान्दोग्य 1 11 5, 4 3 3, 3 15 4

उपनिपदो के आधार पर हमने यह देखा कि प्राचीन काल के अनात्मवादी जगत् के मूल मे केवल किसी एक तत्त्व को ही मानते थे। हम उन्हे अद्वैतवाद की श्रेणी मे रख सकते है और उनकी मान्यता को 'अनात्म.द्वैत' का सार्थक नाम भी दे सकते है, क्योकि उनके मतानुसार आत्मा को छोडकर अन्य कोई एक ही पदार्थ विश्व के मूल मे विद्यमान है। यह कहा जा चुका है कि, अनात्माद्वैत की इस परम्परा से ही क्रमश आत्माद्वैत की मान्यता का विकास हुआ।

प्राचीन जैन आगम, पालि त्रिपिटक और साख्यदर्शन आदि इस बात के साक्षी हैं कि दार्शनिक विचार की इस अद्वैत-धारा के समानान्तर द्वैत-धारा भी प्रवाहित थी। जैन, बौद्ध और साख्य-दर्शन के मत मे विश्व के मूल मे केवल एक चेतन अथवा अचेतन तत्त्व नही अपितु चेतन एव अचेतन ऐसे दो तत्त्व है, यह बात इन दर्शनो ने स्वीकृत की है। जैनो ने उन्हे जीव और अजीव का नाम दिया, साख्यो ने पुरुष और प्रकृति कहा तथा बौद्धो ने उसे नाम और रूप कहा।

उक्त द्वैत विचार-धारा मे चेतन और उसका विरोधी अचेतन, इस प्रकार दो तत्त्व माने गए, इसीलिए उसे 'द्वैत-परम्परा' का नाम दिया गया है, किन्तु वस्तुत साख्यो और जैनो के मत मे व्यक्ति-भेद से चेतन अनेक है, वे सब प्रकृति के समान मूलरूप मे एक तत्त्व नही है। जैनो की मान्यतानुसार केवल चेतन ही नही, प्रत्युत अचेतन तत्त्व भी अनेक है। जड और चेतन इन दो तत्त्वो को स्वीकृत करने के कारण न्याय दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन भी द्वैत विचार-धारा के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं, किन्तु उनके मत मे भी चेतन एव अचेतन ये दोनो साख्य-सम्मत प्रकृति के समान एक मौलिक तत्त्व नही, परन्तु जैनो द्वारा मान्य चेतन-अचेतन के समान अनेक तत्त्व हैं। ऐसी वस्तुस्थिति मे इस समस्त परम्परा को बहुवादी अथवा नानावादी कहना चाहिए। यह बताने की आवश्यकता नही है कि बहुवादी विचार-धारा मे पूर्वोक्त सभी दर्शन आत्मवादी हैं, किन्तु जैन आगम और पालि त्रिपिटक इस बात की भी साक्षी प्रदान करते है कि इस बहुवादी विचार-धारा मे अनात्मवादी भी हुए है। उनमे ऐसे भूतवादियो का वर्णन उपलब्ध होता है जो विश्व के मूल मे चार या पाँच भूतो को मानते थे[1]। उनके मत मे चार या पाँच भूतो से ही आत्मा की उत्पत्ति होती है, आत्मा जैसा कोई स्वतन्त्र मौलिक पदार्थ नही है। दार्शनिक-सूत्रो के टीका-ग्रन्थो के समय मे जहाँ चार्वाक, नास्तिक, बार्हस्पत्य अथवा लोकायत मत का खण्डन किया गया है, वहाँ पर भी चार भूत अथवा पाँच भूत वाद का ही खण्डन है। अत हम यह कह सकते है कि दार्शनिक-सूत्रो की व्यवस्था के समय मे उपनिपदो के प्राचीन स्तर के अद्वैती अनात्मवादी नही थे, मगर उनका स्थान नाना भूतवादियो ने ले लिया था। ये नाना भूतवादी विश्वास रखते थे कि, चार अथवा पाँच भूतो के एक विशिष्ट समुदाय-सम्मिश्रण होने पर आत्मा अर्थात् चैतन्य का प्रादुर्भाव होता है। आत्मा के समान अनादि, अनन्त किसी शाश्वत वस्तु का अस्तित्व ही नही है, क्योकि इस भूत-समुदाय का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।

---

1 सूत्रकृताग 1 1 1 7–8, 2 1.10, ब्रह्मजाल सूत्र

इस प्रकार इन दोनो धाराओ के विषय मे विचार करने मे यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्हतमार्ग मे किसी समय अनात्मा की मान्यता मुख्य थी और धीरे-धीरे आत्माद्वैत की मान्यता ने दृढता प्राप्त की। दूसरी ओर नानावादियो मे भी चार्वाक जैसे दार्शनिक हुए है जिनके मन मे आत्म-सदृश वस्तु का मौलिक-तत्त्वो मे स्थान नही था, जब कि उनके विरोधी जैन, बौद्ध, साख्य इत्यादि आत्मा एव अनात्मा दोनो को मौलिक-तत्त्वो मे स्थान प्रदान करते थे।

2 आत्मा का स्वरूप—चैतन्य

ऋग्वेद के एक ऋषि के उद्गार से प्रतीत होता है कि उसके हृदय मे आत्मा के स्वरूप के विषय मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई, किन्तु उसकी इस जिज्ञासा मे उत्कट वेदना का अनुभव स्पष्ट मालूम होता है। वह ऋषि पुकार कर कहता है—'यह मै कौन हूँ अथवा कैसा हूँ, मुझे इसका पता नही चलता[1]'। आत्मा के सम्बन्ध मे ही नही, प्रत्युत विश्वात्मा के स्वरूप के विषय मे भी ऋग्वेद के ऋषि को सशय है। विश्व का वह मूल तत्त्व सत् है अथवा असत् है, इन दोनो मे से वह उसे किसी भी नाम से कहने के लिए तैयार नही है[2]। शायद उसे यह प्रतीत हुआ हो कि यह मूल तत्त्व ऐसा नही है जिसे वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सके, ऋग्वेद (10 90) और यजुर्वेद के पुरुषसूक्त (अ 31) के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समस्त विश्व के मूल मे पुरुष की सत्ता है। इस बात का उल्लेख करने की तो आवश्यकता ही नही है कि यह पुरुष चेतन है। ब्राह्मण-काल मे प्रजापति ने इसी पुरुष का स्थान ग्रहण किया। इस प्रजापति को सम्पूर्ण विश्व का स्रष्टा माना गया है[3]।

ब्राह्मण-काल तक बाह्य जगत् के मूल की खोज का प्रयत्न किया गया है और उसके मूल मे पुरुष अथवा प्रजापति की कल्पना की गई है, किन्तु उपनिषदो मे विचार की दिशा मे परिवर्तन हो गया है, मुख्यत आत्म-विचारणा ने विश्व-विचार का स्थान ग्रहण कर लिया है, अतएव आत्म-विचार की क्रमिक प्रगति के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपनिषद् प्राचीन साधन है।

उपनिषदो मे दृग्गोचर होने वाली आत्म-स्वरूप की विचारणा का और उपनिषदो की रचना का काल एक ही है—यह बात नही मानी जा सकती, परन्तु उपनिषद् की रचना से मे भी पूर्व दीर्घकाल मे जो विचार-प्रवाह चले आ रहे थे उनका उल्लेख उपनिषदो मे सम्मिलित है, यह मानना उचित है, क्योकि उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग माने जाते है, इसलिए कोई व्यक्ति यह अनुमान भी कर सकता है कि केवल वैदिक-परम्परा के ऋषियो ने ही आत्म-विचारणा की है और उसमे किसी अन्य परम्परा की देन नही है।

किन्तु उपनिषदो के पूर्व की वैदिक-विचारधारा तथा उसके बाद की मानी जाने वाली औपनिषदिक वैदिक-विचारधारा की तुलना करने वालो को दोनो मे जो मुख्य भेद

---

1 न वा जानामि यदिव इदमस्मि। ऋग्वेद 1 164 37

2 नाऽसदासीत् नो सदासीत् तदानीम्। ऋग्वेद 10 129

3. The Creative Period pp–67, 342.

दिखाई देता है, विद्वानो ने उसके कारण की खोज की है और उन्होने यह सिद्ध किया है कि, वेद-भिन्न, अवैदिक विचार-धारा का प्रभाव ही इस भेद का कारण है। इस प्रकार की अवैदिक विचारधारा मे जैन परम्परा के पूर्वजो की देन कम महत्त्व नही रखती। हम इन पूर्वजो को परिव्राजक श्रमण के रूप मे जान सकते हैं।

(1) देहात्मवाद–भूतात्मवाद

आत्मविचारणा के क्रमिक सोपान का चित्र हमें उपनिषदो मे उपलब्ध होता है। उपनिषदो मे मुख्य-रूपेण इस बात पर विचार किया गया है कि बाह्य विश्व को गौण कर, अपने भीतर जिस चैतन्य अर्थात् विज्ञान की स्फूर्ति का अनुभव होता है, वह क्या वस्तु है ? अन्य सब जड पदार्थों की अपेक्षा अपने समस्त शरीर मे ही इस स्फूर्ति का विशेष रूप से अनुभव होता है, अत यह स्वाभाविक है कि विचारक का मन सर्वप्रथम स्वदेह को ही आत्मा अथवा जीव मानने के लिए आकृष्ट हो। उपनिषद् मे इस कथा का उल्लेख है कि, आसुरो मे से वैरोचन और देवो मे से इन्द्र आत्म-विज्ञान की शिक्षा लेने प्रजापति के पास गए। पानी के पात्र मे उन दोनो के प्रतिबिम्ब दिखाकर प्रजापति ने पूछा कि, तुम्हे क्या दिखाई देता है ? इसके उत्तर मे उन्होने कहा कि, पानी मे नख से लेकर शिखा तक हमारा प्रतिबिम्ब दृग्गोचर हो रहा है। प्रजापति ने कहा कि, जिसे तुम देख रहे हो, वही आत्मा है। यह सुनकर दोनो चले गए। वैरोचन ने आसुरो मे इस बात का प्रचार किया कि देह ही आत्मा है[1], किन्तु इन्द्र का इस बात से समाधान नही हुआ।

तैत्तिरीय उपनिषद् मे भी जहाँ स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर आत्म-स्वरूप का क्रमश वर्णन किया गया है, वहाँ सबसे पहले अन्नमय आत्मा का परिचय दिया गया है और यह बताया गया है कि अन्न से पुरुष की उत्पत्ति हुई है, उसकी वृद्धि भी अन्न से होती है और वह अन्न मे ही विलीन होता है, अत यह पुरुष अन्न-रस-मय है[2]। देह को आत्मा मानकर यह विचारणा हुई है।

प्राकृत एव पालि के ग्रन्थो मे इस मन्तव्य को 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' के रूप मे प्रतिपादित किया गया है और दार्शनिक सूत्रकाल मे इसी का निर्देश 'देहात्मवाद' द्वारा किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे तीसरे गणधर ने इसी विषय मे शका की है कि, देह ही आत्मा है या आत्मा देह से भिन्न है।

जैन आगम और बौद्ध त्रिपिटक मे इस बात का भी निर्देश है कि इस देहात्मवाद से मिलता-जुलता चतुर्भूत अथवा पचभूत को आत्मा मानने वालो का सिद्धान्त भी प्रचलित था। ऐसा मालूम होता है कि विचारक गण जब देहतत्त्व का विश्लेषण करने लगे होगे तब किसी ने उसे चारभूतात्मक[3] और किसी ने उसे पचभूतात्मक[4] माना होगा। ये भूतात्मवादी अथवा देहात्मवादी अपने पक्ष के समर्थन मे जो युक्तियाँ देते थे, उनमे मुख्य ये थी .—

1 छान्दोग्य 8 8

2 तैत्तिरीय 2 1, 2

3. ब्रह्मजाल सुत्त (हिन्दी) पृ० 12, सूत्रकृताग

4. सूत्रकृताग 1 1 1 7–8

जिस प्रकार कोई पुरुष म्यान से तलवार बाहर खींचकर उसे अलग दिखा सकता है, उसी प्रकार आत्मा को शरीर से निकालकर कोई भी पृथक्-रूपेण नही बता सकता। अथवा जिस प्रकार तिलो मे से तेल निकालकर बताया जा सकता है, या दही मे मक्खन निकालकर दिखाया जा सकता है, उसी प्रकार जीव को शरीर से पृथक् निकाल कर नही बताया जा सकता। जब तक शरीर स्थिर रहता है, तभी तक आत्मा की स्थिरता है, शरीर का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है[1]।

बौद्धो के दीघनिकायान्तर्गत पायासी सुत्त मे और जैनो के रायपसेणइय सूत्र मे उन प्रयोगो का समान रूप मे विस्तृत वर्णन है जिन्हे नास्तिक राजा पायासी–पएसी ने 'जीव शरीर से पृथक् नहीं है' इस बात को सिद्ध करने के लिए किये थे। उनसे पता चलता है कि उसने मरने वालो से कहा हुआ था कि, तुम मर कर जिस लोक मे जाओ, वहाँ से मुझे समाचार बताने के लिए अवश्य आना, किन्तु उनमे से एक भी व्यक्ति उसे मृत्यूपरान्त की स्थिति के विषय मे समाचार देने नही आया, अत उसे यह विश्वास हो गया कि मृत्यु के समय ही आत्मा का नाश हो जाता है, शरीर से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। 'शरीर ही आत्मा है' इस बात को प्रमाणित करने के उद्देश्य से राजा ने जीवित मनुष्य को लोहे की पेटी मे अथवा हाँडी मे बन्द करके यह देखने का प्रयत्न किया कि, मृत्यु के समय उसका जीव बाहर निकलता है या नही। परीक्षण के अन्त मे उसने निश्चय किया कि, मृत्यु के समय शरीर से कोई जीव बाहर नहीं निकलता। जीवित और मृत व्यक्ति को तोलकर उसने यह परीक्षा भी की कि, यदि मृत्यु के समय जीव चला जाता हो तो वजन मे कमी हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा नही हुआ, प्रत्युत इसके विपरीत उसे यह पता चला कि मृत व्यक्ति का वजन बढ जाता है। मनुष्य के शरीर के टुकडे-टुकडे कर क्रमशः हड्डियो, माँस आदि मे जीव की खोज की, किन्तु वह उनमे भी नही मिला। इसके अतिरिक्त राजा यह युक्ति दिया करता था कि, यदि शरीर और जीव अलग-अलग हैं तो क्या कारण है कि एक बालक अनेक बाण नही चला सकता और एक युवक यह काम कर सकता है, अत. शक्ति आत्मा की नही, अपितु शरीर की है और शरीर के नाश के साथ ही उसका नाश हो जाता है।

पायासी राजा की भिन्न-भिन्न परीक्षाओं एव युक्तियो से ज्ञात होता है कि वह आत्मा को भूतो के समान ही इन्द्रियो का विषय मानकर आत्मा सम्बन्धी शोध मे लीन था और आत्मा को एक भौतिक तत्त्व मानकर ही उसने तद्विषयक खोज जारी रखी इसीलिए उसे निराशा का मुख देखना पडा। यदि वह आत्मा को एक अमूर्त तत्त्व मानकर उसे ढूँढने का प्रयत्न करता तो उसकी शोध की प्रक्रिया और ही होती। रायपसेणइय के वर्णन के अनुसार पएसी का दादा भी उसी की भाँति नास्तिक था। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा को भौतिक समझकर उसके विषय मे विचार करने वाले व्यक्ति अति प्राचीनकाल मे भी थे। इस बात का समर्थन पूर्वोक्त तैत्तिरीय उपनिषद् से भी होता है, जहाँ आत्मा को अन्नमय[2] कहा गया है।

---

1. सूत्रकृताग 2 1.9, 2 1 10
2. तैत्तिरीय 2 1 2

इसके अतिरिक्त उपनिष् से भी प्राचीन ऐतरेय-आरण्यक मे आत्मा के विकास के प्रदर्शक जो सोपान दिखाये गये हैं, उनसे भी यह बात प्रमाणित होती है कि आत्म-विचारणा मे आत्मा को भौतिक मानना उसका प्रथम सोपान है। उस आरण्यक[1] मे वनस्पति, पशु एव मनुष्य के चैतन्य के पारस्परिक सम्बन्ध का विश्लेषण किया गया है और यह बताया गया है कि औषधि, वनस्पति और ये जो समस्त पशु एव मनुष्य हैं, उनमे आत्मा का विकास उत्तरोत्तर होता है। कारण यह है कि औषधि और वनस्पति मे तो वह केवल रस-रूप मे ही दिखाई देता है किन्तु पशुओ मे चित्त भी दृष्टिगोचर होता है और मनुष्य मे वह विकास करते-करते तीनो कालो का विचारक बन जाता है।

(2) प्राणात्मवाद—इन्द्रियात्मवाद

उपनिषद् मे उपलब्ध वैरोचन और इन्द्र की कथा का एक अश देहात्मवाद की चर्चा मे लिखा जा चुका है। यह भी कहा जा चुका है कि इन्द्र को प्रजापति के इस स्पष्टीकरण से सन्तोष भी नही हुआ था कि देह ही आत्मा है, अत हम यह मान सकते है कि उस युग मे केवल इन्द्र ही नही अपितु उन जैसे कई विचारको के मन मे इस प्रश्न के विषय मे उलझने हुई होगी और उनकी इस उलझन ने ही आत्मतत्त्व के विषय मे अधिक विचार करने के लिए उन्हे प्रेरित किया होगा। चिन्तनशील व्यक्तियो ने जब शरीर की आध्यात्मिक क्रियाओ का निरीक्षण-परीक्षण प्रारम्भ किया होगा, तब सर्वप्रथम उनका ध्यान प्राण की ओर आकृष्ट हुआ हो, यह स्वाभाविक है। उन्होने अनुभव किया होगा कि निद्रा की अवस्था मे जब समस्त इन्द्रियाँ अपनी-अपनी प्रवृत्ति स्थगित कर देती हैं, तब भी श्वासोच्छ्वास जारी रहता है। केवल मृत्यु के पश्चात् ही इस श्वासोच्छ्वास के दर्शन नही होते। इस बात से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जीवन मे प्राण का ही सर्वाधिक महत्व है, अत उन्होने इस प्राण तत्त्व को ही जीवन की समस्त क्रियाओ का कारण माना[2]। जिस समय विचारको ने शरीर मे स्फुरित होने वाले तत्त्व की प्राणरूप से पहिचान की, उस समय उसका महत्व बहुत बढ गया और उस विषय मे अधिक से अधिक विचार होने लगा। परिणाम-स्वरूप प्राण के सम्बन्ध मे छान्दोग्य[3] उपनिषद् मे कहा गया कि, इस विश्व मे जो कुछ है वह प्राण है। बृहदारण्यक[4] मे तो उसे देवो के भी देव का पद प्रदान किया गया है।

प्राण अर्थात् वायु को आत्मा मानने वालो का खण्डन नागसेन ने मिलिन्दप्रश्न[5] मे किया है।

शरीर मे होने वाली क्रियाओ के जो भी साधन हैं, उनमे इन्द्रियो का भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अत. यह स्वाभाविक है कि विचारको का ध्यान उस ओर प्रवृत्त हो और वे

---

1 ऐतरेय आरण्यक 2.3 2

2 तैत्तिरीय 2 2, 3, कौपीतकी 3 2

3 छान्दोग्य 3 15 4

4. बृहदारण्यक 1 5 22–23

5. मिलिन्दप्रश्न 2 10

इन्द्रियों को ही आत्मा मानने लगें। वृहदारण्यक उपनिषद् मे इन्द्रियों की प्रतियोगिता का उल्लेख है और उनके इस दृढ निर्णय का भी वर्णन है कि वे स्वय ही समर्थ है[1], अतः हम यह भी मान सकते है कि कुछ लोगों की प्रवृत्ति इन्द्रियो को आत्मा समझने की रही होगी। दार्शनिक-सूत्र-टीका-काल मे इस प्रकार के इन्द्रियात्मवादियो का खण्डन भी किया गया है, अतः यह निश्चित है कि किसी न किसी व्यक्ति ने इस सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार किया होगा। प्राणात्मवाद के समर्थको ने इन इन्द्रियात्मवाद के विरुद्ध जो युक्तियाँ दी, वे हमे वृहदारण्यक मे दृष्टिगोचर होती हैं। उनमे कहा गया है कि, मृत्यु समस्त इन्द्रियो को थका देती है किन्तु उनके बीच रहने वाले प्राण को वह कुछ भी हानि नही पहुँचा सकती, अतः इन्द्रियो ने प्राण का रूप ग्रहण किया, इसीलिए इन्द्रियो को भी प्राण कहते हैं[2]।

प्राचीन जैन आगमों मे जिन दस प्राणो का वर्णन है, उनमे इन्द्रियो को भी प्राण गिना गया है। इससे भी उपर्युक्त बात का समर्थन होता है। इस प्रकार इन्द्रियात्मवाद का समावेश प्राणात्मवाद मे हो जाता है।

साख्य-सम्मत वैकृतिक बन्ध की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रियो को पुरुष मानने वालो का उल्लेख किया है, वह भी इन्द्रियात्मवादियों के विषय मे समझा जाना चाहिए[3]।

इस प्रकार आत्मा को यदि देहरूप अथवा भूतात्मक अथवा प्राणरूप अथवा इन्द्रिय-रूप माना जाए, तब भी इन सब मतो मे आत्मा अपने भौतिक रूप मे ही हमारे सामने उपस्थित होती है। इनसे उसका अभौतिक रूप प्रकट नही होता, अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि इन सब मतो के अनुसार हमे आत्मा अपने व्यक्त-रूप मे दृष्टिगोचर होती है। वह इन्द्रिय-ग्राह्य है, यह बात सामान्यत इन सब मतो मे मानी गई है। आत्मा के इस रूप को सन्मुख रखते हुए ही उसका विश्लेषण किया गया है। इसीलिए उसके अव्यक्त अथवा अभौतिक स्वरूप की ओर इनमे से किसी का ध्यान नही गया।

परन्तु ऋषियो ने जिस प्रकार विश्व के भौतिक रूप के पार जाकर एक अव्यक्त तत्त्व को माना[4], उसी प्रकार उन्होने आत्मा के विषय मे यह स्वीकार किया कि वह भी अपने पूर्ण रूप मे ऐसा नही है जिसे आँखो द्वारा देखा जा सके। जब से उनकी ऐसी प्रवृत्ति हुई, तब से आत्म-विचारणा ने नया रूप धारण किया।

जब तक आत्मा का भौतिक रूप ही स्वीकार किया जाए तब तक इस लोक को छोडकर उसके परलोक-गमन की मान्यता, अथवा परलोक-गमन मे कारण-भूत कर्म की मान्यता या पुण्य-पाप की मान्यता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, किन्तु जब आत्मा को एक स्थायी तत्त्व के रूप मे मान लिया जाए, तब इन सब प्रश्नो पर विचार करने का अवसर स्वयमेव उपस्थित

---

1 वृहदारण्यक 1.5.21
2. वृहदारण्यक 1.5 21
3. साख्य का० 44
4 ऋग्वेद 10 129

हो जाता है, अत आत्मवाद के साथ सम्बद्ध परलोक और कर्मवाद का विचार इसके बाद ही होना प्रारम्भ हुआ ।

(3) मनोमय आत्मा

विचारको ने अनुभव किया कि प्राण-रूप कही जाने वाली इन्द्रियाँ भी मन के बिना सार्थक नही हैं, मन का सम्पर्क होने पर ही इन्द्रियाँ अपने विषयो को ग्रहण कर सकती है, अन्यथा नही; और फिर विचारणा के विषय मे तो इन्द्रियाँ कुछ भी नही कर सकती । इन्द्रिय-व्यापार के अभाव मे भी विचारणा का क्रम चलता रहता है । सुप्त मनुष्य की इन्द्रियाँ कुछ भी व्यापार नही करती, उस समय भी मन कही का कही पहुँच जाता है, अत सम्भव है कि, उन्होंने इन्द्रियो से आगे बढकर मन को आत्मा मानना शुरु कर दिया हो । जिस प्रकार उपनिषत् काल मे प्राणमय आत्मा को अन्नमय आत्मा का अन्तरात्मा माना गया, उसी प्रकार मनोमय आत्मा को प्राणमय आत्मा का अन्तरात्मा स्वीकार किया गया । इससे पता चलता है कि विचार-प्रगति के इतिहास मे प्राणमय आत्मा के पश्चात् मनोमय आत्मा की कल्पना की गई होगी[1] ।

प्राण और इन्द्रियो की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, किन्तु मन भौतिक है या अभौतिक ? इस विषय मे दार्शनिको का मत एक नही है[2] । किन्तु यह बात निश्चित है कि प्राचीन काल मे मन को अभौतिक भी माना जाता था । इसीलिए न्याय-वैशेषिक[3] आदि दार्शनिको ने मन को अणुरूप मानकर भी पृथ्वी आदि भूतो के सभी परमाणुओ से उसे विलक्षण माना है । इसके अतिरिक्त साख्य-मत मे भी यह माना गया है कि भूतो की उत्पत्ति होने से पूर्व ही प्राकृतिक अहकार से मन की उत्पत्ति हो जाती है । इससे भी यह सकेत मिलता है कि मन भूतो की अपेक्षा सूक्ष्म है । पुनश्च वैभाषिक बौद्धो ने मन को विज्ञान का समनन्तर कारण माना है, अत मन विज्ञान रूप है[4] । इस प्रकार प्राचीनकाल मे मन को अभौतिक मानने की एक प्रवृत्ति स्पष्ट दृग्गोचर होती है, अत हमे यह स्वीकार करना चाहिए कि जिस विचारक ने आत्म-विचारणा के विषय मे प्राण को छोडकर मन को आत्मा मानने की सर्वप्रथम कल्पना की होगी, उसने ही सबसे पहले आत्मा को भौतिक श्रेणी से निकाल कर अभौतिक श्रेणी मे रखा होगा ।

दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थो और उनकी टीकाओ से ज्ञात होता है कि मन को आत्मा मानने वाले दार्शनिक सूत्र-काल मे भी विद्यमान थे[5] । मन को आत्मा मानने वालो का कथन था कि, जिन हेतुओ द्वारा आत्मा को देह से भिन्न सिद्ध किया जाता है, उनसे वह मनोमय सिद्ध होती है, अर्थात् मन सर्वग्राही है, अत वह ऐसा प्रतिसन्धान कर सकता है कि एक इन्द्रिय द्वारा देखा गया और दूसरी इन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया गया विषय एक ही है, फलत मन को ही आत्मा मान लेना चाहिए । मन से भिन्न आत्मा को मानने की आवश्यकता नही है ।

---

1. तैत्तिरीय 2 3
2. मन के विषय मे दार्शनिक मतभेद का विवरण 'प्रमाणमीमासा' की टिप्पणी पृ० 42 पर देखें ।
3. न्यायसू० 3 2 11, वैशेषिक सू० 7 1.23
4 षण्णामनन्तरातीत विज्ञान यद्धि तन्मन.—अभिधर्मकोष 1 17
5. न्यायसूत्र 3 1 16, न्यायवार्तिक पृ० 336

सदानन्द ने वेदान्तसार में कहा है कि तैत्तिरीय उपनिषद् के 'अन्योन्तरात्मा मनोमय' (2 3) वाक्य के आधार पर चार्वाक मन को आत्मा मानते हैं। सांख्यों द्वारा मान्य विकृत के उपासकों मे मन को आत्मा मानने वालो का समावेश है[1]।

'मन क्या है' इस विषय मे वृहदारण्यक मे अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। उसमे बताया गया है कि 'मेरा मन दूसरी ओर था अत मैं देख नहीं सका' 'मेरा मन दूसरी ओर था अत मै सुन नहीं सका'—अर्थात् वस्तुत देखा जाए तो मनुष्य मन के द्वारा देखता है और उसके द्वारा ही सुनता है। काम, सकल्प, विचिकित्सा (सशय), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—यह सब मन ही है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति किसी मनुष्य की पीठ का स्पर्श करता है, तो वह मनुष्य मन से इस बात का ज्ञान कर लेता है[2]। पुनश्च वहाँ मन को परम ब्रह्मसम्राट्[3] भी कहा गया है। छान्दोग्य मे भी उसे ब्रह्म[4] कहा है।

मन के कारण जो भी विश्व-प्रपच है, उसका निरूपण तेजोबिन्दु उपनिषद मे किया गया है। उससे भी मन की महिमा का परिचय मिलता है। उसमें बताया गया है कि 'मन ही समस्त जगत् है, मन ही महान् शत्रु है, मन ससार है, मन ही त्रिलोक है, मन ही महान् दु ख है···मन ही काल है, मन ही सकल्प है, मन ही जीव है, मन ही चित्त है, मन ही अहकार है, मन ही अन्त करण है, मन ही पृथ्वी है, मन ही जल है, मन ही अग्नि है, मन ही महान् वायु है, मन ही आकाश है, मन ही शब्द है, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और पाँच कोष मन से उत्पन्न हुए हैं, जागरण स्वप्न सुषुप्ति इत्यादि मनोमय हैं, दिक्पाल, वसु, रुद्र, आदित्य भी मनोमय है[5]।'

(4) प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा .

कौषीतकी उपनिषद् मे प्राण को प्रज्ञा और प्रज्ञा को प्राण सज्ञा दी गई है। उससे विदित होता है कि प्राणात्मा के बाद जब प्रज्ञात्मा का अन्वेषण हुआ, तब प्राचीन और नवीन का समन्वय आवश्यक था[6]। इन्द्रियाँ और मन ये दोनो प्रज्ञा के बिना सर्वथा अकिंचित्कर हैं, यह बात कह कर कौषीतकी[7] मे बताया गया है कि, प्रज्ञा का महत्व इन्द्रियो और मन की अपेक्षा से भी अधिक है। इससे प्रतीत होता है कि प्रज्ञात्मा मनोमय आत्मा की भी अन्तरात्मा है। इसी बात का सकेत तैत्तिरीय उपनिषद् मे (2 4) विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा का अन्तरात्मा बताकर किया गया है। अत. प्रज्ञा और विज्ञान को पर्यायवाची स्वीकार करने मे कोई हानि नहीं है। ऐतरेय उपनिषद् मे प्रज्ञान-ब्रह्म के जो पर्याय दिये गये हैं, उनमे मन भी है[8]। इससे ज्ञात

---

1 साख्यकारिका 44

2 वृहदारण्यक 1 5 3

3. वृहदारण्यक 4 1 6

4 छान्दोग्य 7 3.1

5. तेजोबिन्दु उपनिषद् 5 98, 104;

6. 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' कौषीतकी 3 2, 3 3, यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राणः कौषी० 3 3; 3.4

7. कौषी० 3 6 7 गुजराती अनुवाद देखो—पृ० 892

8 ऐतरेय 3 2

होता है कि पूर्वकल्पित मनोमय आत्मा के साथ प्रज्ञानात्मा का समन्वय है। उसी उपनिषद् मे प्रज्ञा और प्रज्ञान को एक ही माना[1] है और प्रज्ञान के पर्याय के रूप मे विज्ञान भी लिखा है[2]।

साराश यह है कि विज्ञान, प्रज्ञा, प्रज्ञान ये समस्त शब्द एकार्थक माने गए और उसी अर्थ के अनुसार आत्मा को विज्ञानात्मा, प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा स्वीकार किया गया। मनोमय आत्मा सूक्ष्म है, किन्तु मन किसी के मतानुसार भौतिक और किसी के मतानुसार अभौतिक है। किन्तु जब विज्ञान को आत्मा की सज्ञा प्रदान की गई, तब उसके बाद ही इस विचारणा को बल मिला कि आत्मा एक अभौतिक तत्त्व है। आत्म-विचारणा के क्षेत्र मे विज्ञान, प्रज्ञा अथवा प्रज्ञान को आत्मा कह कर विचारको ने आत्म-विचार की दिशा मे ही परिवर्तन कर दिया। अब उन्होने इस मान्यता की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ किया कि, आत्मा मौलिक रूपेण चेतन तत्त्व है। प्रज्ञान की प्रतिष्ठा इतनी अधिक बढी कि आन्तरिक और बाह्य सभी पदार्थों को प्रज्ञान का नाम दिया गया[3]।

अब प्रज्ञा तत्व का विश्लेषण अनिवार्य था, अत उसके विषय मे विचार प्रारम्भ हुआ। समस्त इन्द्रियो और मन को प्रज्ञा मे ही प्रतिष्ठित माना गया। जिस समय मनुष्य सुप्त अथवा मृतावस्था मे होता है, उस समय इन्द्रियाँ प्राण रूप प्रज्ञा मे अन्तर्हित हो जाती है, अत किसी भी प्रकार का ज्ञान नही हो सकता। जब मनुष्य नीद से जागता है या पुन जन्म ग्रहण करता है, तब जिस प्रकार चिनगारी मे से अग्नि प्रकट होती है उसी प्रकार प्रज्ञा मे से इन्द्रियाँ पुन बाहर आती[4] हैं और मनुष्य को ज्ञान होने लगता है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के एक अश के समान[5] हैं, इसलिए वे प्रज्ञा के बिना अपना काम करने मे असमर्थ[6] है, अतः इन्द्रियो और मन से भी भिन्न प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात की भी प्रेरणा की गई है कि, इन्द्रियो के विषयो का नही, परन्तु इन्द्रियो के विषयो के ज्ञाता प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त किया जाए। मन का ज्ञान आवश्यक नही है, किन्तु मनन करने वाले का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार कौषीतकी उपनिषद् मे इस बात पर जोर दिया गया है कि, इन्द्रियादि साधनो से भी उच्च प्रज्ञात्मा[7]-साधक को जानना चाहिए।

कौषीतकी उपनिषत् के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, इस उपनिषत् मे प्रज्ञा को इन्द्रियो का अधिष्ठान माना गया है। किन्तु अभी प्रज्ञा के स्वतः प्रकाशित रूप की ओर विचारको का ध्यान नही गया था। अत सुप्तावस्था मे इन्द्रियो के

---

1. ऐतरेय 3 3
2. ऐतरेय 3 2
3. ऐतरेय 3 1.2–3
4. कौषीतकी 3 2
5. कौषीतकी 3 5
6. कौषीतकी 3 7
7. कौषीतकी 3 8

व्यापार के अभाव मे उनमे स्व या पर का किसी भी प्रकार का ज्ञान स्वीकृत नही किया गया[1]। उसी प्रकार मृत्यूपरान्त जब तक नई इन्द्रियो का निर्माण नही होता, तब तक प्रज्ञा भी अकिंचित्कर ही रहती है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के अधीन है, इस बात को मानकर भी यह स्वीकार किया गया है कि, प्रज्ञा भी इन्द्रियो के बिना कुछ नही कर सकती। चूँकि अभी प्रज्ञा और प्राण को एक ही समझा जाता था, अत: प्राण से भी परे स्वत: प्रकाशक प्रज्ञा का स्वरूप किसी के ध्यान मे न आए, यह स्वाभाविक है।

कठोपनिषद्[2] मे जहाँ उत्तरोत्तर उच्चतर तत्त्वो की गणना की गई है वहाँ मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् मे अव्यक्त-प्रकृति और प्रकृति से पुरुष को उत्तरोत्तर उच्चतर माना गया है। यही बात गीता मे भी कही गई है। यह प्रक्रिया सांख्य-सम्मत है। इस मान्यता से ज्ञात होता है कि, प्राचीन मत यह था कि, विज्ञान किसी चेतन पदार्थ का धर्म नही, अपितु अचेतन प्रकृति का धर्म है। इस मत की उपस्थिति मे यह बात स्वीकार नही की जा सकती कि, विज्ञानात्मा की शोध पूरी हो जाने पर आत्मा सर्वत: चेतन-स्वरूप किंवा अजड-रूप सिद्ध हो गया, किन्तु जब विचारक प्रज्ञात्मा की सीमा तक उडान कर चुके, तब उनका भावी मार्ग स्पष्ट था। अतएव अब ऐसी परिस्थिति नही थी कि, आत्मा से भौतिक गन्ध को सर्वथा निर्मूल करने मे विलम्ब हो।

(5) आनन्दात्मा

यदि मनुष्य के अनुभव का विश्लेषण किया जाए, तो उससे उस अनुभव के दो रूप स्पष्ट दृग्गोचर होते हैं। पहला तो पदार्थ की विज्ञप्ति सम्बन्धी है—अर्थात् हमे पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह अनुभव का एक रूप है और दूसरा रूप वेदना सम्बन्धी है। एक को हम संवेदन कह सकते है और दूसरे को वेदन। पदार्थ को जानना एक रूप है और उसका भोग करना दूसरा। ज्ञान का सम्बन्ध जानने से है और वेदना का भोग से। ज्ञान का स्थान पहला है और भोग का दूसरा। यह वेदना भी अनुकूल और प्रतिकूल के भेद से दो प्रकार की होती है। प्रतिकूल वेदना किसी के लिए भी रुचिकर नही होती, परन्तु अनुकूल वेदना सब को इष्ट है। इसी का दूसरा नाम सुख है और सुख की पराकाष्ठा को आनन्द की संज्ञा दी गई है। बाह्य पदार्थों के भोग से सर्वथा निरपेक्ष अनुकूल वेदना आत्मा का स्वरूप है और विचारक पुरुषो ने उसे ही आनन्दात्मा कहा है। इस बात की अधिक सम्भावना है कि, अनुभव के संवेदन रूप को प्रधान मान कर प्रज्ञात्मा अथवा विज्ञानात्मा की कल्पना ने जन्म लिया, तो उसके वेदन रूप की प्राधान्यता से आनन्दात्मा की कल्पना को बल मिला। यह स्वाभाविक है कि, जब आत्मा जैसे एक अखण्ड पदार्थ को खण्ड-खण्ड कर देखा जाए, तो विचारको के सन्मुख उसके विज्ञानात्मा और आनन्दात्मा जैसे रूप उपस्थित हो जाते हैं।

---

1. ऐसे आत्मा के ज्ञान से इन्द्र को संतोष नहीं हुआ था और उसने प्रजापति से सुप्तावस्था की आत्मा से भी पर आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया था, यह उल्लेख छान्दोग्य मे है–8.11. इस विषय मे बृहदा० 1 15 20 भी देखने योग्य है।
2 कठोपनिषद् 1 3.10–11

विज्ञान का लक्ष्य भी आनन्द ही है, अत इसमे कोई आश्चर्य की बात नही कि, विचारको ने आनन्दात्मा को विज्ञानात्मा का अन्तरात्मा स्वीकार किया[1]। पुनश्च, मनुष्य मे दो भावनाएँ हैं—दार्शनिक और धार्मिक। दार्शनिक विज्ञानात्मा को मुख्य मानते हैं, किन्तु दार्शनिको के अन्तर मे ही स्थित धार्मिक-आत्मा आनन्दात्मा की कल्पना कर सन्तोष का अनुभव करे, तो यह कोई नई या आश्चर्य की बात नही[2]।

(6) पुरुष, चेतन आत्मा–चिदात्मा–ब्रह्म

विचारको ने आत्मा के विषय मे अन्नमय आत्मा से लेकर आनन्दात्मा पर्यन्त प्रगति की, किन्तु उनकी यह प्रगति अभी तक आत्म-तत्त्व के भिन्न-भिन्न आवरणो को आत्मा समझ कर ही हो रही थी। इन सब आत्माओ की भी जो मूल-रूप आत्मा थी, उसका अन्वेषण अभी बाकी था। जब उस आत्मा की शोध होने लगी, तब यह कहा जाने लगा कि, अन्नमय आत्मा जिसे शरीर भी कहा जाता है, रथ के समान है, उसे चलाने वाला रथी ही वास्तविक आत्मा है[3]। आत्मा से रहित शरीर कुछ भी करने में असमर्थ है। शरीर की सचालक शक्ति ही आत्मा है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट कर दी गई कि शरीर और आत्मा ये दोनो तत्त्व पृथक् हैं। आत्मा से स्वतन्त्र होकर प्राण कुछ भी क्रिया नही करता। आत्मा प्राण का भी प्राण[4] है। प्रश्नोपनिषद् मे लिखा है कि, प्राण का जन्म आत्मा से ही होता है। मनुष्य की छाया का आधार स्वय मनुष्य है, उसी प्रकार प्राण आत्मा पर अवलम्बित[5] है। इस प्रकार प्राण और आत्मा का भेद सामने आया।

केनोपनिषद्[6] मे यह सूचित किया गया है कि, यह आत्मा इन्द्रिय और मन से भी भिन्न है। वहाँ बताया गया है कि इन्द्रियाँ और मन ब्रह्म-आत्मा के बिना कुछ भी करने मे असमर्थ हैं। आत्मा का अस्तित्व होने पर ही चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मन अपना-अपना कार्य करते हैं। जिस प्रकार विज्ञानात्मा की अन्तरात्मा आनन्दात्मा है, उसी प्रकार आनन्दात्मा की अन्तरात्मा सत्रूप ब्रह्म है। इस बात का प्रतिपादन करके विज्ञान और आनन्द से भी परे ऐसे ब्रह्म की कल्पना[7] की गई।

ब्रह्म और आत्मा पृथक्-पृथक् नही है, किन्तु एक ही तत्त्व के दो नाम है[8]। इसी आत्मा को समस्त तत्त्वो से परे ऐसा पुरुष भी माना गया है और सब भूतो मे गूढात्मा भी कहा

---

1 तैत्तिरीय 2,5

2 Nature of Consciousness in Hindu Philosophy p 29.

3. छागलेय उपनिषत् का सार देखें–History of Indian-Philosophy, vol 2, p 131 मैत्रेयी उपनिषद् 2 3.4, कठोपनिषद् 1 3 3

4. केनोपनिषद् 1–2.

5 प्रश्नोपनिषद् 3–3

6. केनोपनिषद् 1 4–6

7. तैत्तिरीय 2–6.

8 सर्वं हि एतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म–माण्डुक्य 2; बृहदा० 2–5–19.

गया है[1]। कठोपनिषद् मे वुद्धि-विज्ञान को प्राकृत-जड वताया गया है। अत यह वात स्वाभाविक है कि, विज्ञानात्मा की कल्पना से विचारक सन्तुष्ट न हो, अत उससे भी आगे चिदात्मा-पुरुप-चेतन आत्मा की शोध आवश्यक थी और वह ब्रह्म अथवा चेतनात्मा की कल्पना से पूर्ण हुई। इस प्रकार चिन्तको ने अभौतिक तत्त्व के रूप मे आत्मा का निश्चय किया। इस क्रम से भूत से लेकर चेतन तक की आत्म-विचारणा की उत्क्रान्ति का इतिहास यहाँ पूर्ण हो जाता है।

विज्ञानात्मा का वर्णन करते हुए पहले यह लिखा जा चुका है कि, उसे स्वत प्रकाशित नही माना गया। सुप्तावस्था मे वह अचेतन हो जाता है। वह स्वप्रकाशक नही है, किन्तु इस पुरुप-चेतन आत्मा अथवा चिदात्मा के विषय मे यह वात नही है। वह स्वय प्रकाश-स्वरूप है, स्वत प्रकाशित होता है[2]। वह विज्ञान का भी अन्तर्यामी है[3]। इस सर्वान्तरात्मा के विषय मे कहा गया है कि, "वह साक्षात् है, अपरोक्ष है, प्राण का ग्रहण करने वाला वही है, आँख का देखने वाला वही है, कान का सुनने वाला वही है, मन का विचार करने वाला वही है, ज्ञान का जानने वाला वही है[4]। यही द्रष्टा है, यही श्रोता है, यही मनन करने वाला है, यही विज्ञाता[5] है। यह नित्य चिन्मात्र रूप है, सर्व प्रकाश रूप है, चिन्मात्र ज्योति-स्वरूप है[6]।"

इस पुरुप अथवा चिदात्मा को अजर, अक्षर, अमृत, अमर, अव्यय, अज, नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अनन्त माना गया है[7]। इस विषय मे कठोपनिषद् (1–3–15) मे लिखा है कि, "वह अशव्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्धवत्, अनादि, अनन्त, महत् तत्त्व से पर, ध्रुव ऐसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर मनुप्य मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है।"

(7) भगवान् वुद्ध का अनात्म-वाद

हम यह देख चुके है कि विचारक सवसे पहले वाह्य दृष्टि से ग्राह्य भूत को ही मौलिक तत्त्व मानते थे, किन्तु कालक्रम से उन्होने आत्मतत्त्व को स्वीकार किया। वह तत्त्व इन्द्रिय-ग्राह्य न होकर अतीन्द्रिय था। जव उन्हे इस प्रकार के अतीन्द्रिय तत्त्व का वोध हुआ, तव यह स्वाभाविक था कि वे उस के स्वरूप के सम्वन्ध मे विचार करने लगें। जिस समय प्राण, मन, और प्रज्ञा से भी पर आत्मा की कल्पना का जन्म हुआ, तव चिन्तको के समक्ष नये-नये प्रश्न उपस्थित होने लगे। प्राण, मन और प्रज्ञा ऐसे पदार्थ थे जिन का ज्ञान सरल था, किन्तु आत्मा तो इन सव से पर माना गया। अत उस का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जाए ? वह कैसा है ? उस का स्वरूप क्या है ? ये प्रश्न उठे। वास्तविक आत्म-विद्या का श्रीगणेश इसी समय हुआ और लोगो को इस विद्या का ऐसा व्यसन लगा कि उन्होने आत्मा की शोध मे ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझी। उन्हे आत्म-सुख की अपेक्षा इस ससार के भोग अथवा स्वर्ग के सुख

---

1. कठोपनिषद् 1 3 10–12
2. वृहदा० 4 3 6 तथा 9 विज्ञानात्मा व प्रज्ञानघन (वृहदा० 4–5–13) आत्मा मे अन्तर है। पहला प्राकृत है जव कि, दूसरा पुरुप-चेतन है।
3. वृहदा 3–7–22
4. वृहदा० 3.4 1–2
5. वृहदा० 37 23, 3.8 11
6. मैत्र्युपनिषद् 3-16-21.
7. कठ 3-2, वृहदा० 4-4-20, 3-8-8, 4-4-25, श्वेता० 1–9 इत्यादि।

तुच्छ प्रतीत हुए और उन्होने त्याग एव तपश्चर्या की कठिन यातनाओ को सहर्ष सहन किया[1]। नचिकेता जैसे बालक भी मृत्यु के उपरान्त आत्मा की दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए इतने उत्सुक हो गए कि उन्हे ऐहिक अथवा स्वर्ग के सुख-साधन हेय दिखाई दिए। मैत्रेयी[2] जैसी महिलाएँ अपने पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार लेने की अपेक्षा आत्मविद्या की शोध मे तल्लीन हो गई और पतिदेव से कहने लगी कि, जिसे पाकर मैं अमर नही हो सकती, उसे लेकर क्या करू ? अत भगवन् ! यदि आप अमर होने का उपाय जानते है तो मुझे बताइए। कुछ लोग तो पुकार-पुकार कर कहने लगे कि, जिसमे द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी तथा सर्व प्राणो सहित मन ओत-प्रोत है, ऐसे एक-मात्र आत्मा का ही ज्ञान प्राप्त करो, शेष सब झझट छोड दो। अमरता प्राप्त करने के लिए यह आत्मा सेतु के समान है[3]। याज्ञवल्क्य तो सब से आगे बढ कर यह घोषणा करते हैं कि, पति, पत्नी, पुत्र, धन, पशु ये सब चीजें आत्मा के निमित्त ही प्रिय मालूम होती है, अत इस आत्मा को ही देखना चाहिए, उस के विषय मे ही सुनना चाहिए, विचार करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए, ऐसा करने से सब कुछ ज्ञात हो जाएगा[4]।

इस प्रवृत्ति का एक शुभ फल यह हुआ कि विचारको के मन मे वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति विरोध की भावना जागरित हो गई, किन्तु आत्म-विद्या का भी अतिरेक हुआ और अतीन्द्रिय आत्मा के विषय मे प्रत्येक व्यक्ति मनमानी कल्पना करने लगा। ऐसी परिस्थिति मे औपनिषद्-आत्मविद्या के विषय मे प्रतिक्रिया का सूत्रपात होना स्वाभाविक था। भगवान् बुद्ध के उपदेशो मे हमे वही प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होती है। सभी उपनिषदो का अन्तिम निष्कर्ष तो यही है कि, विश्व के मूल मे मात्र एक ही शाश्वत आत्मा-ब्रह्म-तत्त्व है और इसे छोड कर अन्य कुछ भी नही है। उपनिषत् के ऋषियो ने अन्त मे यहाँ तक कह दिया कि, अद्वैत तत्त्व के होते हुए भी जो व्यक्ति ससार मे भेद की कल्पना करते है वे अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देते हैं[5]। इस प्रकार उस समय आत्मवाद की भीषण बाढ आई थी, अत उस बाढ को रोकने के लिए बाँध बाँधने का काम भगवान् बुद्ध ने किया। इस कार्य मे उन्हे स्थायी सफलता कितनी मिली, यह एक पृथक् प्रश्न है। हमे केवल यह बताना है कि, भगवान् बुद्ध ने उस बाढ को अनात्मवाद की ओर मोडने का भरसक प्रयत्न किया।

जब हम यह कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश दिया, तब उसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि, उन्होने आत्मा जैसे पदार्थ का सर्वथा निषेध किया है। उस निषेध का अभिप्राय इतना ही है कि, उपनिषदो मे जिस प्रकार के शाश्वत अद्वैत आत्मा का

---

1 कठोपनिषद् 1 1, 23-29.
2. बृहदा० 2-4-3
3. मुण्डक 2-2-5
4 बृहदा० 4-5-6
5. मनसैवानुद्रष्टव्य नेह नानास्ति किंचन। मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। बृहदा० 4 4 19, कठ 4,11

प्रतिपादन किया गया है और उसे विश्व का एक-मात्र मौलिक तत्त्व माना गया है, भगवान् बुद्ध ने उसका विरोध किया।

उपनिषत् के पूर्वोक्त भूतवादी और दार्शनिक सूत्र-काल के नास्तिक अथवा चार्वाक भी अनात्मवादी है और भगवान् बुद्ध भी अनात्मवादी है। दोनो इस बात से सहमत हैं कि, आत्मा एक सर्वथा स्वतन्त्र द्रव्य नही है और वह नित्य या शाश्वत भी नही है। अर्थात् दोनो के मत मे आत्मा एक उत्पन्न होने वाली वस्तु है। किन्तु चार्वाक और भगवान् बुद्ध मे मत-भेद यह है कि, भगवान् बुद्ध यह स्वीकार करते हैं कि, पुद्गल, आत्मा, जीव, चित्त, नाम की एक स्वतन्त्र वस्तु है, जबकि भूतवादी उसे चार या पाँच भूतो से उत्पन्न होने वाली एक परतन्त्र वस्तु मात्र मानते हैं। भगवान् बुद्ध भी जीव, पुद्गल अथवा चित्त को अनेक कारणो द्वारा उत्पन्न तो मानते है और इस अर्थ मे वह परतन्त्र भी है। किन्तु इस उत्पत्ति के जो कारण हैं उनमे विज्ञान और विज्ञानेतर दोनो प्रकार के कारण विद्यमान होते हैं, जबकि चार्वाक मत मे चैतन्य की उत्पत्ति मे चैतन्य से व्यतिरिक्त भूत ही कारण हैं, चैतन्य कारण है ही नही। तात्पर्य यह है कि, भूतो के समान विज्ञान भी एक मूल तत्त्व है जो जन्य और अनित्य है। यह भगवान् बुद्ध की मान्यता है और चार्वाक भूतो को ही मूल तत्त्व मानते हैं। बुद्ध चैतन्य-विज्ञान की सन्तति-धारा को अनादि मानते हैं किन्तु चार्वाक-मत मे चैतन्य-धारा जैसी कोई चीज नहीं है। नदी का प्रवाह धाराबद्ध जलबिन्दुओ द्वारा निर्मित होता है और उसमे एकता की प्रतीति होती है। उसी प्रकार विज्ञान की सन्तति-परम्परा से विज्ञान-धारा का निर्माण होता है और उसमे भी एकत्व की झलक नजर आती है। वस्तुत. जल-बिन्दुओ के समान ही प्रत्येक देश और काल मे विज्ञान-क्षण भिन्न ही होते हैं। ऐसी विज्ञान-धारा भगवान् बुद्ध को मान्य थी, किन्तु चार्वाक उसे भी स्वीकार नही करते।

भगवान् बुद्ध ने रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार व विज्ञान, चक्षु आदि इन्द्रियाँ, उनके विषय, उनमे होने वाले ज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान इन सब पर एक-एक करके विचार किया है और सब को अनित्य, दु ख एव अनात्म घोषित किया है। इन सब के सम्बन्ध मे वे प्रश्न करते कि, ये नित्य हैं अथवा अनित्य ? उन्हे उत्तर दिया जाता कि, ये अनित्य हैं। वे पुन पूछते कि, यदि अनित्य हैं तो सुखरूप है अथवा दु खरूप ? उत्तर मिलता कि, ये दु ख-रूप हैं। वे फिर पूछने लगते कि, जो वस्तु अनित्य हो, दु ख हो, विपरिणामी हो, क्या उसके विषय मे 'यह मेरी है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है' ऐसे विकल्प किए जा सकते है ? उत्तर मे नकारात्मक ध्वनि सुनाई देती। इस प्रकार वे श्रोताओ को इस बात का विश्वास करा देते कि, सब कुछ अनात्म है, आत्मा जैसी वस्तु ढूंढने पर भी नही मिलती[1]।

भगवान् बुद्ध ने रूपादि सभी वस्तुओ को जन्य माना है और यह व्याप्ति बनाई है कि, जो जन्य है, उसका निरोध आवश्यक[2] है। अत बुद्ध-मत मे अनादि अनन्त आत्म-तत्त्व का

1. सयुत्तनिकाय 12.70.32-37, दीघनिकाय-महानिदान सुत्त 15, विनयपिटक-महावग्ग 1.6. 38-46.

2. 'य किंचि समुदयधम्म सब्बं त निरोधधम्म'—महावग्ग 1.6 29, 'सब्बे सखारा अनिच्चा-दुक्खा-अनत्ता' अगुत्तरनिकाय तिकनिपात 134

स्थान नही है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति इस वात के लिये उत्सुक हो कि, पूर्वोक्त मनोमय आत्मा के साथ वौद्ध-सम्मत पुद्गल अर्थात् देहधारी जीव जिसे चित्त भी कहा गया है, की तुलना की जाए। किन्तु वस्तुत इन दोनो मे भेद है। वौद्ध-मत मे मन को अन्त करण माना गया है और इन्द्रियो की भाँति चित्तोत्पाद मे यह भी एक कारण है। अत मनोमय आत्मा से उसकी तुलना शक्य नही है, परन्तु विज्ञानात्मा से उसकी आशिक तुलना सम्भव है। विज्ञानात्मा सतत जागरित नही होता, न ही सतत सवेदक होता है। मगर सुप्तावस्था मे अथवा मृत्यु के समय मे वह लीन हो जाता है और वाद मे पुन सवेदक वन जाता है। पुद्गल के विषय मे भी यही वात कही जा सकती है। सुप्तावस्था अथवा मृत्यु के समय उसका भी निरोध होता है। इस तुलना को आँशिक इसलिए कहा गया है कि, विज्ञानात्मा ही पुन जागरित होता है, यह वात मानली गई थी। किन्तु वुद्ध ने तो जागरित होने वाले पुद्गल अथवा मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न होने वाले पुद्गल के विषय मे यह 'वही है' या 'भिन्न है' इन दोनो विधानो मे से किसी को भी उचित स्वीकार नहीं किया। यदि वे यह कहे कि, उन्ही पुद्गलो ने पुन जन्म ग्रहण किया तो उपनिषत् सम्मत शाश्वतवाद का समर्थन हो जाता है जो कि उन्हे अभीष्ट नही है और यदि वे यह वात कहे कि 'भिन्न है' तो भौतिकवादियो के उच्छेदवाद को समर्थन प्राप्त होता है, वह भी वुद्ध के लिए इष्ट नही। अत वुद्ध केवल इतना ही प्रतिपादन करते हैं कि, प्रथम चित्त था, इसीलिए दूसरा उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होने वाला वही नही है और उससे भिन्न भी नही है किन्तु वह उसकी धारा मे ही है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि, वुद्ध का उपदेश था कि, जन्म, जरा, मरण आदि किसी स्थायी ध्रुव जीव के नही होते किन्तु वे सब अमुक कारणो से उत्पन्न होते है। वुद्ध-मत मे जन्म, जरा, मरण इन सव का अस्तित्व तो है, किन्तु वौद्ध यह स्वीकार नही करते कि, इन सवका कोई स्थायी आधार[1] भी है। तात्पर्य यह है कि, वुद्ध को जहाँ चार्वाक का देहात्मवाद अमान्य है वहाँ उपनिषत्-सम्मत सर्वान्तिर्यामी, नित्य, ध्रुव, शाश्वत-स्वरूप आत्मा भी अमान्य है। उनके मत मे आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न भी नही है और शरीर से अभिन्न भी नही है। उन्हें चार्वाक-सम्मत भौतिकवाद एकान्त प्रतीत होता है और उपनिपदो का कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त दिखाई देता है। उनका मार्ग तो मध्यम मार्ग है जिसे वे 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद'—अमुक वस्तु की अपेक्षा से अमुक वस्तु उत्पन्न हुई, कहते हैं। वह वाद न तो शाश्वतवाद है और न ही उच्छेदवाद, उसे अशाश्वतानुच्छेदवाद का नाम दिया जा सकता है।

वुद्धमत के अनुसार ससार मे सुख-दु ख आदि अवस्थाएँ हैं, कर्म है, जन्म है, मरण है, वन्ध है, मुक्ति भी है—ये सव कुछ है, किन्तु इन सवका कोई स्थिर आधार नही है, नित-तत्र नही है। ये समस्त अवस्थाएँ अपने पूर्ववर्ती कारणो से उत्पन्न होती रहती हैं और एक नवीन कार्य को उत्पन्न करके नष्ट होती रहती है। इस प्रकार ससार का चक्र चलता रहता है। पूर्व का सर्वथा उच्छेद अथवा उसका ध्रौव्य दोनो ही उन्हें मान्य नही हैं। उत्तरावस्था पूर्वावस्था से नितान्त असम्वद्ध है, अपूर्व है, यह वात स्वीकार नही की जा सकती, क्योकि दोनो कार्य-कारण

---

1 सयुत्तनिकाय 12-36, अगुत्तरनिकाय 3, दीघनिकाय व्रह्मजालसुत्त, सयुत्तनिकाय 12 17,24, विसुद्धिमग्ग 17 161-174.

की शृ खला मे वद्ध है। पूर्वावस्था के सब सस्कार उत्तरावस्था मे आ जाते है, अत इस समय जो पूर्व है वही उत्तर रूप मे अस्तित्व मे आता हे। उत्तर पूर्व से न तो सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न, किन्तु वह अव्याकृत है। भिन्न मानने से उच्छेदवाद और अभिन्न कहने से शाश्वतवाद मानना पडता है। भगवान् वुद्ध को ये दोनो ही वाद इष्ट नही थे, अत ऐसे विपयो के सम्वन्ध मे उन्होने अव्याकृतवाद की शरण ली[1]।

वुद्धघोप ने इसी विपय को पौराणिको का वचन कह कर प्रतिपादित किया है —

कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सन ॥
एवं कम्मे विपाके च वत्तमाने सहेतुके।
वीजरुक्खाकान व पुव्वा कोटि न नायति ॥
अनागते पि ससारे अप्पवत्तं न दिस्सति।
एतमत्थं अनञ्ञाय तित्थिया असयवसी ॥
सत्तसञ्ञ गहेत्वान सस्सतुच्छेददस्सिनो।
द्वासट्ठिदिट्ठि गण्हन्ति अञ्ञमञ्ञ विरोधिता ॥
दिट्ठिवन्धन–वद्धा ते तण्हासोतेन वुय्हरे।
तण्हासोतेन–वुय्हन्ता न ते दुक्खा पमुच्चरे ॥
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु वुद्धस्स सावको।
गम्भीर निपुण सुञ्ञ पच्चय पटिविज्झति ॥
कम्मं नत्थि विपाकम्हि पाको कम्मे न विज्जति।
अञ्ञमञ्ञं उभो सुञ्ञा न च कम्म विना फलं ॥
यथा न सुरिये अग्गि न मणिम्हि न गोमये।
न तेसि वहि सो अत्थि सम्भारेहि च जायति ॥
तथा न अन्ते कम्मस्स विपाको उपलब्भति।
वहिद्धावि न कम्मस्स न कम्मं तत्थ विज्जति ॥
फलेन सुञ्ञ त कम्मं फलं कम्मे न विज्जति।
कम्मं च खो उपादाय ततो निव्वत्तती फलं ॥
न हेत्थ देवो व्रह्मा वा ससारस्सत्थिकारको।
सुद्धधम्मा पवत्तंति हेतुसंभारपच्चया ॥

इसका तात्पर्य यह है कि –

कर्म को करने वाला कोई नही है, विपाक (कर्म के फल) का अनुभव करने वाला कोई नही है, किन्तु शुद्ध धर्मों की ही प्रवृत्ति होती है, यही सम्यग्दर्शन है।

---

1 न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना देखे—पृष्ठ 6, मिलिन्दप्रश्न 2.25-33, पृष्ठ 41-52.

इस प्रकार कर्म और विपाक अपने-अपने हेतुओ पर आश्रित होकर प्रवृत्त होते हैं। उनमें पहला स्थान किसका है, यह वीज और वृक्ष के प्रश्न की भाँति नहीं वताया जा सकता। अर्थात् वीज और वृक्ष के समान कर्म एव विपाक अनादि-काल से एक दूसरे पर आश्रित चले आ रहे हैं।

पुनश्च, यह भी नही कहा जा सकता कि कर्म और विपाक की यह परम्परा कब निरुद्ध होगी। इस बात को न जानने से तैर्थिक पराधीन होते है।

तत्त्व-जीव के विषय मे कुछ लोग शाश्वतवाद का और कुछ उच्छेदवाद का अवलम्बन लेते हैं और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण अपनाते है।

भिन्न-भिन्न दृष्टियो के बन्धन मे वद्ध होकर वे तृष्णारूपी स्रोत मे फँस जाते हैं और उसमे फँस जाने के कारण वे दुःख से मुक्त नही हो सकते।

इस तत्त्व को समझ कर वुद्ध-श्रावक गम्भीर, निपुण और शून्यरूप प्रत्यय का ज्ञान प्राप्त करता है।

विपाक मे कर्म नही है और कर्म मे विपाक नही है, ये दोनो एक दूसरे से रहित है, फिर भी कर्म के विना फल या विपाक होता ही नही।

जिस प्रकार सूर्य मे अग्नि नही है, मणि मे नही है, उपलो (गोवर) मे भी नही है और वह इनसे भिन्न पदार्थों मे भी नही है, किन्तु जब इन सबका समुदाय होता है तब वह उत्पन्न होती है उसी प्रकार कर्म का विपाक कर्म मे उपलब्ध नही होता और कर्म के बाहर भी नहीं मिलता तथा विपाक मे भी कर्म नही है। इस प्रकार कर्म फलशून्य है, कर्म मे फल का अभाव है, फिर भी कर्म के आधार पर ही फल मिलता है।

कोई देव या व्रह्म इस ससार का कर्त्ता नही है। हेतु समुदाय का आश्रय ले कर शुद्ध धर्मो की ही प्रवृत्ति होती है। विशुद्धिमार्ग 19 0

भदन्त नागसेन ने रथ की उपमा देकर वताया है कि, पुद्गल का अस्तित्व केश, दान्त आदि शरीर के अवयवो तथा रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान इन सब की अपेक्षा से है, किन्तु कोई पारमार्थिक तत्त्व नही। मिलिन्दप्रश्न 2 4 सू० 298

स्वय वुद्ध घोष ने भी कहा है:-

यथेव चक्खुविञ्ञाण मनोधातु अनन्तरं।
न चेव आगत नापि न निब्बत अनन्तर॥
तथेव परिसधिम्हि वत्तते चित्तसतति।
पुरिमं भिज्जति चित्त पच्छिम जायते ततो॥

जिस प्रकार मनोधातु के पश्चात् चक्षुविज्ञान होता है-वह कहीं से आया तो नहीं, फिर भी यह वात नही कि वह उत्पन्न नही हुआ, उसी प्रकार जन्मान्तर मे चित्त-सन्तति के विषय मे समझना चाहिए कि, पूर्व-चित्त का नाश हुआ है और उस से नये चित्त की उत्पत्ति हुई है। विशुद्धिमार्ग 19 23

भगवान् वुद्ध ने इस पुद्गल को क्षणिक और नाना-अनेक कहा है। यह चेतन तो है किन्तु मात्र चेतन ही है, ऐसी वात नही। वह नाम और रूप इन दोनो का समुदाय रूप है,

अर्थात् उसे भौतिक और अभौतिक का मिश्र रूप कहना चाहिए। इस प्रकार बौद्ध-सम्मत पुद्गल उपनिषत् की भान्ति केवल चेतन अथवा भौतिक-वादियो की मान्यता के समान केवल अचेतन नही है। इस विषय मे भी भगवान् बुद्ध का मध्यम मार्ग है। मिलिन्दप्रश्न 2.3०, विशुद्धिमार्ग 18 25-35, सयुक्तनिकाय 1 135

(8) दार्शनिको का आत्मवाद

उपनिषत् काल के पश्चात् भारतीय विविध वैदिक-दर्शनो की व्यवस्था हुई है, अतः अब इस विषय का निर्देश करना भी आवश्यक है। उपनिषद् चाहे दीर्घ-काल की विचार-परम्परा को व्यक्त करते हो, किन्तु उनमे एक सूत्र सामान्य है। भूतवाद की प्रधानता मानी जाय या आत्मवाद की, किन्तु यह वात निश्चित है कि विश्व के मूल मे किसी एक ही वस्तु की सत्ता है, अनेक वस्तुओ की नही। यह एक-सूत्रता समस्त उपनिषदो मे दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद (10 129) मे उसे 'तदेक' कहा गया था, किंतु उसका नाम नहीं वताया गया था। ब्राह्मणकाल मे उस एक तत्त्व को प्रजापति की सज्ञा दी गई। उपनिषदो मे उसे सत्, असत्, आकाश, जल, वायु, प्राण, मन, प्रज्ञा, आत्मा, ब्रह्म आदि विविध नामो से प्रकट किया गया, किन्तु उनमे विश्व के मूल मे अनेक तत्त्वो को स्वीकार करने वाली विचारधारा को स्थान नही मिला। जव दार्शनिक-सूत्रो की रचना हुई, तव वेदान्त-दर्शन के अतिरिक्त किसी भी भारतीय वैदिक अथवा अवैदिक दर्शन मे अद्वैतवाद को आश्रय मिला हो, यह ज्ञात नही होता। अतः हमें यह स्वीकार करना पडेगा कि चाहे उपनिपदो के पहले की अवैदिक-परम्परा का साहित्य उपलब्ध न हुआ हो, परन्तु अद्वैत-विरोधि परम्परा का अस्तित्व अति प्राचीन काल मे अवश्य था। इस परम्परा के अस्तित्व के आधार पर ही वेद व ब्राह्मण-ग्रन्थो मे प्रतिपादित वैदिक कर्म-काण्ड के स्थान पर स्वय वेदानुयायिओ (वैदिको) ने भी ज्ञान-मार्ग और आध्यात्मिक-मार्ग को ग्रहण किया और इसी परम्परा की विद्यमानता के कारण वैदिक-दर्शनो ने अद्वैत-मार्ग को त्याग कर द्वैत-मार्ग अथवा वहुतत्त्ववादी-परम्परा को स्थान दिया। वेद-विरोधी श्रमण-परम्परा मे जैन परम्परा, आजीवक-परम्परा, वौद्ध-परम्परा, चार्वाक-परम्परा आदि अनेक परम्पराएँ अस्तित्व मे आई किंतु वर्तमानकाल मे जैन और बौद्ध-परम्परा ही विद्यमान हैं। हम यह देख चुके हैं कि, अद्वैत चेतन आत्मा अथवा ब्रह्म तत्त्व को स्वीकार कर उपनिषद् विचारधारा पराकाष्ठा को पहुँची। किंतु वैदिक-दर्शनो मे न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग और पूर्व मीमामा केवल अद्वैत आत्मा को ही नही अपितु जड-चेतन दोनो प्रकार के तत्त्वो को मौलिक मानते है। यही नही, उन्होने आत्म-तत्त्व को भी एक न मान कर वहुसख्यक स्वीकार किया है। उक्त सभी दर्शनो ने आत्मा को उपनिषदो की भाँति चेतन प्रतिपादित किया है, अर्थात् आत्मा को उन्होने भौतिक नही माना है।

(9) जैन मत

इन सब वैदिक-दर्शनो के समान जैन-दर्शन मे भी आत्मा को चेतन तत्त्व स्वीकार किया गया है और उसे अनेक माना गया है, किन्तु यह चेतन तत्त्व अपनी संसारी अवस्था मे बौद्ध-दर्शन के पुद्गल के समान मूर्त्तामूर्त्त है। वह ज्ञानादि गुण की अपेक्षा से अमूर्त्त है और कर्म

के साथ सम्बन्धित होने के कारण मूर्त है। इसके विपरीत अन्य सब दर्शनो ने चेतन को अमूर्त माना है।

उपसंहार

समस्त भारतीय दर्शनो ने यह निष्कर्ष स्वीकार किया है कि आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। नास्तिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध चार्वाक-दर्शन ने भी आत्मा को चेतन ही कहा है। उसमे और दूसरे दर्शनो मे मतभेद यह है कि, चार्वाक के अनुसार आत्मा चेतन होते हुए भी शाश्वत तत्त्व नही, वह भूतो से उत्पन्न होता है। बौद्ध भी चेतन तत्त्व को अन्य दर्शनो की भाँति नित्य नही मानते, अपितु चार्वाको के समान जन्य मानते हैं। फिर भी बौद्धो और चार्वाको मे एक महत्वपूर्ण भेद है। बौद्धो की मान्यता के अनुसार चेतन तो जन्य है परन्तु चेतन-सन्तति अनादि है। चार्वाक प्रत्येक जन्य चेतन को सर्वथा भिन्न या अपूर्व ही मानते हैं। बौद्ध प्रत्येक जन्य चैतन्य-क्षण के पूर्व-जनक क्षण से सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न होने का निषेध करते है। बौद्ध-दर्शन मे चार्वाक का उच्छेदवाद किंवा उपनिषदो और अन्य दर्शनो का आत्म शाश्वतवाद मान्य नह ही, अत वे आत्म-सन्तति को अनादि मानते हैं, आत्मा को अनादि नही मानते। साख्य-योग न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमासा, उत्तर मीमासा और जैन ये समस्त दर्शन आत्मा को अनादि स्वीकार करते हैं, परन्तु जैन और पूर्व मीमासा दर्शन का भाट्ट-सम्प्रदाय आत्मा को परिणामी नित्य मानते हैं। शेष सभी दर्शन उसे कूटस्थ नित्य मानते है।

आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने वाले, उसमे किसी भी प्रकार के परिणाम का निषेध करने वाले, ससार और मोक्ष को तो मानते ही है और आत्मा को परिणामी नित्य मानने वाले भी ससार व मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार करते है, अत आत्मा को कूटस्थ या परिणामी मानने पर भी ससार और मोक्ष के विषय मे किसी भी प्रकार का मत-भेद नही है। वे दोनो हैं ही। यह एक अलग प्रश्न है कि उन दोनो की उपपत्ति कैसे की जाए।

आत्मा के सामान्य स्वरूप चैतन्य का विचार करने के उपरान्त उसके विशेष स्वरूप का विचार करना अब सरल है।

3 जीव अनेक हैं

इस ग्रन्थ मे (गा० 1581–85) यह पक्ष स्वीकार किया गया है कि जीव अनेक है और 'आत्माद्वैत' अर्थात् 'आत्मा एक ही है', इस पक्ष का निराकरण किया गया है। हम यह देख चुके हैं कि वेद से लेकर उपनिषदो तक की विचारधारा मे मुख्यत अद्वैत पक्ष का ही अवलम्बन लिया गया है, अत उपनिषदो के आधार पर जब ब्रह्म-सूत्र मे वेदान्त-दर्शन की व्यवस्था की गई, तब भी उसमे अद्वैत के सिद्धान्त को ही पुष्ट किया गया। किन्तु ससार मे जो अनेक जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनका निषेध करना सरल नही था, अत हम देखते है कि कि तत्त्वत एक आत्मा मानकर भी उस एक अद्वैत आत्मा अथवा ब्रह्म के साथ ससार मे प्रत्यक्ष दृग्गोचर होने वाले अनेक जीवो का क्या सम्बन्ध है, इस बात की व्याख्या करना आवश्यक था। ब्रह्म-सूत्र के टीकाकारो ने यह स्पष्टीकरण किया भी है, किन्तु इसमे एक मत स्थिर नही हो सका, अत व्याख्या-भेद के कारण वेदान्त-दर्शन की अनेक परम्पराएँ बन गई हैं।

वेदान्त-दर्शन के समान अन्य भी वैदिक-दर्शन हैं किन्तु उन्होने वेदान्त की भाँति उपनिषदो को ही आधारभूत मानकर अपने दर्शन की रचना नही की। रूढि के कारण शास्त्र अथवा आगम के स्थान पर वेद और उपनिषदो को मानते हुए भी उन दर्शनो मे उपनिषदो के अद्वैत पक्ष को आदर नही मिला, परन्तु वहाँ वेदेतर जैन-दर्शन के समान आत्मा को तत्त्वतः अनेक माना गया है। ऐसे वैदिक दर्शन न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व मीमासा हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ मे इस द्वितीय पक्ष को ही महत्त्व देकर जीव को नाना या अनेक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। यह पक्ष जैनो को भी मान्य है।

वेदान्त पक्ष और वेद न्तेतर पक्ष मे मौलिक भेद यह है कि, वेदान्त-मत मे एक आत्मा ही मौलिक तत्त्व है और ससार मे दिखाई देने वाली अनेक आत्माएँ उस एक मौलिक आत्मा के ही कारण से है, वे सब स्वतन्त्र नही हैं। इसके विपरीत इतर पक्ष का कथन है कि, ससार मे दृष्टिगोचर होने वाली अनेक आत्माओ मे प्रत्येक स्वतन्त्र आत्मा है, वे अपने अस्तित्व के लिए तत्त्वत. किसी अन्य आत्मा पर आश्रित नही हैं।

वेद और उपनिषदो के अनुयायिओ को इन ग्रन्थो की विचार-धारा स्वीकार करनी चाहिए अर्थात् अद्वैत पक्ष को मान्यता देनी चाहिए, किन्तु वेदान्त के अतिरिक्त अन्य वैदिक-दर्शन ऐसा नही करते। उन्होने तत्त्वत अनेक आत्माएँ स्वीकार की, इससे उन पर वेद-बाह्य विचार-धारा का प्रभाव सूचित होता है। इसमे आश्चर्य नही कि प्राचीन सांख्य-परम्परा और जैन-परम्परा ने इस विषय मे मुख्य भाग लिया होगा। इतिहासकार इस तथ्य से अच्छी तरह से परिचित है कि प्राचीन काल मे सांख्य भी अवैदिक दर्शन माना जाता था परन्तु बाद मे उसे वैदिक रूप दे दिया गया।

इस प्रासंगिक चर्चा के उपरान्त अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि ब्रह्म-सूत्र की व्याख्या करते हुए अद्वैत-ब्रह्म के साथ अनेक जीवो की उपपत्ति करने मे कौन-कौन से मत-भेद हुए।

(अ) वेदान्तियों के मत-भेद[1]

(1) शंकराचार्य का विवर्तवाद

शंकराचार्य का कथन है कि मूल रूप मे ब्रह्म एक होने पर भी अनादि अविद्या के कारण वह अनेक जीवो के रूप मे दृग्गोचर होता है। जैसे अज्ञान के कारण रस्सी मे सर्प की प्रतीति होती है वैसे ही अज्ञान के कारण ब्रह्म मे अनेक जीवो की प्रतीति होती है। रस्सी सर्प रूप मे उत्पन्न नहीं होती, न ही वह सर्प को उत्पन्न करती है, फिर भी उसमे सर्प का भान होता है। इसी प्रकार ब्रह्म अनेक जीवो के रूप मे उत्पन्न नहीं होता, अनेक जीवो को उत्पन्न भी नही करता, तथापि अनेक जीवों के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। इसका कारण अविद्या या माया है,

1. इन मतभेदो का प्रदर्शन श्री गो० ह० भट्ट-कृत ब्रह्मसूत्राणुभाष्य के गुजराती भाषान्तर की प्रस्तावना का मुख्य आधार लेकर किया गया है। उनका आभार मानता हूँ।

अत अनेक जीव माया रूप हैं, मिथ्या हैं। इसीलिए उन्हे ब्रह्म का विवर्त कहा जाता है। यदि जीव का यह अज्ञान दूर हो जाए तो ब्रह्मतादात्म्य की अनुभूति हो, अर्थात् जीव-भाव दूर होकर ब्रह्मभाव का अनुभव हो। शकर के इस मत को 'केवलाद्वैतवाद' इसलिए कहा जाता है कि, वे केवल एक अद्वैत ब्रह्म-आत्मा को ही सत्य मानते है, शेप समस्त पदार्थों को माया-रूप अथवा मिथ्या मानते है। जगत् को मिथ्या स्वीकार करने के कारण उस मत को 'मायावाद' भी कहा गया है जिसका दूसरा नाम 'विवर्तवाद' भी है।

(2) भास्कराचार्य का सत्योपाधिवाद .

भास्कराचार्य यह मानते है कि अनादिकालीन सत्य उपाधि के कारण निरुपाधिक ब्रह्म जीव-रूप मे प्रकट होता है। जिस क्रिया के वश नित्य, शुद्ध, मुक्त, कूटस्थ ब्रह्म मूर्त्त पदार्थों मे प्रवेश कर अनेक जीवो के रूप मे प्रकट होता है और उन जीवो का आधार बनता है, उस क्रिया को 'उपाधि' कहते है। इस उपाधि के सम्बन्ध के कारण ब्रह्म जीव-रूप मे प्रकट होता है, अत यह जीव ब्रह्म का औपाधिक स्वरूप है, यह बात स्वीकार करनी पडती है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म मे वस्तुत अभेद होते हुए भी जो भेद है, वह उपाधि मूलक है, किन्तु जीव ब्रह्म का विकार नहीं है। जब वह निरुपाधिक होता है, उसे ब्रह्म कहते है और सोपाधिक होने पर उसे जीव कहते हैं। ब्रह्म के सोपाधिक रूप अनेक होते है, अत अनेक जीवो की उपपत्ति मे कोई बाधा नही आती। उपाधि को सत्य रूप मानने के कारण और इसी उपाधि से जगत् तथा अनेक जीवो की उपपत्ति सिद्ध करने के कारण भास्कराचार्य के मत को 'सत्योपाधि-वाद कहते हैं। इससे विपरीत शकराचार्य उपाधि को मिथ्या मानते है, उनका मत 'मायावाद' कहलाता है। भास्कराचार्य के मतानुसार ब्रह्म अपनी परिणाम-शक्ति अथवा भोग्यशक्ति के कारण जगत् रूप मे परिणत होता है, अत जगत् सत्य है, मिथ्या नही। इस प्रकार भास्कराचार्य ने जगत् के सम्बन्ध मे शकराचार्य के विवर्तवाद के स्थान पर प्राचीन परिणामवाद का समर्थन किया और उसके पश्चात् रामानुजाचार्य आदि अन्य आचार्यों ने भी उसी का अनुसरण किया।

(3) रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद

रामानुज के मतानुसार परमात्मा ब्रह्म कारण भी है और कार्य भी। सूक्ष्म चित् तथा अचित् से विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चित् तथा अचित् से विशिष्ट ब्रह्म कार्य है। इन दोनो विशिष्टो का ऐक्य स्वीकृत करने के कारण रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। कारण-रूप ब्रह्म परमात्मा के सूक्ष्म चिद्रूप के विविध स्थूल परिणाम ही अनेक जीव हैं और परमात्मा का सूक्ष्म अचिद्रूप स्थूल जगत् के रूप मे परिणमन करता है। रामानुज के अनुसार जीव अनेक हैं, नित्य हैं और अणु-परिमाण है। जीव और जगत् दोनो ही परमात्मा के कार्य-परिणाम हैं, अत वे मिथ्या नही प्रत्युत सत्य हैं। मुक्ति मे जीव परमात्मा के समान होकर उस के ही निकट रहता है। रामानुज की मान्यता है कि, जीव और परमात्मा दोनो पृथक् हैं, एक कारण है और दूसरा कार्य, किन्तु कार्य कारण का ही परिणाम है, अत इन दोनो मे अद्वैत है।

(4) निम्बार्क-सम्मत द्वैताद्वैत–भेदाभेदवाद :

आचार्य निम्बार्क के मत मे परमात्मा के दो स्वरूप है चित् और अचित्। ये दोनो ही परमात्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी। जिस प्रकार वृक्ष और उसके पत्र, दीपक और उसके प्रकाश मे भेदाभेद है, उसी प्रकार परमात्मा मे भी चित् और अचित् इन दोनो का भेदाभेद है। जगत् सत्य है, क्योकि यह परमात्मा की शक्ति का परिणाम है। जीव परमात्मा का अश है और अश तथा अशी मे भेदाभेद होता है। ऐसे जीव अनेक है, नित्य है, अणु-परिमाण है। अविद्या और कर्म के कारण जीव के लिए ससार का अस्तित्व है। रामानुज की मान्यता के समान मुक्ति मे भी जीव और परमात्मा मे भेद है, फिर भी जीव अपने को परमात्मा से अभिन्न समझता है।

(5) मध्वाचार्य का भेदवाद :

वेदान्त-दर्शन मे समाविष्ट होने पर भी मध्वाचार्य का दर्शन वस्तुत. अद्वैती न होकर द्वैती ही है। रामानुज आदि आचार्यों ने जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना है, अर्थात् ब्रह्म को उपादान कारण स्वीकार किया है और इस प्रकार अद्वैतवाद की रक्षा की है, किन्तु मध्वाचार्य ने परमात्मा को निमित्त कारण मानकर प्रकृति को उपादान कारण प्रतिपादित किया है। रामानुज आदि आचार्यों ने जीव को भी परमात्मा का ही कार्य, परिणाम, अश आदि माना है और इस प्रकार दोनो मे अभेद बताया है, परन्तु मध्वाचार्य ने अनेक जीव मानकर उन मे परस्पर भेद माना है और साथ ही ईश्वर से भी उन सबका भेद स्वीकार किया है। इस तरह मध्वाचार्य ने समस्त उपनिषदो की अद्वैत-प्रवृत्ति को बदल डाला है। उनके मत मे जीव अनेक है, नित्य है और अणु-परिमाण है। जिस प्रकार ब्रह्म सत्य है, उसी प्रकार जीव भी सत्य है, परन्तु वे परमात्मा के अधीन है।

(6) विज्ञानभिक्षु का अविभागाद्वैत

विज्ञानभिक्षु का मत है कि, प्रकृति और पुरुष (जीव) ये दोनो ब्रह्म से भिन्न होकर विभक्त नही रह सकते, किन्तु वे उसमे अन्तर्हित–गुप्त–अविभक्त हैं, अत उनके मत का नाम 'अविभागाद्वैत' है। पुरुष या जीव अनेक हैं, नित्य है, व्यापक हैं। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है। वह अशाशि-भाव युक्त है। जन्म से पूर्व पुत्र पिता मे ही था, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म मे था, ब्रह्म से ही वह प्रकट होता है तथा प्रलय के समय ब्रह्म मे ही लीन हो जाता है। ईश्वर की इच्छा से जीव और प्रकृति मे सम्बन्ध स्थापित होता है और जगत् की उत्पत्ति होती है।

(7) चैतन्य का अचित्य भेदाभेदवाद

श्री चैतन्य के मत मे श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म है। उनकी अनन्त शक्तियो मे जीव-शक्ति भी सम्मिलित है और उस शक्ति से अनेक जीवो का आविर्भाव होता है। ये जीव अणु-परिमाण है ब्रह्म के अश रूप हैं और ब्रह्म के अधीन हैं। जीव और जगत् परम-ब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न है, यह एक अचिन्त्य विषय है, इसीलिए चैतन्य के मत का नाम 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' है। भक्त के जीवन का परम ध्येय यह माना गया है कि, जीव परम-ब्रह्म-रूप कृष्ण से भिन्न होने पर भी उसकी भक्ति मे तल्लीन होकर यह मानने लग जाए कि वह अपने स्वरूप को विस्मृत कर कृष्ण-स्वरूप हो रहा है।

(8) वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत मार्ग

आचार्य वल्लभ के मतानुसार यद्यपि जगत् ब्रह्म का परिणाम है तथापि ब्रह्म मे किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नही होता। स्वय शुद्ध ब्रह्म ही जगत् रूप मे परिणमित हुआ है। इस से न तो माया का सम्बन्ध है और न अविद्या का, अत वह शुद्ध कहलाता है और यह शुद्ध ब्रह्म ही कारण तथा कार्य इन दोनो रूपो वाला है। फलत इस वाद को 'शुद्धाद्वैतवाद' कहते हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि, कारण-ब्रह्म के समान कार्य-ब्रह्म अर्थात् जगत् भी सत्य है, मिथ्या नही। "ब्रह्म से जीव का उद्गम अग्नि से स्फुलिंग की उत्पत्ति के समान है। जीव मे ब्रह्म के सत् और चित् ये दो अश प्रकट होते हैं, आनन्द अश अप्रकट रहता है। जीव नित्य है और अणु-परिमाण है, ब्रह्म का अश है तथा ब्रह्म से अभिन्न है।" जीव की अविद्या से उसके अहता अथवा ममतात्मक ससार का निर्माण होता है। विद्या से अविद्या का नाश होने पर उक्त ससार भी नप्ट हो जाता है।

(आ) शैवो का मत

हम यह वर्णन कर चुके हैं कि वेद और उपनिपदो को प्रमाण मानकर अद्वैत ब्रह्म परमात्मा को मानने वाले वेदान्तियो ने जीवो के अनेक होने की उपपत्ति किस प्रकार सिद्ध की है। अब हम शिव के अनुयायी उन शैवो के मत पर विचार करेंगे जो वेद और उपनिषदो को प्रमाणभूत न मानते हुए और वैदिको द्वारा उपदिष्ट वर्णाश्रमधर्म को अस्वीकार करते हुए भी अद्वैतमार्ग का आश्रय लेते हैं और उस के आधार पर अनेक जीवो की सिद्धि करते हैं। इस मत का दूसरा नाम 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' भी है।

शैवो के मत मे परमब्रह्म के स्थान पर अनुत्तर नाम का एक तत्त्व है। यह तत्त्व सर्वशक्तिमान् नित्य पदार्थ है। उसे शिव और महेश्वर भी कहते हैं। जीव और जगत् ये दोनो शिव की इच्छा से शिव से ही प्रकट होते हैं। अत ये दोनो पदार्थ मिथ्या नही, किंतु सत्य हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे जीव को तत्त्वत अनेक सिद्ध करने के लिए उक्त सभी अद्वैत पक्षो से विरुद्ध मत उपस्थित किया गया है। इसमे वेदान्त-सूत्र के व्याख्याकार मध्वाचार्य एक अपवाद हैं। उसने अन्य वैदिक-दर्शनो के समान जीवो को तत्त्वत अनेक मानकर ही ब्रह्मसूत्र की व्याख्या की है। इस कथन का तात्पर्य यह नही है कि, प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता के समक्ष उक्त सभी वेदान्त के मत विद्यमान ही थे। हमारा अभिप्राय इतना ही है कि इन, सभी व्याख्या-भेदो के अनुसार जो मन्तव्य हैं, उनसे सर्वथा भिन्न मत इस ग्रन्थ मे प्रतिपादित किया गया है।

4. आत्मा का परिमाण

उपनिषदो मे आत्मा के परिमाण के विषय मे अनेक कल्पनाएँ उपलब्ध होती हैं, किंतु इन सब कल्पनाओ के अन्त मे ऋषियो की प्रवृत्ति आत्मा को व्यापक मानने की ओर विशेष रूप से हुई[1]। यही कारण है कि लगभग सभी वैदिक-दर्शनो ने आत्मा को व्यापक माना है। इस विपय मे शकराचार्य के अतिरिक्त रामानुज आदि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार अपवाद मात्र हैं। उन्होंने ब्रह्मात्मा को व्यापक तथा जीवात्मा को अणु-परिमाण माना है। चार्वाक ने चैतन्य

1 मुण्डक० 1 1 6, वैशे० 7 1.22, न्यायमजरी पृप्ठ 468 (विजय०), प्रकरण प० पृष्ठ 158

को देह-परिमाण माना और बौद्धो ने भी पुद्‌गल को देह-परिमाण स्वीकार किया, ऐसी कल्पना की जा सकती है। जैनो ने तो आत्मा को देह-परिमाण स्वीकार किया ही है। आत्मा को देह परिमाण मानने की मान्यता उपनिषदो मे भी उपलब्ध होती है। कौषीतकी उपनिषद् मे कहा है कि, जैसे तलवार अपनी म्यान मे और अग्नि अपने कुण्ड मे व्याप्त है, उसी तरह आत्मा शरीर मे नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है[1]। तैत्तिरीय उपनिषद मे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन सब आत्माओ को शरीर-प्रमाण बताया गया है[2]।

उपनिषदो मे इस बात का भी प्रमाण है कि, आत्मा को शरीर से भी सूक्ष्म परिमाण मानने वाले ऋषि विद्यमान थे। बृहदारण्यक मे लिखा है कि, आत्मा चावल या जौ के दाने के परिमाण की है[3]। कुछ लोगो के मतानुसार वह अगुष्ठ-परिमाण[4] है और कुछ की मान्यता के अनुसार वह बालिस्त-परिमाण[5] है। मैत्री उपनिषद् (6 38) मे तो उसे अणु से भी अणु माना गया है। बाद मे जब आत्मा को अवर्ण्य माना गया तब ऋषियो ने उसे अणु से भी अणु और महान् से भी महान् मानकर सन्तोष किया[6]।

जब सभी दर्शनो ने आत्मा की व्यापकता को स्वीकार किया, तब जैनो ने उसे देह-परिमाण मानते हुए भी केवलज्ञान की अपेक्षा से व्यापक कहना शुरु किया[7]। अथवा समुद्‌घात की अवस्था मे आत्मा के प्रदेशो का जो विस्तार होता है, उसकी अपेक्षा से उसे लोकव्याप्त कहा जाने लगा (न्यायखण्डखाद्य)।

आत्मा को देह-परिमाण मानने वालो की युक्तियो का सार प्रस्तुत ग्रन्थ (गा० 1585-87) मे दिया गया है, अत इस विषय मे अधिक लिखना अनावश्यक है, किन्तु एक बात का यहाँ उल्लेख करना अनिवार्य है। जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं, उनके मत मे भी ससारी आत्मा के ज्ञान, सुख, दुख इत्यादि गुण शरीर-मर्यादित आत्मा में ही अनुभूत होते हैं, शरीर के बाहर के आत्म-प्रदेशो मे नही। इस प्रकार ससारी आत्मा के अनुरूप आत्मा को व्यापक माना जाए अथवा शरीर-प्रमाण, किन्तु ससारावस्था तो शरीर-मर्यादित आत्मा मे ही है।

आत्मा को व्यापक स्वीकार करने वालो के मत मे जीव की भिन्न-भिन्न नारकादि गति सम्भव है, किन्तु उनके अनुसार गति का अर्थ जीव का गमन नही है। वे मानते हैं कि, वहाँ लिंग-शरीर का गमन होता है और उसके बाद वहाँ व्यापक आत्मा से नवीन शरीर का सम्बन्ध होता है। इसी को जीव की गति कहते हैं। इसमे विपरीत देह-परिमाणवादी जैनो की मान्यता के अनुसार जीव अपने कार्मण शरीर के साथ उन-उन स्थानो मे गमन करता है और नए शरीर

---

1 कौषीतकी 4 20

2 तैत्तिरीय 1 2

3 बृहदा० 5.6.1

4 कठ० 2 2.12

5. छान्दोग्य 5 18 1

6 कठ० 1 2 20, छान्दो० 3 14 3, श्वेता० 3 20

2. ब्रह्मदेवकृत द्रव्यम० टी० 10

की रचना करता है। जो व्यक्ति जीव को अणु-परिमाण मानते है, उनके सिद्धान्तानुसार भी जीव लिंग-शरीर को साथ ले कर गमन करता है और नए शरीर का निर्माण करता है। बौद्धो के मत मे गति का अर्थ यह है कि, मृत्यु के समय एक पुद्गल का निरोध होता है और उसी के कारण अन्यत्र नवीन पुद्गल उत्पन्न होता है। इसी को पुद्गल की गति कहते है।

उपनिषदो मे भी क्वचित् मृत्यु के समय जीव की गति अथवा गमन का वर्णन आता है। इससे ज्ञात होता है कि, जीव की गति की मान्यता प्राचीनकाल से चली आ रही है[1]।

5 जीव की नित्यानित्यता

(अ) जैन और मीमांसक

उपनिषद् के 'विज्ञानघन' इत्यादि वाक्य की व्याख्या (गा० 1593–96) और बौद्ध सम्मत 'क्षणिक-विज्ञान' का निराकरण (गा० 1631) करते हुए तथा अन्यत्र (गा० 1843, 1961) आत्मा को नित्यानित्य कहा गया है। चैतन्य द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा नित्य है, अर्थात् आत्मा कभी भी अनात्मा से उत्पन्न नही होती और न ही आत्मा किसी भी अवस्था मे अनात्मा बनती है। इस दृष्टि से उसे नित्य कहते है। परन्तु आत्मा मे ज्ञान-विज्ञान की पर्याय अथवा अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं, अत वह अनित्य भी है। यह स्पष्टीकरण जैन-दृष्टि के अनुसार है और मीमासक कुमारिल को भी यह दृष्टि मान्य है[2]।

(आ) सांख्य का कूटस्थवाद

इस विषय मे दार्शनिको की परम्पराओ पर कुछ विचार करना आवश्यक है। साख्य-योग आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, अर्थात् उसमे किसी भी प्रकार का परिणाम या विकार इष्ट नही है। संसार और मोक्ष भी आत्मा के नही प्रत्युत प्रकृति के माने गए हैं (सा०का० 62)। सुख, दु ख, ज्ञान भी प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नही (सा० का० 11)। इस तरह वह आत्मा को सर्वथा अपरिणामी स्वीकार करता है। कर्तृत्व न होने पर भी भोग आत्मा मे ही माना गया है[3]। इस भोग के आधार पर भी आत्मा मे परिणाम की सम्भावना है, अत कुछ साख्य भोग को भी वस्तुत आत्मा का धर्म मानना उचित नही समझते[4]। इस प्रकार उन्होने आत्मा के कूटस्थ होने की मान्यता की रक्षा का प्रयत्न किया है। साख्य के इस वाद को कतिपय उपनिषद्-वाक्यो का आधार भी प्राप्त[5] है। अत हम कह सकते हैं कि, आत्म-कूटस्थवाद प्राचीन है।

(इ) नैयायिक-वैशेषिकों का नित्यवाद

नैयायिक और वैशेषिक द्रव्य व गुणो को भिन्न मानते है। अत उनके मत के अनुसार यह आवश्यक नही कि आत्म-द्रव्य मे ज्ञानादि गुणो को मानकर भी गुणो की अनित्यता के

---

1. छान्दोग्य 8 6 5
2. तत्त्वस० का० 23-27, श्लोकवा० आत्मवाद 23-30
3. साख्यका० 17
4. साख्यत० 17
5. कठ० 1 2 18-19

आधार पर आत्मा को अनित्य माना जाए। इसके विपरीत जैन आत्म-द्रव्य से ज्ञानादि गुणों का अभेद मानते हैं, अत गुणो की अस्थिरता के कारण वे आत्मा को भी अस्थिर या अनित्य कहते हैं।

(ई) बौद्ध-सम्मत अनित्यवाद

बौद्ध के मत मे जीव अथवा पुद्गल अनित्य हैं। प्रत्येक क्षण मे विज्ञान आदि चित्त-क्षण नए-नए उत्पन्न होते है और पुद्गल इन विज्ञान-क्षणो से भिन्न नही है, अत उनके मत मे पुद्गल या जीव अनित्य है। किन्तु एक पुद्गल की सन्तति अनादिकाल से चली आ रही है और भविष्य मे भी वह चालू रहेगी, अत द्रव्य-नित्यता के स्थान पर सन्तति-नित्यता तो बौद्धो को भी अभीष्ट है, ऐसा मानना चाहिए। कार्य-कारण की परम्परा को सन्तति कहते है। इस परम्परा का कभी उच्छेद नही हुआ और भविष्य मे भी उसका क्रम विद्यमान रहेगा। कुछ बौद्ध विद्वानो के अनुसार निर्वाण के समय यह परम्परा समाप्त हो जाती है, किन्तु कुछ अन्य बौद्धो के मत से विशुद्ध चित्त-परम्परा कायम रहती है, अतः इस अपेक्षा से कहा जा सकता है कि, बौद्धो को सन्तति-नित्यता मान्य है।

(उ) वेदान्त-सम्मत जीव की परिणामी नित्यता

वेदान्त मे ब्रह्मात्मा–परमात्मा को एकान्त नित्य माना गया है। किन्तु जीवात्मा के विषय मे जो अनेक मन्तव्य हैं, उनका वर्णन पहले किया जा चुका है। उसके अनुसार शकराचार्य के मत मे जीवात्मा मायिक है, वह अनादिकालीन अज्ञान के कारण अनादि तो है, किन्तु अज्ञान का नाश होने पर वह ब्रह्मैक्य का अनुभव करती है। उस समय जीव-भाव नष्ट हो जाता है, अत यह कल्पना की जा सकती है कि, मायिक जीव ब्रह्म रूप मे नित्य है और मायारूप मे अनित्य।

शकराचार्य को छोडकर लगभग समस्त वेदान्ती ब्रह्म का विवर्त न मानकर परिणाम स्वीकार करते है, इस दृष्टि से जीवात्मा को परिणामी नित्य कहना चाहिए। जैन व मीमासको के परिणामी नित्यवाद तथा वेदान्तियो के परिणामी नित्यवाद में यह अन्तर है कि, जैन व मीमासको के मत मे जीव स्वतन्त्र है और उसका परिणमन हुआ करता है, किन्तु वेदान्तियो के परिणामी नित्यवाद मे जीव और ब्रह्म की अपेक्षा से परिणामवाद समझने का है, अर्थात् ब्रह्म के विविध परिणाम ही जीव हैं।

जीव को सर्वथा नित्य माना जाए अथवा अनित्य? किन्तु सभी दार्शनिको ने अपनी-अपनी पद्धति से ससार और मोक्ष की उपपत्ति तो की ही है। इससे नित्य मानने वालो के मत मे उसकी सर्वथा एकरूपता और अनित्य मानने वालो के मत मे उसका सर्वथा भेद स्थिर नही रह सकता। अत ससार और मोक्ष की कल्पना के साथ परिणामी नित्यवाद अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। जैन, मीमासक और वेदान्त के शकरातिरिक्त टीकाकारो ने इसी वाद को मान्यता दी है।

6. जीव का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व

प्रथम गणधर इन्द्रभूति (गा० 1567–68) तथा पुन दसवें गणधर मेतार्य के साथ हुई चर्चा (गा० 1957) में जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का उल्लेख है। अत इस विषय मे विशेष

विचार किया जाय तो असगत नही है। आत्मवादी समस्त दर्शनो ने भोक्तृत्व तो स्वीकार किया ही है, किन्तु कर्तृत्व के विषय मे केवल साख्य का मत दूसरो से भिन्न है। उसके अनुसार आत्मा कर्त्ता नही किन्तु भोक्ता है और यह भोक्तृत्व भी औपचारिक है[1]।

(अ) उपनिषदो का मत

उपनिषदो मे जीव के कर्तृत्व व भोक्तृत्व का वर्णन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे कहा है कि, यह जीवात्मा फल के लिए कर्मों का कर्त्ता है और किए हुए कर्मो का भोक्ता[2] भी है। वहाँ यह भी बताया गया है कि, जीव वस्तुत. न स्त्री है, न पुरुष और न ही नपु सक। अपने कर्मों के अनुसार वह जिस-जिस शरीर को धारण करता है, उससे उसका सम्बन्ध हो जाता है। शरीर की वृद्धि और जन्म-सकल्प, विषय के स्पर्श, दृष्टि, मोह, अन्न और जल से होते हैं। देह युक्त जीव अपने कर्मों के अनुसार शरीरो को भिन्न-भिन्न स्थानो मे क्रम-पूर्वक प्राप्त करता है और वह कर्म तथा शरीर के गुणानुसार प्रत्येक जन्म मे पृथक्-पृथक् भी दृष्टिगोचर होता है[3]। वृहदारण्यक के निम्नलिखित वाक्य भी जीवात्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को प्रकट करते है —'**पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पाप पापेन**' (3.2 13) 'शुभ काम करने वाला शुभ बनता है और अशुभ काम करने वाला अशुभ'। "**यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पाप पापेन। अथो खल्वाहु काममय एवाय पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्कतुर्भवति, यत्कतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।**" (4.45) 'मनुष्य जैसे काम व आचरण करता है, वैसे ही वह बन जाता है। अच्छे काम करने वाला अच्छा बनता है और बुरे काम करने वाला बुरा। पुण्य कार्य से पुण्यशाली और पाप कर्म से पापी बनता है। इसीलिए कहा है कि मनुष्य कामनाओ का बना हुआ है। जैसी उसकी कामना होती है, उसी के अनुसार वह निश्चय करता है, जैसा निश्चय करता है वैसा ही काम करता है और जैसे काम करता है वैसे ही फल पाता है।"

किन्तु यह जीवात्मा जिस ब्रह्म या परमात्मा का अश है, उसे उपनिषदो मे अकर्ता और अभोक्ता कहा गया है। उसे केवल अपनी लीला का द्रष्टा माना गया है। यह बात इस कथन से स्पष्ट हो जाती है –'यह आत्मा शरीर के वश हो कर अथवा शुभाशुभ कर्म के बन्धनो मे बद्ध होकर भिन्न-भिन्न शरीरो मे सचार करता है।' किंतु वस्तुत देखा जाय तो यह अव्यक्त, सूक्ष्म, अदृश्य, अग्राह्य और ममता रहित है, अत वह सब अवस्थाओ से शून्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह कर्तृत्व से विहीन होकर भी कर्तारूप मे दिखाई देता है। यह आत्मा शुद्ध, स्थिर, अचल, आसक्ति रहित, दु ख रहित, इच्छा रहित, द्रष्टा के समान है और अपने कर्मो का भोग करते हुए दृष्टिगोचर होता है। उसी प्रकार तीन गुणरूपी वस्त्र से अपने स्वरूप को आच्छादित किए हुए ज्ञात होता है[4]।

---

1 इस वाद के सदृश उपनिषदो मे भी कथन है—मैत्रायणी 2 10-11, सा० का० 19.

2 श्वेताश्वतर 5 7.

3 श्वेताश्वतर 5 10-12.

4 मैत्रायणी 2 10 11

(आ) दार्शनिकों का मत

उपनिषदो के इस परमात्मा के वर्णन को निरीश्वर साख्यो ने पुरुष मे स्वीकार किया है और परमात्मा की तरह जीवात्मा–पुरुष को अकर्ता और अभोक्ता माना है। साख्य-मत मे पुरुष-व्यतिरिक्त किसी परमात्मा का अस्तित्व ही नही था, अत. परमात्मा के धर्मो का पुरुष मे आरोप कर और पुरुष को अकर्ता व अभोक्ता कह कर उसे मात्र द्रष्टारूप मे स्वीकार किया गया।

इसके विपरीत नैयायिक-वैशेषिको ने आत्मा मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो धर्म स्वीकार किए हैं। यही नही, परमात्मा मे भी जगत्-कर्तृत्व माना गया है। उपनिषदो ने प्रजापति[1] मे जगत्-कर्तृत्व स्वीकार किया था, नैयायिक-वैशेषिको ने उसे परमात्मा का धर्म मान लिया।

नैयायिक-वैशेषिक मत मे आत्मा एकरूप नित्य है, अत उस मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व जैसे क्रमिक-धर्म कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? यदि वह कर्ता हो तो कर्ता ही रहेगा और भोक्ता हो तो भोक्ता ही रह सकता है। किंतु एकरूप वस्तु मे यह कैसे सम्भव है कि वह पहले कर्ता हो और फिर भोक्ता ? इस प्रश्न के उत्तर मे नैयायिक और वैशेषिक कर्तृत्व और भोक्तृत्व की यह व्याख्या करते हैं –"आत्म-द्रव्य के नित्य होने पर भी उसमे ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का जो समवाय है, उसी का नाम कर्तृत्व है[2], अर्थात् आत्मा मे ज्ञानादि का समवाय सम्बन्ध होना ही कर्तृत्व है। दूसरे शब्दो मे आत्मा मे ज्ञानादि की उत्पत्ति ही आत्मा का कर्तृत्व है। आत्मा स्थिर है परन्तु उससे ज्ञान का सम्बन्ध होता है और वह नष्ट भी होता है। अर्थात् ज्ञान स्वय ही उत्पन्न व नष्ट होता है। आत्मा पूर्ववत् स्थिर ही रहती है।" इसी प्रकार उन्होंने भोक्तृत्व का स्पष्टीकरण किया है –'सुख और दु ख के सवेदन का समवाय होना भोक्तृत्व[3] है। आत्मा मे सुख और दु ख का जो अनुभव होता है, उसे भोक्तृत्व कहते हैं, यह अनुभव भी ज्ञानरूप होता है, अत. वह आत्मा मे उत्पन्न और नष्ट होता है। फिर भी आत्मा विकृत नही होती। उत्पत्ति और विनाश अनुभव के है, आत्मा के नही। क्योकि इस अनुभव का समवाय सम्बन्ध आत्मा से होता है, अत आत्मा भोक्ता कहलाती है। उस सम्बन्ध के नष्ट हो जाने पर वह भोक्ता नही रहती।" इनके मत मे द्रव्य और गुण मे भेद है, अत गुण मे उत्पत्ति और विनाश होने पर भी द्रव्य नित्य रह सकता है। इसमे विपरीत जैन आदि जो दर्शन जीव को परिणामी मानते है उन सब के मत मे आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाए होने के कारण उसमे सर्वदा एकरूपता नही हो सकती। वही आत्मा कर्तारूप मे परिणत होकर फिर भोक्तारूप मे परिणत हो जाती है। यद्यपि कर्तारूप परिणाम और भोक्तारूप परिणाम भिन्न-भिन्न हैं तथापि दोनो मे आत्मा का अन्वय है, अत एक ही आत्मा कर्ता और भोक्ता कहलाती है। इसी बात को नैयायिक इस ढँग से कहते हैं कि, एक ही आत्मा मे वस्तु-ज्ञान का पहले समवाय होता है, अत उसे कर्ता कहते हैं और उसी आत्मा मे बाद मे सुखादि के सवेदक का समवाय होता है, अत उसे भोक्ता कहते हैं।

---

1. मैत्रायणी 2 6
2 'ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाना समवाय कर्तृत्वम्' न्यायवार्तिक 3 1 6, न्यायमजरी पृ 469
3 सुखदु खसंवित्समवायो भोक्तृत्वम्–न्यायवा० 3.1 6

(इ) वौद्ध-मत

अनात्मवादी–अशाश्वतात्मवादी बौद्ध भी पुद्गल को कर्ता और भोक्ता मानते हैं। उनके मत मे नाम-रूप का समुदाय पुद्गल या जीव है। एक नाम-रूप मे दूसरा नाम-रूप उत्पन्न होता है। जिस नाम-रूप ने कर्म किया, वह तो नष्ट हो जाता है, किंतु उससे दूसरे नाम-रूप की उत्पत्ति होती है और वह पूर्वोक्त कर्म का भोक्ता होता है। इस प्रकार सन्तति की अपेक्षा से पुद्गल मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व पाए जाते है।

काश्यप ने सयुक्तनिकाय मे भगवान् बुद्ध से इस विषय मे चर्चा की है। उसने भगवान् से पूछा, 'दु ख स्वकृत है ? परकृत है ? स्वपरकृत है ? या अस्वपरकृत है ?' इन सब प्रश्नो का उत्तर भगवान् ने नकारात्मक दिया। तब काश्यप ने भगवान् से प्रार्थना की कि, वे इसका स्पष्टीकरण करे। भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा कि, दु ख स्वकृत है, इस कथन का अर्थ यह होगा कि जिसने किया, वही उसे भोगेगा, किंतु इससे आत्मा को शाश्वत मानना पडेगा। यदि दुःख को स्वकृत न मानकर परकृत माना जाए अर्थात् कर्म का कर्ता कोई और है तथा भोक्ता अन्य है यह कहा जाए, तो इससे आत्मा का उच्छेद मानना पडेगा। किन्तु तथागत के लिए शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनो ही अनिष्ट है। उसे प्रतीत्यसमुत्पादवाद मान्य है, अर्थात् पूर्वकालीन नाम-रूप था अत उत्तरकालीन नाम-रूप की उत्पत्ति हुई। दूसरा पहले से उत्पन्न हुआ है, अत पहले द्वारा किए गए कर्म को भोगता है[1]।

यही बात राजा मिलिन्द को अनेक दृष्टान्तो द्वारा भदन्त नागसेन ने समझायी। उनमे एक दृष्टान्त यह था—एक व्यक्ति दीपक जलाकर घासफूस की झोंपडी मे भोजन करने बैठा। अकस्मात् उस दीपक से झोपडी मे आग लग गई। वह आग क्रमश बढते-बढते सारे गाँव मे फैल गई और उसमे सारा गाँव जल गया। भोजन करने वाले व्यक्ति के दीपक से केवल झोपडी ही जली थी, किंतु उससे उत्तरोत्तर अग्नि का जो प्रवाह प्रारम्भ हुआ, उसने सारे गाँव को भस्म कर दिया। यद्यपि दीपक की अग्नि से परम्परा-वद्ध उत्पन्न होने वाली अन्य अग्नियाँ भिन्न थी, तथापि यह माना जाएगा कि दीपक ने गाँव जला डाला। अत दीपक जलाने वाला व्यक्ति अपराधी माना जाएगा। यही बात पुद्गल के विपय मे है। जिस पूर्व पुद्गल ने काम किया, वह पुद्गल चाहे नष्ट हो जाय, किन्तु उसी पुद्गल के कारण नये पुद्गल का जन्म होता है और वह फल भोगता है। इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व सन्तति मे सिद्ध हो जाते है और कोई कर्म अभुक्त नही रहता। जिसने कार्य किया, उसी को सन्तति की दृष्टि से उसका फल मिल जाता[2] है। बौद्धो की यह कारिका सुप्रसिद्ध है —

'यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सधत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥'[3]

'जिस सन्तान मे कर्म की वासना का पुट दिया जाता है उसी मे ही कपास की लाली के समान फल प्राप्त होता है।'

---

1 सयुक्तनिकाय 12 17, 12 24, विसुद्धिमग्ग 17. 168–174.
2 मिलिन्दप्रश्न 2 31 पृ० 48, न्यायमजरी पृ 443
3. स्याद्वादमजरी मे उद्धृत कारिका 18, न्यायमजरी पृ 443

धम्मपद का निम्न कथन भी सन्तति की अपेक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मान्यता के अनुसार ही है, अन्यथा नही । "जो पाप है, उसे आत्मा ने ही किया है, वह आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है[1] । पाप करने वाले को ही उस का फल भोगना पडता है[2] । इस ससार मे कोई ऐसा स्थान नही जहाँ चले जाने से मनुष्य पाप के फल से बच जाए[3] इत्यादि ।"
बुद्ध ने अपने विषय मे कहा है —

'इत एकनवति कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हत ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव ॥

'आज से पूर्व 91वे कल्प मे मैंने अपने बल से एक मनुष्य का वध किया था, उस कर्म के विपाक के कारण आज मेरा पाँव घायल हुआ है ।' बुद्ध का यह कथन भी शाश्वत आत्मा की अपेक्षा से नही, अपितु सन्तान की अपेक्षा से ही समझना चाहिए ।

बौद्धो के मत के अनुसार कर्तृत्व का अर्थ भी समझ लेना चाहिए । कुशल अथवा अकुशल चित्त की उत्पत्ति ही कुशल या अकुशल कर्म का भी कर्तृत्व है । उनके मत मे कर्ता और क्रिया भिन्न नही हैं, ये दोनो एक ही हैं। क्रिया ही कर्ता है और कर्ता ही क्रिया है । चित्त और उसकी उत्पत्ति मे कुछ भी भेद नही है । यही बात भोक्तृत्व के विषय मे भी है । भोग और भोक्ता भिन्न नहीं है । दु ख-वेदना के रूप मे चित्त की उत्पत्ति ही चित्त का भोक्तृत्व है । इसीलिये बुद्धघोष ने कहा है कि, कर्म का कोई कर्ता नही और विपाक का कोई अनुभव करने वाला (वेदक) नही, केवल शुद्ध धर्मों की प्रवृत्ति है[4] ।

(ई) जैन मत

जैन आगमो मे भी जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन है । उत्तराध्ययन के 'कम्मा णाणाविहा कट्टु' (3 2)–अनेक प्रकार के कर्म करके, 'कडाण कम्माण न मोक्खु अत्थि' (4.3, 12,10)–किए हुए कर्म को भोगे विना छुटकारा नही, 'कत्तारमेव अणुजाइ कम्म' (13 23)–कर्म कर्ता का अनुसरण करता है, इत्यादि वाक्य असदिग्ध रूपेण जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का वर्णन करते है । किन्तु जिस प्रकार उपनिषदो मे जीवात्मा को कर्ता और भोक्ता मान कर भी परमात्मा को दोनो से रहित माना गया है, उसी प्रकार जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के कर्म-कर्तृत्व और कर्म-भोक्तृत्व को व्यावहारिक दृष्टि मे माना है और यह भी स्पष्टीकरण किया है कि, निश्चय दृष्टि मे जीव कर्म का कर्ता भी नही और भोक्ता भी नही[5] । इस

---

1. अत्तनाव कत पाप अत्तज अत्तसम्भव–धम्मपद 161.
2. धम्मपद 66
3. धम्मपद 127
4. विसुद्धिमग्ग 19,20, इस विषय मे विशेष विचार 'भगवान् बुद्ध का अनात्मवाद' इस शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है । 'न्यायावतार' टि० पृ० 152 देखें ।
5. समयसार 93, 98 से आगे ।

विषय को उपनिषद् की भाषा मे इस प्रकार कह सकते है—ससारी जीव कर्म का कर्ता है किन्तु शुद्ध जीव कर्म का कर्ता नही है ।

उपनिषदो के मतानुसार भी ससारी आत्मा और परमात्मा एक ही है और जैनमत मे भी ससारी जीव तथा शुद्ध जीव एक ही है। दोनो मे यदि भेद है तो वह यही है कि, उपनिषदो के अनुसार परमात्मा एक ही है और जैनमत मे शुद्ध जीव अनेक हैं, किन्तु जैनो द्वारा सम्मत सग्रहनय की अपेक्षा से यह भेद रेखा भी दूर हो जाती है। सग्रहनय का मत है कि, शुद्ध जीव चैतन्य-स्वरूप की दृष्टि से एक ही है । जब हम इस बात का स्मरण करते है कि, भगवान् महावीर ने गौतम गणधर से कहा था कि, भविष्य मे हम एक सदृश होने वाले है, तब निर्वाण अवस्था मे अनेक जीवो का अस्तित्व मान कर भी अद्वैत और द्वैत दोनो बहुत निकट हैं ऐसा प्रतीत होता है[1]।

नैयायिक आदि आत्मा को एकान्त नित्य मान कर, बौद्ध अनित्य मान कर तथा जैन, मीमासक और अधिकतर वेदान्ती उसे परिणामी नित्य मान कर उसमे कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की सिद्धि करते हैं, किन्तु इन सब के मतानुसार मोक्षावस्था मे इन दोनो मे से किसी का भी अस्तित्व नही है । जब हम इस बात को अपने ध्यान मे रखते हैं तब ज्ञात होता कि, सभी दर्शन एक ही उद्देश्य को सन्मुख रख कर प्रवृत्त हुए है और वह है—जीव को कर्मपाश से कैसे मुक्त किया जाए ?

जिस प्रकार नित्यवादियो के समक्ष यह प्रश्न था कि, कर्म-कर्तृत्व और भोक्तृत्व की उपपत्ति कैसे की जाए ? उसी प्रकार यह भी समस्या थी कि, नित्य आत्मा मे जन्म-मरण किस तरह होते हैं ? उन्होने इस समस्या का यह समाधान किया है कि, आत्मा के जन्म का तात्पर्य उसकी उत्पत्ति नही है । शरीरेन्द्रिय आदि से सम्बन्ध का नाम जन्म है और उन से वियोग का नाम मृत्यु । इस प्रकार आत्मा के नित्य होने पर भी उसमे जन्म-मरण होते[2] है ।

7 जीव का बन्ध और मोक्ष

छट्ठे गणधर के साथ हुई चर्चा मे बन्ध और मोक्ष तथा गयारहवे गणधर के साथ हुई चर्चा मे निर्वाण पर ऊहापोह हुआ है। यद्यपि मोक्ष का ही दूसरा नाम निर्वाण है, तथापि उसकी चर्चा दो बार हुई है । इसका कारण यह प्रतीत होता है कि, छट्ठे गणधर के साथ हुए प्रश्नोत्तर मे बन्ध-सापेक्ष मोक्ष की चर्चा है और मोक्ष सम्भव है या नही ? मुख्यत इस पर विचार किया गया है, परन्तु निर्वाण सम्बन्धी चर्चा मे निर्वाण के अस्तित्व के अतिरिक्त उसके स्वरूप पर मुख्यत विचार किया गया है ।

(अ) मोक्ष का कारण

जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाले सभी भारतीय दर्शनो ने बन्ध और मोक्ष को स्वीकार किया ही है । इतना ही नही, अपितु अनात्मवादी बौद्धो ने भी बन्ध-मोक्ष को

---

1 भगवती 14 7

2 न्यायभाष्य 1 1 19, 4 1.10, न्यायवा० 3 1 4, 3 1 19

मान्यता प्रदान की है। समस्त दर्शनों ने अविद्या, मोह, अज्ञान, मिथ्याज्ञान को बन्ध अथवा ससार का कारण और विद्या अथवा तत्त्वज्ञान को मोक्ष का हेतु माना है। यह बात भी सर्वसम्मत है कि, तृष्णा बन्ध की कारणभूत अविद्या की सहयोगिनी है, किन्तु मोक्ष के कारणभूत तत्त्वज्ञान के गौण-मुख्य भाव के सम्बन्ध मे विवाद है। उपनिषदों के ऋषियों ने मुख्यत तत्त्वज्ञान को कारण माना है और कर्म-उपासना को गौण स्थान दिया है। यही बात बौद्धदर्शन, न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, साख्यदर्शन, शाकर-वेदान्त आदि दर्शनो को भी मान्य है। मीमासा-दर्शन के अनुसार कर्म प्रधान है और तत्त्वज्ञान गौण। भक्ति-सम्प्रदाय के मुख्य प्रणेता रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ इन सबके मत मे भक्ति ही श्रेष्ठ उपाय है. ज्ञान व कर्म गौण हैं। भास्करानुयायी वेदान्ती और शैव ज्ञान-कर्म के समुच्चय को मोक्ष का कारण मानते हैं और जैन भी ज्ञान-कर्म अर्थात् ज्ञान-चारित्र के समुच्चय को मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं।

(आ) बन्ध का कारण

समस्त दर्शन इस बात से सहमत हैं कि, अनात्मा मे आत्माभिमान करना ही मिथ्याज्ञान अथवा मोह है। अनात्मवादी बौद्ध तक यह बात स्वीकार करते है। भेद यह है कि, आत्मवादियों के मत में आत्मा एक स्वतन्त्र, शाश्वत वस्तु के रूप मे सत् है और पृथ्वी आदि तत्त्वो से निर्मित शरीर आदि से पृथक् है। फिर भी शरीरादि को आत्मा मानने का कारण मिथ्याज्ञान है, जबकि बौद्धो के मत मे आत्मा जैसी किसी स्वतन्त्र शाश्वत वस्तु का अस्तित्व नही है। ऐसा होने पर भी शरीरादि अनात्मा मे जो आत्म-बुद्धि होती है, वह मिथ्याज्ञान अथवा मोह[1] है। छान्दोग्य[2] मे कहा है कि, अनात्म-देहादि को आत्मा मानना असुरो का ज्ञान है और उससे आत्मा परवश हो जाती है। इसी का नाम बन्ध है। सर्वसारोपनिषद्[3] मे तो स्पष्टत कहा है कि, अनात्म-देहादि मे आत्मत्व का अभिमान करना बन्ध है और उससे निवृत्ति मोक्ष है। न्यायदर्शन के भाष्य मे बताया गया है कि, मिथ्याज्ञान ही मोह है और वह केवल तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्ति रूप ही नही है, परन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना और बुद्धि इन सबके अनात्मा होने पर भी इनमे आत्मग्रह अर्थात् अहकार—यह मैं ही हूँ ऐसा ज्ञान, मिथ्याज्ञान अथवा मोह है। यह बात वैशेषिको को भी मान्य[4] है। साख्य-दर्शन मे बन्ध विपर्यय पर आधारित[5] है और विपर्यय ही मिथ्याज्ञान है[6]। साख्य मानते हैं कि, इस विपर्यय से होने वाला बन्ध तीन प्रकार का है। प्रकृति को आत्मा मान कर उसकी उपासना करना प्राकृतिक बन्ध है, भूत, इन्द्रिय, अहकार, बुद्धि इन विकारो को आत्मा समझ कर उपासना करना वैकारिक बन्ध

---

1 सुत्तनिपात 3 12 33, विसुद्धिमग्ग 17 302

2. छान्दोग्य 8 8 4-5.

3 'अनात्मना देहादीनामात्मत्वेनाभिमान्यते सोऽभिमानः आत्मनो बन्ध । तन्निवृत्तिर्मोक्षः ।' सर्वसारोपनिषद् ।

4 न्यायभाष्य 4 2.1, प्रशस्तपाद पृष्ठ 538 (विपर्यय निरूपण)

5. साख्यका० 44

6. ज्ञानस्य विपर्ययोऽज्ञानम्—माठरवृत्ति 44

है और इष्ट-आपूर्त मे सलग्न होना दाक्षिणक बन्ध है[1] । साराश यह है कि, साख्यो के अनुसार भी अनात्मा मे आत्म-बुद्धि करना ही मिथ्या ज्ञान है। योगदर्शन के अनुसार क्लेश ससार के मूल है, अर्थात् बन्ध के कारण है और सब क्लेशो का मूल अविद्या है। साख्य जिसे विपर्यय कहते है, योगदर्शन[2] उसे क्लेश मानता है। योगदर्शन मे अविद्या का लक्षण है—अनित्य, अशुचि, दु ख और अनात्म वस्तु मे नित्य, शुचि, शुभ और आत्मबुद्धि करना[3] ।

जैन दर्शन मे बन्ध-कारण की चर्चा दो प्रकार से की गई है–शास्त्रीय और लौकिक। कर्मशास्त्र मे बन्ध के कारणो की जो चर्चा है. वह शास्त्रीय प्रकार है। वहाँ कषाय और योग ये दोनो बन्ध के कारण माने गए हैं। इनका ही विस्तार कर मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार और कही उनमे प्रमाद को भी सम्मिलित कर पाँच कारण गिनाए गए हैं[4] । इनमे से मिथ्यात्व दूसरे दर्शनो मे अविद्या, मिथ्याज्ञान, अज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है।

लोकानुसरण करते हुए जैनागमो मे राग, द्वेष और मोह को भी ससार का कारण माना गया है[5] । पूर्वोक्त कषाय के चार भेद है—क्रोध, मान, माया और लोभ। राग और द्वेष इन दोनो मे भी उन चारो का समन्वय हो जाता है। राग मे माया और लोभ तथा द्वेष मे क्रोध और मान का समावेश है[6] । इस राग व द्वेष के मूल मे भी मोह है, यह बात अन्य दार्शनिको के समान जैनागमो मे भी स्वीकार की गई है[7] ।

इस प्रकार सब दर्शन इस विषय मे सहमत हैं कि मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान, मोह, विपर्यय, अविद्या आदि विविध नामो से विख्यात अनात्म मे आत्मबुद्धि ही बन्ध का कारण है। सब की मान्यतानुसार इन कारणो का नाश होने से ही आत्मा मे मोक्ष की सम्भावना है, अन्यथा नही। मुमुक्षु के लिए सर्वप्रथम कार्य यही है कि, अनात्म मे आत्म-बुद्धि का निराकरण किया जाए।

(इ) बन्ध क्या है ?

आत्मा या जीव तत्त्व तथा अनात्मा अथवा अजीव तत्त्व ये दोनो भिन्न-भिन्न है, फिर भी इन दोनो का जो विशिष्ट सयोग होता है, वही बन्ध है, अर्थात् जीव का शरीर के साथ सयोग ही आत्मा का बन्ध है। जब तक शरीर का नाश न हो जाए तब तक जीव का सर्वथा मोक्ष नही हो सकता। मुक्त जीवो का भी अजीव या जड पदार्थों के साथ–पुद्गल परमाणुओ के साथ सयोग तो है, किन्तु वह सयोग बन्ध की कोटि मे नही आता, क्योकि मुक्त जीवो मे बन्ध के कारणभूत मोह, अविद्या, मिथ्यात्व का अभाव है। अर्थात् उनका जड से सयोग होने पर भी वे इन जड पदार्थों को अपने शरीरादि रूप से ग्रहण नही करते। किन्तु जिस जीव मे

---

1 साख्यतत्वकौ० का० 44

2 योगदर्शन 2 3; 2 4

3 योगदर्शन 2 5

4 तत्त्वार्थ सूत्र विवेचन (प सुखलालजी) 8 1

5 उत्तराध्ययन 21 19 23 43, 28 20, 29 71.

6 'दोहिं ठाणेहिं पावकम्मा बधति . रागेण य दोसेण य। रागे दुविहे पण्णते। ..माया य लोभे य। दोसे दुविहे ..कोहे य माणे य' स्थानाग 2.2.

7 उत्तरा० 32 7

अविद्या विद्यमान है, वह जड पदार्थों को अपने शरीरादि रूप मे ग्रहण करता है, अत: जड और जीव का विशिष्ट सयोग ही वन्ध कहलाता है। जीव को मानने वाले सव मतो में सामान्यत वन्ध की ऐसी ही व्याख्या है।

आत्म और अनात्म इन दोनो का वन्ध कव से हुआ ? इस प्रश्न का विचार कर्म-तत्त्व विषयक विचार मे सकलित है। उपनिषदो मे कर्म-तत्त्व विषयक मात्र इस सामान्य विचार का उल्लेख है कि, शुभ कर्मो का शुभ तथा अशुभ कर्मों का अशुभ फल मिलता है। किन्तु कर्म-तत्त्व क्या है ? वह अपना फल किस प्रकार देता है ? इसका आत्मा के साथ कव सम्बन्ध हुआ ? इन सव विषयो का विचार उपनिषदो के तत्त्वज्ञान के साथ ओत-प्रोत हो, यह वात प्राचीन उपनिषदो मे प्राप्त नही होती। यह तथ्य प्राचीन उपनिषदो के किसी भी अध्येता को अज्ञात नही है। यह भी विदित होता है कि, कर्म सम्वन्धी ये विचार उपनिषद भिन्न-परम्परा से उपनिषदो मे आए और औपनिषद् तत्त्व-ज्ञान के साथ उनकी सगति विठाने का प्रयत्न किया जाता रहा, किन्तु वह अधूरा ही रहा। इस विषय मे विशेष विचार कर्म-विषयक प्रकरण मे किया जाएगा। यहाँ इतना ही उल्लेख पर्याप्त है कि, जगत् को ईश्वर-कृत मान कर भी न्याय-वैशेषिक दर्शनो ने ससार को अनादि माना है और चेतन तथा शरीर के सम्वन्ध को भी अनादि ही माना है[1]। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि, उनके मत मे आत्म और अनात्म का वन्ध अनादि है। किन्तु उपनिषद्-सम्मत विविध सृष्टि-प्रक्रिया मे जीव की सत्ता ही सर्वत्र अनादि सिद्ध नही होती तो फिर आत्म और अनात्म के सम्वन्ध को अनादि कहने का अवसर ही कैसे प्राप्त हो सकता है ? कर्म-सिद्धान्त के अनुसार तो आत्म-अनात्म के सम्वन्ध को अनादि मानना अनिवार्य है। यदि ऐसा न माना जाए तो कर्म-सिद्धान्त की मान्यता का कोई अर्थ ही नही रह जाता। यही कारण है कि, उपनिषदो के टीकाकारो मे शकर को ब्रह्म और माया का सम्वन्ध अनादि मानना पडा। भास्कराचार्य के लिए सत्यरूप उपाधि का ब्रह्म के साथ अनादि सम्वन्ध मानने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न था, रामानुज ने भी वद्ध जीव को अनादिकाल से वद्ध स्वीकार किया। निम्वार्क और मध्व ने भी अविद्या तथा कर्म के कारण जीव के लिए ससार माना है और यह अविद्या व कर्म भी अनादि हैं। वल्लभ के मतानुसार भी जिस प्रकार ब्रह्म अनादि है, उसी प्रकार उसका कार्य जीव भी अनादि है। अत जीव तथा अविद्या का सम्वन्ध भी अनादि है।

साख्य-मत मे भी प्रकृति और पुरुष का सयोग ही वन्ध है और वह अनादि काल से चला आ रहा है। प्रकृति निष्पन्न लिंग-शरीर अनादि है और वह अनादि काल से ही पुरुष के साथ सम्बद्ध है[2]। दूसरे दार्शनिको की मान्यता है कि, वन्ध और मोक्ष पुरुष के होते है, परन्तु सांख्य-मत में वन्ध तथा मोक्ष प्रकृति के होते है, पुरुष के नही[3]। इसी प्रकार योग-दर्शन के मत

---

1 अनादिश्चेतनस्य शरीरयोग , अनादिश्च रागानुवन्ध इति—न्यायभा० 3 1 25; एव च अनादि समारोऽपवर्गान्त —न्यायवा० 3 1 27, अनादि चेतनस्य शरीरयोग —न्यायवा० 3 1 28

2 साङ्ख्यकारिका 52

3 ,, 62

मे भी द्रष्टा-पुरुष और दृश्य-प्रकृति का सयोग अनादिकालीन है, उसे ही बन्ध समझना चाहिए[1]।

बौद्ध-दर्शन मे नाम और रूप का अनादि सम्बन्ध ही ससार या वन्ध है और उस का वियोग ही मोक्ष है।

जैन-मत मे भी जीव और कर्म पुद्गल का अनादिकालीन सम्वन्ध वन्ध है और उसका वियोग मोक्ष।

इस प्रकार साख्य, जैन, बौद्ध तथा पूर्वोक्त न्याय-वैशेषिक आदि सवने जीव व जड के सयोग को अनादिकालीन मान्य किया है और उसी का नाम ससार या वन्ध है।

जव हम यह कहते हैं कि जीव और शरीर का सम्बन्ध अनादि है, तव इस का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि वह परम्परा से अनादि है। जीव नए-नए शरीर ग्रहण करता है। वह किसी भी समय शरीर-रहित नही था। पूर्ववर्ती वासना के कारण नए-नए शरीर की उत्पत्ति होती है और शरीर के उत्पन्न होने के उपरात नई-नई वासनाओ का जन्म होता है। यह वासना फिर नए शरीर को उत्पन्न करती है। इस प्रकार बीज व अकुर के समान ये दोनो ही जीव के साथ अनादि काल से हैं। अनादि अविद्या के कारण अनात्म मे जो आत्म-ग्रहण की वुद्धि है, उसी के कारण वाह्य विषयो मे तृष्णा या राग उत्पन्न होता है और इस से ही ससार-परम्परा चलती रहती है। अविद्या का निरोध हो जाने पर बन्धन कट जाता है और फिर तृष्णा के लिए कोई अवकाश नही रहता। अत नया उपादान नही होता और ससार के मूल पर कुठाराघात हो जाने से वह नष्ट हो जाता है।

साख्यो ने एक लगडे और एक अन्धे व्यक्ति के लोक-प्रसिद्ध उदाहरण से सिद्ध किया है कि, ससार-चक्र का प्रवर्तन जड-चेतन इन दोनो के सयोग से होता है। एकाकी पुरुष अथवा प्रकृति मे ससार के निर्माण की शक्ति नही है, किन्तु जिस समय ये दोनो मिलते है, उस समय ही ससार की प्रवृत्ति होती है। जव तक पुरुष जड-प्रकृति को अपनी शक्ति प्रदान नही करता, तब तक उसमे यह सामर्थ्य नही है कि शरीर, इन्द्रिय आदि रूप मे परिणत हो सके। उसी प्रकार यदि प्रकृति की जड-शक्ति पुरुष को प्राप्त न हो, तो वह भी अकेले शरीरादि का निर्माण करने मे समर्थ नही है। इन दोनो का सम्वन्ध अनादि काल से है, अतः ससार चक्र भी अनादि काल से ही प्रवृत्त हुआ है[2]।

वौद्धो के मतानुसार नाम और रूप के ससर्ग से ससार-चक्र अनादि काल से प्रवृत्त हुआ है। विसुद्धिमग्ग के रचयिता वुद्धघोषाचार्य ने भी सा य-शास्त्रो मे प्रसिद्ध इसी लगडे और अन्धे का दृष्टान्त देकर वताया है कि, किस प्रकार नाम और रूप दोनो परस्पर सापेक्ष होकर उत्पन्न व प्रवृत्त होते हैं। उन्होने यह भी लिखा है कि, एक दूसरे के विना दोनो ही निस्तेज हैं और कुछ भी करने मे असमर्थ है[3]।

---

1 योगदर्शन 2.17, योगभाष्य 2.17

2. साख्यकारिका 21

3 विसुद्धिमग्ग 18 35

जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने भी इसी रूपक के आधार पर कर्म और जीव के परस्पर वन्ध और उनकी कार्यकारिता का वर्णन किया है[1]।

वस्तुत न्याय-वैशेपिकादि भी इसी प्रकार यह वात कह सकते है कि, जीव तथा जड परस्पर मिले हुए हैं और सापेक्ष हो कर ही प्रवृत्त होते हैं। इसी कारण ससार-रूपी रथ गतिमान होता है, अन्यथा नही। अकेला जड अथवा अकेला चेतन ससार का रथ चलाने मे समर्थ नही है। जड और चेतन दोनो ससार-रूपी रथ के दो चक्र हैं।

मायावादी वेदान्तियो ने अद्वैतब्रह्म मानकर भी यह स्वीकार किया है कि, अनिर्वचनीय माया के विना ससार की घटना अशक्य है, अत ब्रह्म और माया के योग से ही ससार-चक्र की प्रवृत्ति होती है। सभी दर्शनो की सामान्य मान्यता है कि, ससार-चक्र की प्रवृत्ति दो परस्पर विरोधी प्रकृति वाले तत्त्वो के ससर्ग से होती है। इन दोनो के नाम मे भेद हो सकता है किंतु सूक्ष्मता से विचार करने पर तात्विक भेद प्रतीत नही होता।

(ई) मोक्ष का स्वरूप

वन्ध-चर्चा के समय यह वताया गया है कि, अनात्म मे आत्माभिमान वन्ध कहलाता है। इसमे यह फलित होता है कि, अनात्म मे आत्माभिमान का दूर होना ही मोक्ष है। इस विपय मे सभी दार्शनिक एकमत हैं। अव इस वात पर विचार करना आवश्यक है कि मोक्ष अथवा मुक्त आत्मा का स्वरूप किस प्रकार का है? सभी दार्शनिको का मत है कि, मोक्षावस्था इन्द्रिय-ग्राह्य नही, वचनगोचर नही, मनोग्राह्य नही तथा तर्क-ग्राह्य भी नही है। कठोपनिपद् मे स्पष्टरूपेण कहा है कि, वाणी, मन, अथवा चक्षु से इसकी प्राप्ति सम्भव नही है, केवल सूक्ष्म-वुद्धि से इसे ग्रहण किया जा सकता है[2]। यह कहने की आवश्यकता नही कि तर्क-प्रपच सूक्ष्म-वुद्धि की कोटि मे नही आता[3]। तप एव ध्यान से एकाग्र हुआ विशुद्ध सत्त्व इसे ग्रहण कर सकता है[4]। नागसेन के कथनानुसार वौद्ध-मत मे भी निर्वाण तो है किन्तु उसका स्वरूप ऐसा नही है कि, जिसे सस्थान, वय और प्रमाण, उपमा, कारण, हेतु अथवा नय से वताया जा सके। जिस प्रकार यह प्रश्न स्थापनीय है—इसका उत्तर नही दिया जा सकता—कि समुद्र मे कितना पानी है और उसमे कितने जीव रहते हैं? उसी प्रकार निर्वाण विषयक उक्त प्रश्न का उत्तर देना भी सम्भव नही है। लौकिक दृष्टि वाले पुरुष के पास इसे जानने का कोई साधन नही है[5]। यह न तो चक्षुर्विज्ञान का विपय है, न कान का, न नासिका का, न जिह्वा का और न ही स्पर्श का विपय है। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि निर्वाण की सत्ता ही नही है। वह विशुद्ध मनोविज्ञान का विषय है। इस मनोविज्ञान की विशुद्धता का कारण उसका निरावरण[6] होना है। उपनिपद् मे जिसे

1. समयसार 340-341
2. कठ० 2 6,12, 1 3 12
3. कठ० 2 8 9
4. मुण्डकोपनिपद् 3 1 8
5. मिलिन्दप्रश्न 4,8 66-67, पृष्ठ 309
6. मिलिन्दप्रश्न 4 7 15, पृष्ठ 265, उदान 71

विशुद्धसत्व कहा गया है उसी को नागसेन ने विशुद्ध मनोविज्ञान कहा है। उपनिषदो मे ब्रह्म-दशा का निरूपण 'नेति नेति' कह कर किया गया[1] है और इसी बात को पूर्वोक्त प्रकार से नागसेन ने कहा है। जो वस्तु अनुभव-ग्राह्य हो, उस का वर्णन सम्भव नही है और यदि किया भी जाए तो वह अधूरा रह जाता है, अत श्रेष्ठ मार्ग यही है कि यदि निर्वाण के स्वरूप का ज्ञान करना ही हो, तो स्वय उसका साक्षात्कार किया जाए। भगवान् महावीर ने भी विशुद्ध आत्मा के विषय मे कहा है कि, वहाँ वाणी की पहुँच नही, तर्क की गति नही, बुद्धि अथवा मति भी वहाँ पहुँचने मे असमर्थ है, यह दीर्घ नही, ह्रस्व नही, गोल नही, त्रिकोण नही, कृष्ण नही, नील नही, स्त्री नही और पुरुष भी नही है। यह उपमा रहित है और अनिर्वचनीय है[2]। इस प्रकार भगवान् महावीर ने भी उपनिषदो और बुद्ध के समान 'नेति नेति' का ही आश्रय लेकर विशुद्ध अथवा मुक्त आत्मा का वर्णन किया है। इस मुक्तात्मा के स्वरूप का यथार्थ अनुभव उसी समय होता है जब वह देह-मुक्त होकर मुक्ति प्राप्त करे।

ऐसी वस्तु-स्थिति होने पर भी दार्शनिको ने अवर्णनीय का भी वर्णन करने का प्रयत्न किया है। आचार्य हरिभद्र ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि, यद्यपि उन वर्णनो मे परिभाषाओ का भेद है, तथापि तत्त्व मे कोई अन्तर नही है। उन्होने कहा है कि, ससारातीत तत्त्व जिसे निर्वाण भी कहते हैं, अनेक नामो से प्रसिद्ध है, किन्तु तत्त्वत एक[3] ही है। इसी एक तत्त्व के ही सदाशिव परमब्रह्म, सिद्धात्मा, तथता आदि नाम चाहे भिन्न-भिन्न हो, परन्तु वह तत्त्व एक ही है[4]। इसी बात को आचार्य कुन्दकुन्द ने भी कहा है। उन्होने कर्म-विमुक्त परमात्मा के ये पर्याय कहे हैं—ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध, परमात्मा। इससे भी ज्ञात होता है कि परम तत्त्व एक ही है, नामो मे भेद हो सकता है[5]।

इस प्रकार ध्येय की दृष्टि से भले ही निर्वाण मे भेद नही है, किन्तु दार्शनिको ने जब उसका वर्णन किया तब उसमे अन्तर पड गया और उस अन्तर का कारण दार्शनिको की पृथक्-पृथक् तत्त्व-व्यवस्था है। इस तत्त्व-व्यवस्था मे जैसा भेद है, वैसा ही निर्वाण के वर्णन मे दृष्टि-गोचर होना स्वाभाविक है। उदाहरणत न्याय-वैशेपिक आत्मा और उसके ज्ञान, सुखादि गुणो को भिन्न-भिन्न मानते हैं और आत्मा मे ज्ञानादि की उत्पत्ति को शरीर पर आश्रित मानते है। अतः यदि मुक्ति मे शरीर का अभाव हो जाता हो, तो न्याय-वैशेपिको को यह स्वीकार करना पडेगा कि, मुक्तात्मा मे ज्ञान, सुखादि गुणो का भी अभाव होता है। यही कारण है कि उन्होने यह बात मानी कि, मुक्ति मे आत्मा के ज्ञान, सुखादि गुणो की सत्ता नही रहती, केवल विशुद्ध चैतन्य तत्त्व शेप रहता है[6]। इसी का नाम मुक्ति है। जीवात्मा को मुक्ति मे ज्ञान, सुखादि से

---

1 बृहदा० 4 5 15

2 आचाराग सू० 170

3 ससारातीततत्त्व तु पर निर्वाणसज्ञितम्। तद्ध्येकमेव नियमात् शब्दभेदेऽपि तत्त्वत ॥ योगदृष्टिसमुच्चय 129

4. सदाशिव परब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च। शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वार्थादेकमेवैवमादिभि ॥ योगदृष्टि० 130, षोडशक 16 1-4

5 भावप्राभृत 149

6. न्यायभाष्य 1 1,21, न्यायमंजरी पृ, 508

रहित मानकर भी उन्होंने ईश्वरात्मा को नित्य ज्ञान, सुखादि से युक्त माना है[1]। इस प्रकार आत्मा के स्थान पर परमात्मा में सर्वज्ञता और आत्यन्तिक सुख-आनन्द मानकर नैयायिक, फिर भी उन दार्शनिकों की पंक्ति में सम्मिलित हो गए हैं जो मुक्तात्मा को ज्ञान एवं सुखादि से सम्पन्न मानते हैं।

बौद्धों ने दीपनिर्वाण की उपमा से निर्वाण का वर्णन किया है। इससे इस बात की मान्यता प्रचलित हुई कि, निर्वाण में चित्त का लोप हो जाता है[2]। निरोध शब्द का व्यवहार भी ऐसा है जो दार्शनिकों को भ्रम में डाल दे[3]। इस से भी इस मान्यता का समर्थन प्राप्त हुआ कि मुक्ति में कुछ भी शेष नहीं रहता। किन्तु बौद्ध-दर्शन पर समग्र भाव से विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि, वहाँ भी निर्वाण का स्वरूप वैसा ही बताया गया है जैसा कि उपनिषदों अथवा अन्य दर्शन-शास्त्रों में[4]। विश्व के सभी पदार्थ संस्कृत अथवा उत्पत्तिशील हैं, अतः क्षणिक हैं, किन्तु निर्वाण अपवाद स्वरूप है। निर्वाण असंस्कृत है। इस की उत्पत्ति में कोई भी हेतु नहीं है, अतः इस का विनाश भी नहीं होता। असंस्कृत होने के कारण यह प्रणीत, अभूत और अकृत है[5]। संस्कृत अनित्य, अशुभ और दुःखरूप होता है किन्तु असंस्कृत ध्रुव, शुभ और सुखरूप है[6]। जिस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्मानन्द को आनन्द की पराकाष्ठा[7] माना गया है, उसी प्रकार निर्वाण का आनन्द भी आनन्द की पराकाष्ठा[8] है। इस तरह बौद्धों के मतानुसार भी निर्वाण में ज्ञान और आनन्द का अस्तित्व है। यह ज्ञान और आनन्द असंस्कृत अथवा अज कहे गए हैं, अत नैयायिकों के ईश्वर के ज्ञान और आनन्द से वस्तुतः इनका कोई भेद नहीं है। यही नहीं, प्रत्युत वेदान्त-सम्मत ब्रह्म की नित्यता और आनन्दमयता तथा बौद्धों के निर्वाण में भी भेद नहीं है।

सांख्य-मत में भी नैयायिकों द्वारा मान्य आत्मा के समान मुक्तावस्था में विशुद्ध चैतन्य ही शेष रहता है। नैयायिक-मत में ज्ञान, सुखादि आत्मा के गुण हैं किन्तु उन की उत्पत्ति शरीराश्रित है। अत. शरीर के अभाव में उन्होंने जैसे उन गुणों का अभाव स्वीकार किया, वैसे ही सांख्य-मत को यह स्वीकार करना पड़ा कि ज्ञान, सुखादि प्राकृतिक धर्म होने के कारण प्रकृति का वियोग होने पर मुक्तात्मा में विद्यमान नहीं रहते और पुरुष मात्र शुद्ध चैतन्य स्वरूप स्थिर रहता है। सांख्य लोग मानते हैं कि, पुरुष को जब कैवल्य की प्राप्ति होती है तब वह मात्र शुद्ध चैतन्य रूप होता है। गणधरवाद के पाठकों को ज्ञात हो जाएगा कि

---

1 न्यायमंजरी पृ, 200–201

2 इसी का खंडन प्रस्तुत गणधरवाद में किया गया है, गाथा 1975

3 निरोध का वास्तविक अर्थ तृष्णाक्षय अथवा विराग है–विसुद्धिमग्ग 8 247,16 64

4. निर्वाण अभावरूप नहीं, इसका समर्थन विसुद्धि मग्ग 16 67 में देखें।

5 उदान 73, विसुद्धिमग्ग 16,74

6 उदान 80; विसुद्धिमग्ग 16 71, 16 90

7 तैत्तिरीय 2.8

8 मज्झिमनिकाय 57 (बहुवेदनीय सुत्तंत)

मुक्तात्मा के विशुद्ध चैतन्य स्वरूप मे प्रतिष्ठित रहने की मान्यता के विषय मे जहाँ साख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एकमत हैं वहाँ जैन भी इस मत से सहमत हैं ।

इस सामान्य मान्यता के विषय मे सबका एकमत है कि, मुक्तात्मा विशुद्ध चैतन्य-स्वरूप मे प्रतिष्ठित रहती है, किन्तु विचारो मे जो किंचित् मतभेद है, उसका उल्लेख भी आवश्यक है। उपनिषदो मे ब्रह्म को चैतन्यरूप के साथ-साथ आनन्द रूप भी माना है। नैयायिको ने ईश्वर मे तो आनन्द का अस्तित्व स्वीकार किया है, किन्तु मुक्तात्मा मे नही। बौद्धो ने निर्वाण मे आनन्द की सत्ता स्वीकृत की है। जैनो ने आनन्द के अतिरिक्त नैयायिको के ईश्वर के समान शक्ति अथवा वीर्य भी स्वीकार किया है। जैनो ने चैतन्य का अर्थ ज्ञान, दर्शन, शक्ति किया है, किन्तु नैयायिक-वैशेषिक मत मे मुक्तात्मा मे ज्ञान, दर्शन नही होते। साख्य-मत मे चित्शक्ति पुरुष मे है, फिर भी उसमे ज्ञान नही होता, किन्तु द्रष्टृत्व होता है। इन सभी मतभेदो का समन्वय असम्भव नही है।

जब हम इस विषय पर विचार करते है कि, मुक्तात्मा मे आनन्द का ज्ञान से पृथक् क्या स्वरूप है ? तब यही निष्कर्ष निकलता है कि, आनन्द भी ज्ञान का ही एक पर्याय है। जैनाचार्यों ने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया[1] है। बौद्ध-दार्शनिको ने भी ज्ञान और सुख को सर्वथा भिन्न नही माना है। वेदान्त-मत मे भी एक अखण्ड ब्रह्म-तत्त्व मे ज्ञान, आनन्द, चैतन्य इन सबका वस्तुत भेद करना अद्वैत के विरोध के समान ही है। नैयायिक चैतन्य और ज्ञान मे भेद का वर्णन करते हैं, परन्तु जब हम यह देखते हैं कि, उन्होने नित्य मुक्त ईश्वर मे नित्य-ज्ञान स्वीकार किया है, तब हमे यह मानना पडता हैं कि, वे इस भेद को सर्वथा अभिन्न नही रख सके। पुनश्च, मुक्तात्मा चेतन होकर भी ज्ञानहीन हो, तो इस चैतन्य का स्वरूप भी एक समस्या का रूप धारण कर लेता है। यहाँ यदि हम याजवल्क्य द्वारा मैत्रेयी के प्रति कहे गए इस कथन पर कि, **'न तस्य प्रेत्य सज्ञा अस्ति'**—मृत्यूपरान्त उसकी कोई सज्ञा नही होती—सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इसका समाधान हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है, जिसका नामकरण नही किया जा सकता। यदि इसे ज्ञान कहा जाए तो ज्ञान के विषय मे साधारण जन का जो विचार है, वही उनके मन मे स्थान प्राप्त करेगा, अर्थात् इन्द्रियो अथवा मन के द्वारा होने वाला ज्ञान। परन्तु मुक्तात्मा मे इन साधनो का अभाव होता है, अत उसके ज्ञान को ज्ञान कैसे माना जाए ? आत्मा स्वय प्रतिष्ठित है, वह बाहर क्यो देखे ? बहिर्वृत्ति क्यो बने ? और यदि आत्मा बहिर्वृत्ति नही होता तो उसे ज्ञानी कहने की अपेक्षा चैतन्यघन कहना अधिक उपयुक्त है। नैयायिको ने ज्ञान की व्याख्या इस प्रकार की है —आत्मा का मन के साथ सन्निकर्ष होता है और फिर इन्द्रिय के साथ तथा उस के द्वारा बाह्य पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होता है, तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान की इस व्याख्या के अनुसार यह बात स्वाभाविक है कि नैयायिक मुक्तावस्था मे ज्ञान की सत्ता न मानें। अर्थात् उनकी ज्ञान की परिभाषा ही भिन्न है। परिभाषा के भेद के कारण तत्त्वो मे कुछ भी भेद नही पडता। अन्यथा नैयायिको के मत मे जड-पदार्थ और चैतन्य-पदार्थ मे क्या भेद रह जाएगा ? अत यह बात माननी पडेगी कि, जड से भेद

---

1 सर्वार्थसिद्धि 10 4

कराने वाला आत्मा में कोई तत्त्व अवश्य है जिसके आधार पर नैयायिकों ने उसे चेतन माना है। उस तत्त्व का नाम चैतन्य है। आत्मा को चेतन मानने के विषय में उनका किसी भी दार्शनिक से मतभेद ही नहीं है, केवल उनकी ज्ञान की परिभाषा अलग है, अत उन्होंने ज्ञान शब्द से चैतन्य का बोध कराना उचित नहीं समझा। वेदान्ती जब अधिक सूक्ष्म विचार करने लगे तब वे 'चैतन्य' को चैतन्य शब्द से प्रतिपादित करने के लिए उद्यत न हुए और 'नेति नेति' कह कर उसका वर्णन करने लगे। यह बात लिखी जा चुकी है कि अन्य दार्शनिकों ने भी ऐसा ही किया। भाषा की शक्ति इतनी सीमित है कि वह परम तत्त्व के स्वरूप का यथार्थ वर्णन कर ही नहीं सकती, क्योंकि विचारकों ने उन भिन्न-भिन्न शब्दों की परिभाषा अनेक प्रकार से की है, अत. उन-उन शब्दों का प्रयोग करने से वस्तु का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। इसके विपरीत कई बार अधिक उलझनें पैदा हो जाती हैं।

मुक्तात्मा में शक्ति को पृथक् रूप से स्वीकार करने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि शक्ति, क्या है ? इस पर विचार करते हुए आचार्यों ने कह दिया कि, शक्ति के अभाव में अनन्त ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, अत ज्ञान में ही उसका समावेश कर लेना चाहिए[1]।

(उ) मुक्ति-स्थान

जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं, उनके मत में मुक्ति-स्थान की कल्पना अनावश्यक थी। आत्मा जहाँ है, वहीं है, केवल उसका मल दूर हो जाता है। उसे अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। फिर प्रश्न यह है कि, जब वह सर्व व्यापक है तब उसका गमन कहाँ हो ? किन्तु जैनदर्शन बौद्धदर्शन और जीवात्मा को अणुरूप मानने वाले भक्तिमार्गी वेदान्त-दर्शन के सम्मुख मुक्ति-स्थान विषयक समस्या का उपस्थित होना स्वाभाविक था। जैनों ने यह बात मानी है कि, ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग में मुक्तात्मा का गमन होता है और सिद्धशिला नामक भाग में हमेशा के लिए उसकी अवस्थिति रहती है। भक्तिमार्गी वेदान्ती मानते हैं कि, विष्णु भगवान् के विष्णुलोक में जो ऊर्ध्वलोक है, वहाँ मुक्त जीवात्मा का गमन होता है और उसे परब्रह्मरूप भगवान् विष्णु का हमेशा के लिए सान्निध्य प्राप्त होता है। बौद्धों ने इस प्रश्न का निराकरण दूसरे प्रकार से किया है। उनके मत में जीव या पुद्गल कोई शाश्वत द्रव्य नहीं है अत वे पुनर्जन्म के समय एक जीव का अन्यत्र गमन नहीं मानते, किन्तु वे एक स्थान में एक चित्त का निरोध और उसकी अपेक्षा से अन्यत्र नए चित्त की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि, इसी सिद्धान्त के अनुरूप मुक्त चित्त के विषय में भी सिद्धान्त निश्चित किया जाय।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि, पूर्वादि दिशाओं में ऐसा कौनसा स्थान है जिसके निकट निर्वाण की स्थिति है ? आचार्य ने उत्तर दिया कि, निर्वाण-स्थान कहीं किसी दिशा में अवस्थित नहीं है जहाँ जा कर मुक्तात्मा निवास करे। तो फिर निर्वाण कहाँ प्राप्त होता है ? जिस प्रकार समुद्र में रत्न, फूल में गंध, खेत में धान्य आदि का स्थान नियत है, उसी

---

1 सर्वार्थसिद्धि 10.4

प्रकार निर्वाण का भी कोई निश्चित स्थान होना चाहिए। यदि उसका कोई ऐसा स्थान नही है, तो फिर यह क्यो नही कहते कि, निर्वाण भी नही है ? इस आक्षेप का उत्तर देते हुए नागसेन ने कहा कि, निर्वाण का कोई नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है। निर्वाण कही बाहर नही है, अपने विशुद्ध मन से इसका साक्षात्कार करना पडता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि, जलने से पहले अग्नि कहाँ है ? तो उसे अग्नि का स्थान नही बताया जा सकता, किन्तु जब दो लकडिया मिलती हैं तब अग्नि प्रकट होती है। उसी प्रकार विशुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार हो सकता है, किन्तु उसका स्थान बताना शक्य नही है। यदि यह मान भी लिया जाए कि, निर्वाण का नियत स्थान नही है तो भी ऐसा कोई निश्चित स्थान अवश्य होना चाहिए जहाँ अवस्थित रह कर पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार कर सके। इस प्रश्न के उत्तर मे नागसेन ने कहा कि, पुद्गल शील मे प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश मे रहते हुए निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है[1]।

(ऊ) जीवन्मुक्ति—विदेहमुक्ति

आत्मा से मोह दूर हो जाए और वह वीतराग बन जाए तब शरीर तत्काल अलग हो जाता है अथवा नही ? इस प्रश्न के उत्तर के फलस्वरूप मुक्ति की कल्पना दो प्रकार से की गई—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। राग-द्वेष का अभाव हो जाने पर भी जब तक आयुकर्म का विपाक-फल पूर्ण न हुआ हो तब तक जीव शरीर मे रहता है अथवा उसके साथ शरीर सम्बद्ध रहता है। किन्तु ससार या पुनर्जन्म के कारणभूत अविद्या और राग-द्वेष के नष्ट हो जाने पर आत्मा मे नये शरीर को ग्रहण करने की शक्ति नही रहती, अत ऐसी आत्मा का प्राणधारण-रूप जीवन जारी रहने पर भी वह मोह, राग, द्वेष से मुक्त होने के कारण 'जीवन्मुक्त' कहलाती है। जब उसका शरीर भी पृथक् हो जाता है तब उसे 'विदेहमुक्त' अथवा केवल 'मुक्त' कहते हैं।

विद्वानो की मान्यता है कि, उपनिषदो मे जीवन्मुक्ति के उपरान्त क्रममुक्ति का सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है। इस बात का दृष्टान्त कठोपनिषद[2] से दिया जाता है। उसमे लिखा है कि, उत्तरोत्तर उन्नतलोक मे आत्म-प्रत्यक्ष क्रमश. विशद और विशदतर होता जाता है। इससे ज्ञात होता है कि इस उपनिषद् मे क्रममुक्ति का उल्लेख है—अर्थात् आत्म-साक्षात्कार क्रमिक होता है। दूसरे दर्शनो मे मान्य आत्म-विकास के क्रम की इससे तुलना की जा सकती है। जैनो ने उसे गुणस्थान-क्रमारोह कहा है और बौद्धो ने उसे योगचर्या की भूमि का नाम दिया है। वैदिक-दर्शन मे इसी वस्तु को 'भूमिका' कहा गया है।

उपनिषदो मे जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त भी उपलब्ध होता है। इसी कठोपनिषद् मे आगे जाकर लिखा है कि, जब मनुष्य के हृदय मे रही हुई सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब वह अमर बन जाता है और यहीं ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। जब यहाँ हृदय की सभी गाँठें टूट जाती हैं तब मनुष्य अमर हो जाता है[3]।

---

1 मिलिन्दप्रश्न 4 8.92–94

2 कठ० 2.3 5

3 कठ० 2 3 14–15, मुण्डक० 3.2.6, बृहदा० 4 4.6–7

उपनिपदो के व्याख्याकारो का जीवन्मुक्ति के विषय मे एक मत नही है। आचार्य शकर, विज्ञानभिक्षु और वल्लभ इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, किन्तु भक्ति-मार्ग के अनुयायी अन्य वेदान्ती रामानुज, निम्बार्क और मध्व इसे नही मानते[1]।

बौद्धो के मत मे 'सोपादिसेस निर्वाण' और 'अनुपादिसेस निर्वाण' क्रमश. जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति के नाम हैं। उपादि का अर्थ है पाँच स्कध। जब तक ये शेष हो तब तक 'सोपादिसेस निर्वाण' और जब इन स्कधो का निरोध हो जाय तब 'अनुपादिसेस निर्वाण'[2] होता है।

न्याय-वैशेपिक[3] और साख्य-योग[4] मत मे भी जीवन्मुक्ति सम्भव मानी गई है।

जो विचारकगण जीवन्मुक्ति को स्वीकार नही करते, उनके मत मे आत्म-साक्षात्कार होते ही समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं और आत्मा विदेह होकर मुक्त बन जाती है। इसके विपरीत जो जीवन्मुक्ति मानते हैं, उनकी मान्यतानुसार आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर भी कर्म अपने समय पर ही फल देकर क्षीण होते हैं, तत्काल नही। इस प्रकार आत्मा पहले जीवन्मुक्त बनती है और फिर कालान्तर मे शेप सस्कार क्षीण होने पर विदेह-मुक्त।

(आ) कर्मविचार

समस्त गणधरवाद मे कर्म का विचार कई स्थानो पर किया गया है। दूसरे गणधर अग्निभूति ने तो उसके अस्तित्व के विषय मे ही प्रश्न उपस्थित किया है और भगवान् महावीर ने कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है। साथ ही कर्म अदृष्ट है, मूर्त्त है, परिणामी है, विचित्र है, अनादिकाल से सम्बद्ध है, इत्यादि विविध विषयो की चर्चा की गई है। पाँचवें गणधर सुधर्मा के साथ इस लोक और परलोक के सादृश्य-वैसादृश्य की चर्चा हुई। उस अवसर पर भी यह बताया गया है कि, यही लोक हो अथवा परलोक, किन्तु उसके मूल मे कर्म की सत्ता है और ससार कर्म-मूलक ही है। छठे गणधर की चर्चा का विषय बन्ध और मोक्ष है, अत॰ उसमे भी जीव का कर्म के साथ बन्ध और उसकी कर्म से मुक्ति की ही चर्चा है। उस समय भी कर्म की सामान्य चर्चा के उपरान्त यह विचार किया गया है कि, जीव पहले है अथवा कर्म, और दोनो को ही अनादि माना गया है। नौवें गणधर की चर्चा का मुख्य विषय पुण्य-पाप है, अत उसमे शुभ कर्म और अशुभ कर्म के अस्तित्व की चर्चा ही प्रधान है। इस प्रसंग पर दूसरे गणधर से हुई चर्चा के कई विषयो की पुनरावृत्ति करने के पश्चात् कर्म-सम्बन्धी अनेक नई बातो की भी चर्चा हुई है, जैसे कि कर्म के सक्रम का नियम, कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया, कर्म का शुभाशुभ रूप मे परिणमन, कर्म के भेद इत्यादि। दसवें गणधर ने परलोक विपयक चर्चा की है, उसमे भी यह तथ्य स्वीकृत है कि परलोक कर्माधीन है। अंतिम गणधर के साथ हुई

---

1 प्रो॰ भट्ट की पूर्वोक्त प्रस्तावना देखें।

2. विसुद्धिमग्ग 16 73

3. न्याय-भाष्य 4 2 2

4. साख्यका॰ 67, योग-भाष्य 4 30

निर्वाण सम्बन्धी चर्चा मे भी यह प्रतिपादित किया गया है कि, अनादि कर्म-सयोग का नाश ही निर्वाण है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गणधरो के साथ होने वाले वादो मे कर्म-चर्चा विविध रूप से साक्षात् सामने आई है। चौथे गणधर की चर्चा मे शून्यवाद के प्रकरण मे भी आनुषगिक रूप मे कर्म-चर्चा का सम्बन्ध है, क्योकि उसमे शून्यवादी मुख्यत. भूतो का निराकरण करते हैं। जैन-मत मे कर्म भौतिक हैं, अत. इस चर्चा के साथ भी कर्म-चर्चा आनुषगिक रूप से सम्बन्धित है। सातवें व आठवे गणधरो की चर्चा मे क्रमश देवो और नारकियो की चर्चा है। उसका अभिप्राय भी यही है कि शुभ कर्म के फलरूप देवत्व और अशुभ कर्म के फलस्वरूप नारकत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्राय समस्त गणधरवाद मे कर्म-चर्चा को पर्याप्त महत्त्व मिला है। अत. अब कर्म के विषय मे विचार करना उचित है।

(1) कर्म-विचार का मूल :

यह तो नही कहा जा सकता कि वैदिक काल के ऋषियो को मनुष्यो मे तथा अन्य अनेक प्रकार के पशु, पक्षी एव कीट पतँगो मे विद्यमान विविधता का अनुभव नही हुआ होगा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि, उन्होने इस विविधता का कारण अन्तरात्मा मे ढूंढने की अपेक्षा उसे बाह्य-तत्त्व मे मानकर ही सन्तोष कर लिया था।

किसी ने यह कल्पना की कि, सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक अथवा अनेक भौतिक तत्त्व हैं, किंवा प्रजापति जैसा तत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है, किन्तु इस सृष्टि मे विविधता का आधार क्या है ? इसके स्पष्टीकरण का प्रयत्न नही किया गया। जीव-सृष्टि के अन्य वर्गों की बात छोड भी दें, तो भी केवल मानव-सृष्टि मे शरीरादि की, सुख-दु ख की, बौद्धिक शक्ति-अशक्ति की जो विविधता है, उसके कारण की विशेष प्रयत्न-पूर्वक शोध की गई हो, ऐसा ज्ञात नही होता। वैदिक काल का समस्त तत्त्व-ज्ञान क्रमश देव और यज्ञ को केन्द्र-बिन्दु बनाकर विकसित हुआ। सर्वप्रथम अनेक देवो की और तत्पश्चात् प्रजापति के समान एक देव की कल्पना की गई। सुखी होने के लिए अथवा अपने शत्रुओ का नाश करने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह उस देव अथवा उन देवो की स्तुति करे, सजीव अथवा निर्जीव अपनी इष्ट वस्तु को यज्ञ कर उसे समर्पित करे। इससे देव सन्तुष्ट होकर मनोकामना पूरी करते हैं। यह मान्यता वेदो से लेकर ब्राह्मण काल तक विकसित होती रही। देवो को प्रसन्न करने के साधन-भूत यज्ञ कर्म का क्रमिक विकास हुआ और धीरे-धीरे इसका रूप इतना जटिल हो गया कि यदि साधारण व्यक्ति यज्ञ करना चाहे, तो यज्ञ कर्म मे निष्णात पुरोहितो की सहायता के बिना इसकी सम्भावना ही नही थी। इस प्रकार वैदिक ब्राह्मणो का समस्त तत्वज्ञान देव तथा उसे प्रसन्न करने के साधन यज्ञ कर्म की सीमा मे विकसित हुआ।

ब्राह्मण-काल के पश्चात् रचित उपनिषद् भी वेदो और ब्राह्मणो का अन्तिम भाग होने के कारण वैदिक-साहित्य के ही अग हैं और उन्हे 'वेदान्त' कहते हैं। किन्तु इन से पता चलता है कि वेद-परम्परा अर्थात् देव तथा यज्ञ-परम्परा का अन्त निकट ही था। इनमे ऐसे नवीन विचार उपलब्ध होते हैं जो वेद व ब्राह्मण-ग्रन्थो मे नही थे। उनमे ससार और कर्म-अदृष्ट-विषयक नूतन विचार भी प्राप्त होते हैं। ये विचार वैदिक-परम्परा के ही उपनिषदो मे कहाँ

से आए, इनका उद्भव विकास के नियमानुसार वैदिक विचारो से ही हुआ अथवा अवैदिक परम्परा के विचारको से वैदिक विचारको ने इन्हें ग्रहण किया—इन वातो का निर्णय आधुनिक विद्वान् अभी तक नही कर सके। किन्तु यह वात निश्चित है कि, वैदिक-साहित्य मे सर्वप्रथम उपनिपदो मे ही इन विचारो का दर्शन होता है। आधुनिक विद्वानो मे इस विपय मे कोई विवाद नही है कि उपनिषदो के पूर्वकालीन वैदिक-साहित्य मे ससार और कर्म की कल्पना का स्पष्ट-रूप दिखाई नही देता। 'कर्म कारण है' ऐसा वाद भी उपनिपदो का सर्वसम्मत वाद हो, यह भी नही कहा जा सकता[1]। अत. इसे वैदिक विचारधारा का मौलिक-विचार स्वीकार नही किया जा सकता। श्वेताश्वतर[2] उपनिपद् मे जहाँ अनेक कारणो का उल्लेख किया है वहाँ काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, अथवा पुरुप अथवा इन सबके सयोग का प्रतिपादन है। कालादि को कारण मानने वाले वैदिक हो या अवैदिक, किन्तु इन कारणो मे भी कर्म का समावेश नही है।

अव इस वात की शोध करना शेष है कि, जव उपनिषद् काल मे भी वैदिक-परम्परा मे कर्म या अदृष्ट सर्वमान्य केन्द्रस्थ तत्त्व नही था तव वैदिक-परम्परा मे इस विचार का आयात कौन-सी परम्परा से हुआ ? कुछ विद्वानो का मत है कि, आर्यों ने ये विचार भारत के आदिवासियो (Pr,m tive People) से ग्रहण किये[3]। प्रोफेसर हिरियन्ना ने इस मान्यता का निराकरण यह लिखकर किया है कि, आदिवासियो का यह सिद्धान्त कि आत्मा मर कर वनस्पति आदि मे गमन करती है केवल एक अन्ध-विश्वास अथवा मिथ्या भ्राँति (superstition) था। तत्त्वत उनके इस विचार को तर्काश्रित नही कहा जा सकता। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का लक्ष्य तो मनुष्य की तार्किक और नैतिक चेतना को सन्तुष्ट करना है।

आदिवासियो की यह मान्यता कि, मनुष्य का जीव मर कर वनस्पति आदि के रूप मे जन्म लेता है, केवल अन्ध-विश्वास कहकर त्यक्त नही की जा सकती। उपनिपदो से पहले जिस कर्मवाद के सिद्धान्त को वैदिक देववाद से विकसित नही किया जा सकता, उस कर्म-वाद का मूल आदिवासियो की पूर्वोक्त मान्यता से सरलतया सम्बद्ध है। इस तथ्य की प्रतीति उस समय होती है जव हम जैन-धर्म सम्मत जीववाद और कर्मवाद के गहन मूल को ढूँढने का प्रयास करते हैं। जैन-परम्परा का प्राचीन नाम कुछ भी हो, किन्तु यह वात असदिग्ध है कि, वह उपनिषदो मे स्वतन्त्र और प्राचीन है। अत यह मानना निराधार है कि उपनिषदो मे प्रस्फुटित होने वाले कर्मवाद विपयक नवीन विचार प्रस्फुटित हुए है वे जैन-सम्मत कर्मवाद के प्रभाव से रहित हैं। जो वैदिक-परम्परा देवो के विना एक कदम भी आगे नही वढती थी, वह कर्मवाद के इस सिद्धान्त को हस्तगत कर यह मानने लगी कि, फल देने की शक्ति देवो मे नही प्रत्युत स्वय यज्ञ

---

1. Hiriyanna . outlines of Indian Philosophy p 80, Belvelkar History of Indian Philosophy pt. II p 82
2 श्वेताश्वनर 1 2
3 इसके उल्लेख और निराकरण के लिए देखें। Hiriyanna outlines of Indian philosophy p 790

कर्म मे है। वैदिकों ने देवों के स्थान पर यज्ञ-कर्म को आमीन कर दिया। देव और कुछ नही, वेद के मन्त्र ही देव हैं। इस यज्ञ-कर्म के समर्थन मे ही अपने को कृत-कृत्य मानने वाली दार्शनिक-काल की मीमासक विचारधारा ने तो यज्ञादि कर्म से उत्पन्न होने वाले अपूर्व नाम के पदार्थ की कल्पना कर वैदिक-दर्शन मे देवो के स्थान पर अदृष्ट–कर्म का ही साम्राज्य स्थापित कर दिया।

यदि हम इस समस्त इतिहास को दृष्टि-सन्मुख रखे तो वैदिको पर जैन-परम्परा के कर्मवाद का व्यापक प्रभाव स्पष्टत' प्रतीत होता है। वैदिक-परम्परा मे मान्य वेद और उपनिषदो तक की सृष्टि-प्रक्रिया के अनुसार जड और चेतन-सृष्टि अनादि न होकर सादि है। यह भी माना गया था कि, वह सृष्टि किसी एक या किन्ही अनेक जड अथवा चेतन-तत्त्वो से उत्पन्न हुई है। इससे विपरीत कर्म-सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पडता है कि, जड अथवा जीव सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है। यह मान्यता जैन-परम्परा के मूल मे ही विद्यमान है। उसके अनुसार किसी ऐसे समय की कल्पना नही की का सकती जब जड और चेतन का कर्म पर आश्रित अस्तित्व न रहा हो। यही नही, उपनिषदो के अनन्तरकालीन समस्त वैदिक-मतो मे भी ससारी-जीव का अस्तित्व इसी प्रकार अनादि स्वीकार किया गया है। यह कर्म-तत्त्व की मान्यता की ही देन है। कर्म-तत्त्व की कुन्जी इस सूत्र से प्राप्त होती है कि "जन्म का कारण कर्म है, और इसी सिद्धान्त के आधार पर ससार के अनादि होने की कल्पना की गई है। अनादि ससार के जिस सिद्धान्त को वाद मे सभी वैदिक-दर्शनो ने स्वीकार किया, वह इन दर्शनो की उत्पत्ति के पूर्व ही जैन एव बौद्ध परम्परा मे विद्यमान था। किन्तु वेद अथवा उपनिषदो मे इसे सर्वसम्मत सिद्धान्त के रूप मे स्वीकृत नही किया गया। इसी से पता चलता है कि, इस सिद्धान्त का मूल वेद-वाह्य परम्परा मे है। यह वेदेतर-परम्परा भारत मे आर्यो के आगमन से पहले के निवासियो की तो है ही और उनकी इन मान्यताओ का ही सम्पूर्ण विकास वर्तमान जैन-परम्परा मे उपलब्ध होता है।

जैन-परम्परा प्राचीन काल से ही कर्मवादी है, उसमे देववाद को कभी भी स्थान प्राप्त नही हुआ, अत कर्मवाद की जैसी व्यवस्था जैन-ग्रन्थो मे दृष्टिगोचर होती है वैसी विस्तृत व्यवस्था अन्यत्र दुर्लभ है। अनेक जीवो के उन्नत और अवनत जितने भी प्रकार सम्भव है, और एक ही जीव की, आध्यात्मिक दृष्टि मे ससार की निकृष्टतम अवस्था से लेकर उसके विकास के जितने भी सोपान हैं, उन सबमे कर्म का क्या प्रभाव है तथा इस दृष्टि से कर्म की कैसी विविधता है, इन सब वातो का प्राचीन काल से ही विस्तृत शास्त्रीय निरूपण जैसा जैन-शास्त्रो मे है, वैसा अन्यत्र दृग्गोचर होना शक्य नही है। इससे स्पष्ट है कि, कर्म-विचार का विकास जैन-परम्परा मे हुआ है और इसी परम्परा मे उसे व्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ है। जैनो के इन विचारो के स्फुलिंग अन्यत्र पहुँचे और उसी के कारण दूसरो की विचारधारा मे भी नूतन तेज प्रकट हुआ।

वैदिक विचारक यज्ञ की क्रिया के चारो ओर ही सारा वैचारिक आयोजन करते है। जैसे उन की मौलिक विचारणा का स्तम्भ यज्ञ क्रिया है वैसे ही जैन विद्वानो की समस्त विचारणा कर्म पर आधारित है, अत उनकी मौलिक विचारणा की नीव कर्मवाद है।

जब देववादी ब्राह्मणों का कर्मवादियों से सम्पर्क हुआ, तब देववाद के स्थान पर तत्काल ही कर्मवाद को आरुढ नही किया गया होगा। जिस प्रकार पहले आत्म-विद्या को गूढ एवं एकान्त में विचार करने योग्य माना गया था, उसी प्रकार कर्म-विद्या को भी रहस्य-पूर्ण और एकान्त में मननीय स्वीकार किया गया होगा। जिस प्रकार आत्म-विद्या के कारण यज्ञो में लोगों की श्रद्धा हटने लगी थी, उसी प्रकार कर्म-विद्या के कारण देवो सम्बन्धी श्रद्धा भी क्षीण होने लगी। इसी प्रकार के किसी कारणवश याज्ञवल्क्य जैसे दार्शनिक आर्तभाग को एकान्त में ले जाते है और उसे कर्म का रहस्य समझाते है। उस समय कर्म की प्रशसा करते हुए वे कहते है कि, पुण्य करने से मनुष्य श्रेष्ठ बनता है और पाप करने से निकृष्ट[1]।

वैदिक-परम्परा मे यज्ञ-कर्म तथा देव दोनो की मान्यता थी। जब देव की अपेक्षा कर्म का महत्व अधिक माना जाने लगा, तब यज्ञ का समर्थन करने वालो ने यज्ञ और कर्मवाद का समन्वय कर यज्ञ को ही देव बना दिया और वे यह मानने लगे कि, यज्ञ ही कर्म है तथा इसी से सब फल मिलते है। दार्शनिक व्यवस्था-काल मे इन लोगो की परम्परा का नाम मीमासक-दर्शन पडा। किन्तु वैदिक-परम्परा मे यज्ञ के विकास के साथ-साथ देवो की विचारणा का भी विकास हुआ था। ब्राह्मण-काल मे प्राचीन अनेक देवो के स्थान पर एक प्रजापति को देवाधिदेव माना जाने लगा। जिन लोगो की श्रद्धा इस देवाधिदेव पर अटल रही, उनकी परम्परा मे भी कर्मवाद को स्थान प्राप्त हुआ और उन्होंने भी प्रजापति तथा कर्मवाद का समन्वय अपने ढँग से किया है। वे मानते हैं कि, जीव को अपने कर्मानुसार फल तो मिलता है किन्तु इस फल को देने वाला देवाधिदेव ईश्वर है। ईश्वर जीवो के कर्मानुसार उन्हे फल देता है, अपनी इच्छा से नही। इस समन्वय को स्वीकार करने वाले वैदिक-दर्शनो मे न्याय-वैशेपिक, वेदान्त और उत्तरकालीन सेश्वर साख्य-दर्शन का समावेश है।

वैदिक-परम्परा के लिए अदृष्ट अथवा कर्म-विचार नवीन है और बाहर से उसका आयात हुआ है। इस बात का एक प्रमाण यह भी है कि, वैदिक लोग पहले आत्मा की शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रियाओ को ही कर्म मानते थे। तत्पश्चात् वे यज्ञादि बाह्य अनुष्ठानो को भी कर्म कहने लगे। किन्तु ये अस्थायी अनुष्ठान स्वयमेव फल कैसे दे सकते हैं ? उनका तो उसी समय नाश हो जाता है, अत किसी माध्यम की कल्पना करनी चाहिए। इस आधार पर मीमासा-दर्शन मे 'अपूर्व' नाम के पदार्थ की कल्पना की गई। यह कल्पना वेद मे अथवा ब्राह्मणो मे नही है। यह दार्शनिक-काल मे ही दिखाई देती है। इससे भी सिद्ध होता है कि अपूर्व के समान अदृष्ट पदार्थ की कल्पना मीमासको की मौलिक देन नही, परन्तु वेदेतर प्रभाव का परिणाम है।

इसी प्रकार वैशेपिक-सूत्रकार ने अदृष्ट (धर्माधर्म) के विषय मे सूत्र मे उल्लेख अवश्य किया है किन्तु उस अदृष्ट की व्यवस्था उसके टीकाकारो ने ही की है। वैशेपिक-सूत्रकार ने यह नही बताया कि अदृष्ट—धर्माधर्म क्या वस्तु है ? इसीलिए प्रशस्तपाद को उसकी व्यवस्था करनी पडी और उन्होंने इस का समावेश गुण पदार्थ मे किया। सूत्रकार ने अदृष्ट को

1 बृहदा० 3–2–13

स्पष्टतः गुणरूपेण प्रतिपादित नही किया, फिर भी इसे आत्मा का गुण क्यो माना जाए ? इस बात का स्पष्टीकरण प्रशस्तपाद ने किया है[1]। इससे प्रमाणित होता है कि वैशेपिको की पदार्थ-व्यवस्था मे अदृष्ट एक नवीन तत्त्व है।

इस प्रकार वैदिको ने यज्ञ अथवा देवाधिदेव के साथ अदृष्ट–कर्मवाद का समन्वय किया है। किन्तु याज्ञिक विद्वान् यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कर्मों के विषय मे विचार नही कर सके और ईश्वरवादी भी ईश्वर की सिद्धि के लिए जितनी शक्ति का व्यय करते रहे उतनी वे कर्मवाद के रहस्य का उद्घाटन करने मे नही लगा सके। अत कर्मवाद मूल-रूप मे जिस परम्परा का था, उसी ने उस वाद पर यथाशक्य विचार कर उसकी शास्त्रीय व्यवस्था की। यही कारण है कि कर्म की जैसी शास्त्रीय व्यवस्था जैनशास्त्रो मे है, वैसी अन्यत्र उपलब्ध नही होती। अत यह स्वीकार करना पडता है कि कर्मवाद का मूल जैन-परम्परा मे और उससे पूर्वकालीन आदिवासियो मे है।

अब कर्म के स्वरूप का विशेप वर्णन करने से पहले यह उचित होगा कि कर्म के स्थान मे जिन विविध कारणो की कल्पना की गई है, उन पर किंचित् विचार कर लिया जाए। उसके बाद उसी के आलोक मे कर्म का विवेचन किया जाए।

(2) कालवाद

विश्व-सृष्टि का कोई न कोई कारण होना चाहिए, इस बात का विचार वेद-परम्परा मे विविध रूप मे हुआ है। किन्तु प्राचीन ऋग्वेद से यह प्रकट नही होता कि, उस समय विश्व की विचित्रता—जीव सृष्टि की विचित्रता के निमित्त कारण पर भी विचार किया गया हो। इस विषय का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर (1 2) मे उपलब्ध होता है। उसमे काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत, और पुरुप इन मे से किसी एक को मानने अथवा सबके समुदाय को मानने वाले वादो का प्रतिपादन है। इससे ज्ञात होता है कि, उस समय चिन्तक कारण की खोज मे तत्पर हो गए थे और विश्व की विचित्रता की व्याख्या विविधरूप से करते थे। इन वादो मे कालवाद का मूल प्राचीन मालूम होता है। अथर्ववेद मे एक कालसूक्त है जिसमे कहा है कि :—

'काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते है, काल के कारण ही आँखे देखती हैं, काल ही ईश्वर है वह प्रजापति का भी पिता है, इत्यादि[2]।' इसमे काल को सृष्टि का मूल कारण मानने का सिद्धान्त है। किंतु महाभारत मे मनुष्यो की तो बात ही क्या, समस्त जीव-सृष्टि के सुख-दु ख, जीवन-मरण इन सब का आधार काल माना गया है। इस प्रकार महाभारत मे भी एक ऐसे पक्ष का उल्लेख मिलता है जो काल को विश्व की विचित्रता का मूल कारण मानता था। उसमे यहाँ तक कहा गया है कि, कर्म अथवा यज्ञ-यागादि अथवा किसी पुरुप द्वारा मनुष्यो को सुख-दु ख नही मिलता, किंतु मनुष्य काल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करता है। समस्त कार्यों मे समानरूप से

1 प्रशस्तपाद पृ 47,637,643

2. अथर्ववेद 19 53-54

काल ही कारण है, इत्यादि[1]। प्राचीन-काल मे काल का इतना महत्त्व होने के कारण ही दार्शनिक-काल मे नैयायिक आदि चिन्तको को इसके लिये प्रेरित किया कि अन्य ईश्वरादि कारणो के साथ काल को भी साधारण कारण माना जाए[2]।

(3) स्वभाववाद

उपनिषद् मे स्वभाववाद का उल्लेख है[3]। जो कुछ होता है, वह स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त कर्म या ईश्वर रूप कोई कारण नही है, यह बात स्वभाववादी कहा करते थे। बुद्ध-चरित मे स्वभाववाद का निम्न उल्लेख है। "कौन काँटे को तीक्ष्ण करता है ? अथवा पशु पक्षियो की विचित्रता क्यो है ?" इन सब बातो की प्रवृत्ति स्वभाव के कारण ही है। इसमे किसी की इच्छा अथवा प्रयत्न का अवकाश ही नही है[4]। गीता और महाभारत मे भी स्वभाववाद का उल्लेख है[5]। माठर और न्यायकुसुमाजलिकार ने स्वभाववाद[6] का खडन किया है और अन्य अनेक दार्शनिको ने भी स्वभाववाद[7] का निषेध किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी अनेक वार इस वाद का निराकरण किया गया है।

(4) यदृच्छावाद

श्वेताश्वतर मे यदृच्छा को कारण मानने वालो का भी उल्लेख है। इससे विदित होता है कि यह वाद भी प्राचीन काल से प्रचलित था। इस वाद का मन्तव्य यह है कि, किसी भी नियत कारण के विना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। यदृच्छा शब्द का अर्थ अकस्मात् है[8]। अर्थात् किसी भी कारण के विना। महाभारत मे भी यदृच्छावाद का उल्लेख[9] है। न्यायसूत्रकार ने इसी वाद का उल्लेख यह लिख कर दिया है कि, अनिमित्त—निमित्त के

---

1. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय 25, 28, 32, 33 आदि।
2 जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः। न्यायसिद्धांतमुक्तावलिका० 45, कालवाद के निराकरण के लिए शास्त्र-वार्ता-समुच्चय देखे 252-5, माठरवृत्तिका० 61
3 श्वेता० 1 2
4 बुद्ध-चरित 52,
5 भगवद्गीता 5 14, महाभारत शान्तिपर्व 25 16
6 माठरवृत्तिका० 61, न्यायकुसुमाजलि 1 5.
7. स्वभाववाद के बोधक निम्न श्लोक सर्वत्र प्रसिद्ध है —
   नित्य सत्त्वा भवन्त्यन्ये नित्यासत्त्वाश्च केचन।
   विचित्रा केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामक ॥
   अग्निरुष्णो जल शीत समस्पर्शस्तथानिल।
   केनेद चित्रित तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थिति ॥
8 न्याय-भाष्य 3 2.31
9. महाभारत शान्ति पर्व 33 23

विना ही काँटे की तीक्ष्णता के समान भावो की उत्पत्ति होती[1] है। उन्होने इस वाद का निराकरण भी किया है। अत अनिमित्तवाद, अकस्मात्वाद और यदृच्छावाद एक ही अर्थ के द्योतक है, ऐसा मानना चाहिए। कुछ लोग स्वभाववाद और यदृच्छावाद को एक ही मानते हैं किन्तु यह मान्यता ठीक नही है। इन दोनो मे यह भेद है कि, स्वभाववादी स्वभाव को कारण रूप मानते है, किन्तु यदृच्छावादी कारण की सत्ता को ही अस्वीकार करते है[2]।

(5) नियतिवाद

इस वाद का सर्वप्रथम उल्लेख भी श्वेताश्वतर मे है, किन्तु वहाँ अथवा अन्य उपनिषदो मे इस वाद का विशेष विवरण नही मिलता। जैनागम और बौद्ध-त्रिपिटक मे नियतिवाद सम्बन्धी बहुत सी बातें उपलब्ध होती हैं। जब भगवान् बुद्ध ने उपदेश देना प्रारम्भ किया तब नियतिवादी जगह-जगह अपने मत का प्रचार कर रहे थे। भगवान् महावीर को भी नियतिवादियो से वाद-विवाद करना पडा था। उनकी मान्यता थी कि, आत्मा और परलोक का अस्तित्व है, परन्तु ससार मे दृष्टिगोचर होने वाली जीवो की विचित्रता का कोई भी अन्य कारण नही है, सब कुछ एक निश्चित प्रकार से नियत है और नियत रहेगा। सभी जीव नियति-चक्र मे फँसे हुए हैं। जीव मे यह शक्ति नही कि इस चक्र मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सके। यह नियति-चक्र स्वय ही घूमता रहता है और जीवो को एक नियत क्रम के अनुसार इधर-उधर ले जाता है। जब यह चक्र पूर्ण हो जाता है तो जीव स्वत ही मुक्त हो जाता है। ऐसे वाद का प्रादुर्भाव उसी समय होता हे जब मानव-बुद्धि पराजित हो जाती है।

त्रिपिटक मे पूरण काश्यप और मखली गोशालक[3] के मतो का वर्णन आया है। एक के वाद का नाम 'अक्रियावाद' तथा दूसरे के वाद का नाम 'नियतिवाद' रखा गया है, किन्तु इन दोनो मे सिद्धान्तत विशेष भेद नही हैं। यही कारण है कि कुछ समय बाद पूरण काश्यप के अनुयायी आजीवको अर्थात् गोशालक के अनुयायियो मे मिल गये थे[4]। आजीवको और जैनो मे आचार तथा तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी बहुत सी बातो मे समानता थी किन्तु मुख्य भेद नियतिवाद तथा पुरुषार्थवाद[5] मे था। जैनागमो मे ऐसे कई उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनमे प्रकट है कि, भगवान् महावीर ने अनेक विख्यात नियतिवादियो के मत मे परिवर्तन कराया था[6]। सभव है कि धीरे-धीरे आजीवक जैन मे सम्मिलित होकर लुप्त हो गए हो। पकुध का मत भी अक्रियावादी है, अत वह नियतिवाद मे समाविष्ट हो जाता है।

सामञ्ञफलसुत्त मे गोशालक के नियतिवाद का निम्नलिखित वर्णन है :—

---

1. न्याय-सूत्र 4 1 22
2. प० फणिभूषण-कृत न्याय-भाष्य का अनुवाद 4 1 24 देखे।
3. दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त
4. बुद्धचरित (कोशाबी) पृ 179
5. नियतिवाद का विस्तृत वर्णन 'उत्थान' महावीराङ्क मे देखें पृ० 74
6. उपासकदशाग अ० 7

"प्राणियों की अपवित्रता का कुछ भी कारण नही है। कारण के विना ही वे अपवित्र होते है। उन के अपवित्र होने मे न कोई कारण है, न हेतु। प्राणियो की शुद्धता का भी कोई कारण अथवा हेतु नही है। हेतु और कारण के विना ही वे शुद्ध होते है। अपने सामर्थ्य के बल पर कुछ नही होता। पुरुप के सामर्थ्य के कारण किसी भी पदार्थ की सत्ता नही है। न बल है, न वीर्य, न ही पुरुप की शक्ति अथवा पराक्रम, सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी जीव अवश हैं, दुर्बल है, वीर्यविहीन है। उन मे भाग्य (नियति) जाति, वैशिष्ट्य और स्वभाव के कारण परिवर्तन होता है। छह जातियो मे से किसी भी एक जाति मे रहकर सब दु खो का उपभोग किया जाता है। चौरासी लाख महाकल्प के चक्र मे घूमने के बाद बुद्धिमान् और मूर्ख दोनो के ही दु.ख का नाश हो जाता है। यदि कोई कहे कि, 'मै शील, व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व करूगा, अथवा परिपक्व हुए कर्मों का भोग कर उन्हे नामशेष कर दूँगा' तो ऐसी बात कभी भी होने वाली नही है। इस ससार मे सुख-दु ख इस प्रकार अवस्थित है कि उन्हे परिमित पात्रों मे नापा जा सकता है। उनमे वृद्धि या हानि नही हो सकती। जिस प्रकार सूत की गोली (गेंद) उतनी ही दूर जाती है जितना लम्बा उसमे धागा होता है उसी प्रकार बुद्धिमान् और मूर्ख दोनो के दु ख (ससार) का नाश उसके चक्कर मे पडने पर ही होता है[1]।"

इसी प्रकार का ही किन्तु जरा आकर्षक ढँग का वर्णन जैनो के उपासकदशाग[2] और भगवती सूत्र[3] मे है। इनके अतिरिक्त सूत्रकृताग[4] मे भी अनेक स्थलो पर इस वाद के सम्बन्ध मे ज्ञातव्य बातें मिलती है।

बौद्ध पिटक मे पकुध कात्यायन के मत का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"सात पदार्थ ऐसे हैं जो किसी ने बनाए नही, बनवाए नही। उनका न तो निर्माण किया गया और न कराया गया। वे वन्ध्य है, कूटस्थ है और स्तम्भ के समान अचल हैं। वे हिलते नही, बदलते नही और एक दूसरे के लिए त्रासदायक नही। वे एक दूसरे के दु ख को, सुख को या दोनो को उत्पन्न नही कर सकते। वे सात तत्व ये है—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय, सुख,दु ख और जीव। इनका नाश करने वाला, करवाने वाला, इनको सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला अथवा इनका वर्णन करने वाला कोई भी नही है।" यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा किसी के मस्तक का छेदन करता है तो वह उसके जीवन का हरण नही करता। इससे केवल यही समझना चाहिए कि इन सात पदार्थो के अन्तर-स्थित स्थल मे शस्त्रो का प्रवेश[5] हुआ। पकुध के इस मत को नियतिवाद ही कहना चाहिए।

त्रिपिटक मे अक्रियावादी पूरण काश्यप के मत का वर्णन इन शब्दो मे किया गया है—'किसी ने कुछ भी किया हो अथवा कराया हो, काटा हो या कटवाया हो, त्रास दिया हो या

1. बुद्ध-चरित पृ० 171
2. अध्ययन 6 व 7
3. शतक 15
4. 2 1.12, 2,6
5 सामञ्ञफलसुत्त-दीघनिकाय 2, बुद्धचरित पृ. 173

दिलाया हो,.... प्राणी का वध किया हो, चोरी की हो, घर मे सेंध लगाई हो, डाका डाला हो, व्यभिचार किया हो, झूठ बोला हो, तो भी उसे पाप नही लगता। यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण धार वाले चक्र से पृथ्वी पर माँस का बडा ढेर लगा दे तो भी इसमे लेशमात्र पाप नहीं है। गगा नदी के दक्षिण तट पर जाकर कोई मारपीट करे, कत्ल करे या कराए, त्रास दे या दिलाए तो भी रत्ती भर पाप नहीं है। गगा नदी के उत्तर तट पर जाकर कोई दान करे या कराए, यज्ञ करे या कराए तो इसमे कुछ भी पुण्य नहीं है। दान, धर्म, सयम, सत्य भाषण इन सबसे कुछ भी पुण्य नहीं होता[1]। इसमे तनिक भी पुण्य नहीं है।" जैन सूत्रकृताग[2] मे भी अक्रियावाद का ऐसा ही वर्णन है। पूरण का यह अक्रियावाद भी नियतिवाद के तुल्य है।

(6) अज्ञानवादी

हम सजय वेलट्ठी पुत्र के मत को न तो नास्तिक कह सकते हैं और न ही उसे आस्तिक की कोटि मे रखा जा सकता है। वस्तुत. उसे तार्किक श्रेणी मे रखना चाहिए। उसने परलोक, देव, नारक, कर्म, निर्वाण जैसे अदृश्य पदार्थों के विषय मे स्पष्ट रूप से घोषणा की कि, इनके सम्बन्ध में विधिरूप, निषेधरूप, उभयरूप अथवा अनुभयरूप निर्णय करना शक्य ही नही है।[3] जिस समय ऐसे अदृश्य पदार्थों के विषय मे अनेक कल्पनाओ का साम्राज्य स्थापित हो रहा हो, तब एक ओर नास्तिक उनका निषेध करते हैं और दूसरी ओर विचारशील पुरुष दोनो पक्षो के बलाबल पर विचार करने मे तत्पर हो जाते हैं। इस विचारणा की एक भूमिका ऐसी भी होती है, जहाँ मनुष्य किसी बात को निश्चित रूप से मानने अथवा प्रतिपादित करने मे समर्थ नही होता उस समय या तो वह सशय-वादी बन कर प्रत्येक विषय मे सन्देह करने लग जाता है अथवा वह अज्ञानवाद की ओर झुक जाता है और कहने लगता है कि, सभी पदार्थों का ज्ञान सम्भव ही नही है। ऐसे अज्ञानवादियो के विषय मे जैनागमो मे कहा है कि, ये अज्ञानवादी तर्ककुशल होते हैं परन्तु असबद्ध प्रलाप करते है, उनकी अपनी शकाओ का ही निवारण नहीं हुआ है। वे स्वय अज्ञानी हैं और अज्ञजनो मे मिथ्या प्रचार करते हैं[4]।

(7) कालादि का समन्वय

जिस प्रकार वैदिक दार्शनिको ने वैदिक-परम्परा-सम्मत यज्ञकर्म और देवाधिदेव के साथ पूर्वोक्त प्रकार से कर्म का समन्वय किया, उसी प्रकार जैनाचार्यो ने जैन-परम्परा के दार्शनिक-काल मे कर्म के साथ कालादि कारणो के समन्वय करने का प्रयत्न किया। किसी भी

---

1 बुद्धचरित पृ. 170, दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त

2 सूत्रकृताग 1,1,1, 13

3 बुद्धचरित पृ 178, इस मत के विरुद्ध भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की योजना द्वारा वस्तु का अनेकरूपेण वर्णन किया है। न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना देखे पृ 39 से आगे।

4 सूत्रकृताग 1 12 2, महावीर स्वामीनो सयम धर्म (गु०) पृ 135, सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० 255, इसका विशेष वर्णन creative period मे देखें। पृ 454

कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर आश्रित नहीं, परन्तु उसका आधार कारण सामग्री पर है। इस सिद्धान्त के बल पर जैनाचार्यों ने कहा कि केवल कर्म ही कारण नही है, कालादि भी सहकारी कारण हैं। इस प्रकार सामग्रीवाद के आधार पर कर्म और कालादि का समन्वय हुआ।

जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस बात को मिथ्या धारणा माना है कि काल, स्वभाव नियति, पूर्वकृत-कर्म और पुरुषार्थ इन पांच कारणो मे किसी एक को ही कारण माना जाय और शेष कारणो की अवहेलना की जाए। उनके मतानुसार सम्यक् धारणा यह है कि, कार्य-निष्पत्ति मे उक्त पांचो कारणो का समन्वय किया जाए[1]। आचार्य हरिभद्र ने भी शास्त्रवार्ता-समुच्चय मे इसी बात का समर्थन किया[2] है। इससे ज्ञात होता है कि जैन भी कर्म को एकमात्र कारण नही मानते, परन्तु, गौण मुख्य भाव की अपेक्षा से कालादि सभी कारणों को मानते हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि, दैव (कर्म) और पुरुषार्थ के विषय मे एकान्त दृष्टि का त्याग कर अनेकान्त दृष्टि ग्रहण करनी चाहिए। जहाँ मनुष्य ने बुद्धि पूर्वक प्रयत्न न किया हो और उसे इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो, वहाँ मुख्यत. दैव को मानना चाहिए, क्योंकि यहाँ पुरुष-प्रयत्न गौण है और दैव प्रधान है। वे दोनो एक दूसरे के सहायक बनकर ही कार्य को पूर्ण करते हैं। परन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति हो, वहाँ अपने पुरुषार्थ को प्रधानता प्रदान करनी चाहिए और दैव अथवा कर्म को गौण मानना चाहिए। इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने दैव और पुरुषार्थ का समन्वय किया[3] है।

(8) कर्म का स्वरूप

कर्म का साधारण अर्थ क्रिया होता है और वेदो से लेकर ब्राह्मण काल तक वैदिक परम्परा मे यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है। इस परम्परा मे यज्ञयागादि नित्य-नैमित्तिक क्रियाओ को कर्म की सज्ञा दी गई है। यह माना जाता था कि इन कर्मों का आचरण देवो को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है और देव इन्हे करने वाले व्यक्ति की मनोकामना पूर्ण करते हैं। जैन परम्परा को कर्म का क्रिया रूप अर्थ मान्य है, किन्तु जैन इसका केवल यही अर्थ स्वीकार नही करते। ससारी जीव की प्रत्येक क्रिया अथवा प्रवृत्ति तो कर्म है ही, किन्तु जैन परिभाषा मे इसे भाव-कर्म कहते हैं। इसी भाव-कर्म अर्थात् जीव की क्रिया द्वारा जो अजीव द्रव्य (पुद्गल द्रव्य) आत्मा के ससर्ग मे आ कर आत्मा को बन्धन मे बाँध देता है, उसे द्रव्य-कर्म कहते है। द्रव्य-कर्म पुद्गल द्रव्य है, उसकी सज्ञा औपचारिक है क्योंकि वह आत्मा की क्रिया या उसके कर्म से उत्पन्न होता है, अत उसे भी कर्म कहते है। यहाँ कार्य मे कारण का उपचार किया गया है। अर्थात् जैन परिभाषा के अनुसार कर्म दो प्रकार का है —भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म जीव की क्रिया भाव-कर्म है और उसका फल द्रव्य-कर्म। इन दोनो मे कार्य-कारण भाव है —भाव-कर्म कारण है और द्रव्य-कर्म कार्य। किन्तु यह कार्य-कारण भाव

---

1 कालो सहाव णियई पुव्वकम्म पुरिसकारणेगता। मिच्छत्त त चेव उ समासओ हुति सम्मत्त।

2. अतः कालादय सर्वे समुदायेन कारणम्। गर्भादे कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभि। न चैकैकत एकेह क्वचित् किञ्चिदपीक्ष्यते। तस्मात् सर्वस्य कार्यस्य सामग्री जनिका मता। शास्त्रवार्ता० 2, 79 80

3 आप्तमीमासा का० 88 91

मुर्गी और उसके अडे के कार्य-कारण भाव के सदृश है। मुर्गी से अंडा होता है, अतः मुर्गी कारण है और अडा कार्य। यदि कोई व्यक्ति प्रश्न करे कि पहले मुर्गी थी या अडा? तो इसका उत्तर नही दिया जा सकता। यह तथ्य है कि अडा मुर्गी से होता है, परन्तु मुर्गी भी अडे से ही उत्पन्न हुई है। अतः दोनो मे कार्य-कारण भाव तो है परन्तु दोनो मे पहले कौन, यह नही कहा जा सकता। सतति की अपेक्षा मे इनका पारस्परिक कार्य-कारण भाव अनादि है। इसी प्रकार भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म उत्पन्न होता है, अत भाव-कर्म को कारण और द्रव्य-कर्म को कार्य माना जाता है। किन्तु द्रव्य-कर्म के अभाव मे भाव-कर्म की निष्पत्ति नही होती, अत द्रव्य-कर्म भाव-कर्म का कारण है। इस प्रकार मुर्गी और अडे के समान भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म का पारस्परिक अनादि कार्य-कारण भाव भी सतति की अपेक्षा से है।

यद्यपि सतति के दृष्टिकोण से भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म का कार्य-कारण भाव अनादि है, तथापि व्यक्तिश विचार करने पर ज्ञात होता है कि, किसी एक द्रव्य-कर्म का कारण कोई एक भाव-कर्म ही होता होगा, अत उनमे पूर्वापर भाव का निश्चय किया जा सकता है। कारण यह है कि, जिस एक भाव-कर्म से किसी विशेष द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति हुई है, वह उस द्रव्य-कर्म का कारण है और वह द्रव्य-कर्म उस भाव-कर्म का कार्य है, कारण नही। इस प्रकार हमे यह स्वीकार करना पडता है कि, व्यक्तिश पूर्वापर भाव होने पर भी जाति की अपेक्षा से पूर्वापर भाव का अभाव होने के कारण दोनो ही अनादि है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। यह तो स्पष्ट है कि भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति होती है, क्योकि अपने राग, द्वेष, मोहरूप परिणामो के कारण ही जीव द्रव्य-कर्म के बन्धन मे बद्ध होता है अथवा ससार मे परिभ्रमण करता है। किन्तु भाव-कर्म की उत्पत्ति मे द्रव्य-कर्म को कारण क्यो माना जाए? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि, यदि द्रव्य-कर्म के अभाव मे भी भाव-कर्म की उत्पत्ति सम्भव हो, तो मुक्त जीवो मे भी भाव-कर्म का प्रादुर्भाव होगा और उन्हे फिर ससार मे आना होगा। यदि ऐसा होता है, तो फिर ससार और मोक्ष मे कुछ भी अन्तर न रह जाएगा। जैसी बन्ध-योग्यता ससारी जीव मे है, वैसी ही मुक्त जीव मे माननी पडेगी। ऐसी दशा मे कोई भी व्यक्ति मुक्त होने के लिए क्यो प्रयत्नशील होगा? अत हमे स्वीकार करना होगा कि. मुक्त जीव मे द्रव्य-कर्म न होने के कारण भाव-कर्म भी नही है और द्रव्य-कर्म के होने के कारण ससारी जीव मे भाव-कर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म और द्रव्य-कर्म से भाव-कर्म की अनादिकालीन उत्पत्ति होने के कारण जीव के लिए ससार अनादि है।

द्रव्य-कर्म की उत्पत्ति भाव-कर्म से होती है, अत द्रव्य-कर्म भाव-कर्म का कार्य है। इन दोनो मे जो कार्य-कारण भाव है, उसका भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। मिट्टी का पिण्ड घटाकार में परिणत होता है, इसलिए मिट्टी को उपादान कारण माना जाता है। किन्तु कुम्हार न हो तो मिट्टी मे घट-रूप बनने की योग्यता होने पर भी घट नही बन सकता, अतः कुम्हार निमित्त कारण है। इसी प्रकार पुद्गल मे कर्म-रूप मे परिणत होने का सामर्थ्य है, अत पुद्गल द्रव्य-कर्म का उपादान कारण है, किन्तु जब तक जीव मे भाव-कर्म की सत्ता न हो, पुद्गल द्रव्य-कर्म-रूप मे परिणत नही हो सकता। इसलिए भाव-कर्म निमित्त कारण माना गया है।

इसी प्रकार द्रव्य-कर्म भी भाव-कर्म का निमित्त कारण है, अर्थात् द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म का कार्य-कारण-भाव उपादानोपादेय-रूप न होकर निमित्त-नैमित्तिक-रूप है।

संसारी आत्मा की प्रवृत्ति अथवा क्रिया को भाव-कर्म कहते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि उसकी कौन-सी क्रिया को भाव-कर्म कहना चाहिए? क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय आत्मा के आभ्यन्तर परिणाम हैं, यही भाव-कर्म हैं। अथवा राग, द्वेष, मोह-रूप आत्मा के आभ्यन्तर परिणाम भाव-कर्म हैं। संसारी आत्मा सदैव शरीर-सहित होती है, अतः मन, वचन, काय के अवलम्बन के बिना उसकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। आत्मा के कषाय-रूप अथवा राग, द्वेष, मोहरूप आभ्यन्तर परिणामों का आविर्भाव मन, वचन, काय की प्रवृत्ति द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि, संसारी आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति जिसे योग भी कहते हैं राग, द्वेष, मोह अथवा कषाय के रंग में रंजित होती है। वस्तुतः प्रवृत्ति एक ही है, परन्तु जैसे कपड़े और उसके रंग को भिन्न-भिन्न भी कहते हैं, वैसे ही आत्मा की इस प्रवृत्ति के भी दो नाम हैं —योग और कषाय। रंग से हीन कोरा कपड़ा एक रूप ही होता है। इसी प्रकार कषाय के रंग से विहीन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति एक-रूप होती है। जब कपड़े में रंग होता है तब कपड़े का रंग कभी हलका और कभी गहरा होता है। इसी तरह योग-व्यापार के साथ कषाय के रंग की उपस्थिति में भाव-कर्म कभी तीव्र होता है और कभी मन्द। रंग रहित वस्त्र छोटा या बड़ा हो सकता है, कषाय के रंग से हीन योग-व्यापार भी न्यूनाधिक हो सकता है, किन्तु रंग के कारण होने वाली चमक की तीव्रता अथवा मन्दता का उसमें अभाव होता है। इसलिए योग-व्यापार की अपेक्षा रंग प्रदान करने वाले कषाय का महत्व अधिक है, अतः कषाय को ही भाव-कर्म कहते हैं। द्रव्य-कर्म के बन्ध में योग एवं कषाय[1] दोनों को ही साधारणतः निमित्त कारण माना गया है, तथापि कषाय को ही भाव-कर्म मानने का कारण यही है।

सारांश यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय अथवा राग, द्वेष, मोह[2] ये दोष भाव-कर्म हैं इनसे द्रव्य-कर्म को ग्रहण कर जीव बद्ध होते हैं।

अन्य दार्शनिकों ने इसी बात को दूसरे नामों से स्वीकार किया है। नैयायिकों ने राग, द्वेष और मोह रूप इन तीन दोषों को माना है। इन तीन दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर जीवों के मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति से धर्म व अधर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म व अधर्म को उन्होंने 'संस्कार'[3] कहा है। नैयायिकों ने जिन राग, द्वेष, मोह रूप तीन दोषों का

---

1 जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाओ। पंचम कर्मग्रन्थ गाथा 96

2, उत्तराध्ययन 32 7, 30.1; तत्त्वार्थ 8 2, स्थानांग 2 2, समयसार 94, 96, 109, 177, प्रवचनसार 1, 84, 88

3 न्यायभाष्य 1.1 2, न्यायसूत्र 4,1,3–9; न्यायसूत्र 1 1.17, न्यायमंजरी पृ० 471, 472, 500 इत्यादि।

एवं च क्षणभंगित्वात् संस्कारद्वारिका स्थितः।
स कर्मजन्यसंस्कारो धर्माधर्मगिरोच्यते ॥ न्यायमंजरी पृ० 472

उल्लेख किया है, वे जैनो को मान्य हैं और जैन उन्हे भाव-कर्म कहते हैं। नैयायिक जिसे दोप-जन्य प्रवृत्ति कहते है, उसे ही जैन योग कहते है। नैयायिको ने प्रवृत्ति-जन्य धर्माधर्म को सस्कार अथवा अदृष्ट की सज्ञा प्रदान की है, जैनो मे पौद्गलिक-कर्म अथवा द्रव्य-कर्म का वही स्थान है। नैयायिक-मत मे धर्माधर्म-रूप सस्कार आत्मा का गुण है। किन्तु हमे स्मरण रखना चाहिए कि इस मत मे गुण व गुणी का भेद होने से केवल आत्मा ही चेतन है, उसका गुण सस्कार चेतन नही कहला सकता, क्योकि सस्कार में चैतन्य का समवाय सम्बन्ध नही है। जैन-सम्मत द्रव्य-कर्म भी अचेतन है, अत सस्कार कहे या द्रव्य-कर्म, दोनो अचेतन है। दोनो मतो मे भेद इतना ही है कि सस्कार एक गुण है जब कि द्रव्य-कर्म पुद्गल-द्रव्य है। गहन विचार करने पर यह भेद भी तुच्छ प्रतीत होता है। जैन यह मानते हैं कि द्रव्य-कर्म भाव-कर्म से उत्पन्न होते हैं। नैयायिक भी सस्कार की उत्पत्ति ही स्वीकार करते है। भाव-कर्म ने द्रव्य-कर्म को उत्पन्न किया, इस मान्यता का अर्थ यह नही है कि भाव-कर्म ने पुद्गल-द्रव्य को उत्पन्न किया। जैनो के मत के अनुसार पुद्गल-द्रव्य तो अनादिकाल से विद्यमान है, अत उपर्युक्त मान्यता का भावार्थ यही है कि, भाव-कर्म ने पुद्गल का कुछ ऐसा सस्कार किया जिसके फल-स्वरूप वह पुद्गल कर्म-रूप मे परिणत हुआ। इस प्रकार भाव-कर्म के कारण पुद्गल मे जो विशेष सस्कार हुआ, वही जैन-मत मे वास्तविक कर्म है। यह सस्कार पुद्गल-द्रव्य से अभिन्न है, अत· इसे पुद्गल कहा गया है। ऐसी परिस्थिति मे नैयायिको के सस्कार एव जैन-सम्मत द्रव्य-कर्म मे विशेष भेद नही रह जाता।

जैनो ने स्थूल-शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म-शरीर भी माना है। उसे वे कार्मण शरीर कहते हैं। इसी कार्मण शरीर के कारण स्थूल शरीर का आविर्भाव होता है। नैयायिक कार्मण शरीर को 'अव्यक्त-शरीर' भी कहते[1] है। जैन कार्मण शरीर को अतीन्द्रिय मानते हैं, इसलिए वह अव्यक्त ही है।

वैशेषिक-दर्शन की मान्यता भी नैयायिको के समान है। प्रशस्तपाद ने जिन 24 गुणो का प्रतिपादन किया है, उनमे अदृष्ट भी एक गुण है। यह गुण सस्कार गुण से भिन्न है[2]। उसके दो भेद हैं—धर्म और अधर्म। इससे ज्ञात होता है कि, प्रशस्तपाद धर्माधर्म का उल्लेख सस्कार शब्द से न कर अदृष्ट शब्द से करते है। इसे मान्यता-भेद न मानकर केवल नाम-भेद समझना चाहिए, क्योकि नैयायिको के सस्कार के समान प्रशस्तपाद ने अदृष्ट को आत्मा का गुण माना है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन मे भी दोप से सस्कार, सस्कार से जन्म, जन्म से दोप और फिर दोष से सस्कार एव जन्म, यह परम्परा बीज और अकुर के समान अनादि मानी है। यह जैनो द्वारा मान्य भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म की पूर्वोक्त अनादि परम्परा जैसी ही है[3]।

---

1 द्वे शरीरस्य प्रकृती व्यक्ता च अव्यक्ता च। तत्र अव्यक्ताया कर्मसमाख्याताया प्रकृतेरुप-भोगात् प्रक्षय। प्रक्षीणे च कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्ति इति उपपन्नोऽपवर्ग। न्यायवा० 3 2 68

2 प्रशस्तपाद-भाष्य पृ० 47, 437, 643

3 न्यायमजरी पृ० 513

योग-दर्शन की कर्म-प्रक्रिया से जैन-दर्शन की अत्यधिक समानता है। योग-दर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश है। इन पांच क्लेशो के कारण क्लिष्टवृत्ति—चित्त-व्यापार की उत्पत्ति होती है और उसमे धर्म-अधर्म-रूप सस्कार उत्पन्न होते हैं। इनमे क्लेशो को भाव-कर्म, वृत्ति को योग और सस्कार को द्रव्य-कर्म समझा जा सकता है। योग-दर्शन मे सस्कार को वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा गया है। पुनश्च, इस मत मे क्लेश और कर्म का कार्य-कारण-भाव जैनो के समान वीजाकुर की तरह अनादि माना गया है[1]।

जैन और योग-प्रक्रिया मे अन्तर यह है कि, योग-दर्शन की प्रक्रियानुसार क्लेश, क्लिष्ट-वृत्ति और सस्कार इन सबका सम्बन्ध आत्मा से नही अपितु चित्त अथवा अन्त करण के साथ है और यह अन्त करण प्रकृति का विकार—परिणाम है।

यह कहने की आवश्यकता नही है कि, साख्य मान्यता भी योग-दर्शन जैसी ही है, परन्तु साख्यकारिका व उसकी माठर-वृत्ति तथा साख्यतत्त्वकौमुदी मे बन्ध-मोक्ष की चर्चा के प्रसग मे जिस प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, उसकी जैन-दर्शन की कर्म-सम्बन्धी मान्यता से जिस प्रकार की समानता है, वह विशेष रूप से ज्ञातव्य है। यह भेद ध्यान मे रखना चाहिए कि, साख्य-मतानुसार पुरुष कूटस्थ है और अपरिणामी है परन्तु जैन मतानुसार वह परिणामी है। क्योकि साख्यो ने आत्मा को कूटस्थ स्वीकार किया, अत उन्होने ससार एव मोक्ष भी परिणामी प्रकृति मे ही माने। जैनो ने आत्मा के परिणामी होने के कारण ज्ञान, मोह, क्रोध आदि आत्मा मे ही स्वीकार किए। किन्तु साख्यो ने इन सब भावो को प्रकृति का धर्म माना है, अत उन्हे यह मानना पडा कि, उन भावो के कारण बन्ध-मोक्ष आत्म-स्थानीय पुरुष का नही होता, परन्तु प्रकृति का ही होता है। जैन और साख्य प्रक्रिया मे यही भेद है। इस भेद की उपेक्षा करने के पश्चात् यदि जैनो और साख्य की ससार एव मोक्ष विषयक प्रक्रिया की समानता पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि दोनो की कर्म-प्रक्रिया मे कुछ भी अन्तर नही है।

जैन-मतानुसार मोह, राग, द्वेष इन सब भावो के कारण अनादि काल से आत्मा के साथ पौद्‌गलिक कार्मण शरीर का सम्बन्ध है। भावो व कार्मण शरीर मे वीजाकुरवत् कार्य-कारण भाव है। एक की उत्पत्ति मे दूसरा कारण-रूप से विद्यमान रहता है, फिर भी अनादि काल से दोनो ही आत्मा के ससर्ग मे आये हुए है। इस वात का निर्णय अशक्य है कि दोनो मे प्रथम कौन है। इसी प्रकार साख्य-मत मे लिंग-शरीर अनादि काल से पुरुष के ससर्ग मे है। इस लिंग-शरीर की उत्पत्ति राग, द्वेप, मोह जैसे भावो से होती है और भाव तथा लिंग-शरीर मे भी वीजाकुर के समान ही कार्य-कारण-भाव[2] है। जैसे जैन औदारिक (स्थूल) शरीर को कार्मण शरीर से पृथक् मानते हैं, वैसे ही साख्य भी लिंग (सूक्ष्म) शरीर को स्थूल शरीर से भिन्न मानते[3] है। जैनो के मत मे स्थूल और सूक्ष्म दोनो ही शरीर पौद्‌गलिक है, साख्य-मत मे ये

---

1 योग-दर्शन भाष्य 1 5, 2 3, 2 12, 2.13 तथा उसकी तत्त्ववैशारदी, भास्वति आदि टीकाएँ।

2 साख्यका० 52 की माठर वृत्ति तथा साख्यतत्त्वकौमुदी।

3. साख्यका० 39

दोनो ही प्राकृतिक है। जैन दोनो शरीरो को पुद्गल का विकार मानकर भी दोनो की वर्गणाओ को भिन्न-भिन्न मानते है । साख्यो ने एक को तान्मात्रिक तथा दूसरे को माता-पितृ-जन्य माना है । जैनो के मत मे मृत्यु के समय औदारिक शरीर अलग हो जाता है और जन्म के समय नवीन उत्पन्न होता है, किन्तु कार्मण शरीर मृत्यु के समय एक स्थान से दूसरे स्थान मे गमन करता है और इस प्रकार विद्यमान रहता है। साख्य मान्यता के अनुसार भी माता-पितृ-जन्य स्थूल शरीर मृत्यु के समय साथ नही रहता और जन्म के अवसर पर नया उत्पन्न होता है, किन्तु लिंग-शरीर कायम रहता है और एक जगह से दूसरी जगह गति करता[1] है। जैनो के अनुसार अनादि काल से सम्बद्ध कार्मण शरीर मोक्ष के समय निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार साख्य-मत मे भी मोक्ष के समय लिंग-शरीर की निवृत्ति हो जाती है[2]। जैनो के मत मे कार्मण शरीर और राग, द्वेप आदि भाव अनादि काल से साथ-साथ ही है, एक के विना दूसरे का अस्तित्व नही है। इसी प्रकार साख्य-मत मे लिंग-शरीर भी भाव के बिना नही होता और भाव लिंग-शरीर के बिना नही होते[3]। जैन-मत मे कार्मण शरीर प्रतिघात-रहित है, साख्य-मत मे लिंग-शरीर अव्याहत गति वाला है, उसे कही भी रुकावट का सामना नही करना पडता[4]। जैन-मतानुसार कार्मण शरीर मे उपभोग करने की शक्ति नही है, किन्तु औदारिक शरीर इन्द्रियो द्वारा उपभोग करता है। साख्य-मत मे भी लिंग-शरीर उपभोग-रहित[5] है।

यद्यपि साख्य-मत मे रागादि भाव प्रकृति के विकार है, लिंग-शरीर भी प्रकृति का विकार है और अन्य भौतिक पदार्थ भी प्रकृति के ही विकार है, तथापि इन सभी विकारो मे विद्यमान जातिगत भेद से साख्य इन्कार नही करते। उन्होने तीन प्रकार के सर्ग माने है — प्रत्यय सर्ग, तान्मात्रिक सर्ग, भौतिक सर्ग। राग-द्वेषादि भाव प्रत्यय सर्ग मे समाविष्ट[6] हैं, और लिंग-शरीर तान्मात्रिक सर्ग[7] मे। इसी प्रकार जैनो के मत मे रागादि भाव पुद्गल-कृत ही हैं, कामण शरीर भी पुद्गल कृत है, परन्तु इन दोनो मे मौलिक भेद है। भावो का उपादान कारण आत्मा है और निमित्त पुद्गल, जब कि कार्मण शरीर का उपादान पुद्गल है और निमित्त आत्मा। साख्य-मत मे प्रकृति अचेतन होते हुए भी पुरुष-ससर्ग के कारण चेतन के समान व्यवहार[8] करती है। इसी प्रकार जैन-मत मे पुद्गल द्रव्य अचेतन होकर भी जब आत्म-ससर्ग से कर्म-रूप मे

---

1 माठरका० 44,40, योग-दर्शन मे भी यह बात मान्य है—योगसूत्र-भाष्य-भास्वती 2 13

2 माठरवृत्ति 44

3 साख्यका० 41

4 साख्यतत्त्वकौ० 40

5 साख्यका० 40

6 साख्यका० 46

7. साख्यत० कौ० 52

8. माठर-वृत्ति पृ० 9.14 33

परिणत होता है तब चेतन के सदृश ही व्यवहार करता है। जैनो ने ससारी आत्मा और शरीर आदि जड-पदार्थों का ऐक्य क्षीर-नीर-तुल्य स्वीकार किया है। इसी प्रकार साख्यो ने पुरुष एवं शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि जड-पदार्थों का ऐक्य क्षीर-नीर के समान ही माना है[1]।

जैन-सम्मत भाव-कर्म की तुलना साख्य-सम्मत भावो[2] से, योग की तुलना वृत्ति[3] से और द्रव्य-कर्म अथवा कार्मण शरीर की तुलना लिंग-शरीर से की जा सकती है। जैन तथा साख्य दोनो ही कर्म-फल अथवा कर्म-निष्पत्ति मे ईश्वर जैसे किसी कारण को स्वीकार नही करते।

जैन-मतानुसार आत्मा वस्तुत मनुष्य, पशु, देव, नारक इत्यादि रूप नही है, प्रत्युत आत्माधिष्ठित कार्मण शरीर भिन्न-भिन्न स्थानो मे जाकर मनुष्य, देव, नारक इत्यादि रूपो का निर्माण करता है। साख्य-मत मे भी लिंग-शरीर पुरुषाधिष्ठित होकर मनुष्य, देव, तिर्यञ्च रूप भूतसर्ग का निर्माण करता[4] है।

जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन मे भी यह बात मानी गई है कि जीवो की विचित्रता कर्म-कृत[5] है। जैनो के सदृश ही बौद्धो ने भी लोभ (राग), द्वेष और मोह को कर्म की उत्पत्ति का कारण स्वीकार किया है। राग, द्वेष और मोह युक्त होकर प्राणी (सत्त्व) मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ करता है और राग, द्वेष, मोह को उत्पन्न करता है। इस प्रकार ससार-चक्र चलता रहता[6] है। इस चक्र का कोई आदि काल नही है, यह अनादि[7] है। राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि, जीव द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति कहाँ है ? आचार्य ने उत्तर दिया कि, यह दिखलाया नही जा सकता कि कर्म कहाँ रहते[8] है। विसुद्धिमग्ग मे कर्म को अरूपी कहा गया है (17 110), किन्तु अभिधर्म-कोष मे वह अविज्ञप्ति रूप है (1 9) और यह रूप सप्रतिघ न होकर अप्रतिघ है। सौत्रान्तिक-मत मे कर्म का समावेश अरूप मे है। वे अविज्ञप्ति[9] नही मानते। इससे ज्ञात होता है कि, जैनो के समान बौद्धो ने भी कर्म को सूक्ष्म माना है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति भी कर्म कहलाती है किन्तु वह विज्ञप्ति-रूप अथवा प्रत्यक्ष है।

---

1 माठर-वृत्ति पृ० 29, का० 17

2 साख्यका० 40

3 साख्यका० 28,29,30

4 माठरका० 40,44 53

5 भासित पेत महाराज भगवता—कम्मस्सका माणव, सत्ता, कम्मदायादा, कम्मयोनी, कम्मबन्धू, कम्मपटिसरणा, कम्म सत्ते विभजति, यदिद हीनपणीततायाति।" मिलिन्द० 3,2; कर्मज लोकवैचित्र्य—अभिधर्म कोष 4 1

6 अगुत्तरनिकाय तिकनिपात सूत्र 33.1, भाग 1 पृ० 134

7 सयुत्तनिकाय 15.5 6 (भाग 2) पृ० 181–82

8. न सक्का महाराज तानि कम्मानि दस्सेतु इध वा इध वा तानि कम्मानि तिट्ठन्तीति। मिलिन्दप्रश्न 3–15 पृ० 75

9 नवमी ओरियटल कॉफ्रेंस पृ० 620

अर्थात् यहाँ कर्म का अभिप्राय मात्र प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नही अपितु प्रत्यक्ष कर्म-जन्य सस्कार है। बौद्ध-परिभाषा मे उसे वासना और अविज्ञप्ति कहते हैं। मानसिक क्रिया-जन्य-सस्कार (कर्म) को वासना और वचन एव काय-जन्य-सस्कार (कर्म) को अविज्ञप्ति[1] कहते हैं।

यदि तुलना करना चाहे तो कह सकते है कि, बौद्ध-सम्मत कर्म के कारणभूत राग, द्वेष एव मोह जैन-सम्मत भाव-कर्म हैं, मन, वचन, काय का प्रत्यक्ष-कर्म जैन-मत मे योग है और इस प्रत्यक्ष-कर्म से उत्पन्न वासना तथा अविज्ञप्ति द्रव्य-कर्म हैं।

विज्ञानवादी बौद्ध कर्म को वासना शब्द से प्रतिपादित करते है। प्रज्ञाकर का कथन है कि, जितने भी कार्य हैं, वे सब वासना-जन्य है। ईश्वर हो अथवा कर्म (क्रिया), प्रधान (प्रकृति) हो या अन्य कुछ, इन सबका मूल वासना ही है। न्यायी ईश्वर को मानकर यदि विश्व की विचित्रता की उपपत्ति की जाये तो भी वासना को स्वीकार किये बिना काम नही चलता। अर्थात् ईश्वर, प्रधान, कर्म इन सब नदियो का प्रवाह वासना-समुद्र मे मिलकर एक हो जाता है[2]।

शून्यवादी मत मे माया अथवा अनादि अविद्या का ही दूसरा नाम वासना है। वेदान्त मत मे भी विश्व वैचित्र्य का कारण अनादि अविद्या अथवा माया है[3]।

मीमासको ने यागादि कर्म-जन्य अपूर्व नाम के एक पदार्थ की सत्ता स्वीकार[3] की है। उनकी वे यह युक्ति देते है —मनुष्य जो कुछ अनुष्ठान करता है वह क्रिया-रूप होने के कारण क्षणिक होता है, अत उस अनुष्ठान से अपूर्व नामक पदार्थ का जन्म होता है, जो यागादि-कर्म अनुष्ठान का फल प्रदान करता है। कुमारिल ने इस अपूर्व पदार्थ की व्याख्या करते हुए कहा है कि, अपूर्व का अर्थ है योग्यता। जब तक यागादि-कर्म का अनुष्ठान नही किया जाता, तब तक वे यागादि-कर्म और पुरुष दोनो ही स्वर्ग-रूप फल उत्पन्न करने मे असमर्थ (अयोग्य) होते है, परन्तु अनुष्ठान के पश्चात् एक ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है जिस से कर्ता को स्वर्ग का फल मिलता है। इस विषय मे आग्रह नही करना चाहिए कि यह योग्यता पुरुष की है अथवा यज्ञ की। इतना जानना पर्याप्त है कि वह उत्पन्न होती[5] है।

अन्य दार्शनिक जिसे सस्कार, योग्यता, सामर्थ्य, शक्ति कहते हैं, उसे मीमासक अपूर्व शब्द के प्रयोग से व्यक्त करते है परन्तु वे यह अवश्य मानते है कि, वेद-विहित कर्म से

---

1. अभिधर्मकोष चतुर्थ परिच्छेद, Keith : Buddhist philosophy p 203
2 प्रमाणवार्तिकालकार पृ० 75, न्यायावतारवार्तिक वृत्ति की टिप्पणी पृ० 177–78 मे उद्धृत।
3 ब्रह्मसूत्र–शाकर भाष्य 2 1.14
4. शाबर-भाष्य 2 1 5; तन्त्रवार्तिक 2 1 5; शास्त्रदीपिका पृ० 80
5 कर्मभ्य प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुपस्य वा।
योग्यता शास्त्रगम्या या परा साऽपूर्वमिष्यते ॥ तन्त्रवा० 2 1.5

जिस सस्कार अथवा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, उसी को अपूर्व कहना चाहिए, अन्य कर्म-जन्य सस्कार अपूर्व[1] नही हैं।

मीमासक यह भी मानते[2] हैं कि, अपूर्व अथवा शक्ति का आश्रय आत्मा है और आत्मा के समान अपूर्व भी अमूर्त[3] है।

मीमासको के इस अपूर्व की तुलना जैनो के भाव-कर्म से इस दृष्टि से की जा सकती है कि दोनो को अमूर्त माना गया[4] है। वस्तुत अपूर्व जैनो के द्रव्य-कर्म के स्थान पर है। मीमासक इस क्रम को मानते हैं '—कामना-जन्य कर्म—यागादि-प्रवृत्ति और यागादि-प्रवृत्ति-जन्य अपूर्व। अत काम या तृष्णा को भाव-कर्म, यागादि-प्रवृत्ति को जैन-सम्मत योग-व्याापर और अपूर्व को द्रव्य-कर्म कहा जा सकता है। पुनश्च, मीमासको के मतानुसार अपूर्व एक स्वतन्त्र पदार्थ है, अत यही उचित प्रतीत होता है कि उसे द्रव्य-कर्म के स्थान पर माना जाए। यद्यपि द्रव्य कर्म अमूर्त नहीहै , तथापि अपूर्व के समान अतीन्द्रिय तो है ही।

कुमारिल इस अपूर्व के विषय मे भी एकान्त आग्रह नही करते। यज्ञ-फल को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपूर्व का समर्थन तो किया है, किन्तु इस कर्म-फल की उत्पत्ति अपूर्व के विना भी उन्होने स्वय की है। उनका कथन है कि, कर्म द्वारा फल ही सूक्ष्म शक्ति रूप से उत्पन्न हो जाता है। किसी भी कार्य की उत्पत्ति हठात् नही होती, किन्तु वह शक्ति-रूप मे सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर और सूक्ष्म होकर बाद मे स्थूल-रूप से प्रकट होता है। जिस प्रकार दूध मे खटाई मिलाते ही दही नही बन जाता, परन्तु अनेक प्रकार के सूक्ष्म-रूपो को पारकर वह अमुक समय मे स्पष्ट रूप से दही के आकार मे व्यक्त होता है, उसी प्रकार यज्ञ-कर्म का स्वर्गादि फल अपने सूक्ष्म-रूप मे तत्काल उत्पन्न होकर, बाद मे काल का परिपाक होने पर स्थूल-रूप से प्रकट[5] होता है।

शकराचार्य ने मीमासक-सम्मत इस अपूर्व की कल्पना अथवा सूक्ष्म शक्ति की कल्पना का खण्डन किया है और यह बात सिद्ध की है कि, ईश्वर कर्मानुसार फल प्रदान करता है। उन्होने इस पक्ष का समर्थन किया है कि, फल की प्राप्ति कर्म से नही अपितु ईश्वर से होती है[6]।

कर्म के स्वरूप की इस विस्तृत विचारणा का सार यही है कि, भाव-कर्म के विषय मे किसी भी दार्शनिक को आपत्ति नही है। सभी के मत मे राग, द्वेष और मोह भाव-कर्म अथवा कर्म के कारण रूप हैं। जैन जिसे द्रव्य-कर्म कहते हैं, उसी को अन्य दार्शनिक कर्म कहते हैं। सस्कार, वासना, अविज्ञप्ति, माया, अपूर्व इसी के नाम हैं। हम यह देख चुके है कि, वह

---

1 तन्त्रवार्तिक पृ० 395–96

2 तन्त्रवा० पृ० 398, शास्त्रदीपिका पृ० 80

3 तन्त्रवा० पृ० 398

4, न्यायावतारवार्तिक मे मैंने इस दृष्टि से तुलना की है। टिप्पणी पृ० 181

5 सूक्ष्मशक्त्यात्मक वा तत् फलमेवोपजायते—तन्त्रवा० पृ० 395

6 ब्रह्मसूत्र-शाकरभाष्य 3 2 38–41

पुद्गल द्रव्य है, गुण है, धर्म है अथवा अन्य कोई स्वतन्त्र द्रव्य है। इस विषय मे दार्शनिको का मतभेद तो है, परन्तु वस्तु के सम्बन्ध मे विशेष विवाद नही है। अब हम इस कर्म अथवा द्रव्य-कर्म के भेद आदि पर विचार करेंगे।

(9) कर्म के प्रकार :

दार्शनिको ने विविध प्रकार से कर्म के भेद किए हैं, परन्तु पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म रूप भेद सभी दर्शनो को मान्य है। अत हम कह सकते है कि, कर्म के पुण्य-पाप अथवा शुभ-अशुभ रूप भेद प्राचीन हैं और कर्म-विचारणा के प्रारम्भिक काल मे यही दो भेद हुए होगे। प्राणी जिस कर्म के फल को अनुकूल अनुभव करता है वह पुण्य है और जिस फल को प्रतिकूल समझता है वह पाप है। इस प्रकार के भेद उपनिषद्[1], जैन[2], साख्य[3], बौद्ध[4], योग[5], न्याय-वैशेषिक[6] इन सब दर्शनो मे दृष्टिगोचर होते हैं। फिर भी वस्तुत सभी दर्शनो ने पुण्य एव पाप इन दोनो ही कर्मो को बन्धन ही माना है और इन दोनो से मुक्त होना अपना ध्येय निश्चित किया है। फलत विवेकशील व्यक्ति कर्म-जन्य अनुकूल वेदना को भी सुखरूप न मानकर दु खरूप ही स्वीकार करते हैं[7]।

कर्म के पुण्य, पाप रूप दो भेद वेदना की दृष्टि से किये गये हैं, किन्तु वेदना के अतिरिक्त अन्य दृष्टियो से भी कर्म के भेद किये जाते हैं। वेदना के नही किन्तु कर्म को अच्छा और बुरा समझने की दृष्टि को सन्मुख रखकर बौद्ध और योग-दर्शन[8] मे कृष्ण, शुक्ल, शुक्ल-कृष्ण, तथा अशुक्लाकृष्ण नामक चार भेद किये गये है। कृष्ण पाप है, शुक्ल पुण्य है, शुक्ल कृष्ण पुण्य-पाप का मिश्रण है और अशुक्लाकृष्ण इन दोनो मे से कोई भी नही, क्योकि यह कर्म वीतराग पुरुषो का ही होता है। इसका विपाक न सुख है और न ही दु ख। कारण यह है कि उनमे राग-द्वेष नही होता[9]।

इसके अतिरिक्त कृत्य, पाकदान और पाककाल की दृष्टि से भी कर्म के भेद किये गये हैं। बौद्धो के अभिधर्मकोश और विशुद्धिमार्ग मे समान[10] रूप से कृत्य की दृष्टि से चार, पाकदान की दृष्टि से चार और पाककाल की दृष्टि से चार इस प्रकार बारह प्रकार के कर्म का

---

1 बृहदारण्यक 3 2 13, प्रश्न. 3.7

2 पचम कर्मग्रन्थ गा० 15–77, तत्त्वार्थ 8 21

3. साख्यका० 44

4 विसुद्धिमग्ग 17.88

5. योग-सूत्र 2 14, योग-भाष्य 2.12

6 न्यायमञ्जरी पृ० 472, प्रशस्तपाद पृ० 637, 643

7 परिणामतापसस्कारदु खैर्गुणवृत्तिविरोधात् च दु खमेव सर्वं विवेकिन । योग-सूत्र 2 15

8 योग-दर्शन 4 7, दीघनिकाय 3 1 2, बुद्धचर्या पृ० 496

9 योग-दर्शन 4 7

10 अभिधम्मत्थ सग्रह 5 19, विसुद्धिमग्ग 19 14–16 इन भेदो की चर्चा आगे की जाएगी।

वर्णन है, किन्तु अभिधर्म मे पाकस्थान की दृष्टि से चार भेद अधिक प्रतिपादित किये गये है। योग-दर्शन[1] मे भी इन दृष्टियो के आधार पर कर्म सम्बन्धी सामान्य विचारणा है, किन्तु गणना बौद्धो से भिन्न है। इन सब बातो के होते हुए भी यह स्वीकार करना पडता है कि, एक प्रकार से नही अपितु अनेक प्रकार से कर्मों के भेद का व्यवस्थित वर्गीकरण जैसा जैन-ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

जैन-शास्त्रो मे कर्म की प्रकृति अथवा स्वभाव की दृष्टि से कर्म के आठ मूल भेदो का वर्णन है — ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठ मूल भेदो की अनेक उत्तर-प्रकृतियो का विविध जीवो की अपेक्षा से विविध प्रकार से निरूपण भी वहाँ उपलब्ध होता है। बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि की दृष्टि से किस जीव मे कितने कर्म होते है, उन का वर्गीकृत व्यवस्थित प्रतिपादन भी वहाँ दृग्गोचर होता है। यहाँ इन सब बातो का विस्तार अनावश्यक है, जिज्ञासु उसे अन्यत्र देख सकते है[2]।

(10) कर्म-बन्ध के प्रबल कारण

योग और कषाय दोनो ही कर्म-बन्धन के कारण गिने गये है, किन्तु इन दोनो मे प्रबल कारण कषाय ही है। यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। किन्तु आत्मा के इन कषायो की अभिव्यक्ति मन, वचन और काय से ही होती है। इन तीनो मे से किसी एक का आश्रय लिए बिना कषायो के व्यक्त होने का अन्य कोई भी मार्ग नही है। ऐसी दशा मे प्रश्न होता है कि मन, वचन, काय इन तीनो मे कौन-सा आलम्बन प्रबल है ?

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् (2) के उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि, मन ही प्रबल कारण है। काय और वचन की प्रवृत्ति मे मन सहायक माना गया है। यदि मन का सहयोग न हो तो वचन अथवा काय की प्रवृत्ति अव्यवस्थित होती है, अत उपनिषद् के अनुसार मन, वचन, काय मे मन की ही प्रबलता है। इसीलिए अर्जुन ने कृष्ण को कहा, 'चञ्चल हि मन कृष्ण[3]' इस चचल मन को वश मे करना सरल नही है। जब तक इसका सर्वथा क्षय न हो जाए, इसका निरोध जारी रहना चाहिए। जब आत्मा मन का पूर्ण निरोध कर लेती है, तब ही वह परमपद को प्राप्त करती है[4]। जैनो के समान उपनिषदो मे इस मन को दो प्रकार का माना गया है—शुद्ध और अशुद्ध। काम या सकल्प रूप मन अशुद्ध है और उससे रहित शुद्ध[5]। अशुद्ध मन ससार

---

1 योग-सूत्र 2 12–14

2 कर्मग्रन्थ 1–6, गोमट्टसार कर्मकाण्ड

3 भगवद् गीता 6 34

4. तावदेव निरोद्धव्य यावद् हृदि गत क्षयम्।
एतज्ज्ञान च मोक्ष च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तर ॥ ब्रह्मवि० 5

5 ब्रह्मबिन्दु 1

का साधन है और शुद्ध मन मोक्ष का। जैन मान्यतानुसार जब तक कषाय का नाश नही हो जाता, तब तक अशुद्ध मन विद्यमान रहता है। क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानक नामक बारहवें गुणस्थान मे और बाद मे शुद्ध मन होता है। केवली सर्वप्रथम इसका निरोध करता है और तत्पश्चात् वचन एव काय का निरोध करता[1] है। इससे सिद्ध होता है कि, जब तक मन का निरोध न हो जाए, तब तक वचन और काय के निरोध का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। वचन और काय का सचालक बल मन है। इस बल के समाप्त होने पर वचन और काय निर्बल हो कर निरुद्ध हो जाते हैं। अत मन, वचन, काय की प्रवृत्तियो मे जैनो ने मन की वृत्ति को प्रबल माना है। हिंसा-अहिंसा के विचार मे भी काय-योग अथवा वचन-योग के स्थान पर मानसिक अध्यवसाय, राग तथा द्वेष को ही कर्म-बन्ध का मुख्य कारण माना है। इस बात की चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी है[2], अत यहाँ विस्तार की आवश्यकता नही है। ऐसा होने पर भी बौद्धो ने जैनो पर आक्षेप किया है कि, जैन काय-कर्म अथवा काय-दण्ड को ही महत्व प्रदान करते हैं। यह उनका भ्रम[3] है। इस भ्रम का कारण साम्प्रदायिक विद्वेष तो है ही, इस के अतिरिक्त जैनो के आचार-नियमो मे बाह्याचार पर जो अधिक जोर दिया गया है, वह भी इस भ्रांति का उत्पादक है। जैनो ने इस विषय मे बौद्धो का जो खण्डन किया है, उसमे भी यह प्रतीति सम्भव है कि, शायद जैन बौद्धो के समान मन को प्रबल कारण नही मानते, अन्यथा वे बौद्धो के इस मत का खण्डन क्यो करे[4] ?

यह लिखने की आवश्यकता नही है कि जैनो के समान बौद्ध भी मन को ही कर्म का प्रधान कारण मानते है। उपालि सुत्त मे बौद्धो के इस मन्तव्य का स्पष्ट उल्लेख है। धम्मपद की निम्नलिखित प्रथम गाथा से भी इसी मत की पुष्टि होती है —

'मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो न दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पद ॥'

ऐसी वस्तु स्थिति मे भी बौद्ध टीकाकारो ने हिंसा-अहिंसा की विचारणा करते हुए आगे जाकर जो विवेचन किया है, उसमे मन के अतिरिक्त अन्य अनेक बातो का समावेश कर दिया। फलत इस मूल मन्तव्य के विषय मे उनका अन्य दार्शनिको के साथ जो एकमत था, वह स्थिर नही रह सका[5]।

---

1 विशेषावश्यक 3059–3064

2 गाथा 1762–68

3. मज्झिमनिकाय, उपालिसुत्त 2 2 6

4 सूत्रकृताग 1 1 2.24-32, 2 6 26–28, विशेष जानकारी के लिए ज्ञानबिन्दु की प्रस्तावना देखें—पृ० 30–35, टिप्पण पृ० 80– 7।

5 विनय की अट्ठकथा मे प्राणातिपात सम्बन्धी विचार देखें। बौद्धो के ये वाक्य भी विचारणीय हैं —

प्राणी प्राणीज्ञान घातकचित्त च तद्गता चेष्टा।
प्राणैश्च विप्रयोग पञ्चभिरापद्यते हिंसा ।

(11) कर्मफल का क्षेत्र

कर्म के नियम की मर्यादा क्या है ? अर्थात् यहाँ इस बात पर विचार करना भी आवश्यक है कि, जीव और जड-रूप दोनो प्रकार की सृष्टि मे कर्म का नियम सम्पूर्णत लागू होता है अथवा उसकी कोई मर्यादा है ? एक-मात्र काल, ईश्वर, स्वभाव आदि को कारण मानने वाले जिस प्रकार समस्त कार्यों मे काल या ईश्वरादि का कारण मानते हैं, उसी प्रकार क्या कर्म भी सभी कार्यों की उत्पत्ति मे कारण-रूप है अथवा उसकी कोई सीमा है ? जो वादी केवल एक चेतन तत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, उनके मत मे कर्म, अदृष्ट अथवा माया समस्त कार्यों मे साधारण निमित्त कारण है। विश्व की विचित्रता का आधार भी यही है। नैयायिक, वैशेषिक केवल एक तत्त्व से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति नही मानते, फिर भी वे समस्त कार्यों मे कर्म या अदृष्ट को साधारण कारण मानते हैं। अर्थात् जड एव चेतन के समस्त कार्यों मे अदृष्ट एक साधारण कारण है। चाहे सृष्टि जड-चेतन की हो, परन्तु वे यह बात स्वीकार करते है कि वह चेतन के प्रयोजन की सिद्धि मे सहायक है, अत. इसमे चेतन का अदृष्ट निमित्त कारण है।

बौद्ध-दर्शन की मान्यता है कि, कर्म का नियम जड़-सृष्टि मे काम नही करता। यही नही, उनके मतानुसार जीवो की सभी प्रकार की वेदना का भी कारण कर्म नही है। मिलिन्दप्रश्न मे जीवो की वेदना के आठ कारण बताए गये हैं —वात, पित्त, कफ, इन तीनो का सन्निपात, ऋतु, विषमाहार, औपक्रमिक और कर्म। जीव इन आठ कारणो मे से किसी भी एक कारण के फल-स्वरूप वेदना का अनुभव करता है। आचार्य नागसेन ने कहा है कि, वेदना के उपर्युक्त आठ कारणो के होने पर भी जीवो की सम्पूर्ण वेदना का कारण कर्म को ही मानना मिथ्या है। वस्तुत जीवो की वेदना का अत्यन्त अल्प भाग पूर्वकृत कर्म के फल का परिणाम है, अधिकतर भाग का आधार अन्य कारण है। कौन-सी वेदना किस कारण का परिणाम है, इस बात का अन्तिम निर्णय भगवान् बुद्ध ही कर सकते हैं[1]। जैन मतानुसार भी कर्म का नियम आध्यात्मिक-सृष्टि मे लागू होता है। भौतिक-सृष्टि मे यह नियम अकिंचित्कर है। जड-सृष्टि का निर्माण उसके अपने ही नियमानुसार होता है। जीव-सृष्टि मे विविधता का कारण कर्म का नियम है। जीवो के मनुष्य, देव, तिर्यञ्च, नारकादि विविध रूप, शरीरो की विविधता, जीवो के सुख, दु ख, ज्ञान, अज्ञान, चारित्र, अचारित्र आदि भाव-कर्म के नियमानुसार हैं। किन्तु भूकम्प जैसे भौतिक कार्यों मे कर्म के नियम का लेश-मात्र भी हस्तक्षेप नही है। जब हम जैन-शास्त्रो मे प्रतिपादित कर्म की मूल और उत्तर-प्रकृतियो तथा उनके विपाक पर विचार करते है, तो यह बात स्वत प्रमाणित हो जाती है[2]।

(12) कर्मबन्ध और कर्मफल की प्रक्रिया .

जैन-शास्त्रो मे इस बात का सुव्यवस्थित वर्णन है कि, आत्मा मे कर्म-बन्ध किस प्रकार होता है और बद्ध कर्मों की फल-क्रिया कैसी है। वैदिक-परम्परा के ग्रन्थो मे उपनिषद् तक के

1 मिलिन्दप्रश्न 4 । 62, पृ० 137

2 छठे कर्मग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद मे प० फूलचन्द जी की प्रस्तावना देखें— पृ० 43

साहित्य मे इस सम्बन्ध मे कोई विवरण नही है। योग-दर्शन-भाष्य मे विशेष-रूप से इसका वर्णन है। अन्य दार्शनिक-टीका ग्रन्थो मे इसके सम्बन्ध मे जो सामग्री उपलब्ध होती है, वह नगण्य है, अत यहाँ इस प्रक्रिया का वर्णन जैन-ग्रन्थो के आधार पर ही किया जाएगा। तुलना-योग्य विषयो का निर्देश भी उचित स्थान पर किया जाएगा।

लोक मे कोई भी ऐसा स्थान नही है जहाँ कर्म-योग्य पुद्गल-परमाणुओ का अस्तित्व न हो। जब ससारी जीव अपने मन, वचन, काय से कुछ भी प्रवृत्ति करता है, तब कर्म-योग्य पुद्गल-परमाणुओ के स्कन्धो का ग्रहण सभी दिशाओ से होता है। किन्तु इसमे क्षेत्र-मर्यादा यह है कि, जितने प्रदेश मे आत्मा होती है, वह उतने ही प्रदेश मे विद्यमान परमाणु-स्कन्धो का ग्रहण करती है, दूसरो का नही। प्रवृत्ति के तारतम्य के आधार पर परमाणुओ की सख्या मे भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा अधिक होने पर परमाणुओ की अधिक सख्या का ग्रहण होता है और कम होने पर कम सख्या का। इसे प्रदेश-बन्ध कहते हैं। गृहीत परमाणुओ का भिन्न-भिन्न ज्ञानावरण आदि प्रकृति-रूप मे परिणत होना प्रकृति-बन्ध कहलाता है। इस प्रकार जीव के योग के कारण परमाणु-स्कन्धो के परिमाण और उनकी प्रकृति का निश्चय होता है। इन्हे ही क्रमश प्रदेश-बन्ध और प्रकृति-बन्ध कहते हैं। तत्त्वत आत्मा अमूर्त्त है, परन्तु अनादि काल से परमाणु-पुद्गल के सम्पर्क मे रहने के कारण वह कथञ्चित् मूर्त्त है। आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का वर्णन दूध एव जल अथवा लोहे के गोले और अग्नि के सम्बन्ध के समान किया गया है। अर्थात् एक-दूसरे के प्रदेशो मे प्रवेश कर आत्मा और पुद्गल अवस्थित रहते हैं। साख्यो ने भी यह स्वीकार किया है कि, ससारावस्था मे पुरुष और प्रकृति का बन्ध दूध और पानी के सदृश एकीभूत है। नैयायिक और वैशेषिको ने आत्मा तथा धर्माधर्म का सम्बन्ध सयोगमात्र न मानकर समवाय-रूप माना है। उसका कारण भी यही है कि वे दोनो एकीभूत जैसे ही हैं। उन्हे पृथक्-पृथक् कर बताया नही जा सकता, केवल लक्षण भेद से पृथक् समझा जा सकता है।

गृहीत परमाणुओ मे कर्म-विपाक के काल और सुख-दु ख-विपाक की तीव्रता और मन्दता का निश्चय आत्मा की प्रवृत्ति अथवा योग-व्यापार मे कषाय की मात्रा के अनुसार होता है। इन्हे क्रमशः स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध कहते हैं। यदि कषाय की मात्रा न हो तो कर्म-परमाणु आत्मा के साथ सम्बद्ध नही रह सकते। जिस प्रकार सूखी दीवार पर धूल चिपकती नही है, केवल उसका स्पर्श कर अलग हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा मे कषाय की स्निग्धता के अभाव मे कर्म-परमाणु उससे सम्बद्ध नही हो सकते। सम्बद्ध न होने के कारण उनका अनुभाग अथवा विपाक भी नही हो सकता। योगदर्शन मे भी क्लेश-रहित योगी के कर्म को अशुक्लाकृष्ण माना गया है। उसका तात्पर्य भी यही है। बौद्धो ने क्रिया-चेतना के सद्भाव मे अर्हत् मे कर्म की सत्ता अस्वीकार की है। इसका भावार्थ भी यही है कि, वीतराग नवीन कर्मों का बन्ध नही करता। जैन जिसे ईर्यापथ अथवा असाम्परायिक क्रिया मानते हैं, उसे बौद्ध क्रिया-चेतना कहते हैं।

कर्म के उक्त चार प्रकार के बन्ध हो जाने के पश्चात् तत्काल ही कर्म-फल मिलना प्रारम्भ नही हो जाता। कुछ समय तक फल प्रदान करने की शक्ति का सम्पादन होता रहता

है। चूल्हे पर रखते ही कोई भी चीज पक नहीं जाती, जैसी वस्तु हो उसी के अनुसार उसके पकने मे समय लगता है। इसी प्रकार विविध कर्मों का पाककाल भी एक जैसा नही है। कर्म के इस पाक योग्यता-काल को जैन-परिभाषा मे 'आबाधाकाल' कहते है। कर्म के इस आबाधा-काल के व्यतीत होने पर ही कर्म अपना फल देना प्रारम्भ करते है। इसे ही कर्म का उदय कहते है। कर्म की जितनी स्थिति का बन्ध हुआ हो, उतनी अवधि मे कर्म के परमाणु क्रमशः उदय मे आते है और फल प्रदान कर आत्मा से अलग हो जाते है। इसे कर्म की निर्जरा कहते है। जब आत्मा से सभी कर्म अलग हो जाते हैं, तब जीव मुक्त हो जाता है।

यह कर्म-बन्ध प्रक्रिया और कर्म-फल-प्रक्रिया की सामान्य रूपरेखा है। यहाँ इनकी गहराई मे जाने की आवश्यकता नही है।

(13) कर्म का कार्य अथवा फल :

सामूहिक रूप मे कर्म का कार्य यह है कि जब तक कर्म-बन्ध का अस्तित्व है, तब तक जीव मोक्ष प्राप्त नही कर सकता। समस्त कर्मों की निर्जरा होने पर ही मोक्ष होता है। कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ ये हैं —ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र।

इनमे से प्रथम चार घाती कहलाती हैं। इसका कारण यह है कि, इन से आत्मा के गुणों का घात होता है। अन्तिम चार अघाती हैं। इनमे आत्मा के किसी गुण का घात नही होता, परन्तु ये आत्मा को वह स्वरूप प्रदान करते है जो उसका वास्तविक नही है। सारांश यह है कि, घाती कर्म आत्मा के स्वरूप का घात करते हैं और अघाती कर्म उसे वह रूप देते हैं जो उस का निजी नही है।

ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञान-गुण का घात करता है और दर्शनावरण दर्शन गुण का। दर्शन-मोहनीय से तत्त्वरुचि अथवा सम्यक्त्व गुण का घात होता है और चारित्र-मोहनीय से परमसुख अथवा सम्यक् चारित्र का। अन्तराय वीर्यादिशक्ति के प्रतिघात का कारण है। इस तरह घाती कर्म आत्मा की विविध शक्तियो का घात करते है।

वेदनीय कर्म आत्मा मे अनुकूल अथवा प्रतिकूल वेदना के आविर्भाव का कारण है। आयु कर्म द्वारा आत्मा नारकादि विविध भवो की प्राप्ति और स्थिति करता है। जीवो को विविध गति, जाति, शरीर आदि की उपलब्धि नाम कर्म के कारण होती है। जीवो मे उच्चत्व नीचत्व गोत्र कर्म के कारण उत्पन्न होता है।

उक्त आठ मूल प्रकृतियो के उत्तर भेदो की संख्या बन्ध की अपेक्षा से 120 है। ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नव, वेदनीय के दो, मोहनीय के छब्बीस, आयु के चार, नाम के सड़सठ, गोत्र के दो और अन्तराय के पाँच भेद हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवल-ज्ञानावरण ये पांच ज्ञानावरण हैं। चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि ये नव दर्शनावरण है। सात और असात दो प्रकार का वेदनीय होता है। मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ;

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ—ये 16 कषाय, स्त्री, पुरुष, नपुसक ये तीन वेद, तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह् हास्यादि पट्क, इस प्रकार नव नोकपाय ये सव मिलकर मोहनीय के 26 भेद हैं। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये आयु के चार प्रकार हैं। नाम कर्म के 67 भेद ये है :—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य एव देव ये चार गति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय ये पाँच जाति, औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर, औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनो के अगोपाग, वज्रऋषभनाराच सहनन, ऋषभनाराच सहनन, नाराच सहनन, अर्धनाराच सहनन, कीलिका सहनन, सेवार्त सहनन ये छह् सहनन, समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, कुब्ज, वामन, हुण्ड ये छह् सस्थान, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श ये वर्णादि चार, नारकादि चार आनुपूर्वी, प्रशस्त एव अप्रशस्त दो विहायोगति, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थ, निर्माण, उपघात ये आठ प्रत्येक प्रकृति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति ये त्रस दशक, और इसके विपरीत स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, असुभग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति ये स्थावर दशक। गोत्र के दो भेद है—उच्च गोत्र, नीच गोत्र । दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय ये पाँच अन्तराय के भेद है।

मिथ्यात्व मोह् का ऊपर एक भेद गिना है, यदि उसके तीन भेद गिने जाएँ तो उदय और उदीरणा की अपेक्षा से 122 प्रकृति होती है। इसका कारण यह है कि वन्ध तो एक मिथ्यात्व का होता है, किन्तु जीव अपने अध्यवसाय द्वारा उसके तीन पुञ्ज (समूह) कर लेता है—अशुद्ध, अर्ध-विशुद्ध और शुद्ध। उन्हे क्रम से मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व कहते है। अत वन्ध एक होते हुए भी उदय तथा उदीरणा की अपेक्षा से तीन प्रकृतियाँ गिनी जाती हैं। अत: उदय और उदीरणा की अपेक्षा से 120 के स्थान मे 122 प्रकृतियाँ है, किन्तु कर्म की सत्ता की दृष्टि से नाम कर्म के उत्तर भेद 67 की जगह 93 माने तो 148 और 103 माने तो वे 158 हो जाती हैं।

ऊपर वर्णन की गई नाम-कर्म की 67 प्रकृतियो मे पाँच वन्धन, पाँच सघात ये दस और वर्ण चतुष्क की जगह उसके वीस उपभेद गिनें तो 16—इस प्रकार कुल 26 और मिलाने से 93 भेद होते हैं। यदि पाँच वन्धन के स्थान मे पनरह वन्धन मानें तो 103 भेद होते हैं।

इन सव प्रकृतियो का वर्गीकरण पुण्य एव पाप मे किया गया है। इस विषय मे प्रस्तुत ग्रन्थ मे निर्देश है, अत यहाँ उसका विवेचन अनावश्यक[1] है।

इसके अतिरिक्त इनके दो विभाग और किये गये है—ध्रुव-वन्धिनी और अध्रुव-वन्धिनी। जो प्रकृतियाँ वन्ध हेतु के होने पर भी आवश्यक रूप से वन्ध मे नही आती, उन्हे अध्रुववन्धिनी कहते हैं और जो हेतु के अस्तित्व मे अवश्य ही बद्ध होती है उन्हे ध्रुववन्धिनी[2] कहते हैं।

---

1 गाथा 1946

2 पचम कर्मग्रन्थ गाथा 1-4

उक्त प्रकृतियो का एक और रीति मे भी विभाजन किया गया है —ध्रुवोदया और अध्रुवोदया। जिनका उदय स्वोदय-व्यवच्छेद काल पर्यन्त कभी भी विच्छिन्न नही होता वे ध्रुवोदया और जिनका उदय विच्छिन्न हो जाता है और जो फिर उदय मे आती हैं उन्हें अध्रुवोदया[1] कहते हैं।

सम्यक्त्व आदि गुणो की प्राप्ति होने से पूर्व उक्त प्रकृतियो में मे जो प्रकृतियाँ समस्त ससारी जीवो मे विद्यमान होती है, उन्हे ध्रुवसत्ताका और जो नियमत विद्यमान नही होती, उन्हे अध्रुवसत्ताका कहते है[2]।

उक्त प्रकृतियो के दो विभाग इस प्रकार भी किये जाते हैं —अन्य प्रकृति के वन्ध अथवा उदय किंवा इन दोनो को रोककर जिस प्रकृति का वन्ध अथवा उदय किंवा दोनो हो, उसे परावर्तमाना और जो इससे विपरीत हो वह अपरावर्तमाना कहलाती है[3]।

उक्त प्रकृतियो मे से कुछ ऐसी हैं जिनका उदय उस समय ही होता है जव जीव नवीन शरीर को धारण करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रहा हो। अर्थात् उनका उदय विग्रह-गति मे ही होता है। ऐसी प्रकृतियो को क्षेत्र-विपाकी कहते हैं। कुछ ऐसी प्रकृतियाँ है जिनका विपाक जीव मे होता है, उन्हे जीव-विपाकी कहते हैं। कुछ प्रकृतियो का विपाक नर-नारकादि भव-सापेक्ष है, उन्हे भव-विपाकी कहते हैं। कुछ का विपाक जीव-सम्बद्ध शरीरादि पुद्गलो मे होता है, उन्हे पुद्गल-विपाकी कहते है[4]।

जिस जन्म मे कर्म का वन्धन हुआ हो उसी मे ही उसका भोग हो, यह कोई नियम नही है, किन्तु उसी जन्म मे अथवा अन्य जन्म मे किंवा दोनो मे कृत-कर्म को भोगना पडता[5] है।

जैन-दृष्टि के आधार पर जिस वस्तुस्थिति का ऊपर वर्णन किया गया है, उसकी तुलना मे अन्य ग्रन्थो मे उपलव्ध मान्यताओ का भी यहाँ उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है।

योग-दर्शन मे कर्म का विपाक तीन प्रकार का वताया गया है —जाति, आयु, और भोग[6]। जैन-सम्मत नाम-कर्म के विपाक की तुलना योग-सम्मत जाति-विपाक से, आयु-कर्म के विपाक की तुलना आयु-विपाक से की जा सकती है। योग-दर्शन के अनुसार भोग का अर्थ है— सुख, दुःख और मोह[7], अत जैन-सम्मत वेदनीय-कर्म के विपाक की इस भोग से तुलना सम्भव है। योग-दर्शन मे मोह का अर्थ व्यापक है, उसमे अप्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति दोनो का समावेश है। अत जैन-सम्मत ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और मोहनीय कर्म के विपाक योग-दर्शन-सम्मत मोहनीय के सदृश है।

---

1 पचम कर्मग्रन्थ गाथा 6–7
2. पचम कर्मग्रन्थ गाथा 8–9
3. पचम कर्मग्रन्थ गाथा 18–19
4 पचम कर्मग्रन्थ गाथा 19–21
5 स्थानाग सूत्र 77
6 योग-दर्शन 2 13
7 योगभाष्य 2 13

विपाक के सम्बन्ध मे जैन-मत मे जैसे प्रत्येक कर्म का विपाक नियत है, वैसे योग-दर्शन मे नियत नही है। योग-मत के अनुसार सचित समस्त कर्म मिलकर उक्त जाति, आयु, भोग-रूप विपाक का कारण बनते है[1]।

न्यायवार्तिककार ने कर्म के विपाक-काल को अनियत वर्णित किया है। यह कोई नियम नही है कि, कर्म का फल इसी लोक मे या परलोक मे अथवा जात्यन्तर मे ही मिलता है। कर्म अपना फल उसी दशा मे देते हैं जब सहकारी कारणो का सन्निधान हो तथा सन्निहित कारणो मे भी कोई प्रतिबन्धक न हो। यह निर्णय करना कठिन है कि यह शर्त कब पूरी हो। इस चर्चा के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि, अपने ही विपच्यमान-कर्म के अतिशय द्वारा अन्य कर्म की फल-शक्ति का प्रतिबन्ध सम्भव है। समान भोग वाले अन्य प्राणियो के विपच्य-मान-कर्म द्वारा भी कर्म की फल-शक्ति के प्रतिबन्ध की सम्भावना है। ऐसी अनेक सम्भावनाओ का उल्लेख करने के पश्चात् वार्तिककार ने लिखा है कि, कर्म की गति दुर्विज्ञेय है, मनुष्य इस प्रक्रिया के पार का पता नही लगा सकता[2]।

जयन्त ने न्यायमञ्जरी मे कहा है कि, विहित कर्म के फल का काल-नियम निर्धारित नही किया जा सकता। कुछ विहित कर्म ऐसे है जिनका फल तत्काल मिलता है—जैसे कारीरी यज्ञ का फल वृष्टि। कुछ विहित-कर्मो का फल ऐहिक होते हुए भी काल-सापेक्ष है—जैसे पुत्रेष्टि का फल पुत्र, तथा ज्योतिष्टोम आदि का फल स्वर्गादि परलोक मे मिलता है। किन्तु सामान्य रूप से यह नियम निश्चित किया जा सकता है कि, निषिद्ध कर्म का फल तो परलोक मे ही मिलता है[3]।

योग-दर्शन[4] मे कर्माशय और वासना मे भेद किया गया है। एक जन्म मे सचित कर्म को कर्माशय कहते है तथा अनेक जन्मो के कर्मो के सस्कार की परम्परा को वासना कहते हैं। कर्माशय का विपाक दो प्रकार का है—अदृष्टजन्म-वेदनीय और दृष्टजन्म-वेदनीय। जिसका विपाक दूसरे जन्म मे मिले वह अदृष्टजन्म-वेदनीय तथा जिसका विपाक इस जन्म मे मिल जाए वह दृष्टजन्म-वेदनीय कहलाता है। विपाक के तीन भेद है —जाति अथवा जन्म, आयु और भोग। अर्थात् अदृष्टजन्म-वेदनीय के तीन फल हैं—नवीन जन्म, उस जन्म की आयु और उस जन्म का भोग। किन्तु दृष्टजन्म-वेदनीय कर्माशय का विपाक आयु व भोग अथवा केवल भोग है, जन्म नही। यदि यहाँ भी जन्म का विपाक स्वीकार किया जाए तो वह अदृष्टजन्म-वेदनीय

---

1. तस्माज्जन्मप्रापणान्तरे कृत पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्र. प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थित प्रायेणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरण प्रसाध्य सन्मूर्छित एकमेव जन्म करोति, तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्क भवति। तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोग सम्पद्यते इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगतहेतुत्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयते।—योगभाष्य 2 13
2 न्यायवा० 3 2 61
3. न्यायमञ्जरी पृ० 505, 275
4 योगभाष्य 2 13

हो जाएगा। नहुष देव था, अर्थात् उसकी देव-रूप मे जन्म और देवायु दोनो वातें जारी थी। फिर भी कुछ समय के लिए सर्प वन कर उसने दुःख का भोग किया और तदनन्तर वह पुन देव वन गया। यह दृष्टजन्म-वेदनीय भोग का उदाहरण है। नन्दीश्वर ने मनुष्य होते हुए भी देवायु और देव-भोग प्राप्त किए, किन्तु उसका मनुष्य जन्म जारी रहा।

वासना का विपाक असख्य जन्म, आयु और भोग माने गये हैं। कारण यह है कि, वासना की परम्परा अनादि है।

जिस प्रकार योग-दर्शन[1] मे कृष्ण-कर्म की अपेक्षा शुक्ल-कर्म को अधिक वलवान् माना गया है और कहा गया है कि, शुक्ल-कर्म का उदय होने पर कृष्ण-कर्म फल दिये विना ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वौद्धो ने भी अकुशल-कर्म की अपेक्षा कुशल-कर्म को अधिक वलवान् माना है, किन्तु वे कुशल-कर्म को अकुशल-कर्म का नाशक नही मानते। इस लोक मे पापी को अनेक प्रकार के दण्ड एव दुःख भोगने पडते है और पुण्यशाली को अपने पुण्य कार्यों का फल प्राय. इसी लोक में नही मिलता। वौद्धो ने इसका कारण यह वताया है कि, पाप परिमित हैं अत उसके विपाक का अन्त शीघ्र ही हो जाता है, किन्तु कुशल-कर्म विपुल हैं, अत उसका दीर्घकाल मे होता है। यद्यपि कुशल और अकुशल दोनो का फल परलोक मे मिलता है, तथापि अकुशल के अधिक सावद्य होने के कारण उसका फल यहाँ भी मिल जाता है[2]। पाप की अपेक्षा पुण्य विपुलतर क्यो हैं ? इस वात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि, पाप करने के पश्चात् मनुष्य को पश्चात्ताप होता है और वह कहता है कि, अरे ! मैंने पाप किया। इससे पाप की वृद्धि नही होती किन्तु शुभ काम करने के वाद मनुष्य को पश्चात्ताप नहीं होता, वल्कि प्रमोद–आनन्द होता है, अत उसका पुण्य उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता है[3]।

वौद्धो के मत मे कृत्य के आधार पर कर्म के जो चार भेद किये गये हैं उनमे एक जनक-कर्म है और दूसरा उसका उत्थम्भक है। जनक-कर्म नए जन्म को उत्पन्न कर विपाक प्रदान करता है, किन्तु उत्थम्भक अपना विपाक प्रदान न कर दूसरो के विपाक मे अनुकूल (सहायक) वन जाता है। तीसरा कर्म उपपीडक है जो दूसरे कर्मों के विपाक मे वाधक वन जाता है। चौथा कर्म उपघातक है जो अन्य कर्मो के विपाक का घात कर अपना ही विपाक प्रकट करता[4] है।

पाकदान के क्रम को लक्ष्य मे रखकर वौद्धो मे कर्म के ये चार प्रकार माने गए हैं— गरुक, वहुल अथवा आचिण्ण, आसन्न तथा अभ्यस्त। इनमे गरुक तथा वहुल दूसरो के विपाक को रोककर पहले अपना फल प्रदान करते हैं। आसन्न का अर्थ है मृत्यु के समय किया गया, वह भी पूर्वकर्म की अपेक्षा अपना फल पहले दे देता है। पहले के कर्म कैसे भी हो, परन्तु

---

1 योग-दर्शन 2 13, पृ० 171

2 मिलिन्दप्रश्न 4 8 24–29, पृ० 284

1 मिलिन्दप्रश्न 3 36

4 अभिधम्मत्थसग्रह 5 19, विसुद्धिमग्ग 19.16

मरण-काल के समय के कर्म के आधार पर ही शीघ्र नया जन्म प्राप्त होता है। अभ्यस्त कर्म इन तीनो के अभाव मे ही फल दे सकता है, ऐसा नियम है[1]।

बौद्धो ने पाक-काल की दृष्टि से कर्म के जो चार भेद किये हैं, उनकी तुलना योग-दर्शन सम्मत वैसे ही कर्मो से की जा सकती है। दृष्टजन्म-वेदनीय—जिसका विपाक विद्यमान जन्म मे मिल जाता है। उपज्ज-वेदनीय—जिसका फल नवीन जन्म मे प्राप्त होता है। जिस कर्म का विपाक न हो, उसे अहो-कर्म कहते हैं। जिसका विपाक अनेक भवो मे मिले, उसे अपरापरवेदीय कहते हैं[2]।

बौद्धो ने पाकस्थान की अपेक्षा से कर्म के ये चार भेद किए हैं—अकुशल का विपाक नरक मे, कामावचर कुशल-कर्म का विपाक काम सुगति मे, रूपावचर कुशल-कर्म का विपाक रूपि-ब्रह्मलोक मे तथा अरूपावचर कुशल-कर्म का विपाक अरूपलोक मे उपलब्ध होता है[3]।

(14) कर्म की विविध अवस्थाएँ

यह लिखा जा चुका है कि कर्म का आत्मा से बन्ध होता है, किन्तु बन्ध होने के बाद कर्म जिस रूप मे बद्ध हुआ हो, उसी रूप मे फल दे, ऐसा नियम नही है, इस विषय मे अनेक अपवाद हैं। जैन-शास्त्रो मे कर्म की बन्ध आदि दस दशाओ का इस प्रकार वर्णन किया गया है —

1 बन्ध —आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध होने पर उसके चार प्रकार हो जाते हैं—प्रकृति-बन्ध, प्रदेश-बन्ध, स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध। जब तक बन्ध न हो, तब तक कर्म की अन्य किसी भी अवस्था का प्रश्न ही उपस्थित नही होता।

2 सत्ता—बन्ध मे आए हुए कर्म-पुद्गल अपनी निर्जरा होने तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं, इसे ही उसकी सत्ता कहते हैं। विपाक प्रदान करने के बाद कर्म-पुद्गलो की निर्जरा हो जाती है। प्रत्येक कर्म अबाधाकाल के व्यतीत हो जाने पर ही विपाक देता है। अर्थात् अमुक कर्म की सत्ता उसके अबाधाकाल तक होती है।

3. **उद्वर्तन अथवा उत्कर्षण**—आत्मा से बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग-बन्ध का निश्चय बन्ध के समय विद्यमान कषाय की मात्रा के अनुसार होता है, किन्तु कर्म के नवीन बन्ध के समय उस स्थिति तथा अनुभाग को बढा लेना उद्वर्तन कहलाता है।

4 **अपवर्तन अथवा अपकर्षण**—कर्म के नवीन बन्ध के समय प्रथम-बद्ध कर्म की स्थिति और उसके अनुभाग को कम कर लेना अपवर्तन कहलाता है।

उद्वर्तन तथा अपवर्तन की मान्यता से सिद्ध होता है कि कर्म की स्थिति और उसका भोग नियत नही है। उनमे परिवर्तन हो सकता है। किसी समय हमने बुरा काम किया, किन्तु बाद मे यदि अच्छा काम करे तो उस समय पूर्व-बद्ध कर्म की स्थिति और उसके रस मे कमी

---

1 अभिधम्मत्थसग्रह 5 19, विसुद्धिमग्ग 19 15

2 विसुद्धिमग्ग 19 14, अभिधम्मत्थसग्रह 5 19

3 अभिधम्मत्थसग्रह 5 19

हो सकती है। इसी प्रकार सत्कार्य करके बाँधे गये सत्कर्म की स्थिति को भी असत्कार्य द्वारा कम किया जा सकता है। अर्थात् संसार की वृद्धि-हानि का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा विद्यमान अध्यवसाय पर विशेषत निर्भर है।

5 **संक्रमण**—इस विषय मे प्रस्तुत ग्रन्थ म विस्तार-पूर्वक वर्णन[1] है। कर्म-प्रकृति के पुद्गलो का परिणमन अन्य सजातीय प्रकृति मे हो जाना सक्रमण कहलाता है। सामान्यत उत्तर प्रकृतियो मे परस्पर सक्रमण होता है, मूल प्रकृतियो मे नही। इस नियम के अपवादो का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ मे है।

6. **उदय**—कर्म का अपना फल प्रदान करना उदय कहलाता है। कुछ कर्म केवल प्रदेशोदय युक्त होते है। उदय मे आने पर उनके पुद्गलो की निर्जरा हो जाती है, उनका कुछ भी फल नही होता। कुछ कर्मों का प्रदेशोदय के साथ-साथ विपाकोदय भी होता है। वे अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते है।

7 **उदीरणा**—नियत काल से पहले कर्म का उदय मे आना उदीरणा कहलाता है। जिस प्रकार प्रयत्न-पूर्वक नियत काल से पहले ही फलो को पकाया जा सकता है, उसी प्रकार नियत काल से पूर्व ही बद्ध कर्मों का भोग किया जा सकता है। सामान्यत जिस कर्म का उदय जारी हो, उसके सजातीय कर्म की ही उदीरणा सम्भव है।

8 **उपशमन**—कर्म की जिस अवस्था मे उदय अथवा उदीरणा सम्भव न हो, परन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन और सक्रमण की सम्भावना हो, उसे उपशमन कहते है। तात्पर्य यह है कि कर्म को ढँकी हुई अग्नि के समान बना दिया जाय जिससे वह उस अग्नि की तरह फल न दे सके। किन्तु जिस प्रकार अग्नि से आवरण के दूर हो जाने पर वह पुन प्रज्वलित होने मे समर्थ है, उसी प्रकार कर्म की इस अवस्था के समाप्त होने पर वह पुन उदय मे आकर फल देता है।

9 **निधत्ति**—कर्म की उस अवस्था को निधत्ति कहते है जिसमे वह उदीरणा और सक्रमण मे असमर्थ होता है, किन्तु इस अवस्था मे उद्वर्तन और अपवर्तन सम्भव है।

10 **निकाचना**—कर्म की वह अवस्था निकाचना कहलाती है जिसमे उद्वर्तन, अपवर्तन, सक्रमण और उदीरणा सम्भव ही न हो। अर्थात् जिस रूप मे इस कर्म का बन्धन हुआ हो, उसी रूप मे उसे अनिवार्य रूप मे भोगना ही पडता है।

अन्य दर्शन-ग्रन्थो मे कर्म की इन अवस्थाओ का वर्णन शब्दश दृष्टिगोचर नही होता, किन्तु उनमे से कुछ अवस्थाओ से मिलते-जुलते विवरण अवश्य मिलते है।

योगदर्शन-सम्मत[2] नियत-विपाकी कर्म जैन-सम्मत निकाचित कर्म के सदृश समझना चाहिए। उसकी आवापगमन प्रक्रिया जैन-सम्मत सक्रमण है। योगदर्शन मे अनियतविपाकी कुछ ऐसे भी कर्म है जो बिना फल दिये ही नष्ट हो जाते है। इनकी तुलना जैनो के प्रदेशोदय से हो सकती है। योग-दर्शन मे क्लेश की चार अवस्थाएँ मान्य है—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार[3]।

1. गाथा 1938 से
2 योगदर्शन-भाष्य 2.13
3 योगदर्शन 2 4

उपाध्याय यशोविजयजी ने उनकी तुलना जैन-सम्मत मोहनीय-कर्म की सत्ता, उपशम (क्षयोपशम), विरोधी प्रकृति के उदय से व्यवधान और उदय से क्षपश की है[1]।

(15) कर्म-फल का सविभाग :

अब इस विषय पर विचार करने का अवसर है कि एक व्यक्ति अपने किये हुए कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को दे सकता है अथवा नही ? वैदिको मे श्राद्धादि क्रिया का जो प्रचार है, उसे देखते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि, स्मार्तधर्मानुसार एक के कर्म का फल दूसरे को मिल सकता है। बौद्ध भी इस मान्यता से सहमत हैं। हिन्दुओ के समान बौद्ध भी प्रेतयोनि को मानते हैं। अर्थात् प्रेत के निमित्त जो दान, पुण्यादि किया जाता है, प्रेत को उसका फल मिलता है। मनुष्य मर कर तिर्यञ्च नरक अथवा देवयोनि मे उत्पन्न हुआ हो, तो उसके उद्देश्य से किये गये पुण्य-कर्म का फल उसे नही मिलता, किन्तु चार प्रकार के प्रेतो मे केवल परदत्तोपजीवी प्रेतो को ही फल मिलता है। यदि जीव परदत्तोपजीवी प्रेतावस्था मे न हो, तो पुण्य-कर्म के करने वाले को ही उसका फल मिलता है, अन्य किसी को भी नही मिलता। पुनश्च, कोई पाप-कर्म करके यदि यह अभिलाषा करे कि, उसका फल प्रेत को मिल जाए, तो ऐसा कभी नही होता। बौद्धो का सिद्धान्त है कि, कुशल-कर्म का ही सविभाग हो सकता है, अकुशल का नहीं। राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से पूछा कि, क्या कारण है कि कुशल का ही सविभाग हो सकता है, अकुशल का नही ? आचार्य ने पहले तो यह उत्तर दिया कि, आपको ऐसा प्रश्न नही पूछना चाहिए। फिर यह बताया कि पाप-कर्म मे प्रेत की अनुमति नही, अत उसे उसका फल नही मिलता। इस उत्तर से भी राजा सन्तुष्ट न हुआ। तब नागसेन ने कहा कि, अकुशल परिमित होता है अतः उसका सविभाग सम्भव नहीं है, किन्तु कुशल विपुल होता है अत उसका सविभाग हो सकता है[2]। महायान बौद्ध बोधिसत्त्व का यह आदर्श मानते हैं कि, वे सदा ऐसी कामना करते हैं कि उनके कुशल-कर्म का फल विश्व के समस्त जीवो को प्राप्त हो। अत महायान मत के प्रचार के बाद भारत के समस्त धर्मों मे इस भावना को समर्थन प्राप्त हुआ कि, कुशल कर्मों का फल समस्त जीवो को मिले।

किन्तु जैनागम मे इस विचार अथवा इस भावना को स्थान नही मिला। जैन-धर्म मे प्रेतयोनि नही मानी गई है। सम्भव है कि कर्म-फल के असविभाग की जैन-मान्यता का यह भी एक आधार हो। जैन-शास्त्रीय दृष्टि तो यही है कि, जो जीव कर्म करे, उसे ही उसका फल भोगना पड़ता[3] है। कोई दूसरा उसमे भागीदार नही बन सकता। किन्तु लौकिक दृष्टि का

---

1 योगदर्शन (प० सुखलालजी) प्रस्तावना पृ० 54

2 मिलिन्दप्रश्न 4 8, 30-35, पृ० 288, कथावत्थु 7 6 3, पृ० 348, प्रेतो की कथाओ के सग्रह के लिए पेतवत्थु तथा विमलाचरण लॉ कृत Buddhist conception of spirits देखें।

3 ससारमावन्न परस्स अट्ठा साहारण ज च करेइ कम्म।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले ण बधवा बधवयं उवेति ॥—उत्तरा० 4 4
माया पिया ण्हुसा भाता भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नाल ते मम ताणाय लुप्पतस्स सकम्मुणा ॥
—उत्तरा० 6 3, उत्तरा० 14 12, 20 23-37

अनुसरण करते हुए आचार्य हरिभद्र आदि ने यह भावना अवश्य व्यक्त की है कि, मैंने जो कुशल-कर्म किया हो, तो उसका लाभ अन्य जीवो को भी मिले और वे सुखी हो।

(इ) परलोक विचार

गणधरवाद मे पाँचवें गणधर सुधर्मा ने इस भव तथा परभव के सादृश्य-वैसादृश्य की चर्चा की है। सातवे गणधर मौर्य-पुत्र ने देवो के विषय मे सन्देह उपस्थित किया है। आठवें गणधर अकपित ने नारको के विषय मे शका की है। दसवे गणधर मेतार्य ने पूछा है कि, परलोक है अथवा नही ? इस तरह अनेक प्रकार मे परलोक के प्रश्न की चर्चा हुई है, अत यहाँ परलोक के सम्बन्ध मे भी विचार करना उचित है। परलोक का अर्थ है मृत्यु के बाद का लोक। मृत्यूपरान्त जीव की जो विविध गतियाँ होती है, उनमे देव, प्रेत, और नारक ये तीनो अप्रत्यक्ष है, अत सामान्यत परलोक की चर्चा मे इन पर ही विशेष विचार किया जाएगा। वैदिको, जैनो और बौद्धो की देव, प्रेत एव नारकियो सम्बन्धी कल्पनाओ का यहाँ निरूपण किया जाएगा। मनुष्य और तिर्यञ्च योनियाँ तो सबको प्रत्यक्ष है, अत इनके विषय मे विशेष विचार करने की आवश्यकता नही रहती। भिन्न-भिन्न परम्पराओ मे इस सम्बन्ध मे जो वर्गीकरण किया गया है, वह भी ज्ञातव्य तो है, किन्तु यहाँ उसकी चर्चा अप्रासगिक होने के कारण नही की गई है।

कर्म और परलोक-विचार ये दोनो परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध है कि, एक के अभाव मे दूसरे की सम्भावना नही। जब तक कर्म का अर्थ केवल प्रत्यक्ष क्रिया ही किया जाता था, तब तक उसका फल भी प्रत्यक्ष ही समझा जाता था। किसी ने कपडे सीने का कार्य किया और उसे उसके फल-स्वरूप सिला हुआ कपडा मिल गया। किसी ने भोजन बनाने का काम किया और उसे रसोई तैय्यार मिली। इस प्रकार यह स्वाभाविक है कि प्रत्यक्ष क्रिया का फल साक्षात् और तत्काल माना जाए। किन्तु एक समय ऐसा आया कि, मनुष्य ने देखा कि उसकी सभी क्रियाओ का फल साक्षात् नही मिलता और न ही तत्काल प्राप्त होता है। किसान खेती करता है, परिश्रम भी करता है, किन्तु यदि ठीक समय पर वर्षा न हो तो उसका सारा श्रम धूल मे मिल जाता है। फिर यह भी देखा जाता है कि, नैतिक नियमो का पालन करने पर भी ससार मे एक व्यक्ति दु खी रहता है और दूसरा दुराचारी होने पर भी सुखी। यदि सदाचार से सुख की प्राप्ति होती हो, तो सदाचारी को सदाचार के फल-स्वरूप सुख तथा दुराचारी को दुराचार का फल दु ख साक्षात् और तत्काल क्यो नही मिलता ? नवजात शिशु ने ऐसा क्या किया है कि, वह जन्म लेते ही सुखी या दु खी हो जाता है ? इत्यादि प्रश्नो पर विचार करते हुए जब मनुष्य ने कर्म के सम्बन्ध मे अधिक गहन विचार किया तब इस कल्पना ने जन्म लिया कि कर्म केवल साक्षात् क्रिया नही, अपितु अदृष्ट-सस्कार-रूप भी है। इसके साथ ही परलोक-चिन्ता सम्बद्ध थी। यह माना जाने लगा कि, मनुष्य के सुख-दु ख का आधार केवल उसकी प्रत्यक्ष क्रिया नही, परन्तु इसमे परलोक या पूर्वजन्म की क्रिया का जो सस्कार से अथवा अदृष्ट-रूप से उसकी आत्मा मे बद्ध है, भी एक महत्वपूर्ण भाग है। यही कारण है कि, प्रत्यक्ष सदाचार के अस्तित्व मे भी मनुष्य पूर्वजन्म के दुराचार का फल दु ख-रूपेण भोगता है और प्रत्यक्ष दुराचारी होने पर भी पूर्वजन्म के सदाचार का फल सुख-रूपेण भोगता है। बालक पूर्वजन्म के सस्कार अथवा कर्म अपने साथ लेकर आता है, अत इस जन्म मे कोई कर्म न करने पर भी वह सुख-दुःख का भागी

बनता है। इस कल्पना के बल पर प्राचीन काल से लेकर आज तक के धार्मिक गिने जाने वाले पुरुषो ने अपने सदाचार मे निष्ठा और दुराचार की हेयता स्वीकार की है। उन्होंने मृत्यु के साथ ही जीवन का अन्त नही माना, किन्तु जन्म-जन्मान्तर की कल्पना कर इस आशा से सदाचार मे निष्ठा स्थिर रखी है कि, कृत-कर्म का फल कभी तो मिलेगा ही, और उन्होंने परलोक के विषय मे भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की है।

वैदिक-परम्परा मे देवलोक और देवो की कल्पना प्राचीन है, किन्तु वेदो मे इस कल्पना को बहुत समय बाद स्थान मिला कि देवलोक मनुष्य की मृत्यु के बाद का परलोक है। नरक और नारको सम्बन्धी कल्पना तो वेद मे सर्वथा अस्पष्ट है। विद्वानो ने यह बात स्वीकार की है कि, वैदिको ने परलोक एव पुनर्जन्म की जो कल्पना की है, उसका कारण वेद-बाह्य प्रभाव[1] है।

जैनो ने जिस प्रकार कर्म-विद्या को एक शास्त्र का रूप दिया, उसी प्रकार इस विद्या से अविच्छिन्नरूपण सम्बद्ध परलोक-विद्या को भी शास्त्र का ही रूप प्रदान किया। यही कारण है कि, जैनो की देव एव नारक सम्बन्धी कल्पना मे व्यवस्था और एक-सूत्रता है। आगम से लेकर आज तक के रचित जैन-साहित्य मे देवो और नारको के वर्णन-विषयक महत्वहीन अपवादो की उपेक्षा करने पर मालूम होगा कि, उसमे लेशमात्र भी विवाद दृग्गोचर नही होता। बौद्ध-साहित्य के पढने वाले पग-पग पर यह अनुभव करते हैं कि, बौद्धो मे यह विद्या बाहर से आई है। बौद्धो के प्राचीन सूत्र-ग्रन्थो मे देवो अथवा नारको की सख्या मे एकरूपता नही है। यही नही, देवो के अनेक प्रकार के नामो मे वर्गीकरण तथा व्यवस्था का भी अभाव है, परन्तु अभिधम्म-काल मे बौद्ध-धर्म मे देवो और नारको की सुव्यवस्था हुई थी। यह बात भी स्पष्ट है कि, प्रेतयोनि जैसी योनि की कल्पना बौद्ध-धर्म अथवा उसके सिद्धान्तो के अनुकूल नही है, फिर भी लौकिक व्यवहार के कारण उसे मान्यता प्राप्त हुई[2]।

(1) वैदिक देव और देवियां[3]

वेदो मे वर्णित अधिकतर देवो की कल्पना प्राकृतिक वस्तुओ के आधार पर की गई है। प्रारम्भ मे अग्नि जैसे प्राकृतिक पदार्थो को ही देव माना गया था, किन्तु धीरे-धीरे अग्नि आदि तत्त्व मे पृथक् अग्नि आदि देवो की कल्पना की गई। कुछ ऐसे भी देव है जिनका प्रकृतिगत किसी वस्तु से सरलता-पूर्वक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, जैसे कि वरुण आदि। कुछ देवताओ का सम्बन्ध क्रिया से है, जैसे कि त्वष्टा, धाता, विधातादि। देवो के विशेषण-रूप मे जो शब्द लिखे गए, उनके आधार पर उन नामो के स्वतन्त्र देवो की भी कल्पना की गई, जैसे कि विश्वकर्मा इन्द्र का विशेषण था, किन्तु इस नाम का स्वतन्त्र देव भी माना गया। यही बात प्रजापति के विषय मे हुई। इसके अतिरिक्त मनुष्य के भावो पर देवत्व का

---

1. Ranade & Belvelkar : Creative Period p 375
2. Dr Law , Heaven & Hell (Introduction) Buddhist conception of spirits
3. इस प्रकरण को लिखने मे डॉ० देशमुख की पुस्तक Religion in Vedic Literature Chepter 9–13 से सहायता ली गई है। मैं उनका आभार मानता हूँ।

आरोप करके भी कुछ देवों की कल्पना की गई है, जैसे कि मन्यु, श्रद्धा आदि। इस लोक के कुछ मनुष्य, पशु और जड पदार्थ भी देव माने गए हैं, जैसे कि मनुष्यो मे प्राचीन ऋषियो मे से मनु, अथर्वा, दध्यच, अत्रि, कण्व, वत्स, और काव्य उपणा। पशुओ मे दधिक्रा सदृश घोड़े मे दैवी भाव माना गया है। जड-पदार्थों मे पर्वत, नदी जैसे पदार्थों को देव कहा गया है।

देवो की पत्नियो की भी कल्पना की गई है, जैसे कि इन्द्राणी आदि। कुछ स्वतन्त्र देवियाँ भी मानी गई हैं, जैसे कि उषा, पृथ्वी, सरस्वती, रात्रि, वाक्, अदिति आदि।

वेदो मे इस विषय मे एक मत नही है कि भिन्न-भिन्न देव अनादिकाल से है या वे किसी समय उत्पन्न हुए हैं। प्राचीन कल्पना यह थी कि, वे द्यु और पृथ्वी की सन्तान है। उषा को देवताओ की माता[1] कहा गया है, किन्तु वह बाद मे स्वय द्यु की पुत्री मानी[2] गई। अदिति और दक्ष को भी देवताओ के माता-पिता माना गया है[3]। अन्यत्र सोम को अग्नि, सूर्य, इन्द्र, विष्णु, द्यु और पृथ्वी का जनक कहा गया है। कई देवताओ के परस्पर पिता-पुत्र के सम्बन्ध का भी वर्णन है। इस प्रका ऋग्वेद मे देवताओ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक निश्चित मत उपलब्ध नहीं होता। सामान्यत सभी देवो के विषय मे ये उल्लेख मिलते हैं कि, वे कभी उत्पन्न हुए। अत हम कह सकते है कि वे न तो अनादि हैं और न स्वत सिद्ध। ऋग्वेद मे बार-बार उल्लेख किया गया है कि, देवता अमर है, परन्तु सभी देवता अमर हैं अथवा अमरता उनका स्वाभाविक धर्म है, यह बात स्वीकार नही की गई। वहाँ यह कथन उपलब्ध होता है कि, सोम का पान कर देवता अमर बनते है। यह भी कहा गया है कि, अग्नि और सविता देवताओ को अमरत्व अर्पित करते है।

एक ओर देवताओ की उत्पत्ति मे पूर्वापर-भाव[4] का वर्णन किया गया है और दूसरी ओर यह लिखा है कि देवा मे काई बालक अथवा कुमार नहीं, सभी समान[5] है। यदि शक्ति की दृष्टि से विचार किया जाए, तो देवो मे दृष्टिगोचर होने वाले वैषम्य की कोई सीमा नही है, किन्तु एक बात की सभी मे समानता है, और वह है उनकी परोपकार-वृत्ति। मगर यह वृत्ति आर्यों के लिए ही स्वीकार की गई है, दास या दस्युओ के विषय मे नही। देवता यज्ञ करने वाले को सभी प्रकार की भौतिक सम्पत्ति देने मे समर्थ हैं, वे समस्त विश्व के नियामक है और अच्छे व बुरे कामो पर दृष्टि रखने वाले है। किसी भी मनुष्य मे यह शक्ति नही है कि, वह देवताओ की आज्ञा का उल्लघन कर सके। जब उनके नाम से यज्ञ किया जाता है, तब वे द्युलोक से रथ पर चढकर चलते है और यज्ञ-भूमि मे आकर बैठते है। अधिकाश देवो का निवास स्थान द्युलोक है और वे वहाँ सामान्यत मिल-जुलकर रहते है। वे सोमरस पीते हैं और मनुष्यो जैसा आहार करते है। जो यज्ञ द्वारा उन्हे प्रसन्न करते हैं, वे उनकी सहानु-

---

1 देवाना माता—ऋग्वेद 1 113 19

2. ऋग्वेद 1.30 22

3. देवाना पितर—ऋग्वेद 2 26 3

4. ऋग्वेद 10 109 4, 7 21 7.

5 ऋग्वेद 8.30.1

भूति प्राप्त करते है। किन्तु जो व्यक्ति यज्ञ नही करते, वे उनके तिरस्कार के पात्र बनते है। देवता नीति-सम्पन्न हैं, सत्यशील हैं, वे धोखा नही देते। वे प्रामाणिक और चरित्रवान् मनुष्यो की रक्षा करते हैं, उदार और पुण्यशील व्यक्तियो तथा उनके कृत्यो का बदला चुकाते हैं, किन्तु पापी को दण्ड देते है। देव जिस व्यक्ति के मित्र वन जाएँ, उसे कोई भी हानि नही पहुँचा सकता। देवता अपने भक्तो के शत्रुओ का नाश कर उनकी सम्पत्ति अपने भक्तो को सौंप देते हैं। सभी देवो मे सौन्दर्य, तेज और शक्ति है। सामान्यत देव स्वय ही अपने अधिपति हैं, अर्थात् वे अहमिन्द्र हैं। यद्यपि ऋषियो ने उनके वर्णन मे अतिशयोक्ति से काम लेते हुए वर्णित देव को सर्वाधिपति कहा है, तथापि सामान्यतः उसका अर्थ यह नही कि, वह देव राजा के समान अन्य देवो का अधिपति है। ऋषियो ने जिस देव की स्तुति की है, फलत वह उसे प्रसन्न करने के लिए है, अत स्वाभाविक है कि उसके अधिक से अधिक गुणो का वर्णन किया जाय। अत प्रत्येक देव मे सर्वसामर्थ्य स्वीकार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि, बाद मे यज्ञ के लिए सब देवो की महत्ता समान रूप से स्वीकार की गई। 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति–[1]विद्वान् एक ही तत्व का नाना प्रकार से कथन करते हैं—यह मान्यता दृढ हो गई। फिर भी यज्ञ-प्रसग मे व्यक्तिगत देवो के प्रति निष्ठा कभी भी कम नही हुई। भिन्न-भिन्न अवसरो पर भिन्न-भिन्न देवो के नाम से यज्ञ होते रहे। इसलिए हमे यह बात माननी पडती है कि, ऋग्वेद-काल मे किसी एक ही देव का अन्य देवो की अपेक्षा अधिक महत्त्व नही था। ऋग्वेद-काल मे एक देव के स्थान पर दूसरे देव को अधिष्ठित कर देने की कल्पना करना असगत है[2]।

सभी देव द्युलोक-निवासी नहीं है। वैदिको ने लोक के जो तीन विभाग किए हैं उनमे उनका निवास है। द्युलोकवासी देवो मे द्यौ, वरुण, सूर्य, मित्र, विष्णु, दक्ष, अश्विन आदि का समावेश है। अन्तरिक्ष मे निवास करने वाले देव ये हैं—इन्द्र, मरुत्, रुद्र, पर्जन्य, आपः आदि। पृथ्वी पर अग्नि, सोम, बृहस्पति आदि देवो का निवास है।

(2) वैदिक स्वर्ग-नरक

इस लोक मे जो मनुष्य शुभ कर्म करते हैं, वे मर कर स्वर्ग मे यमलोक पहुँचते हैं। यह यमलोक प्रकाश-पुज से व्याप्त है। वहाँ उन लोगो को अन्न और सोम पर्याप्त मात्रा मे मिलता है एव उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती है[3]। कुछ व्यक्ति विष्णु[4] अथवा वरुणलोक[5] मे जाते हैं। वरुणलोक सर्वोच्च स्वर्ग[6] है। वरुणलोक मे जाने वाले मनुष्य की सभी त्रुटियाँ

---

1. ऋग्वेद 1 164 46.
2. देशमुख की पूर्वोक्त पुस्तक पृ० 317-322 का सार
3. ऋग्वेद 9.113.7 से
4 ऋग्वेद 1 1 54
5. ऋग्वेद 7. 8 5
6 ऋग्वेद 10 14.8, 10.15.7

दूर हो जाती हैं और वह वहाँ देवो के साथ मधु, सोम, अथवा घृत का पान करता है[1]। वहाँ रहते हुए उसे अपने पुत्रादि द्वारा श्राद्ध-तर्पण मे अर्पित पदार्थ भी मिल जाते हैं। यदि उसने स्वय इष्टापूर्त (बावडी, कुआ, तालाब आदि जलस्थान) किया हो, तो उसका फल भी उसे स्वर्ग मे मिल जाता है[2]।

वैदिक आर्य आशावादी, उत्साही और आनन्द-प्रिय लोग थे। उन्होने जिस प्रकार के स्वर्ग की कल्पना की है, वह उनकी विचार-धारा के अनुकूल ही है। यही कारण है कि, उन्होने प्राचीन ऋग्वेद मे पापी आदमियो के लिए नरक जैसे स्थान की कल्पना नही की। दास तथा दस्यु जैसे लोगो को आर्य लोग अपना शत्रु समझते थे, उनके लिए भी उन्होने नरक की कल्पना नही की, किन्तु देवो से यह प्रार्थना की है कि, वे उनका सर्वथा नाश कर दे। मृत्यु के बाद उनकी क्या दशा होती है, इस विषय मे उन्होने कुछ भी विचार नही किया।

ऐसी कल्पना है कि जो, पुण्यशाली व्यक्ति मर कर स्वर्ग मे जाते है, वे सदा के लिए वहीं रहते हैं। वैदिक काल मे यह कल्पना नही की गई थी कि, पुण्य का क्षय होने पर वे पुन मर्त्यलोक मे वापिस आ जाते है, हाँ, ब्राह्मण-काल मे इस मान्यता का अस्तित्व था[3]।

(3) उपनिषदो के देवलोक

बृहदारण्यक मे आनन्द की तरतमता का वर्णन है। उसके आधार पर मनुष्यलोक से ऊपर के लोक के विषय मे विचार किया जा सकता है। उसमे कहा गया है कि स्वस्थ होना, धनवान् होना, दूसरो की अपेक्षा उच्च पद प्राप्त करना, अधिक से अधिक सासारिक वैभव होना, ये ऐसे आनन्द हैं जो इस ससार मे मनुष्य के लिए महान् से महान् हैं। पितृलोक मे जाने वाले पितरो को इस ससार के आनन्द की अपेक्षा सौ गुना अधिक आनन्द मिलता है। गन्धर्वलोक मे उससे भी सौ-गुना अधिक आनन्द है। पुण्य-कर्म द्वारा देवता बने हुए लोगो का आनन्द गन्धर्वलोक से सौ-गुना ज्यादा है। सृष्टि की आदि मे जन्म लेने वाले देवो का आनन्द इन देवो की अपेक्षा सौ-गुना अधिक है। प्रजापति-लोक मे इस आनन्द से भी सौ-गुना और ब्रह्मलोक मे उससे भी सौ-गुना अधिक आनन्द होता है। ब्रह्मलोक का आनन्द सर्वाधिक है। बृहदा० 4 3 33

(4) देवयान, पितृयान

ऋग्वेद[4] मे देवयान और पितृयान शब्दो का प्रयोग है परन्तु इन मार्गों का वर्णन वहाँ उपलब्ध नही होता। उपनिषदो मे दोनो मार्गों का विशद विवरण[5] है, किन्तु हम उसके विस्तार मे न जाकर विद्वानो द्वारा मान्य एव उचित वर्णन का यहाँ उल्लेख करेंगे। कौपीतकी उपनिषद् मे देवयान का वर्णन इस प्रकार है,—मृत्यु के बाद देवयान मार्ग से जाने वाला

---

1 ऋग्वेद 10 154।

2 Creative Period p 26

3 Creative Period p 27,76

4 परं मृत्यो अनु परेहि पन्थायस्ते स्व इतरो देवयानात्—ऋग्वेद 10 19 1 तथा पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाण—10 2 27

5 बृहदा० 5 10 1, छान्दोग्य 4-15 5-6, 5.10.1–6, कौपीतकी 1.2–4

भूति प्राप्त करते है। किन्तु जो व्यक्ति यज्ञ नही करते, वे उनके तिरस्कार के पात्र बनते है। देवता नीति-सम्पन्न है, सत्यशील हैं, वे धोखा नही देते। वे प्रामाणिक और चरित्रवान् मनुष्यो की रक्षा करते हैं, उदार और पुण्यशील व्यक्तियो तथा उनके कृत्यो का बदला चुकाते हैं, किन्तु पापी को दण्ड देते हैं। देव जिस व्यक्ति के मित्र बन जाएँ, उसे कोई भी हानि नही पहुँचा सकता। देवता अपने भक्तो के शत्रुओ का नाश कर उनकी सम्पत्ति अपने भक्तो को सौप देते हैं। सभी देवो मे सौन्दर्य, तेज और शक्ति है। सामान्यत देव स्वय ही अपने अधिपति हैं, अर्थात् वे अहमिन्द्र हैं। यद्यपि ऋषियो ने उनके वर्णन मे अतिशयोक्ति से काम लेते हुए वर्णित देव को सर्वाधिपति कहा है, तथापि सामान्यत उसका अर्थ यह नही कि, वह देव राजा के समान अन्य देवो का अधिपति है। ऋषियो ने जिस देव की स्तुति की है, फलतः वह उसे प्रसन्न करने के लिए है, अत स्वाभाविक है कि उसके अधिक से अधिक गुणो का वर्णन किया जाय। अतः प्रत्येक देव मे सर्वसामर्थ्य स्वीकार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि, वाद मे यज्ञ के लिए सब देवो की महत्ता समान रूप से स्वीकार की गई। 'एक सद् विप्रा वहुधा वदन्ति–[1]विद्वान् एक ही तत्त्व का नाना प्रकार से कथन करते हैं—यह मान्यता दृढ हो गई। फिर भी यज्ञ-प्रसग मे व्यक्तिगत देवो के प्रति निष्ठा कभी भी कम नही हुई। भिन्न-भिन्न अवसरो पर भिन्न-भिन्न देवो के नाम से यज्ञ होते रहे। इसलिए हमे यह वात माननी पडती है कि, ऋग्वेद-काल मे किसी एक ही देव का अन्य देवो की अपेक्षा अधिक महत्त्व नही था। ऋग्वेद-काल मे एक देव के स्थान पर दूसरे देव को अधिष्ठित कर देने की कल्पना करना असगत है[2]।

सभी देव द्युलोक-निवासी नहीं हैं। वैदिको ने लोक के जो तीन विभाग किए हैं उनमे उनका निवास है। द्युलोकवासी देवो मे द्यौ, वरुण, सूर्य, मित्र, विष्णु, दक्ष, अश्विन आदि का समावेश है। अन्तरिक्ष मे निवास करने वाले देव ये हैं—इन्द्र, मरुत्, रुद्र, पर्जन्य, आपः आदि। पृथ्वी पर अग्नि, सोम, वृहस्पति आदि देवो का निवास है।

(2) वैदिक स्वर्ग-नरक

इस लोक मे जो मनुष्य शुभ कर्म करते हैं, वे मर कर स्वर्ग मे यमलोक पहुँचते हैं। यह यमलोक प्रकाश-पुज से व्याप्त है। वहाँ उन लोगो को अन्न और सोम पर्याप्त मात्रा मे मिलता है एव उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं[3]। कुछ व्यक्ति विष्णु[4] अथवा वरुणलोक[5] मे जाते हैं। वरुणलोक सर्वोच्च स्वर्ग[6] है। वरुणलोक मे जाने वाले मनुष्य की सभी त्रुटियाँ

---

1. ऋग्वेद 1 164 46.
2. देशमुख की पूर्वोक्त पुस्तक पृ० 317-322 का सार
3 ऋग्वेद 9 .113.7 से
4 ऋग्वेद 1 1 54
5 ऋग्वेद 7. 8 5
6. ऋग्वेद 10 14 8, 10 15.7

दूर हो जाती हैं और वह वहाँ देवो के साथ मधु, सोम, अथवा घृत का पान करता है[1]। वहाँ रहते हुए उसे अपने पुत्रादि द्वारा श्राद्ध-तर्पण मे अर्पित पदार्थ भी मिल जाते हैं। यदि उसने स्वय इष्टापूर्त (बावडी, कुआ, तालाब आदि जलस्थान) किया हो, तो उसका फल भी उसे स्वर्ग मे मिल जाता है[2]।

वैदिक आर्य आशावादी, उत्साही और आनन्द-प्रिय लोग थे। उन्होने जिस प्रकार के स्वर्ग की कल्पना की है, वह उनकी विचार-धारा के अनुकूल ही है। यही कारण है कि उन्होने प्राचीन ऋग्वेद मे पापी आदमियो के लिए नरक जैसे स्थान की कल्पना नही की। दास तथा दस्यु जैसे लोगों को आर्य लोग अपना शत्रु समझते थे, उनके लिए भी उन्होने नरक की कल्पना नही की, किन्तु देवो से यह प्रार्थना की है कि, वे उनका सर्वथा नाश कर दें। मृत्यु के बाद उनकी क्या दशा होती है, इस विषय मे उन्होने कुछ भी विचार नही किया।

ऐसी कल्पना है कि जो, पुण्यशाली व्यक्ति मर कर स्वर्ग मे जाते हैं, वे सदा के लिए वहीं रहते हैं। वैदिक काल मे यह कल्पना नही की गई थी कि, पुण्य का क्षय होने पर वे पुन मर्त्यलोक मे वापिस आ जाते हैं, हाँ, ब्राह्मण-काल मे इस मान्यता का अस्तित्व था[3]।

(3) उपनिषदो के देवलोक

बृहदारण्यक मे आनन्द की तरतमता का वर्णन है। उसके आधार पर मनुष्यलोक से ऊपर के लोक के विषय मे विचार किया जा सकता है। उसमे कहा गया है कि स्वस्थ होना, धनवान् होना, दूसरो की अपेक्षा उच्च पद प्राप्त करना, अधिक से अधिक सासारिक वैभव होना, ये ऐसे आनन्द हैं जो इस ससार मे मनुष्य के लिए महान् से महान् हैं। पितृलोक मे जाने वाले पितरो को इस ससार के आनन्द की अपेक्षा सौ गुना अधिक आनन्द मिलता है। गन्धर्वलोक मे उससे भी सौ-गुना अधिक आनन्द है। पुण्य-कर्म द्वारा देवता बने हुए लोगो का आनन्द गन्धर्वलोक से सौ-गुना ज्यादा है। सृष्टि की आदि मे जन्म लेने वाले देवो का आनन्द इन देवो की अपेक्षा सौ-गुना अधिक है। प्रजापति-लोक मे इस आनन्द से भी सौ-गुना और ब्रह्मलोक मे उससे भी सौ-गुना अधिक आनन्द होता है। ब्रह्मलोक का आनन्द सर्वाधिक है। बृहदा० 4 3 33

(4) देवयान, पितृयान

ऋग्वेद[4] मे देवयान और पितृयान शब्दो का प्रयोग है परन्तु इन मार्गों का वर्णन वहाँ उपलब्ध नही होता। उपनिषदो मे दोनो मार्गों का विशद विवरण[5] है, किन्तु हम उसके विस्तार मे न जाकर विद्वानो द्वारा मान्य एव उचित वर्णन का यहाँ उल्लेख करेंगे। कौषीतकी उपनिषद् मे देवयान का वर्णन इस प्रकार है,—मृत्यु के बाद देवयान मार्ग से जाने वाला

---

1. ऋग्वेद 10 154.1
2. Creative Period p 26
3. Creative Period p 27,76
4. पर मृत्यो अनु परेहि पन्थायस्ते स्व इतरो देवयानात्—ऋग्वेद 10 19 1 तथा पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाण—10 2 27
5. बृहदा० 5 10 1, छान्दोग्य 4-15 5-6, 5 10.1-6, कौषीतकी 1.2-4.

व्यक्ति क्रमश अग्निलोक, वायुलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक और प्रजापति लोक से होकर ब्रह्मलोक मे जाता है। वहाँ वह मन के द्वारा आर नामक सरोवर को पार करता है और येष्टिहा (उपासना मे विघ्न डालने वाले) देवो के पास पहुँचता है। वे देव उसे देखते ही भाग जाते हैं। तत्पश्चात् वह मन के द्वारा ही विरजा नदी पार करता है। यहाँ वह पुण्य और पाप को छोड देता है। उसके बाद वह इल्य नामक वृक्ष के निकट जाता है[5] और वहाँ उसे ब्रह्मा की गन्ध आती है। फिर वह सालज्यनगर के पास पहुँचता है। वहाँ उसमे ब्रह्मतेज प्रविष्ट होता है। तदनन्तर वह इन्द्र और बृहस्पति नामक चौकीदारो के पास आता है। वे भी उसे देखकर दौड जाते हैं। वहाँ से चलकर वह विभु नामक सभा स्थान मे आता है। यहाँ उसकी कीर्त्ति इतनी बढ जाती है जितनी कि ब्रह्मा की। फिर वह विचक्षणा नाम के ज्ञानरूप सिंहासन के समीप आता है और अपनी बुद्धि द्वारा समस्त विश्व को देखता है। अन्त मे वह अमितौजा नामक ब्रह्म के पलँग के निकट आता है। जब उस पलँग पर आरूढ होता है, तब वहाँ आसीन ब्रह्मा उससे पूछता है, "तुम कौन हो ?" वह उत्तर देता है, "जो आप हैं, वही मैं हूँ।" ब्रह्मा पुन पूछता है, "मैं कौन हूँ ?" वह व्यक्ति उत्तर देता है, "आप सत्य-स्वरूप हैं"। इस प्रकार अन्य अनेक प्रश्न पूछ कर जब ब्रह्मा की पूर्णत तुष्टि हो जाती है, तब वह उसे अपने समान समझता[1] है।

इसी उपनिषद् मे पितृयान के वर्णन का सार यह है—चन्द्रलोक ही पितृलोक है। सभी मरने वाले पहले यहाँ पहुँचते है। किन्तु जिनकी इच्छा पितृलोक मे निवास करने की न हो उन्हें चन्द्र ऊपर के लोक मे भेज देता है और जिनकी अभिलाषा चन्द्रलोक की हो, उन्हे चन्द्र वर्षा के रूप मे इस पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए भेज देता है। ऐसे जीव अपने कर्मो और ज्ञान के अनुसार कीट, पतँग, पक्षी, सिंह, व्याघ्र, मछली, रीछ, मनुष्य अथवा अन्य किसी रूप मे भिन्न-भिन्न स्थानो मे जन्म लेते हैं। इस प्रकार पितृयान मार्ग मे जाने वालो को पुन इस लोक मे आना पडता है[2]।

साराश यह है कि, ब्रह्मी-भाव को प्राप्त कर लेने वाले जीव जिस मार्ग से ब्रह्मलोक मे जाते हैं, उसे देवयान कहते हैं, किन्तु अपने कर्मों के अनुसार जिनकी मृत्यु पुन होने वाली है वे चन्द्रलोक मे जाकर लौट आते हैं। उनके मार्ग का नाम पितृयान है और उनकी योनि प्रेत योनि कहलाती है।

इस उपर्युक्त वर्णन से हमे यह ज्ञात हो जाता है कि, प्रस्तुत ग्रन्थ मे परलोक के सादृश्य-वैसादृश्य के सम्बन्ध मे जो चर्चा है उसके विषय मे उपनिषदो का क्या मत है। यह भी पता लगता है कि, जीव कर्मानुसार विसदृश अवस्था को प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ मे भी इस मत का समर्थन है।

---

1 कौपीतकी प्रथम अध्याय देखें।

2 कौषीतकी 1 2.

(5) पौराणिक देवलोक

यह बात लिखी जा चुकी है कि वैदिक मान्यतानुसार तीनो लोको मे देवो का निवास है। पौराणिक-काल मे भी इसी मत का समर्थन किया गया। योगदर्शन के व्यास-भाष्य[1] मे बताया गया है कि, पाताल, जलधि (समुद्र) तथा पर्वतो मे असुर, गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरस्, ब्रह्मराक्षस, कुष्माण्ड, विनायक नाम के देव-निकाय निवास करते है। भूलोक के समस्त द्वीपो मे भी पुण्यात्मा देवो का निवास है। सुमेरु पर्वत पर देवो की उद्यान भूमियाँ है, सुधर्मा नामक देव सभा है, सुदर्शन नामा नगरी है और उसमे वैजयन्त प्रासाद है। अन्तरिक्ष लोक के देवो मे ग्रह, नक्षत्र और तारो का समावेश है। स्वर्ग लोक मे महेन्द्र मे छह देव-निकायो का निवास है—त्रिदश, अग्निष्वात्ता, याम्या, तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्ती, परिनिर्मितवशवर्ती,। इससे ऊपर महति लोक अथवा प्रजापति लोक मे पाँच देव-निकाय हैं—कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अजनाभ, प्रचिताभ। ब्रह्मा के प्रथम जनलोक मे चार देव-निकाय हैं—ब्रह्म-पुरोहित, ब्रह्म-कायिक, ब्रह्म-महाकायिक, अमर। ब्रह्मा के द्वितीय तपोलोक मे तीन देव-निकाय है—आभास्वर, महाभास्वर, सत्यमहाभास्वर। ब्रह्मा के तृतीय सत्यलोक मे चार देव-निकाय हैं—अच्युत, शुद्ध निवास, सत्याभ, संज्ञासंज्ञी।

इन सब देवलोको मे बसने वालो की आयु दीर्घ होते हुए भी परिमित है। कर्म-क्षय होने पर उन्हे नया जन्म धारण करना पडता है।

(6) वैदिक असुरादि

सामान्यत देवो और मनुष्यो के शत्रुओ को वेद मे असुर, राक्षस, पिशाच आदि नाम से प्रतिपादित किया गया है। पणि और वृत्र इन्द्र के शत्रु थे, दास और दस्यु आर्य प्रजा के शत्रु थे। किन्तु दस्यु शब्द का प्रयोग अन्तरिक्ष के दैत्यो अथवा असुरो के अर्थ मे भी किया गया है और दस्युओ को वृत्र के नाम से भी वर्णित किया गया है। साराश यह है कि वृत्र, पणि, असुर, दस्यु, दास नाम की कई जातियाँ थी। उन्हे ही कालान्तर मे राक्षस, दैत्य, असुर, पिशाच का रूप दिया गया। वैदिक काल के लोग उनके नाश के निमित्त देवों से प्रार्थना किया करते थे।

(7) उपनिषदो मे नरक का वर्णन

यह बात पहले कही जा चुकी है कि, ऋग्वेद-काल के आर्यों ने पापी पुरुषो के लिए नरक-स्थान की कल्पना नही की थी, किन्तु उपनिषदो मे यह कल्पना विद्यमान है। नरक कहाँ है? इस विषय मे उपनिषद् मौन है, किन्तु उपनिषदो के अनुसार नरक लोक अन्धकार से आवृत्त है, उसमें आनन्द का नाम भी नही है। इस ससार मे अविद्या के उपासक मरणोपरान्त नरक को प्राप्त होते हैं। आत्मघाती पुरुषो के लिए भी यही स्थान है और अविद्वान् की भी मृत्यूपरान्त यही दशा है। बूढी गाय का दान देने वालो की भी यही गति होती है। यही कारण है कि नचिकेता जैसे पुत्र को अपने उस पिता के भविष्य के विचार ने अत्यन्त दुःखी किया जो

---

1. विभूतिपाद 26.

बूढी गायो का दान कर रहा था। उसने सोचा कि, मेरे पिता इनके बदले मुझे ही दान मे क्यो[1] नही दे देते ?

उपनिषदो मे इस विषय मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही है कि, ऐसे अन्धकारमय लोक मे जाने वाले जीव सदा के लिए वही रहते हैं अथवा वहाँ से उनका छुटकारा भी हो जाता है।

(8) पौराणिक-नरक

नरक के विषय में पुराणकालीन वैदिक-परम्परा मे कुछ विशेष विवरण मिलते हैं। बौद्ध और जैन-मत के साथ उनकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि यह विचारणा तीनों परम्पराओ मे समान ही थी।

योगदर्शन व्यास-भाष्य मे सात नरको के ये नाम बताए गए है—महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिस्र, अवीचि। इन नरको मे जीवो को अपने किए हुए कर्मों के कटुफल मिलते हैं और वहाँ जीवो की आयु भी लम्बी[2] होती है। अर्थात् दीर्घकाल तक कर्म का फल भोगने के बाद ही वहाँ से जीव का छुटकारा होता है, ऐसी मान्यता सिद्ध होती है। ये नरक हमारी अपनी भूमि और पाताल लोक के नीचे अवस्थित[3] हैं।

भाष्य की टीका मे नरको के अतिरिक्त कुम्भीपाकादि उपनरको की कल्पना को भी स्थान प्राप्त हुआ है। वाचस्पति ने इनकी सख्या अनेक बताई है किन्तु भाष्यवार्तिककार ने इसे अनन्त कहा है।

भागवत मे नरको की सख्या सात के स्थान पर 28 बताई है और उनमे प्रथम 21 के नाम ये हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकर-मुख, अन्धकूप, कृमि-भोजन, सदश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि तथा अय पान[4]। इसके अतिरिक्त कुछ लोगो के मतानुसार अन्य सात नरक भी है--क्षार-कर्दम, रक्षोगण-भोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्यावर्तन, और सूचीमुख। इनमे अधिकतर नाम ऐसे है जिनसे यह ज्ञात हो जाता है कि उन नरको मे जीवो को किस प्रकार के कष्ट हैं।

(9) बौद्ध और परलोक

हम यह कह सकते हैं कि, भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म को इसी लोक मे फल देने वाला माना था और उनके उपलब्ध प्राचीन उपदेश मे स्वर्ग, नरक अथवा प्रेतयोनि सम्बन्धी विचारो को स्थान ही नही था। यदि कभी कोई जिज्ञासु ब्रह्मलोक जैसे परोक्ष विषय के सम्बन्ध मे प्रश्न करता, तो भगवान् बुद्ध सामान्यत. उसे समझाते कि, परोक्ष-पदार्थों के विषय मे चिन्ता

---

1. कठ० 1.1 3, बृहदा० 4 4 10-11, ईश 3–9
2. योगदर्शन व्यास-भाष्य, विभूतिपाद 26
3. भाष्यवार्तिककार ने कहा है कि, पाताल अवीचि नरक के नीचे है, किन्तु यह भ्रम प्रतीत होता है।
4. श्रीमद्भागवत् (छायानुवाद) पृ० 164, पचमस्कध 26.5-36,

नही करनी चाहिए[1] । वे प्रत्यक्ष दु ख, उसके कारण और दु ख-निवारक मार्ग का उपदेश करते । परन्तु जैसे-जैसे उनके उपदेश एक धर्म और दर्शन के रूप मे परिणत हुए, वैसे-वैसे आचार्यों को स्वर्ग, नरक, प्रेत आदि समस्त परोक्ष-पदार्थों का भी विचार करना पडा और उन्हे बौद्ध-धर्म मे स्थान देना पडा । बौद्ध-पण्डितो ने कथाओ की रचना मे जो कौशल दिखाया है, वह अनुपम है । उनका लक्ष्य सदाचार और नीति की शिक्षा प्रदान करना था । उन्होने अनुभव किया कि, स्वर्ग के सुखो और नरक के दु खो के कलात्मक वर्णन के समान अन्य कोई ऐसा साधन नही है जो सदाचार मे निष्ठा उत्पन्न कर सके । अतः उन्होंने इस ध्येय को सन्मुख रखते हुए कथाओ की रचना की, उन्हे इस विषय मे अत्यन्त महत्वपूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई । इस आधार पर धीरे-धीरे बौद्ध-दर्शन मे भी स्वर्ग, नरक, प्रेत सम्बन्धी विचार व्यवस्थित होने लगे । निदान अभिधम्मकाल मे हीनयान सम्प्रदाय मे उनका रूप स्थिर हो गया, किन्तु महायान सम्प्रदाय मे उनकी व्यवस्था कुछ भिन्नरूप से हुई ।

बौद्ध अभिधम्म[2] मे सत्त्वो का विभाजन इन तीन भूमियो मे किया गया है—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर । उनमे नारक तिर्यंच, प्रेत, असुर ये चार कामावचर भूमियाँ अपायभूमि हैं, अर्थात् उनमे दु ख की प्रधानता है । मनुष्यो तथा चातुम्महाराजिक, तावर्तिस, याम, तुसित, निम्मानरति, परिनिम्मितवसवत्ति नाम के देव-निकायो का समावेश काम-सुगति नाम की कामावचर भूमि मे है । उनमे कामभोग की प्राप्ति होती है, अत चित्त चचल रहता है ।

रूपावचर भूमि मे उत्तरोत्तर अधिक सुखवाले सोलह देव निकायो का समावेश है जिसका विवरण इस प्रकार है –

प्रथम ध्यान-भूमि मे—1 ब्रह्मपारिसज्ज, 2 ब्रह्मपुरोहित, 3 महाब्रह्म

द्वितीय ध्यान-भूमि मे—4 परित्ताभ, 5 अप्पमाणाभ, 6 आभस्सर

तृतीय ध्यान-भूमि मे—7 परित्तसुभा, 8 अप्पमाणसुभा 9. सुभकिण्हा

चतुर्थ ध्यान-भूमि मे—10 वेहप्फला 11 असञ्ञसत्ता, 12-16. पाँच प्रकार के सुद्धावास

सुद्धावास के ये पाँच भेद है—12 अविहा, 13 अतप्पा, 14. सुदस्सा, 15. सुदस्सी, 16 अकनिट्ठा ।

अरूपावचर भूमि मे उत्तरोत्तर अधिक सुख वाली चार भूमि हैं—

1. आकासानञ्चायतन भूमि
2. विञ्ञाणञ्चायतन भूमि
3. आकिंचञ्ञायतन भूमि
4. नेवसञ्ञानासञ्ञायतन भूमि

अभिधम्मत्थ-सग्रह मे नरको की सख्या नही बताई गई है, किन्तु मज्झिमनिकाय में उन विविध कष्टो का वर्णन है जो नारको को भोगने पडते हैं । (बालपण्डित-सुत्तन्त–129 देखें)

---

1. दीघनिकाय के तेविज्जसुत्त में ब्रह्मसालोकता विषयक भगवान् बुद्ध का कथन देखें ।
2. अभिधम्मत्थ-सग्रह परि० 5.

जातक (530) मे ये आठ नरक बताए गए हैं--सजीव, कालसुत्त, सघात, जालरोव, धूमरोरुव, तपन, प्रतापन, अवीचि। महावस्तु (1.4) मे उक्त प्रत्येक नरक के 16 उस्सद (उपनरक) स्वीकार किए गए हैं। इस तरह सब मिलकर 128 नरक हो जाते हैं। किन्तु पचगति-दीपनी नामक ग्रन्थ मे प्रत्येक नरक के चार उस्सद बताए है—मल्हकूप, कुवकुल, असिपत्तवन, नदी[1] (वेतरणी)।

बौद्धो ने देवलोक के अतिरिक्त प्रेतयोनि भी स्वीकार की है। इन प्रेतो की रोचक कथाएँ पेतवत्थु नाम के ग्रन्थ मे दी गई हैं। सामान्यत प्रेत विशेष प्रकार के दुष्कर्मों को भोगने के लिए उस योनि मे उत्पन्न होते हैं। इन दोपो मे इस प्रकार के दोष हैं--दान देने मे ढील करना, योग्य रीति से श्रद्धा-पूर्वक न देना। दीघनिकाय के आटानाटिय सुत्त मे निम्नलिखित विशेपणों द्वारा प्रेतो का वर्णन किया गया है--चुगलखोर, खूनी, लुब्ध, चोर, दगाबाज आदि, अर्थात् ऐसे लोग प्रेतयोनि मे जन्म ग्रहण करते हैं। पेतवत्थु ग्रथ से भी इस बात का समर्थन होता है।

पेतवत्थु के आरम्भ मे ही यह बात कही गई है कि, दान करने से दाता अपने इस लोक का सुधार करने के साथ-साथ प्रेतयोनि को प्राप्त अपने सम्बन्धियो के भव का उद्धार करता है।

प्रेत पूर्वजन्म के घर की दीवार के पीछे आकर खडे रहते है। चौक मे अथवा मार्ग के किनारे आकर भी खडे हो जाते हैं। जहाँ महान् भोज की व्यवस्था हो, वहाँ वे विशेष रूप से पहुचते हैं। यदि जो लोग उनका स्मरण कर उन्हे कुछ नही देते, तो वे दु खी होते हैं। जो उन्हे याद कर उन्हे देते है, वे उनका आशीर्वाद प्राप्त करते है। क्योकि प्रेतलोक मे व्यापार अथवा कृषि की व्यवस्था नही है जिससे उन्हे भोजन मिल सके सके। उनके निमित्त इस लोक मे जो कुछ दिया जाता है, उसीके आधार पर उनका जीवन-निर्वाह होता है। इस प्रकार के विवरण पेतवत्थु[2] मे उपलब्ध होते हैं।

लोकान्तरिक नरक मे भी प्रेतो का निवास है। वहाँ के प्रेत छह कोस ऊँचे है। मनुष्यलोक मे निज्झामतण्ह जाति के प्रेत रहते हैं। इनके शरीर मे सदा जलन होती रहती है। वे सदा भ्रमणशील होते हैं। इनके अतिरिक्त पालि गथो मे खुप्पिपास, कालकजक, उतूपजीवी नाम की प्रेत-जातियो का भी उल्लेख है[3]।

(10) जैन-सम्मत परलोक

जैनो ने समस्त ससारी जीवो का समावेश चार गतियो मे किया है--मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक तथा देव। मरने के बाद मनुष्य अपने कर्मानुसार इन चार गतियो मे से किसी एक गति मे भ्रमण करता है। जैन-सम्मत देव तथा नरकलोक के विषय मे ज्ञातव्य बातें ये हैं--

---

1. E R E–Cosmogomy & Cosmology—शब्द देखें।
   महायान के वर्णन के लिए अभिधर्मकोष चतुर्थ स्थान मे देखें।
2. पेतवत्थु 1 5
3. Buddhist Conception of spirits P. 24.

जैन-मत मे देवो के चार निकाय हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक। भवनपति निकाय के देवो का निवास जम्बूद्वीप मे स्थित मेरु पर्वत के नीचे उत्तर तथा दक्षिण दिशा मे है। व्यन्तर निकाय के देव तीनो लोको मे रहते है। ज्योतिष्क निकाय के देव मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से सात सौ नव्वे योजन की ऊँचाई से शुरु होने वाले ज्योतिश्चक्र मे रहते हैं। यह ज्योतिश्चक्र वहाँ से लेकर एक सौ दस योजन परिमाण तक है। इस चक्र से भी ऊपर असख्यात योजन की ऊचाई के अन्तर उत्तरोत्तर एक दूसरे के ऊपर अवस्थित विमानो मे वैमानिक देव रहते हैं।

भवनवासी निकाय के देवो के दस भेद हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपुर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

व्यन्तर निकाय के देवो के आठ प्रकार हैं—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, और पिशाच।

ज्योतिष्क देवों के पाँच प्रकार हैं-- सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्ण तारा।

वैमानिक देव-निकाय के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न, कल्पाती।। कल्पोपपन्न के बारह भेद हैं—सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत। एक मत सोलह भेद[1] स्वीकार करता है।

कल्पातीत वैमानिको मे नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानो का समावेश है। नव ग्रैवेयक के नाम ये हैं—सुदर्शन सुप्रतिवद्ध, मनोरम, सर्वभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस, प्रियकर आदित्य।

पाँच अनुत्तर विमानो के नाम ये हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्ध।

इन सब देवो की स्थिति, भोग, सम्पत्ति आदि के सम्बन्धो मे विस्तृत वर्णन जिज्ञासुओ को तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय तथा वृहत् सग्रहणी आदि ग्रन्थो मे देख लेना चाहिए।

जैन-मत मे सात नरक माने हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, तथा महातम प्रभा।

ये सातो नरक उत्तरोत्तर नीचे-नीचे हैं और विस्तार में भी अधिक हैं। उनमे दुःख ही दुःख है। नारक परस्पर तो दुःख उत्पन्न करते ही हैं, इसके अतिरिक्त सक्लिष्ट असुर भी प्रथम तीन नरक भूमियो मे दुःख देते हैं। नरक का विशद वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय मे है, जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं।

बनारस
दि० 30-6-52

दलसुख मालवणिया
अनु० पृथ्वीराज जैन, एम. ए.

1. ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, शतार ये चार नाम अधिक हैं।

जातक (530) मे ये आठ नरक बताए गए हैं--सजीव, कालसुत्त, सघात, जालरोव, धूमरोरुव, तपन, प्रतापन, अवीचि। महावस्तु (1.4) मे उक्त प्रत्येक नरक के 16 उस्सद (उपनरक) स्वीकार किए गए हैं। इस तरह सब मिलकर 128 नरक हो जाते है। किन्तु पचगति-दीपनी नामक ग्रन्थ मे प्रत्येक नरक के चार उस्सद बताए हैं—माल्हकूप, कुक्कुल, असिपत्तवन, नदी[1] (वेतरणी)।

बौद्धो ने देवलोक के अतिरिक्त प्रेतयोनि भी स्वीकार की है। इन प्रेतो की रोचक कथाएँ पेतवत्थु नाम के ग्रन्थ मे दी गई हैं। सामान्यत प्रेत विशेप प्रकार के दुष्कर्मों को भोगने के लिए उस योनि मे उत्पन्न होते हैं। इन दोषो मे इस प्रकार के दोष हैं--दान देने मे ढील करना, योग्य रीति से श्रद्धा-पूर्वक न देना। दीघनिकाय के आटानाटिय सुत्त मे निम्नलिखित विशेपणो द्वारा प्रेतो का वर्णन किया गया है--चुगलखोर, खूनी, लुब्ध, चोर, दगाबाज आदि, अर्थात् ऐसे लोग प्रेतयोनि मे जन्म ग्रहण करते हैं। पेतवत्थु ग्रथ से भी इस बात का समर्थन होता है।

पेतवत्थु के आरम्भ मे ही यह बात कही गई है कि, दान करने से दाता अपने इस लोक का सुधार करने के साथ-साथ प्रेतयोनि को प्राप्त अपने सम्बन्धियो के भव का उद्धार करता है।

प्रेत पूर्वजन्म के घर की दीवार के पीछे आकर खडे रहते है। चौक मे अथवा मार्ग के किनारे आकर भी खडे हो जाते हैं। जहाँ महान् भोज की व्यवस्था हो, वहाँ वे विशेप रूप से पहुँचते हैं। यदि जो लोग उनका स्मरण कर उन्हे कुछ नही देते, तो वे दु खी होते है। जो उन्हे याद कर उन्हे देते हैं, वे उनका आशीर्वाद प्राप्त करते है। क्योकि प्रेतलोक मे व्यापार अथवा कृषि की व्यवस्था नही है जिससे उन्हे भोजन मिल सके सके। उनके निमित्त इस लोक में जो कुछ दिया जाता है, उसीके आधार पर उनका जीवन-निर्वाह होता है। इस प्रकार के विवरण पेतवत्थु[2] मे उपलब्ध होते हैं।

लोकान्तरिक नरक मे भी प्रेतो का निवास है। वहाँ के प्रेत छह कोस ऊँचे है। मनुष्यलोक मे निज्झामतण्ह जाति के प्रेत रहते हैं। इनके शरीर मे सदा जलन होती रहती है। वे सदा भ्रमणशील होते हैं। इनके अतिरिक्त पालि ग्रथो मे खुप्पिपास, कालकजक, उत्तूपजीवी नाम की प्रेत-जातियो का भी उल्लेख है[3]।

(10) जैन-सम्मत परलोक

जैनो ने समस्त ससारी जीवो का समावेश चार गतियो मे किया है--मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक तथा देव। मरने के बाद मनुष्य अपने कर्मानुसार इन चार गतियो मे से किसी एक गति मे भ्रमण करता है। जैन-सम्मत देव तथा नरकलोक के विषय मे ज्ञातव्य बातें ये है--

---

1 E R E–Cosmogomy & Cosmology—शब्द देखें।
महायान के वर्णन के लिए अभिधर्मकोष चतुर्थ स्थान मे देखें।

2 पेतवत्थु 1 5

3. Buddhist Conception of spirits P 24.

जैन-मत मे देवो के चार निकाय हैं—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक। भवनपति निकाय के देवो का निवास जम्बूद्वीप मे स्थित मेरु पर्वत के नीचे उत्तर तथा दक्षिण दिशा मे है। व्यन्तर निकाय के देव तीनो लोको मे रहते है। ज्योतिष्क निकाय के देव मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से सात सौ नव्वे योजन की ऊँचाई से शुरु होने वाले ज्योतिश्चक्र मे रहते हैं। यह ज्योतिश्चक्र वहाँ से लेकर एक सौ दस योजन परिमाण तक है। इस चक्र से भी ऊपर असख्यात योजन की ऊचाई के अन्तर उत्तरोत्तर एक दूसरे के ऊपर अवस्थित विमानो मे वैमानिक देव रहते हैं।

भवनवासी निकाय के देवो के दस भेद हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपुर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

व्यन्तर निकाय के देवो के आठ प्रकार हैं—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, और पिशाच।

ज्योतिष्क देवो के पाँच प्रकार हैं-- सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्ण तारा।

वैमानिक देव-निकाय के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न, कल्पातीत।। कल्पोपपन्न के बारह भेद हैं—सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण तथा अच्युत। एक मत सोलह भेद[1] स्वीकार करता है।

कल्पातीत वैमानिको मे नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानों का समावेश है। नव ग्रैवेयक के नाम ये हैं—सुदर्शन सुप्रतिबद्ध, मनोरम, सर्वभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस, प्रियकर आदित्य।

पाँच अनुत्तर विमानो के नाम ये हैं—विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्ध।

इन सब देवो की स्थिति, भोग, सम्पत्ति आदि के सम्बन्धो मे विस्तृत वर्णन जिज्ञासुओं को तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय तथा बृहत् सग्रहणी आदि ग्रन्थो मे देख लेना चाहिए।

जैन-मत मे सात नरक माने हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा, तथा महातम प्रभा।

ये सातो नरक उत्तरोत्तर नीचे-नीचे हैं और विस्तार मे भी अधिक हैं। उनमे दुख ही दुख है। नारक परस्पर तो दुख उत्पन्न करते ही हैं, इसके अतिरिक्त सक्लिष्ट असुर भी प्रथम तीन नरक भूमियों मे दुख देते हैं। नरक का विशद वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय मे है, जिज्ञासु वहाँ देख सकते है।

बनारस
दि० 30-6-52

दलसुख मालवणिया
अनु० पृथ्वीराज जैन, एम.

1. ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, शतार ये चार नाम अधिक हैं।

गणधरवाद

प्रथम गणधर इन्द्रभूति

जीव के अस्तित्व सम्बन्धी चर्चा

भगवान् महावीर राग-द्वेष का क्षयकर सवज्ञ होने के पश्चात् वैशाख सुदि एकादशी के दिन महसेन वन मे विराजमान थे। लोक-समूह को उनके पास जाते हुए देख कर यज्ञवाटिका मे एकत्रित विद्वान् ब्राह्मणो के मन मे भी जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ऐसा कौन सा महापुरुष आया है जिस का दर्शन करने सब लोग उसकी ओर जा रहे हैं। उन मे सब से श्रेष्ठ विद्वान् इन्द्रभूति गौतम सब से पहले भगवान् महावीर के पास जाने के लिए उद्यत हुआ। जब वह अपने शिष्य परिवार सहित भगवान् के समक्ष उपस्थित हुआ तब उसे देखकर भगवान् कहने लगे —

इन्द्रभूति के संशय का कथन

आयुष्मन् इन्द्रभूति गौतम! तुम्हे जीव के अस्तित्व के विषय मे सन्देह है। तुम यह समझते हो कि जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नही हो सकती, तदपि ससार मे बहुत से लोग जीव का अस्तित्व तो मानते ही हैं, अत तुम्हे सशय है कि जीव है या नही? जीव की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नही हो सकती, इस सम्बन्ध मे तुम्हारे मन मे ये विचार उठते हैं—

जीव प्रत्यक्ष नहीं

यदि जीव का अस्तित्व हो तो उसे घटादि पदार्थों के समान प्रत्यक्ष दिखाई देना चाहिए किन्तु वह प्रत्यक्ष तो होता नही। जो पदार्थ सर्वथा अप्रत्यक्ष होते है, उन का आकाश-कुसुम के समान ससार में सर्वथा अभाव होता है। जीव भी सर्वथा अप्रत्यक्ष है, अत ससार मे उस का भी सर्वथा अभाव है।

यद्यपि परमाणु भी चर्म चक्षु से दिखाई नही देता, तथापि उसका अभाव नही माना जा सकता। कारण यह है कि वह जीव के समान सर्वथा अप्रत्यक्ष नही है। कार्यरूप मे परिणत परमाणु का प्रत्यक्ष तो होता ही है, किन्तु जीव का प्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से नही होता। अत उसका सर्वथा अभाव मानना चाहिए। [१५४९]

जीव अनुमान से सिद्ध नहीं होता

यदि कोई यह बात कहे कि जीव चाहे प्रत्यक्ष से गृहीत न हो, किन्तु उसे अनुमान से तो जाना जा सकता है, अत उसका अस्तित्व मानना चाहिए, तो यह कहना भी युक्त नही। कारण यह है कि अनुमान भी प्रत्यक्ष-पूर्वक ही होता है। जिस पदार्थ का कभी प्रत्यक्ष ही न हुआ हो, वह पदार्थ अनुमान से

भी नही जाना जा सकता। हमारा अनुभव है कि जव हम परोक्ष अग्नि का अनुमान करते है तव सव से पहले धूमरूप लिंग अथवा हेतु का प्रत्यक्ष होता ही है। यही नही अपितु पहले से ही प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित किए गए लिग-हेतु तथा लिंगी-साध्य के अविनाभाव सवन्ध का—अर्थात् प्रत्यक्ष से निश्चित धूम तथा अग्नि के अविनाभाव सवन्ध का—स्मरण होता है। तभी धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है, अन्यथा नही। [१५५०]

प्रस्तुत मे जीव के विषय मे जीव के किसी भी लिंग का जीव के साथ सवन्ध प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा पूर्व गृहीत है ही नही; जिससे उस लिग का पुन प्रत्यक्ष होने पर उस सवन्ध का स्मरण हो और जीव का अनुमान किया जा सके।

कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि सूर्य की गति का कभी भी प्रत्यक्ष नही हुआ, फिर भी उस की गति का अनुमान हो सकता है, जैसे कि सूर्य गतिशील है क्योकि वह कालान्तर मे दूसरे देश मे पहुँच जाता है, देवदत्त के समान। जिस प्रकार यदि देवदत्त प्रात.काल यहा हो किन्तु सध्या मे अन्यत्र हो, तो यह वात गमन के अभाव मे शक्य नही, उसी प्रकार सूर्य प्रात काल मे पूर्व दिशा मे होता है और सायकाल मे पश्चिम दिशा मे। यह वात भी सूर्य की गतिशीलता के विना सभव नही। इस प्रकार के सामान्यतो-दृष्ट अनुमान से सर्वथा अप्रत्यक्षरूप सूर्य की गति की सिद्धि हो सकती है इसी तरह सामान्यतो-दृष्ट अनुमान से सर्वथा अप्रत्यक्षरूप जीव का अस्तित्व भी सिद्ध हो सकता है।

इस का उत्तर यह है कि देवदत्त का जो दृष्टान्त ऊपर दिया गया है, उसमे सामान्यत. देवदत्त का देशान्तर मे होना गतिपूर्वक ही है। यह वात प्रत्यक्ष सिद्ध है, इस लिए इस दृष्टान्त से सूर्य की गति अप्रत्यक्ष होने पर भी देशान्तर में सूर्य को देखकर सूर्य की गति का अनुमान हो सकता है। किन्तु प्रस्तुत मे जीव के अस्तित्व के साथ अविनाभावी किसी भी हेतु का प्रत्यक्ष नही होता, जिस से जीव के उस हेतु के पुनर्दर्शन से अनुमान हो सके। अत. उक्त सामान्यतो-दृष्ट अनुमान से भी जीव का अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता। [१५५१]

जीव आगम प्रमाण से भी सिद्ध नहीं

आगम-प्रमाण से भी जीव की सिद्धि नही हो सकती। वस्तुत. आगम प्रमाण अनुमान प्रमाण से पृथक् नही है। वह अनुमान रूप ही है। क्योकि आगम के दो भेद हैं—एक दृष्टार्थ विषयक अर्थात् प्रत्यक्ष पदार्थ का प्रतिपादक और दूसरा अदृष्टार्थ विषयक—अर्थात् परोक्ष पदार्थ का प्रतिपादक। उनमें दृष्टार्थ विषयक आगम तो स्पष्टरूपेण अनुमान है,क्योकि मिट्टी के अमुक विशिष्ट आकार वाले प्रत्यक्ष पदार्थ को लक्ष्य मे रखकर प्रयुक्त होने वाला 'घट' शब्द जव हम वार वार सुनते है तव हम निश्चय कर लेते हैं कि इस आकार वाले पदार्थ को 'घट' शब्द से प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार का निश्चय हो जाने के वाद जव कभी हम

'घट' शब्द का श्रवण करते है तब यह अनुमान कर लेते है कि वक्ता 'घट' शब्द से अमुक विशिष्ट आकार वाले अर्थ का ही प्रतिपादन करता है। इस तरह दृष्टार्थ विषयक आगम अनुमान ही है। प्रस्तुत मे 'जीव' यह शब्द हमने कभी भी शरीर से भिन्न अर्थ मेप्रयुक्त हुआ सुना ही नही है। तो फिर जीव शब्द का श्रवण करने पर हम दृष्टार्थ विषयक आगम से उसकी सिद्धि कैसे कर सकेंगे ? अर्थात् दृष्टार्थ विषयक आगम से भी शरीर से भिन्न जीव की सिद्धि नही होती।

स्वर्ग-नरक आदि पदार्थ अदृष्ट अथवा परोक्ष है। इस प्रकार के पदार्थो के प्रतिपादक वचन को अदृष्टार्थ विषयक आगम कहते है। यह आगम भी अनुमान रूप है। इस बात को हम इस प्रकार सिद्ध कर सकते है—उक्त अदृष्टार्थ के प्रतिपादक वचन का प्रामाण्य निम्न-प्रकारेण सिद्ध होता है--स्वर्ग-नरकादि का प्रतिपादक वचन प्रमाण है, क्योकि वह चन्द्र ग्रहण आदि वचन के समान अविसवादी वचन वाले आप्त-पुरुष का वचन है। इस प्रकार यह अदृष्टार्थ विषयक आगम भी अनुमान रूप ही है। प्रस्तुत मे ऐसा कोई भी आप्त-पुरुष सिद्ध नही है जिसे आत्मा प्रत्यक्ष हो और जिसके आधार पर इस सम्बन्ध मे उस का वचन प्रमाण माना जाए तथा इस प्रकार जीव के अप्रत्यक्ष होने पर भी उसका अस्तित्व मान लिया जाए। इस प्रकार आगम प्रमाण से भी जीवसिद्धि सम्भव नही। [१५५२]

जीव के विषय में आगमो में परस्पर विरोध

पुनश्च तथाकथित आगम भी आत्मा के विषय मे परस्पर विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते है, अत. आत्मा के अस्तित्व मे सन्देह का अवकाश रहता ही है। जैसे कि चार्वाको के शास्त्र मे कहा है कि 'जो कुछ इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य है, उतना ही लोक है।'[1] अर्थात् आत्मा इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य न होने के कारण अभाव स्वरूप ही है। इसके समर्थन मे किसी ऋषि[2] की उक्ति भी है कि 'इन भूतो से विज्ञानघन समुत्थित होता है और भूतो के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है। परलोक जैसी कोई चीज नही है।[3]' भगवान् बुद्ध ने भी आत्मा का अभाव वताते हुए कहा है

---

१ 'एतावानेव लोकोऽय यावानिन्द्रियगोचर ।
भद्रे वृकपद पश्य यद् वदन्ति विपश्चित ॥
उत्तरार्द्ध का भावार्थ—हे भद्रे ! वृक पद को भी देखो तथा विद्वान् उसके आधार पर जिन परस्पर विरुद्ध पदार्थों का अनुमान करते हैं, उन्हे भी देखो। इससे अनुमान को प्रमाण मानना चाहिए। यह पद्य षड्दर्शन समुच्चय मे 81वा तथा लोकतत्वनिर्णय मे 290वा है।

२ वृत्ति मे लिखा है 'भट्टोऽप्याह'। किन्तु यह वाक्य कुमारिल का नही है, अत उक्त कथन युक्त नही। यह वाक्य उपनिषदो का है।

३ 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न च प्रेत्य सज्ञा अस्ति।' वृहदारण्यक उप० 2. 4 12 यह वाक्य ऋषि याज्ञवल्क्य का है।

कि 'रूप पुद्गल नही है।[1]' अर्थात् बाह्य दृश्य वस्तु जीव नही है। इस प्रकार प्रारम्भ कर सभी प्रसिद्ध वस्तुओं को एक-एक करके लक्ष्य मे रख कर भगवान् बुद्ध ने सिद्ध किया कि जीव नही है। इसके विपरीत आत्मा का अस्तित्व बताने वाले आगम वचन भी उपलब्ध होते है, जैसा कि वेद मे कहा है–'सशरीर आत्मा के प्रिय और अप्रिय—अर्थात् सुख और दु ख का नाश नही है, किन्तु शरीर-रहित जीव को प्रिय और अप्रिय का स्पर्श भी नही है। अर्थात् उसे सुख-दुःख दोनों ही नही हैं।[2]' फिर यह भी कहा है कि 'स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करे।[3]' साख्यो के आगम मे कहा है कि 'पुरुष-आत्मा अकर्ता, निर्गुण, भोक्ता और चिद्रूप है।'[4] इस प्रकार आगमो के परस्पर विरुद्ध होने के कारण आगम प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि नही हो सकती।

उपमान प्रमाण से जीव असिद्ध है

उपमान प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि शक्य नही है, कारण यह है कि यदि विश्व में आत्मा जैसा कोई अन्य पदार्थ हो तब उसकी उपमा आत्मा से दी जा सकती है और फिर आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु आत्म-सदृश कोई पदार्थ है ही नही। अत उपमान से भी आत्मा की सिद्धि नही हो सकती।

कोई व्यक्ति यह भी कह सकता है कि काल, आकाश, दिक् ये सब अमूर्त होने के कारण आत्मा के सदृश है, अत उपमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि जैसे आत्मा असिद्ध है वैसे ही कालादि भी प्रत्यक्ष न होने के कारण असिद्ध है। अत उपमान प्रमाण आत्मा की सिद्धि नही कर सकता।

अर्थापत्ति से भी जीव असिद्ध है

अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नही हो सकती, कारण यह है कि ससार मे ऐसा एक भी पदार्थ नही जिसका अस्तित्व उसी दशा मे सिद्ध हो सकता है जबकि आत्मा को माना जाए।

इस प्रकार तुम समझते हो कि जीव सर्व प्रमाणातीत है, अर्थात् किसी भी प्रमाण से उसकी सिद्धि नही हो सकती, अतः उसका अभाव मानना चाहिए। फिर

---

१. 'न रूपं भिक्षवः' पुद्गल' इस विषय की बौद्ध त्रिपिटक मे विस्तृत चर्चा है। सयुक्त निकाय 12 70 32-37, दीघनिकाय महानिदान सुत्त 15; मज्झिम निकाय छक्क-सुत्त 148. मैंने इस विषय की चर्चा न्यायावतारवार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना मे की है–देखें पृ० 6,

२. न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीर वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।' छान्दोग्य उपनिषद 8.12.1.

३. 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम.' मैत्रायणी उपनिषद् 3.6 36

४. 'अस्ति पुरुषोऽकर्ता निर्गुणो भोक्ता चिद्रूपः। इसके साथ तुलना करें —
'अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्य. सर्वगतोऽक्रिय.। अकर्ता निर्गुण सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने॥'
यह पद्य स्याद्वादमञ्जरी पृष्ठ 96 पर उद्धृत है।

भी बहुत से लोग जीव का अस्तित्व स्वीकार करते है, अत तुम्हें सशय है कि जीव की सत्ता है या नही ? [१५५३]

संशय का निवारण

हे गौतम ! जीव के विषय मे तुम्हारा सन्देह उचित नही है । तुम्हारा यह कहना कि 'जीव प्रत्यक्ष नही' अयुक्त है, क्योकि जीव तुम्हे प्रत्यक्ष है ही ।

संशय-विज्ञान रूप से जीव प्रत्यक्ष है

इन्द्रभूति—यह कैसे ?

भगवान्—'जीव है या नही' इस प्रकार का जो सशय रूप विज्ञान है वही जीव है, क्योकि जीव विज्ञानरूप है । तुम्हे तुम्हारा सन्देह तो प्रत्यक्ष ही है, क्योकि वह विज्ञानरूप है । जो विज्ञानरूप होता है वह स्वसवेदन प्रत्यक्ष से स्वसविदित होता ही है, अन्यथा विज्ञान का ज्ञान घटित नही हो सकता । इस प्रकार सशय रूप विज्ञान यदि तुम्हे प्रत्यक्ष हो तो उस रूप मे जीव भी प्रत्यक्ष ही है । जो प्रत्यक्ष हो, उसकी सिद्धि मे अन्य प्रमाण अनावश्यक है । जैसे अपने शरीर में सुख-दु खादि का जो अनुभव होता है, वह स्वसविदित होने से प्रत्यक्ष सिद्ध है और सुख-दु खादि की सिद्धि मे प्रत्यक्षेतर प्रमाण अनावश्यक है, उसी प्रकार जीव भी स्वसविदित होने के कारण अपनी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नही रखता ।

इन्द्रभूति—जीव चाहे प्रत्यक्ष सिद्ध हो, किन्तु उसकी अन्य प्रमाणो से सिद्धि करना आवश्यक है । जैसे इस विश्व के पदार्थ यद्यपि प्रत्यक्ष सिद्ध है तथापि शून्य-वादी को समझाने के लिए अनुमान आदि प्रमाणो से उनकी सिद्धि करनी पडती है, उसी प्रकार जीव के प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी उसकी इतर प्रमाणों से सिद्धि आवश्यक है ।

भगवान्—शून्यवादी की चर्चा मे भी वस्तुत अनुमानादि प्रमाणो द्वारा विश्व के पदार्थों की सिद्धि नही करनी पडती, किंतु यदि शून्यवादियो ने विश्व के पदार्थो के अस्तित्व के सम्बन्ध मे बाधक प्रमाण[1] दिए हो तो उनका निराकरण ही किया जाता है । प्रस्तुत मे आत्म ग्राहक प्रत्यक्ष का कोई बाधक प्रमाण ही नही है, अत उसके निराकरण का प्रश्न ही उपस्थित नही होता । अर्थात् आत्म-सिद्धि मे प्रत्यक्षेतर प्रमाण अनावश्यक ही है । [१५५४]

1. शून्यवादी सब वस्तुओ की शून्यता सिद्ध करने के लिए इस प्रकार अनुमान करते हैं—'निरालम्बना' सर्वे प्रत्यया , प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्'–(प्रमाणवार्तिकालकार–पृ० 22)–अर्थात् सभी ज्ञानो का कोई विषय ही नही है, ज्ञान होने से, स्वप्नज्ञान के समान । यह विज्ञान–वादियो का अनुमान है । वे विज्ञान भिन्न कोई बाह्य वस्तु नही मानते । इसी का उपयोग बाह्य वस्तु का बाधक बताने के लिए शून्यवादी भी करते हैं ।

अहंप्रत्यय से जीव का प्रत्यक्ष

इन्द्रभूति—आपने कहा है कि सशय विज्ञान-रूप से जीव प्रत्यक्ष है। यह बात ठीक है किन्तु किसी अन्य रीति से वह प्रत्यक्ष होता हो तो बताएँ।

भगवान्—'मैंने किया' 'मैं करता हूँ' 'मैं करूंगा' इत्यादि प्रकार से तीनो काल सम्बन्धी अपने विविध कार्यो का जो निर्देश किया जाता है, उसमे 'मैं' पन का जो अहंरूप ज्ञान होता है, वह भी आत्म प्रत्यक्ष ही है। यह अहरूप ज्ञान किसी भी प्रकार अनुमान रूप नही, क्योकि वह लिंगजन्य नही है। यह आगम प्रमाण रूप भी नही है, क्योकि आगम से अनभिज्ञ सामान्य लोगो को भी अहंपन का अन्तर्मुख ज्ञान होता ही है और वही आत्मा का प्रत्यक्ष है। घटादि पदार्थो में आत्मा नही है, अत उन्हे इस प्रकार के अहपन का अन्तर्मुख आत्म-प्रत्यक्ष भी नही होता। [१५५५]

फिर, यदि जीव का अस्तित्व ही नहीं है, तो उसे 'अह' इस प्रत्यय का ज्ञान कहाँ से हो सकता है ? क्योकि ज्ञान निर्विषय तो होता नही। यदि 'अह'-प्रत्यय के विषयभूत आत्मा को स्वीकार न किया जाए तो 'अह'-प्रत्यय विषय-रहित बन जाता है। ऐसी स्थिति मे 'अह'-प्रत्यय होगा ही नही।

अहंप्रत्यय देह-विषयक नहीं

इन्द्रभूति—अह-प्रत्यय का विषय जीव के स्थान पर यदि देह को माना जाए तो भी अहप्रत्यय निर्विषय नही हो पाता। 'मैं काला हूँ' 'मैं दुबला हूँ' इत्यादि प्रत्ययो मे 'मैं' स्पष्टत. शरीर को लक्ष्य मे रख कर प्रयुक्त हुआ है। अत. 'मैं' को यदि देह माना जाए तो इसमे क्या आपत्ति है ?

भगवान्—यदि 'मैं' शब्द का प्रयोग शरीर के लिए ही होता हो तो मृत देह मे भी अहप्रत्यय होना चाहिए। ऐसा नही होता, अत 'अह' पन के ज्ञान का विषय देह नही, अपितु जीव है। पुनश्च, इस प्रकार अहप्रत्यय से तुम्हें आत्मा प्रत्यक्ष हो है। फिर 'मैं हूँ या नही' इस सशय का अवकाश नही रहता। इससे विपरीत 'मैं हूँ ही' यह आत्म-विषयक निश्चय होना ही चाहिए। ऐसी स्थिति मे भी यदि तुम्हारा आत्मा के सम्बन्ध मे सशय बना रहता है तो फिर अहंप्रत्यय का विषय क्या रह जाएगा ? अर्थात् 'अहप्रत्यय' किस का होगा ? कोई भी ज्ञान निर्विषय नही होता, अत अहज्ञान का भी कोई विषय मानना चाहिए। तुम आत्मा को स्वीकार नही करते, अत तुम ही बताओ कि अहप्रत्यय का विषय क्या है।' [१५५६]

संशयकर्ता जीव ही है

पुनश्च, यदि सशय करने वाला कोई न हो तो 'मैं हूँ या नहीं' यह सशय किस को होगा ? सशय विज्ञान-रूप है और विज्ञान एक गुण है। गुणी के बिना गुण की सम्भावना नही, अत. सशयरूप विज्ञान का कोई गुणी मानना ही चाहिए। सशय का आधार गुणी ही जीव है।

इन्द्रभूति—जीव के स्थान पर देह को ही गुणी मान ले, क्योंकि देह मे ही सशय उत्पन्न होता है।

भगवान्—देह मूर्त है और जड है, किन्तु ज्ञान अमूर्त और बोध रूप है। इस तरह यह दोनो अननुरूप है—विलक्षण है, अत. इन दोनो का गुण-गुणी-भाव घटित नही हो सकता। अन्यथा आकाश मे भी रूप गुण मानना पडेगा। अत देह को संशय का गुणी नही माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त जिसे स्वरूप मे ही सन्देह हो—अपने विषय मे ही सन्देह हो, उसके लिए समस्त विश्व मे कोई भी चीज असंदिग्ध कैसे होगी ? उसे सर्वत्र ही सशय होगा ।

आत्म-बाधक अनुमान के दोष

आत्मा के अहप्रत्यय द्वारा प्रत्यक्ष होने पर भी तुम यह अनुमान करते हो कि 'आत्मा नही है—क्योकि उसमे अस्तित्व अर्थात् भाव के ग्राहक पाँचो प्रमाणो की प्रवृत्ति नही है।' तुम्हारे इस अनुमान मे तुम्हारा पक्ष प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास–मिथ्यापक्ष सिद्ध होता है। जैसे कि शब्द का श्रवण द्वारा प्रत्यक्ष होता है, फिर भी कोई कहे कि 'शब्द तो अश्रावण है'—अर्थात् वह कर्णग्राह्य नही, तो उसका पक्ष प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण पक्षाभास है। 'आत्मा नही' तुम्हारा यह पक्ष अनुमान बाधित भी है। आत्म-साधक अनुमान आगे बताऊँगा। उस अनुमान से तुम्हारा पक्ष बाधित हो जाता है। जैसे कि मीमासको का यह पक्ष कि 'शब्द नित्य है' नैयायिक आदि के शब्द की अनित्यता के साधक अनुमान द्वारा बाधित हो जाता है। पुनश्च 'मैं सशयकर्ता हूँ' यह बात स्वीकार करने के पश्चात् 'आत्मा नही है' अर्थात् 'मैं नही हूँ' ऐसा कथन करने से तुम्हारा पक्ष स्वाभ्युपगम से भी बाधित होता है। इसका कारण यह है कि 'मैं सशयकर्ता हूँ' यह कह कर 'मैं' का स्वीकार तो किया ही गया है और अब 'मैं' का निषेध करते हो, अत तुम्हारे इस 'मैं' के निषेध की बात अपने प्रथम अभ्युपगम-स्वीकार से ही बाधित हो जाती है। जैसे कि साख्य आत्मा को पहले अकर्ता, नित्य, चैतन्य स्वरूप स्वीकार करके फिर यदि यह कहे कि वह कर्ता है, अनित्य है, अचेतन है तो उनका पक्ष स्वाभ्युपगम से बाधित हो जाता है। अनपढ लोग भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते है। अत 'आत्मा नही' तुम्हारा यह पक्ष लोकविरुद्ध भी है। जैसे शशि को अचन्द्र कहना लोक-विरुद्ध है। तथा 'मैं आत्मा नही' अर्थात् 'मैं, मैं नहीं' ऐसा कथन करना स्ववचन विरुद्ध भी है। जैसे कोई यह कहे कि मेरी माता वन्ध्या है।

इस प्रकार तुम्हारा पक्ष ही युक्त नही है। यह पक्षाभास है। अत 'भावग्राहक पाँचो प्रमाणो की प्रवृत्ति नही' यह हेतु पक्ष का धर्म नही बन सकेगा, इसलिए यह हेतु असिद्ध होगा। असिद्ध हेतु हेत्वाभास कहलाता है। उससे साध्य सिद्धि नही हो

सकती। अपितु हिमालय का परिमाण कितना है, यह बात हम किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही कर सकते। इसी प्रकार पिशाच आदि के विषय मे भी हमारा कोई प्रमाण प्रवृत्त नही होता तथापि हिमालय के परिमाण और पिशाच का अभाव सिद्ध नही होता। इसी प्रकार आत्मा मे प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण की प्रवृत्ति न हो, तो भी उसका अभाव सिद्ध नही हो सकता। इसलिए तुम्हारा हेतु व्यभिचारी भी है। आगे आत्मा का साधक अनुमान प्रतिपादित किया जाएगा, उससे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। अत. तुम्हारा हेतु विपक्ष वृत्ति होने के कारण विरुद्ध भी है। इसलिए तुम्हे आत्मा के अस्तित्व के विषय मे सन्देह नही करना चाहिए किन्तु, उसका प्रत्यक्ष से निश्चय ही करना चाहिए। [१५५७]

इन्द्रभूति—'आत्मा प्रत्यक्ष है' इस बात को अनुमान से सिद्ध करे।

गुणों के प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष

भगवान्—आत्मा प्रत्यक्ष है, क्योंकि उसके स्मरणादि विज्ञानरूप गुण स्व-सवेदन द्वारा प्रत्यक्ष है। जिस गुणी के गुण प्रत्यक्ष होते है, वह गुणी भी प्रत्यक्ष होता है, जैसे घट। जीव के गुण भी प्रत्यक्ष हैं, अत जीव भी प्रत्यक्ष है। घटादि के प्रत्यक्ष का आधार उसके रूपादि गुण है। उसी प्रकार जीव का प्रत्यक्ष भी उसके स्मरणादि गुणो की प्रत्यक्षता के कारण मानना ही चाहिए।

इन्द्रभूति—गुणो की प्रत्यक्षता के कारण गुणी की प्रत्यक्षता मानने का नियम व्यभिचारी है, क्योकि आकाश का गुण शब्द तो प्रत्यक्ष है, परन्तु आकाश प्रत्यक्ष नही होता।

भगवान्—उक्त नियम व्यभिचारी नही है, क्योकि शब्द आकाश का गुण न हो कर पौद्गलिक है। अर्थात् शब्द पुद्गल द्रव्य का एक परिणाम है।

इन्द्रभूति—आप शब्द को पौद्गलिक किस आधार पर कहते है ?

शब्द पौद्गलिक है

भगवान्—क्योकि यह इन्द्रिय का विषय है। जैसे रूपादि चक्षुग्राह्य होने के कारण पौद्गलिक है, उसी प्रकार शब्द भी श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने के कारण पौद्गलिक है। [१५५८]

इन्द्रभूति—गुण प्रत्यक्ष हो तो उसे आप भले ही प्रत्यक्ष मान ले, किन्तु इससे गुणी का क्या सम्बन्ध है ?

गुण-गुणी का भेदभाव

भगवान्—गुणी का सम्बन्ध क्यो नही ? मैं तुम्हे पूछता हूँ कि गुण गुणी से भिन्न है अथवा अभिन्न ?

इन्द्रभूति—यदि गुण को गुणी से अभिन्न माना जाए तो ?

भगवान्—यदि गुण गुणी से अभिन्न हो तो गुण-दर्शन से गुणी का भी साक्षात् दर्शन मानना ही चाहिए; अत जीव के स्मरणादि गुणो के प्रत्यक्ष से ही गुणी जीव का भी साक्षात्कार स्वीकार करना चाहिए। जैसे कपडे और उसके रग के अभिन्न होने पर रग के ग्रहण से कपडे का भी ग्रहण हो ही जाता है, वैसे ही यदि स्मरणादि गुण आत्मा से अभिन्न हो तो स्मरणादि के प्रत्यक्ष से आत्मा का भी प्रत्यक्ष हो ही जाता है। [१५५९]

इन्द्रभूति—गुण से गुणी भिन्न ही है, यह पक्ष स्वीकार करने से गुण का प्रत्यक्ष होने पर भी गुणी का प्रत्यक्ष नही होगा। इस पक्ष मे आप यह नही कह सकते कि स्मरणादि गुणो के प्रत्यक्ष होने से गुणी आत्मा भी प्रत्यक्ष है।

भगवान्—गुणो को भिन्न मानने से तो घटादि का भी प्रत्यक्ष नही होगा, तब तुम घट की भी सिद्धि नही कर सकोगे। कारण यह है कि इन्द्रियो द्वारा मात्र रूपादि का ग्रहण होने से रूपादि को तो प्रत्यक्ष सिद्ध माना जा सकता है, किन्तु रूपादि से भिन्न घट का तो प्रत्यक्ष हुआ ही नही, फिर उस का अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रकार घटादि पदार्थ भी सिद्ध नही, तो फिर तुम केवल आत्मा के अभाव का ही क्यो विचार करते हो ? पहले तुम घटादि की सिद्धि करो और बाद मे आत्मा विषयक विचार करते हुए दृष्टान्त दो कि घटादि तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, अत उसका अस्तित्व है, किन्तु जीव प्रत्यक्ष नही है, अत उसका अभाव है।

इन्द्रभूति—गुण कभी भी गुणी के बिना नही होते, अत गुण के ग्रहण द्वारा गुणी की भी सिद्धि हो सकती है। इस से रूपादि गुणो के ग्रहण द्वारा घटादि की सिद्धि हो जाएगी।

भगवान्—इसी नियम से आत्मा के विषय मे कथन किया जा सकता है कि स्मरणादि गुण है वे भी गुणी के बिना नही रहते। अत यदि स्मरणादि गुणो का प्रत्यक्ष होता है तो गुणी आत्मा भी प्रत्यक्ष होनी चाहिए। तुम चाहे आत्मा का प्रत्यक्ष न मानो, किन्तु इस नियम के अनुसार स्मरणादि गुणो से भिन्न आत्मा का अस्तित्व तो तुम्हे मानना ही पडेगा। [१५६०]

इन्द्रभूति—स्मरणादि गुणो का प्रत्यक्ष होने के कारण उनका कोई गुणी होना चाहिए, यह बात तो सिद्ध होती है। किन्तु आप तो यह कहते है कि वह गुणी आत्मा ही है। यह ठीक नही, क्योकि देह मे कृशता, स्थूलता आदि गुणो के समान स्मरणादि गुण भी उपलब्ध होते है। अत उनका गुणी देह को ही मान लेना चाहिए, देह से भिन्न आत्मा को नही। [१५६१]

ज्ञान देह-गुण नहीं

भगवान्—ज्ञानादि देह के गुण नही हो सकते। क्योकि घट के समान देह मूर्त अथवा चाक्षुष है। गुण गुणी या द्रव्य के बिना नही रहते है, अत ज्ञानादि गुणो

के अनुरूप अमूर्त और अचाक्षुष आत्मा को देह से भिन्न गुणी के रूप मे मानना चाहिए ।

इन्द्रभूति—आप ज्ञानादि को देह के गुण नही मानते, किन्तु इसमें प्रत्यक्ष बाधक है। ज्ञानादि गुण शरीर मे ही दृष्टिगोचर होते है।

भगवान्—ज्ञानादि गुणो के देह में होने का प्रत्यक्ष ही अनुमान बाधित है, अत. ज्ञानादि गुण देह मे नही माने जा सकते, उन्हे देह से भिन्न आत्मा मे ही मानना चाहिए।

इन्द्रभूति—ज्ञानादि गुणो का देह मे प्रत्यक्ष होना किस अनुमान से बाधित है ?

भगवान्—देह मे विद्यमान इन्द्रियो से विज्ञाता—आत्मा भिन्न है, क्योकि इन्द्रियो के व्यापार के अभाव मे भी उनसे उपलब्ध पदार्थो का स्मरण होता है। जिस प्रकार झरोखे द्वारा देखी गई वस्तु को देवदत्त झरोखे के बिना भी याद कर कर सकता है, अत. देवदत्त झरोखे से भिन्न है; उसी प्रकार इन्द्रियो के बिना भी इन्द्रियो द्वारा उपलब्ध पदार्थो का स्मरण करने से आत्मा को इन्द्रियो से भिन्न मानना चाहिए।[1] इस अनुमान से प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण वह प्रत्यक्ष भ्रान्त है। अत स्मरणादि विज्ञानरूप गुणो का गुणी देह नही हो सकता। [१५६२]

सर्वज्ञ को जीव प्रत्यक्ष है

मैं तुम्हे यह बता चुका हूँ कि तुम्हे भी आत्मा का प्रत्यक्ष है। तुम्हारा यह प्रत्यक्ष आंशिक है, क्योकि तुम्हे आत्मा का सर्व प्रकार से सम्पूर्ण प्रत्यक्ष नही है, किन्तु मुझे उसका सर्वथा प्रत्यक्ष है। तुम छद्मस्थ हो, वीतराग नही, अत तुम्हे वस्तु के अनन्त स्व और पर पर्यायों का साक्षात्कार नही हो सकता, किन्तु वस्तु के अंश का साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार घटादि पदार्थ प्रदीप आदि से देशत: प्रकाशित होते हैं, फिर भी यह कहा जाता है कि घट प्रकाशित हुआ, उसी प्रकार छद्मस्थ का घटादि पदार्थो का प्रत्यक्ष आंशिक प्रत्यक्ष है, फिर भी यह व्यवहार होता है कि घट का प्रत्यक्ष हुआ। इसी आधार पर आत्मा के सम्बन्ध मे तुम्हारे आंशिक प्रत्यक्ष के विषय मे कहा जा सकता है कि तुम्हे आत्मा का प्रत्यक्ष हो गया। मैं केवली हूँ, अत. मेरा ज्ञान अप्रतिहत और अनन्त है। मुझे आत्मा का सम्पूर्ण भाव से प्रत्यक्ष है। तुम्हारा संशय अतीन्द्रिय था अर्थात् तुम्हारी आत्मा मे विद्यमान संशय बाह्य इन्द्रियो से अग्राह्य था फिर भी मैंने उसे जान लिया। यह बात तुम्हे प्रतीति सिद्ध है। इसी प्रकार तुम यह भी समझ लो कि मुझे आत्मा का सम्पूर्ण साक्षात्कार हुआ है। [१५६३]

---

1. इस विषय की वायुभूति के साथ होने वाले वाद मे विशेष चर्चा की गई है।

इन्द्रभूति—अपनी देह मे मुझे आत्मा का आशिक प्रत्यक्ष है, इस बात को मानने में मुझे अब कोई आपत्ति नही। किन्तु दूसरो की देह मे आत्मा है, यह मै कैसे जान सकता हूँ ?

अन्य देह में आत्म-सिद्धि

भगवान्—इसी प्रकार अनुमान से तुम यह समझ लो कि दूसरो की देह मे भी विज्ञानमय आत्मा है। दूसरो के शरीर मे भी विज्ञानमय जीव है, क्योकि उनकी इष्ट मे प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति देखी जाती है। जैसे हमारी इष्ट मे प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है, इसलिए हमारे शरीर मे आत्मा है। इसी प्रकार दूसरों के शरीर मे भी आत्मा की सत्ता होनी चाहिए। यदि दूसरो के शरीर मे आत्मा न हो, तो घटादि के समान उनकी भी इष्ट मे प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति न हो। अत पर-देह मे भी आत्मा माननी चाहिए। [१५६४]

इन्द्रभूति—आपके साथ इतनी चर्चा करने से यह तो ज्ञात होता है कि आत्मा है, किन्तु मेरे विचारो मे आपको यदि कोई असगति प्रतीत हुई हो तो उसे प्रकट करना उचित होगा।

आत्म-सिद्धि के लिए अनुमान

भगवान्—तुमने जो यह विचार किया[1] था कि 'जीव के किसी भी लिग का जीव के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रमाण से पूर्वगृहीत है ही नही, जैसे कि शश के साथ उसके शृ ग कभी देखे ही नही गए, अत लिग द्वारा जीव का ग्रहण नही हो सकता—इत्यादि [१५६५], उस विषय मे यह जान लेना चाहिए कि यह एकान्त नियम नही है कि लिंगी-साध्य के साथ लिग-हेतु को पहले देखा हो तो ही बाद मे लिग से साध्य की सिद्धि होती है, अन्यथा नही। कारण यह है कि हम ने भूत को हास्य, गान, रुदन, हाथ-पाँव मारने की क्रिया अक्षि-विक्षेप आदि लिंगो के साथ कभी देखा नही, फिर भी इन लिगो को देख कर दूसरे के शरीर मे भूत का अनुमान होता है। उसी प्रकार आत्मा के साथ लिग-दर्शन के अभाव मे भी आत्मा का अनुमान हो सकता है, यह स्वीकार करना चाहिए। [१५६६]

और, आत्म-साधक अनुमान प्रयोग इस प्रकार भी हो सकता है—देह का कोई कर्ता होना चाहिए, क्योकि उसका घट के समान एक सादि और प्रतिनियत निश्चित आकार है। जिसका कोई कर्ता नही होता, उसका सादि और प्रतिनियत आकार भी नही होता—जैसे कि बादलो का। मेरु आदि नित्य पदार्थो का आकार प्रतिनियत तो होता है किन्तु उसकी आदि नही होती, क्योकि वे नित्य है। अत हेतु मे सादि विशेषण लगाया गया है। इससे उक्त हेतु द्वारा मेरु जैसे प्रतिनियत

---

1. गाथा 1551

आकार वाले किन्तु नित्य पदार्थों का कोई कर्ता सिद्ध नही होता; परन्तु जिन पदार्थो का आकार सादि और प्रतिनियत होगा, उनका ही कोई कर्ता सिद्ध होगा।

दूसरा आत्म-साधक अनुमान यह है—इन्द्रियो का कोई अधिष्ठाता होना चाहिए, क्योकि वे करण है, जैसे कि दण्डादि करणों का कुम्भकार आदि अधिष्ठाता होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता न हो, वह आकाश के समान करण भी नही होता। अत इन्द्रियो का कोई अधिष्ठाता मानना चाहिए और वह आत्मा है। [१५६७]

तीसरा आत्म-साधक अनुमान यह है—जब इन्द्रियो द्वारा विषयो का ग्रहण-(आदान) हो तब दोनो के मध्य ग्रहण-ग्राह्य-भाव सम्बन्ध मे कोई आदाता—ग्रहण करने वाला होना चाहिए। क्योकि उन दोनो मे आदान-आदेय भाव है। जहाँ आदान-आदेय भाव होता है वहाँ कोई आदाता होता है। जैसे-लोहे और सडासी मे आदान-आदेय भाव है तथा लुहार वहाँ आदाता है। इसी प्रकार इन्द्रिय और विषय मे भी आदान-आदेय भाव होने के कारण उनका कोई आदाता होना चाहिए। जहाँ आदान-आदेय भाव नही होता, वहाँ आदाता भी नही होता, जैसे कि आकाश मे। अत इन्द्रिय और विषयो मे कोई आदाता मानना चाहिए और वह आत्मा है। [१५६८]

चौथा आत्म-साधक अनुमान यह है—देहादि का कोई भोक्ता अर्थात् भोग करने वाला होना चाहिए, क्योकि वह भोग्य है, जैसे भोजन और वस्त्र भोग्य पदार्थों का भोक्ता पुरुष है। जिनका कोई भोक्ता नही होता, वे खर-विषाण के समान भोग्य भी नही होते। शरीरादि भोग्य है, अत उनका भोक्ता होना चाहिए। जो भोक्ता है, वही आत्मा है।

पाँचवाँ अनुमान यह है—देहादि का कोई अर्थी अथवा स्वामी है क्योकि देहादि सघात रूप हैं। जो सघात रूप होते है, उनका कोई स्वामी होता है, जैसे घर सघात रूप है और पुरुष उसका स्वामी है। देहादि भी सघात रूप है, अत उनका भी कोई स्वामी होना चाहिए। जो स्वामी है वही आत्मा है। [१५६९]

इन्द्रभूति—उक्त हेतुओ से केवल यही सिद्ध होता है कि शरीर का कोई कर्ता, भोक्ता आदि है। किन्तु वह जीव है, यह इनसे सिद्ध नही होता तो फिर आप यह कैसे कहते हो कि कर्ता आदि यह जीव है।

भगवान्—शरीर का कर्ता, भोक्ता अथवा स्वामी ईश्वर आदि अन्य कोई व्यक्ति नही हो सकता, क्योकि यह युक्ति से विरुद्ध है। अत जीव को ही उसका कर्ता भोक्ता और स्वामी मानना चहिए।

इन्द्रभूति—कर्ता, भोक्ता और स्वामी के रूप मे जीव के साधक जो हेतु आपने बताए है वे सब साध्य मे विरोधी वस्तु के साधक होने से विरुद्ध हेत्वाभास है। क्योकि आप उक्त हेतुओ से जिस जीव को सिद्ध करना चाहते है वह तो नित्य, अमूर्त

और असंघात रूप मे सिद्ध करना आपको इष्ट है, किन्तु उक्त हेतुओ से कर्तारूप जो जीव सिद्ध होता है वह कुम्भकार आदि के समान मूर्त; अनित्य और संघात रूप सिद्ध होता है ।

आत्मा कथंचित् मूर्त है

भगवान्—उक्त हेतुओ द्वारा ससारी आत्मा की कर्ता आदि के रूप मे सिद्धि अभिप्रेत होने से तुम्हारे द्वारा निर्दिष्ट किए गए दोषो का यहाँ स्थान नही है, क्योकि ससारी आत्मा आठ कर्मो से आवृत होने और सशरीर होने के कारण कथचित् मूर्तादि रूप ही है । [१५७०]

संशय का विषय होने से जीव हैं

हे सौम्य ! आत्मा का साधक एक अनुमान यह भी है—तुम्हारे मे जीव है ही, क्योकि तुम्हे इस विषय मे सशय है । जिस विषय मे सशय हो, वह विद्यमान होता है । जैसे कि स्थाणु (ठूँठ) और पुरुष के विषय मे सशय होता है और वे दोनो ही विद्यमान होते है । जो अवस्तु हो, सर्वथा अविद्यमान हो, उसके विषय मे कभी किसी को सन्देह ही नही होता ।

इन्द्रभूति—जिस विषय मे सशय होता है, वहाँ सशय के विषयभूत दो पदार्थो मे से एक की सत्ता होती है । जैसे कि स्थाणु-पुरुष-विषयक सन्देह-स्थल मे उक्त दोनो मे से कोई एक ही विद्यमान होता है, दोनो नही । फिर आप यह कैसे कहते है कि सशय का जो विषय हो, वह विद्यमान ही होता है ।

भगवान्—हे गौतम ! मैंने यह तो नही कहा कि जहाँ जिस विषय मे सन्देह होता है, वह वहाँ ही विद्यमान होता है । मेरा कथन केवल यह है कि सशय की विषयभूत वस्तु वहाँ या अन्यत्र कही भी विद्यमान अवश्य होती है । तुम्हे जीव के विषय मे सन्देह है । अत उसे अवश्य ही विद्यमान मानना चाहिए । अन्यथा उस विषय मे सन्देह नही हो सकता, जैसे कि छठे भूत के विषय मे सन्देह नही होता । [१५७१]

इन्द्रभूति—यदि संशय का विषयभूत पदार्थ अवश्य विद्यमान होता है तो कई लोगो को खर-शृंग के विषय मे भी सशय हुआ करता है, अत गधे के सीग भी विद्यमान मानने पडेंगे ।

भगवान्—मैने तो यह बात कही ही है कि सशय की विषयभूत वस्तु ससार मे कही-न कही अवश्य विद्यमान होनी चाहिए । अविद्यमान मे सशय ही नही होता । प्रस्तुत मे सशय विषयभूत सीग गधे के चाहे न हो, किन्तु अन्यत्र गाय आदि के तो होते ही है । यदि विश्व मे सीग का सर्वथा अभाव हो, तो उस विषय मे किसी को सन्देह ही न हो । यही बात विपर्यय ज्ञान अथवा भ्रम ज्ञान के विषय मे समझ लेनी चाहिए । यदि ससार मे सर्प का सर्वथा अभाव हो तो रस्सी के टुकडे मे सर्प का भ्रम

नही हो सकता । इसी न्याय से यदि तुम शरीर में आत्मा का भ्रम ही मानो तो भी आत्मा का अस्तित्व वहाँ नही तो अन्यत्र मानना ही पड़ेगा । यदि जीव का सर्वथा अभाव हो, तो उसका भ्रम नही हो सकता । [१५७२]

अजीव के प्रतिपक्षी रूप में जीव की सिद्धि

अन्य प्रकार से भी जीव की सिद्धि की जा सकती है । अजीव का प्रतिपक्षी कोई होना चाहिए । कारण यह है कि अजीव से व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद का प्रतिषेध हुआ है । जहाँ-जहाँ व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पदो का निषेध होता है, वहाँ-वहाँ उनके प्रतिपक्षी अवश्य होते है । जैसे 'अघट' का प्रतिपक्षी 'घट' है । जब हम अघट कहते है, तब उसमे 'घट' रूप व्युत्पत्ति वाले पद का निषेध होता है । अत. 'अघट' का विरोधी 'घट' अवश्य विद्यमान है । जिसका प्रतिपक्षी नही होता, उससे व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद का निषेध भी नही होता । जैसे अखर-विषाण अथवा अडित्थ । इसमे खर-विषाण शुद्ध पद नही, क्योकि वह समास युक्त है । 'डित्थ'[1] शब्द व्युत्पत्ति वाला नही है । अत दोनो को व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद नही कहा जा सकता । अत अखर-विषाण के विरोधी खर-विषाण तथा अडित्थ के विरोधी डित्थ की विद्यमानता आवश्यक नही, किन्तु अजीव मे यह बात नही । उससे व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पद जीव का निषेध हुआ है । अत. जीव का अस्तित्व अवश्यभावी है ।

निषेध्य होने से जीव-सिद्धि

पुनश्च, तुम कहते हो कि 'जीव नही है' । इसी कथन से जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है । यदि जीव का सर्वथा अभाव हो, तो 'जीव नही है' ऐसा प्रयोग ही शक्य नही । जैसे दुनिया मे यदि घडा कही भी न हो, तो 'घडा नही है' ऐसा प्रयोग ही न होता । इसी प्रकार जीव के सर्वथा अभाव में 'जीव नही है' यह प्रयोग भी नही हो सकता । जब हम यह कहते है कि 'घट नही है' तब घट हमारे सामने न होकर भी अन्यत्र अवश्य विद्यमान होता है । इसी प्रकार 'जीव नही है' ऐसा कथन करने पर यदि यहाँ नही तो अन्यत्र उसका अस्तित्व मानना ही चाहिए । जो वस्तु सर्वथा अभाव स्वरूप हो उसके विषय मे निषेध भी नही किया जाता । यह भी नही कहा जाता कि वह 'नही है' । जैसे कि खर-विषाण और छठे भूत के विषय मे । तुम जीव का निषेध करते हो, अत. तुम्हे उसका अस्तित्व मानना चाहिए । [१५७३]

इन्द्रभूति—'खर-विषाण नही है' ऐसा प्रयोग होता तो है । फिर आप यह कैसे कहते है कि जिसका सत्व अस्तित्व न हो उसके विषय मे यह प्रयोग नही होता कि 'नही है' और जिसके साथ 'नही है' इस शब्द का प्रयोग होता है, उसका आपके मत के अनुसार अवश्य अस्तित्व होता है । अत आपको 'खर-विषाण' का भी अस्तित्व मानना पडेगा, क्योकि यह प्रयोग होता है कि खर-विषाण नही है ।

---

1 लकडी के हाथी को डित्थ कहते है ।

निषेध का अर्थ

भगवान्—मैं इस नियम पर दृढ हूं कि जो सर्वथा असत् अर्थात् अविद्यमान होता है, उसका निषेध नही हो सकता और जिसका निषेध होता है वह ससार मे कही न कही विद्यमान होता ही है। वस्तुत निषेध से वस्तु के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नही होता, किन्तु उसके सयोगादि के अभाव का प्रतिपादन होता है। अर्थात् देवदत्त जैसे किसी भी पदार्थ का जब हम निषेध करते है तब उसके सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नही करते, किन्तु अन्यत्र विद्यमान देवदत्त आदि का अन्यत्र सयोग नही, अथवा समवाय नही, अथवा सामान्य या विशेष नही, यही बात बताना हमे इष्ट होता है। जब हम यह कहते है कि 'देवदत्त घर मे नही है' तब इस का तात्पर्य केवल यह होता है कि देवदत्त और घर दोनो का अस्तित्व होने पर भी दोनो का सयोग नही। इसी प्रकार जब हम यह कहते है कि 'खर-विषाण नहीं' तब इसका सार यही है कि खर और विषाण दोनो पदार्थ अपने-अपने स्थान पर विद्यमान है, परन्तु उन दोनो मे समवाय सम्बन्ध नही है। इसी प्रकार जब हम यह कहते है कि 'दूसरा चन्द्र नही है' तब चन्द्र का सर्वथा निषेध नही होता किन्तु चन्द्र सामान्य का निषेध होता है। अर्थात् एक व्यक्ति मे सामान्य का अवकाश नही। जब हम यह कहते है कि 'घडे जितना बडा मोती नही है' तब मोती का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नही होता, किंतु घट के परिमाण रूप विशेष का मोती मे अभाव बताना ही हमारा लक्ष्य होता है। इसी प्रकार 'आत्मा नही है' इस कथन मे आत्मा का सर्वथा अभाव अभिप्रेत नही होना चाहिए, किंतु उनके सयोगादि का ही निषेध मानना चाहिए।

इन्द्रभूति—आपके नियमानुसार यदि मेरे सम्बन्ध मे कभी यह कहा जाए कि 'तुम त्रिलोकेश्वर नही' तो मैं तीनो लोको का ईश्वर भी बन जाऊगा, क्योकि मेरी त्रिलोकेश्वरता का निषेध किया गया है। किन्तु आप यह जानते है कि मैं तीन लोक का ईश्वर नही हूँ। अत यह नियम अयुक्त है कि जिसका निषेध किया जाए, वह पदार्थ होना ही चाहिए। अपि च, आप के मत मे निषेध उक्त चार प्रकार के है। अत. यह कहा जा सकता है कि 'पाँचवे प्रकार का निषेध नही है' किंतु आप के बताए हुए नियम से निषेध का पाँचवाँ प्रकार भी होना चाहिए। कारण यह है कि आप उसका निषेध करते है

भगवान्—तुम मेरे कथन के तात्पर्य को भलीभाँति समझ नही सके, अन्यथा ऐसा प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। जब यह कहा जाता है कि 'तुम तीन लोक के ईश्वर नही हो', तब तुम्हारी ईश्वरता का सर्वथा निषेध अभिप्रेत नही होता, क्योकि तुम अपने शिष्यो के ईश्वर तो हो ही। अत त्रिलोकेश्वरता रूप विशेष मात्र का ही निषेध अभीष्ट है। इसी प्रकार पाँचवे प्रकार के निषेध का तात्पर्य इतना ही है कि प्रतिषेध पाँच सख्या से विशिष्ट नही है। प्रतिषेध का सर्वथा अभाव अभिप्रेत ही नही है।

इन्द्रभूति--मुझे आप की ये सब बाते सर्वथा असम्बद्ध प्रतीत होती है। आप इस बात की ओर ध्यान नही देते कि मेरी त्रिलोकेश्वरता मूल मे ही असत् अथवा अविद्यमान है, अत असत् का ही निषेध किया गया है। इसी प्रकार प्रतिषेध का पाचवा प्रकार भी सर्वथा असत् है, इसीलिए उसका निषेध किया गया है। इसी प्रकार सयोग, समवाय, सामान्य और विशेष, ये सब भी असत् ही है, इसीलिए घर आदि मे उनका निषेध किया गया है। इन सब बातो से यही सिद्ध होता है कि जो असत् है, उसका निषेध होता है, अत आपका यह कथन अयुक्त है कि 'जिसका निषेध होता है, वह विद्यमान ही होता है।'

सर्वथा असत् का निषेध नहीं

भगवान्—मेरे कथन को ठीक तरह समझने का प्रयत्न करोगे तो वह तुम्हे युक्तिपूर्ण ज्ञात होगा। मैंने यह नही कहा कि जिसका निषेध किया जाता है, वह सर्वत्र सर्वथा होता है। मेरे कहने का भावार्थ इतना ही है कि जहाँ जिस वस्तु का निषेध किया जाए, वह चाहे वहाँ न हो, तथापि वह अन्यत्र विद्यमान होती है। देवदत्त का सयोग घर मे भले ही न हो, किन्तु अन्यत्र मार्ग मे अथवा किसी दूसरे के घर मे तो देवदत्त का सयोग विद्यमान ही होता है। इसी प्रकार समवाय, सामान्य और विशेष के विषय मे यह निश्चित है कि एक जगह यदि उनका निषेध किया जाए तो वे अन्यत्र विद्यमान ही होते है।

इन्द्रभूति—आपकी बात मान कर ही यदि मैं यह कहूँ कि शरीर मे जीव नही तो इसमे क्या दोष है? शरीर मे अविद्यमान जीव का ही मैं निषेध करता हूँ। आप शरीर मे भी जीव मानते है। मुझे इस पर आपत्ति है।

शरीर जीव का आश्रय है

भगवान्—तुमने यह कह कर मेरा परिश्रम कम कर दिया है। मेरा मूल उद्देश्य जीवन के अस्तित्व को सिद्ध करना है। यदि उसकी सिद्धि हो जाए तो उसका आश्रय, स्वत. सिद्ध हो ही जाएगा, क्योकि जीव निराश्रय नही है। तुमने शरीर मे जीव का निषेध किया है, इससे उसकी विद्यमानता उक्त नियम से सिद्ध हो ही जाती है। अब इस प्रश्न पर विचार करना है कि वह वस्तुत. शरीर में है या नही? जीवित शरीर मे जीव की उपस्थिति के चिह्न (ज्ञानादि) दिखाई देते हो, तो शरीर मे जीव क्यों न माना जाए? तुम ही इसे सोच कर बताओ।

इन्द्रभूति—शरीर मे जीव मानने के स्थान पर शरीर को ही जीव मानने मे क्या बाधा है?

भगवान्—जब तक शरीर मे जीव होता है तब तक ही यह व्यवहार होता है कि 'यह जीवित है'। शरीर से जीव का सम्बन्ध टूट जाने पर कहा जाता है कि 'यह मर गया'। जीव मे मूढता आने पर कहा जाता है कि 'यह मूर्छित हो गया।' यदि शरीर को ही जीव माना जाए, तो ये व्यवहार नही हो सकते। [१५७४]

जीव-पद सार्थक है

अपि च, 'जीव' पद 'घट' पद के समान व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद होने के कारण सार्थक होना चाहिए—अर्थात् जीव पद का कुछ अर्थ होना चाहिए। जो पद सार्थक नही होता, वह व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद भी नही होता, जैसे डित्थ या खर-विषाण आदि पद। जीव पद वैसा नही है—वह व्युत्पत्ति वाला पद है, अत उसका अर्थ होना ही चाहिए।

इन्द्रभूति—देह ही 'जीव' पद का अर्थ है। उससे भिन्न कोई वस्तु जीव पद का अर्थ नही है। शास्त्र-वचन भी है[1] 'जीव शब्द का व्यवहार देह के लिए ही होता है, जैसे कि यह जीव है, वह इसका घात नही करता। तात्पर्य यह है कि आप जीव को तो नित्य मानते हैं, अत इसके घात का प्रश्न ही उपस्थित नही होता, शरीर का ही घात होता है। अत उक्त वचन मे जीव के घात का जो निषेध बताया गया है, वह जीव शब्द का अर्थ शरीर मान कर ही है।

जीव-पद का अर्थ देह नहीं

भगवान्—'जीव' पद का अर्थ शरीर नही हो सकता। कारण यह है कि जीव शब्द के पर्याय शरीर शब्द के पर्यायो से भिन्न है। जिन शब्दो के पर्यायो मे भेद हो उन शब्दो के अर्थ मे भी भेद होना चाहिए। जैसे घट शब्द और आकाश शब्द के पर्याय भिन्न-भिन्न हैं और उनके अर्थ भी भिन्न है। इसी प्रकार जीव और शरीर के भी पर्याय भिन्न-भिन्न हैं, जैसे कि जीव के पर्याय है—जन्तु, प्राणी, सत्व,आत्मा आदि। शरीर के पर्याय हैं—देह, वपु, काय, कलेवर आदि। इस प्रकार पर्याय का भेद होने पर भी यदि अर्थ मे अभेद हो तो ससार मे वस्तु भेद ही नही रह सकता, सभी को एक रूप ही मानना पडेगा। उक्त शास्त्र-वचन मे शरीर को जो जीव कहा गया है, वह उपचार से है, क्योकि जीव प्राय शरीर का सहचारी है और शरीर मे ही अवस्थित है। इसीलिए शरीर मे जीव का उपचार कर दिया जाता है। वस्तुत जीव और शरीर भिन्न-भिन्न ही है। यदि ऐसा न हो तो लोगो का यह कहना कि 'जीव तो चला गया, अब शरीर को जला दो,' शक्य नही हो सकता।

फिर, देह और जीव के लक्षण भी भिन्न है। जीव ज्ञानादि गुण-युक्त है जब कि देह जड है। अत देह ही जीव कैसे हो सकता है ? अत तुम्हे दोनो को पृथक् ही मानना चाहिए। मैं तुम्हे यह पहले ही समझा चुका हूँ कि ज्ञानादि गुण देह मे सम्भव नही, क्योकि देह मूर्त है—इत्यादि। [१७७५-७६]

सर्वज्ञ-वचन द्वारा जीव-सिद्धि

इस प्रकार मैंने प्रत्यक्ष और अनुमान से जीव का अस्तित्व सिद्ध किया है।

---

1. देह एवाऽयमनुप्रयुज्यमानो दृष्ट , यथैष जीव , एन न हिनस्ति।

फिर भी अभी तुम्हारे मन मे सन्देह वाकी है। अत. अव यह अन्तिम प्रमाण ऐसा देता हूँ कि जिससे तुम्हारे सन्देह का सर्वथा निराकरण हो जाएगा —

तुम्हे मेरा यह कथन सत्य मानना चाहिए कि जीव है। कारण यह है कि यह मेरा वचन है। तुम्हारे सशय का प्रतिपादन करने वाला मेरा वचन तुमने सत्य माना है, इमी प्रकार इसे भी स्वीकार करना चाहिए। अथवा 'जीव है' यह मेरा वचन तुम्हे सत्य मानना चाहिए क्योकि यह सर्वज्ञ का वचन है। तुम्हारे इष्ट सर्वज्ञ के वचन के समान मेरा वचन भी तुम्हे प्रमाण मानना चाहिए। [१५७७]

इन्द्रभूति—आप सर्वज्ञ है तो इसमे क्या वात है? क्या सर्वज्ञ झूठ नही वोलता?

सर्वज्ञ झूठ नही वोलता

भगवान्—नही, कभी नही। कारण यह है कि मुझ मे भय, राग, द्वेष, मोह आदि दोष जिनके वशीभूत होकर मनुष्य झूठा अथवा हिंसक वचन वोलता है, नहीं है। अत मेरे समस्त वचन ऐसे ही सत्य और अहिंसक है जैसे कि ज्ञाता मध्यस्थ के वचन। अत मेरे वचनों पर विश्वास करके तुम्हे जीव का अस्तित्व मानना चाहिए।[१५७८]

इन्द्रभूति—मैं यह कैसे समझूँ कि आप सर्वज्ञ है ?

भगवान् सर्वज्ञ क्यों ?

भगवान्—मैं तुम्हारे सव सशयो का निवारण करता हूँ। यही मेरी सर्वज्ञता का प्रमाण है। जो सर्वज्ञ नही होता, वह सर्व सशयो का निवारण कैसे कर सकता है? तुम्हे जिस किसी विषय मे सन्देह हो—जिन विषयो को तुम न जानते हो, उन सव को मुझ से पूछ कर तुम तसल्ली कर सकते हो कि मैं सव सशयो का निवारण करने वाला सर्वज्ञ हूँ या नही। [१५७९]

इस प्रकार हे गौतम! उपयोग लक्षण वाले जीव को सव प्रमाणो से सिद्ध स्वीकार कर लो। इस जीव के दो भेद है—ससारी और सिद्ध। ससारी जीव के पुन दो भेद है—त्रस और स्थावर। यह वात भी तुम्हे जान लेनी चाहिए। [१५८०]

जीव एक ही है

इन्द्रभूति—आप जीव को नाना कहते है, किन्तु वेदान्त-शास्त्र मे कहा गया है कि जीव-ब्रह्म एक ही है। जैसे कि—

"भिन्न-भिन्न भूतो मे एक ही आत्मा प्रतिष्ठित है। फिर भी वह जल मे चन्द्र के प्रतिविम्व के समान एक-रूप और नानारूप दिखाई देती है।"[1]

---

1. एक एव हि भूतात्मा भूते भूते प्रतिष्ठित ।
   एकधा वहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ब्रह्मविन्दु उप० 11

"आकाश एक है और विशुद्ध है, फिर भी तिमिर रोग वाला पुरुष उसे अनेक रेखाओं से चित्र विचित्र देखता है। इसी प्रकार ब्रह्म विकल्प शून्य है - एक और विशुद्ध है। तदपि मानो वह अविद्या से कलुषित न हो गया हो, भिन्न अथवा अनेक रूपो से भासित होता है।"[1]

"जिसका मूल उर्ध्व आकाश मे है और शाखाएँ नीचे जमीन मे है, ऐसे अश्वत्थ-वृक्ष को अव्यय शाश्वत कहा गया है। छन्द उसके पत्ते है। जो उसे जानता है, वही वेदज्ञ (ब्रह्मज्ञ) है।"[2]

उपनिषदो मे भी कहा है—"जो कुछ था और जो कुछ होगा, वह सब पुरुष रूप ही है, वह पुरुप ही अमृत का स्वामी है जो अन्न से वढता है।"[3] "जो काँपता है, जो नही काँपता, जो दूर है, जो निकट है, जो सव के अन्तर मे है और जो सर्वत्र वाहर है—यह सब पुरुष ही है।"[4]

इस प्रकार सब कुछ ब्रह्म-रूप ही माने तो क्या हानि है ?

जीव अनेक हैं

भगवान्—हे गौतम ! नारक, देव, मनुष्य तथा तिर्यंच इन सब पिण्डो में आकाश के समान यदि एक ही आत्मा हो तो क्या हानि है ? यह तुम्हारा प्रश्न है, किन्तु आकाश के समान सव पिण्डो मे एक आत्मा सम्भव नही। कारण यह है कि आकाश का सर्वत्र एक ही लिंग अथवा लक्षण अनुभव मे आता है। अत आकाश एक ही है,

---

1 यथा विशुद्धमाकाश तिमिरोपप्लुतो जन ।
सकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥

तथेदममल ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया ।
कलुषत्वमिवापन्न भेदरूप प्रकाशते ॥वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक 3 4 43-44

2 ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम् ।
छन्दासि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित् ॥ भगवद्गीता 15 1, योगशिखोपनिषद् 6, 14

3 'पुरुष एवेद ग्नि सर्व यद् भूत यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।' मुद्रित विशेपावश्यक भाष्य की टीका मे 'पुरुष एवेद ग्नि सर्वं' ऐसा पाठ है, किन्तु वस्तु स्थिति और है। यह मन्त्र ऋग्वेद 10 90 2, सामवेद 619; यजुर्वेद 31 2, तथा अथर्व वेद 19 6 4 मे है। पाठ 'पुरुप एवेद सर्वं' ऐसा ही है। केवल यजुर्वेदी पाद के बीच मे आने वाले अनुस्वार के स्थान मे 'गु' उच्चारण करते हैं और ऋग्वेदी अथवा अथर्ववेदी वैसा उच्चारण न करके अनुस्वार को अनुस्वार रूप मे ही उच्चारण करते है। ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेदी के इस उच्चारण भेद को लिपि मे वद्ध करते हुए काल क्रम से 'ग्नि' विपर्यास हो गया है।

4 यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यदु अन्तिके ।
यदन्तरस्य सर्वस्य यत् सर्वस्यास्य वाह्यत ॥ ईशावास्योपनिषद् मन्त्र 5.

किन्तु जीव के विषय मे यह वात नहीं है । वह प्रत्येक पिण्ड मे विलक्षण है, अत उसे सर्वत्र एक नही माना जा सकता । यह नियम है कि लक्षण भेद होने पर वस्तु भेद स्वीकार करना चाहिए । तदनुसार यदि जीव के लक्षण प्रत्येक पिण्ड मे भिन्न-भिन्न दृग्गोचर हो तो प्रति पिण्ड मे जीव पृथक्-पृथक् मानना चाहिए। [१५८१]

इस वात का साधक अनुमान प्रमाण यह है —

जीव नाना (भिन्न) है, क्योकि उनमे लक्षण भेद है, घटादि के समान । जो वस्तु भिन्न नही होती, उसमे लक्षण भेद भी नही होता, जैसे कि आकाश ।

अपि च, यदि जीव एक ही हो तो सुख दु ख, वन्ध, मोक्ष की भी व्यवस्था नही वन सकती, अत अनेक जीव मानने चाहिए। हम देखते है कि ससार मे एक जीव सुखी है और दूसरा दु खी-एक वन्धन-वद्ध है तो दूसरा वन्धन-मुक्त(सिद्ध)। एक ही जीव का एक ही समय मे सुखी और दु खी होना सम्भव नही है । इसी प्रकार एक ही जीव का एक समय ही वद्ध और मुक्त होना भी सम्भव नही । कारण यह है कि उस मे विरोध है । [१५८२]

इन्द्रभूति—जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग है । वह सव जीवो मे है, तो फिर आप प्रति पिण्ड मे लक्षण भेद कैसे मानते हैं ?

भगवान्—सभी जीवो मे उपयोग-रूप सामान्य लक्षण समान होने पर भी प्रत्येक शरीर मे विशेप-विशेष उपयोग का अनुभव होता है । अर्थात् जीवो मे उपयोग के अपकर्ष तथा उत्कर्प का तारतम्य अनन्त प्रकार का होने के कारण जीव भी अनन्त मानने चाहिए । [१५८३]

इन्द्रभूति—आप ने कहा है कि जीव को एक मानने से सुख-दु ख और वन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नही वन पाती । कृपा कर इस का स्पष्टीकरण करे ।

भगवान्—यदि जीव को सर्वत्र एक ही माना जाए तो उसे सर्वगत अथवा सर्वव्यापी मानना पडेगा, किन्तु जैसे सर्व-व्यापक होने के कारण आकाश मे सुख-दु ख अथवा वन्धन-मोक्ष घटित नही होते, उसी प्रकार जीव के सर्वगत होने पर ये सम्भव नही होगे । जिस मे सुख-दु ख अथवा वन्ध-मोक्ष होते है वह देवदत्त के समान सर्वगत भी नहीं होता ।

पुनश्च, जो एक ही हो वह कर्ता, भोक्ता, मननशील अथवा ससारी भी नहीं हो सकता, जैसे कि आकाश । अत. जीव को एक न मान कर अनन्त ही मानना चाहिए । [१५८४]

अपि च, यदि सभी जीव एक ही हो, उनमे कोई भेद न हो, तो ससार में कोई भी सुखी न रहे । कारण यह है कि चारो गति के जीवो मे नारक और तिर्यंच ही अधिक है और वे सव नाना प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक पीडाओ से ग्रस्त होने के कारण दु.खी ही है इस प्रकार जीव का अधिकतर अश दु.खी होने के कारण

जीव को भी दु खी ही कहना चाहिए, सुखी नही। यदि किसी के समस्त शरीर मे रोग व्याप्त हो और केवल एक अगुली ही रोग-मुक्त हो तो उस व्यक्ति को रोगी ही कहते है। इसी प्रकार जीवो के अधिकाश भाग मे दु ख व्याप्त हो तो जीव को दु खी ही समझना चाहिए, हम उसे सुखी नही कह सकते। फिर किसी जीव के मुक्त होने की भी सम्भावना नही रहेगी, अत वह सुखी भी नही हो सकेगा। कारण यह है कि जीवो का अधिकाश भाग तो बद्ध ही है। जैसे किसी के सारे शरीर मे कीले ठोकी गई हो और केवल एक अगुली ही छोड दी गई हो तो उसे स्वतन्त्र नहीं कह सकते, वैसे ही जीव का अधिकाश भाग बद्ध हो तो एकाश के मुक्त होने के कारण उसे मुक्त नही माना जा सकता। अत सभी जीवो को एक मानने से कोई सुखी अथवा मुक्त नहीं कहला सकेगा, फलत जीव अनेक मानने चाहिए। [१५८५]

इन्द्रभूति—'जीव एक नही किन्तु अनेक है' आपका यह कथन युक्ति सिद्ध है, किन्तु प्रत्येक जीव को जैसे साख्य[1] आदि दर्शनो मे सर्व-व्याप्त माना है, वैसे मानने मे क्या आपत्ति है ?

जीव सर्व-व्यापी नही

भगवान्—जीव सर्व-व्यापी नही किन्तु शरीर-व्यापी है क्योकि उसके गुण शरीर मे ही उपलब्ध होते है। जैसे घट के गुण घट से बाह्य देश मे उपलब्ध नही होते, अत वह व्यापक नही, इसी प्रकार आत्मा के गुण भी शरीर से बाहर उपलब्ध नही होते, अत वह शरीर-प्रमाण ही है। अथवा जहाँ जिसकी उपलब्धि प्रमाण सिद्ध नही होती अर्थात् जो जहाँ प्रमाण द्वारा अनुपलब्ध है, वहाँ उसका अभाव मानना चाहिए, जैसे भिन्न स्वरूप घट मे पट का अभाव है। शरीर से बाहर ससारी आत्मा की अनुपलब्धि है, अत. शरीर से बाहर उसका भी अभाव मानना चाहिए।[१५८६]

अत जीव मे कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्ध, मोक्ष, सुख तथा दु ख एव ससार ये सब तभी युक्तिसगत होते है जब उसे अनेक और शरीर-व्यापी माना जाए। अत जीव को अनेक और असर्वगत मानना चाहिए। [१५८७]

इन्द्रभूति—आपकी युक्तियाँ सुन कर मै जीव सम्बन्धी अपने सन्देह को अब छोडना चाहता हूँ, किन्तु पहले कहे गए 'विज्ञानघन एव एतेभ्य'[2] इत्यादि वेदवाक्य मेरे सम्मुख उपस्थित हो जाते है। वे मुझे पुन सन्देह मे डाल देते है कि यदि जीव युक्ति-सिद्ध हो तो वेद मे ऐसा प्रतिपादन क्यो किया गया ?

वेद-वाक्यों का संगतार्थ

भगवान्—गौतम ! तुम इन वेद-वाक्यो का सच्चा अर्थ नही जानते। इसीलिए तुम ऐसा समझते हो कि पद के अगो अर्थात् कारणो के समुदाय मात्र से ही

1 टीका मे नैयायिक आदि है, किन्तु साख्य प्राचीन है, अत मैने साख्य आदि लिखा है।

2 गाथा 1553 की व्याख्या देखें।

विज्ञानघन समुद्भूत होता है। यह विज्ञान मात्र आत्मा ही है। इसके अतिरिक्त कोई आत्मा नही जो परलोक से आती हो। बाद मे वह विज्ञान-रूप आत्मा भूतो का नाश हो जाने पर विनष्ट हो जाती है और इस कारण वह परलोक या परभव मे जाती भी नही। अर्थात् यह जीव पूर्व-भव मे अमुक था और वहाँ से इस जन्म में आया, उसी प्रकार वह जीव यहाँ से मर कर आगामी जन्म मे अमुक रूप मे होगा, ऐसी कोई जन्म-जन्मान्तर मे एक जीव(व्यक्ति)के अस्तित्व को वताने वाली प्रेत्यसज्ञा परलोक-व्यवहार नही है। अर्थात् यह वात नही है कि अमुक पहले नारक अथवा देव था, किन्तु अब मनुष्य हुआ है। उन वेद-वाक्यो का तुम यह तात्पर्य समझते हो कि जीव एक भव से दूसरे भव मे नही जाता, क्योकि वह भूत समुदाय से नया ही उत्पन्न होता है और समुदाय के नाश के साथ नष्ट भी हो जाता है। [१५८८–९०]

हे गौतम! उक्त वेद-वाक्यो का तुम उपर्युक्त रीति से अर्थ करते हो, इसीलिए तुम्हे ऐसा प्रतीत होता है कि जीव है ही नही। किन्तु वेद के ही 'न ह वै सशरीरस्य'[1] इत्यादि अन्य वाक्यो मे जीव का अस्तित्व वताया गया है और फिर 'अग्निहोत्र जुहुयात्'[2] इत्यादि वाक्यो मे हवन की क्रिया का फल परलोक मे स्वर्ग वताया है जो भवान्तर मे गमन करने वाली नित्य आत्मा को स्वीकार किए विना सम्भव नही, अत इस प्रकार जीव के अस्तित्व सम्वन्धी परस्पर विरोधी वेद-वाक्यो के श्रवण से तुम्हे जीव के अस्तित्व के विषय मे, मेरी युक्तियाँ सुन लेने पर भी, सन्देह होता है कि वस्तुत जीव होगा या नही।

किन्तु, हे गौतम! अव इस सशय का कोई कारण नही। तुमने वेद-पदो का जो पूर्वोक्त अर्थ किया है वह यथार्थ नही। मैं तुम्हे जो अर्थ वताता हूँ उसे सुनो। [१५९१–९२]

इन्द्रभूति—आप कृपा कर उन वेद-पदो का अर्थ वताएँ ताकि मेरा सशय दूर हो।

भगवान्—उक्त 'विज्ञानघन एव'[3] इत्यादि वाक्य मे विज्ञानघन शब्द का अर्थ जीव है, क्योकि विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। ज्ञान-दर्शन रूप ही विज्ञान है। इस विज्ञान से अनन्य (अभिन्न) होने के कारण उसके साथ ही एक रूप घन या निविड होने वाला जीव विज्ञानघन कहलाता है। अथवा इस जीव के प्रत्येक प्रदेश में अनन्तानन्त विज्ञान-पर्यायो का सघात होने के कारण भी जीव को 'विज्ञानघन' कहते है।

उक्त वाक्य मे 'एव' पद का तात्पर्य यह है कि जीव विज्ञानघन ही है, अर्थात् विज्ञान-रूप ही है, विज्ञान जीव का स्वरूप ही है। जीव से विज्ञान अत्यन्त भिन्न नही है। यदि विज्ञान जीव से सर्वथा भिन्न हो तो जीव जड स्वरूप हो जाएगा। इसलिए

---

1. गाथा 1553 की व्याख्या देखें। 2. गाथा 1553 की व्याख्या देखें।
3 गाथा 1553 की व्याख्या देखें।

नैयायिक इत्यादि जो ज्ञान को आत्मा का स्वरूप नही मानते, के मत मे आत्मा जड रूप हो जाएगी।

'भूतेभ्य समुत्थाय' इत्यादि का तात्पर्य यह है--घट-पट आदि भूतो से घट विज्ञान, पट विज्ञान आदि के रूप मे विज्ञानघन (जीव) उत्पन्न होता है, क्योकि ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है। प्रस्तुत मे घट आदि ज्ञेय पदार्थ भूत है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि घट आदि भूतो से घट-विज्ञान उत्पन्न हुआ। यह घट-विज्ञान जीव का एक विशेष पर्याय है, और जीव विज्ञानमय है। अत हम यह कह सकते है कि घट-विज्ञान-रूप जीव घट नामक भूत से उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार पट-विज्ञानरूप जीव पट नामक भूत से उत्पन्न हुआ, इत्यादि। इस प्रकार अलग-अलग भौतिक विषयो की अपेक्षा से जीव की अनन्त पर्याय उत्पन्न होती है, और जीव की पर्याय जीव से अभिन्न होने के कारण जीव अमुक-अमुक विज्ञान रूप मे भूतो से उत्पन्न होता है। ऐसा मानना उचित ही है [१५९३]

'तान्येवानु विनश्यति' का अर्थ यह है कि ज्ञान के आलम्बन-रूप भूत जब ज्ञेय रूप मे विनाश को प्राप्त होते है तब उनसे उत्पन्न होने वाला विज्ञानघन भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् जब घटादि की ज्ञेयरूपता नष्ट हो जाती है तब घट-विज्ञान आदि आत्म-पर्याय भी नष्ट हो जाती है। उक्त पर्याय विज्ञानघन स्वरूप जीव से अभिन्न होने के कारण विज्ञानघन (जीव) का भी नाश हो जाता है, ऐसा कथन अनुचित नही है। विषय का व्यवधान, उसका स्थगित हो जाना, उसके जीवन का लोप हो जाना अन्य विषय मे मन का प्रवृत्त होना, इत्यादि कारणो से जब आत्मा अन्य विषय मे उपयोग वाली होती है, तब घटादि की ज्ञेय-रूपता का नाश होता है और पट आदि की ज्ञेय-रूपता उत्पन्न होती है। अत आत्मा मे घटादि विज्ञान नष्ट होता है और पटादि ज्ञान उत्पन्न होता है। साराश यह है कि घटादि विज्ञेय भूतो से घट-विज्ञानादि पर्याय-रूप मे विज्ञानघन (जीव) उत्पन्न होता है और कालक्रमेण व्यवधान आदि के कारण जीव की प्रवृत्ति अन्य विषय मे हो जाने से जब घटादि भूतो की विज्ञेयरूपता नष्ट होती है तब घटादि ज्ञान-पर्याय-रूप मे विज्ञानघन (जीव) का भी नाश होता है। [१५९४]

जीव नित्यानित्य है

इस प्रकार आत्मा पूर्व-पर्याय के विगम (नाश) की अपेक्षा से विगम (व्यय) स्वभाव वाली है तथा अपर पर्याय की उत्पत्ति की अपेक्षा से सम्भव (उत्पाद) स्वभाव वालीहै। हम देख चुके है कि घटादि विज्ञान-रूप उपयोग का नाश होने पर पटादि विज्ञान-रूप उपयोग उत्पन्न होता है, इससे जीव मे उत्पाद और व्यय ये दोनो स्वभाव होने से वह विनाशी सिद्ध होता है। किन्तु विज्ञान की सन्तति की अपेक्षा से विज्ञानघन(जीव) अविनाशी अथवा ध्रुव भी सिद्ध होता है। साराश यह है कि आत्मा मे सामान्य विज्ञान का अभाव कभी भी नही होता, विशेष विज्ञान का अभाव होता है, अत विज्ञान-

सन्तति या विज्ञान-सामान्य की अपेक्षा से जीव नित्य है, ध्रुव है, अविनाशी है। इस प्रकार ससार के सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य इन तीन स्वभाव स्वरूप है। ऐसा एक भी पदार्थ नही जिसका सर्वथा विनाश हो जाता हो अथवा सर्वथा अपूर्व उत्पाद होता हो। [१५९५]

'न प्रेत्य सज्ञास्ति' इस वाक्याश का भाव यह है--जब अन्य वस्तु मे उपयोग प्रवृत्त होता है, तब पूर्व विषय का ज्ञान नष्ट हो जाने के कारण पूर्वकालीन ज्ञान-सज्ञा नही होती, क्योंकि उस समय जीव का उपयोग साम्प्रत (वर्तमान) वस्तु के विषय में होता है। साराश यह है कि जब घटोपयोग के निवृत्त होने पर पटोपयोग वर्तमान होता है तब घटोपयोग सज्ञा नही होती, क्योकि यह उपयोग तो निवृत्त हो चुका है। अत उस समय केवल पटोपयोग संज्ञा होती है, क्योकि उस समय पटोपयोग वर्तमान होता है।

इस प्रकार उक्त वेद-वाक्य मे विज्ञानघन पद से जीव का ही कथन किया गया है। ऐसा मान ले तो उस विषय मे सन्देह का स्थान नही रहता। [१५९६]

इन्द्रभूति--आपने कहा है कि [1]घटादि भूतो से विज्ञानघन (जीव) उत्पन्न होता है। इसलिए यदि आप की व्याख्या मान ली जाए तो भी जीव भूतो से स्वतत्र द्रव्य सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत वह भूतो का ही धर्म सिद्ध होता है। अर्थात् विज्ञानघन (जीव) पृथ्वी आदि भूतमय ही सिद्ध होता है, क्योकि विज्ञान की उत्पत्ति तभी होती है जब भूत हो। यदि भूत न हो तो विज्ञान की उत्पत्ति भी नही होती। दूसरे शब्दो मे विज्ञान का भूतो से अन्वय-व्यतिरेक है। अत वह भूतो का ही धर्म है, जैसे चन्द्रिका चाँद का धर्म है।

विज्ञान भूत-धर्म नही

भगवान्—तुम्हारा कथन युक्त नही है। कारण यह है कि भूतो के अभाव मे भी ज्ञान होता है, अत भूतो के साथ ज्ञान का व्यतिरेक नियम असिद्ध है।

इन्द्रभूति--यह कैसे ? आप ही ने तो पहले कहा था कि भूतो की विज्ञेय-रूपता नष्ट होने पर विज्ञान भी नष्ट हो जाता है। अर्थात् भूतो के अभाव मे विज्ञान भी नही होता। इस प्रकार विज्ञान का भूतो से व्यतिरेक असिद्ध नही है।

भगवान्--मैने विज्ञान का सर्वथा अभाव नही बताया। विशेष विज्ञान का नाश होने पर भी विज्ञान-सन्तति, विज्ञान (सामान्य) का नाश नही होता, यह बात मैं तुम्हे समझा चुका हूँ। तुम उसे विस्मृत क्यो कर रहे हो ? इससे भूतो का विज्ञेय-रूप मे नाश होने पर भी सामान्य विज्ञान का अभाव नही होता। अत भूतो का विशेप ज्ञान के साथ अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध होने पर भी सामान्य विज्ञान के साथ व्यतिरेक असिद्ध है। इसीलिए विज्ञान यह भूत-धर्म नही हो सकता। पुनश्च, वेद मे भूतो के अभाव मे भी विज्ञान का अस्तित्व बताया गया है। अत विज्ञानघन भूत-धर्म नही हो सकता। [१५९७]

1 गाथा 1593 देखें।

इन्द्रभूति—वेद के कौन से वाक्य मे यह कहा गया है कि भूत के अभाव मे भी विज्ञान है ?

भगवान्—वेद मे एक वाक्य है—'अस्तमिते आदित्ये याज्ञवल्क्य ! चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्ताया वाचि, किं ज्योतिरेवाय पुरुष ? आत्मज्योतिरेवाय सम्राडिति होवाच।' अर्थात् हे याज्ञवल्क्य ! जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्र अस्त हो जाता है, अग्नि शान्त हो जाती है, वचन शान्त हो जाता है, तब पुरुष मे कौन सी ज्योति होती है ? हे सम्राट् ! उस समय आत्म-ज्योति ही होती है। इस वाक्य मे पुरुष मे कौन सा तेज है ? इस प्रश्न के उत्तर मे बताया गया है कि पुरुष आत्म-ज्योति है। प्रस्तुत मे पुरुष का अर्थ आत्मा है और ज्योति का अर्थ ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि जब बाह्य समस्त प्रकाश अस्त हो जाता है तब भी आत्मा मे ज्ञान का प्रकाश तो होता ही है। कारण यह है कि आत्मा स्वय ज्ञान-रूप है। अत ज्ञान को भूतो का धर्म नही कह सकते। [१५९८]

तुमने यह भी कहा है कि भूतो के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक है, किन्तु यह बात ठीक नही है। भूतो के अस्तित्व मे भी मृत शरीर मे ज्ञान का अभाव होता है और भूतो का अभाव होने पर भी मुक्तावस्था मे ज्ञान की सत्ता है। अत भूतो के साथ ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक असिद्ध है। इसलिए ज्ञान भूत-धर्म नही हो सकता। जैसे घट का सद्भाव होने पर नियमपूर्वक पट का सद्भाव नही होता तथा घट के अभाव मे पट का सद्भाव सम्भव है, अत पट को घट से भिन्न माना जाएगा, वैसे ही ज्ञान को भी भूतो से भिन्न मानना चाहिए। वह भूतो का धर्म नही हो सकता। [१५९९]

वेद-पद का क्या अर्थ है ?

इससे सिद्ध होता है कि तुम वेद-पदो का अर्थ नही जानते। अथवा यह कहना चाहिए कि तुम समस्त वेद-पदो का अर्थ नही जानते। कारण यह है कि वेद-पदो को सुनते समय तुम्हे सन्देह होता है कि इनका क्या अर्थ होगा ? क्या वेद-पद का अर्थ श्रुति-मात्र है ? विज्ञान मात्र है ? अथवा वस्तु-भेद रूप है ? अर्थात् वह अर्थ क्या शब्द रूप है ? अथवा शब्द से होने वाला विज्ञान रूप है ? अथवा बाह्य वस्तु-विशेष रूप है ? बाह्य वस्तु-विशेष मे भी क्या जाति रूप अर्थ है ? द्रव्य रूप है ? गुण रूप है ? किंवा क्रिया रूप है ? ऐसा सन्देह तुम्हे सभी वेद-पदो के विषय मे है। अत यह कहा जा सकता है कि तुम वेद के किसी भी पद का अर्थ सम्यक् रूप से नही जानते। किन्तु तुम्हारा यह सन्देद अयुक्त है। कारण यह है कि यह निश्चय ही नही किया जा सकता कि अमुक वस्तु का धर्म अमुक ही है और अन्य नही है। [१६००–१६०१]

इन्द्रभूति—आप ऐसा किस लिए कहते है ?

भगवान्—क्योकि ससार की सभी वस्तुए सर्वमय है।

इन्द्रभूति—यह कैसे ?

वस्तु की सर्वमयता

भगवान्—वस्तु की पर्याय दो प्रकार की है—स्वपर्याय तथा परपर्याय। इन दोनो पर्यायो की अपेक्षा से विचार किया जाए तो वस्तु सामान्य रूप से सर्वमय सिद्ध होती है किन्तु यदि केवल स्वपर्यायो की विवक्षा की जाए तो सर्ववस्तु विविक्त है, सब से व्यावृत्त है, असर्वमय है। इस प्रकार यदि वेद के प्रत्येक पद का अर्थ विवक्षाधीन समझा जाए तो वह सामान्य विशेपात्मक ही होगा। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि वह अमुक प्रकार का ही है, और अमुक प्रकार का है ही नही। कारण यह है कि वस्तु वाच्य-रूप हो अथवा वाचक(शब्द)रूप हो, किन्तु स्व-पर-पर्याय की दृष्टि से तो विश्व-रूप ही है ? अत सामान्य विवक्षा से 'घट' शब्द सर्वात्मक होने के कारण द्रव्य, गुण, क्रिया आदि समस्त अर्थो का वाचक है, किन्तु विशेषापेक्षा से वह प्रतिनियत रूप होने के कारण विशिष्ट आकार वाले मिट्टी आदि के पिण्ड का ही वाचक होता है। यही बात प्रत्येक शब्द के विषय मे कही जा सकती है कि वह सामान्य विवक्षा से सभी अर्थो का वाचक हो सकता है, किन्तु विशेषापेक्षा से जिस एक अर्थ मे वह रूढ होता है उसी का वाचक बनता है। [१६०२–१६०३]

इस प्रकार जब जरा-मरण से मुक्त भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति का सशय दूर किया, तब उसने अपने पाचसौ शिष्यो के साथ भगवान् से दीक्षा ग्रहण कर ली। [१६०४]

आगे कर्म आदि की चर्चा के समय इस चर्चा के साथ जिस अश मे सदृशता हो, उसका वहाँ सम्बन्ध जोड कर चर्चा का मर्म समझ लेना चाहिए। उसमे जो विशेषता होगी, वह मैं प्रतिपादित करूँगा। (ऐसा आचार्य जिनभद्र कहते है।) [१६०५]

द्वितीय गणधर अग्निभूति

कर्म के अस्तित्व की चर्चा

इन्द्रभूति की दीक्षा की बात सुन कर उसके छोटे भाई दूसरे विद्वान् अग्निभूति के मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं भगवान् महावीर के पास जाकर और उन्हे पराजित कर इन्द्रभूति को वापिस ले आऊँ। यह विचार कर वह क्रुद्ध होता हुआ भगवान् के समीप पहुँचा। वह समझता था कि मेरा बडा भाई शास्त्रार्थ मे तो अजेय है, निश्चय पूर्वक श्रमण महावीर ने उसे छल कपट से ठगा होगा। यह श्रमण कोई इन्द्रजालिक या मायावी होना चाहिए। न जाने उसने क्या-क्या किया होगा ? वहाँ जो कुछ हुआ है, उसे मैं अपनी आँखो से देखूँ और इस भेद का उद्घाटन करूँ। यह भी सम्भव है कि इन्द्रभूति को उन्होने पराजित भी किया हो। यदि वे मेरे किसी भी पक्ष का पार पा जाएँ (मेरे सन्देह का निराकरण कर दे) तो मैं भी उनका शिष्य बन जाऊँगा। ऐसा कह कर वह भगवान् के पास जा पहुँचा। [१६०६–१६०८]

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान् ने उसे नाम और गोत्र से सम्बोधित करते हुए कहा, "अग्निभूति गौतम ! आओ"। कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे। किन्तु अग्निभूति ने विचार किया कि मुझे ससार मे कौन नही जानता ? अत उन्होने मुझे मेरे नाम व गोत्र से बुलाया, इसमे कोई नई बात नही है, किन्तु यदि वे मेरे मन के सशय को जान ले अथवा दूर कर दे तो अवश्य ही आश्चर्य की बात होगी। [१६०९]

कर्म के विषय में संशय

इस प्रकार जब वह विचार मे तल्लीन था, तब भगवान् ने उससे कहा—अग्निभूति ! तुम्हारे मन मे यह सन्देह है कि कर्म है अथवा नही ? किन्तु तुम वेद-पदो का अर्थ नही जानते, इसीलिए तुम्हे ऐसा सन्देह है। मैं तुम्हे उनका वास्तविक अर्थ बताऊँगा। [१६१०]

हे अग्निभूति ! तुम यह समझते हो कि कर्म प्रत्यक्ष आदि किसी भी ज्ञान का विषय नही होता, वह सर्व प्रमाणातीत है, क्योकि वह खर-विषाण के समान अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नही है। इस प्रकार जैसे इन्द्रभूति प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणो से जीव को अग्राह्य सिद्ध करता था, वैसे ही तुम यह सिद्ध करते हो कि

कर्म किसी भी प्रमाण का विषय नहीं--वह सर्व प्रमाणातीत है। अपने इस मात की पुष्टि के लिए तुम वेद के 'पुरुष एवेद सर्वं'[1] इत्यादि वाक्यों का आश्रय लेते हो और कहते हो कि कर्म का अस्तित्व नही है; किन्तु वेद में ऐसे भी वाक्य उपलब्ध होते हैं जिन से कर्म का अस्तित्व मानना पड़ता है। जैसे कि 'पुण्य पुण्येन कर्मणा पाप. पापेन कर्मणा'[2] अर्थात् पुण्य कर्म से जीव पवित्र होता है और पाप कर्म से अपवित्र होता है, इत्यादि। इससे तुम्हे सन्देह होता है कि वस्तुत: कर्म है या नही ?

कर्म की सिद्धि

आपने मेरे सन्देह का कथन तो ठीक-ठीक कर दिया है, किन्तु यदि आप उसका समाधान भी करें तो मुझे आप की विद्वत्ता पर विश्वास हो जाएगा।

भगवान्—सौम्य ! तुम्हारा उक्त संशय अयुक्त है, क्योकि मैं कर्म को प्रत्यक्ष देखता हूँ। तुम्हे चाहे वह प्रत्यक्ष नही है, किन्तु तुम अनुमान से उसकी सिद्धि कर सकते हो। कारण यह है कि सुख-दु ख की अनुभूति-रूप कर्म का फल (कार्य) तो तुम्हें प्रत्यक्ष ही है। इसलिए अनुमानगम्य होने के कारण कर्म को सर्व प्रमाणातीत नही कहा जा सकता।

अग्निभूति—किन्तु यदि कर्म की सत्ता है तो आपके समान मुझे भी उसका प्रत्यक्ष क्यो नही होता ?

भगवान्—यह कोई नियम नही है कि जो वस्तु एक को प्रत्यक्ष हो वह सब को ही प्रत्यक्ष होनी चाहिए। सिह, व्याघ्र आदि अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका प्रत्यक्ष सभी मनुष्यो को नही होता, तथापि यह कोई नही मानता कि संसार में सिह आदि प्राणी नही है। अत. सर्वज्ञ-रूप मेरे द्वारा प्रत्यक्ष किए गए कर्म का अस्तित्व तुम्हे स्वीकार करना ही चाहिए, जैसे मैंने तुम्हारे सशय का प्रत्यक्ष कर लिया और तुमने उसका अस्तित्व मान लिया था।[3]

अपि च, अतीन्द्रिय होने के कारण तुम परमाणु का प्रत्यक्ष तो नही करते, परन्तु उसका कार्य-रूप प्रत्यक्ष तो तुम मानते ही हो। कारण यह है कि तुम्हें परमाणु के घटादि कार्य प्रत्यक्ष हैं। इसी प्रकार तुम्हे कर्म स्वय चाहे प्रत्यक्ष न हो, तथापि उसका फल (कार्य) सुख-दु खादि तो प्रत्यक्ष ही है। अत. तुम्हे कर्म का कार्य-रूप मे प्रत्यक्ष मानना ही चाहिए। [१६११]

अग्निभूति—आपने पहले कहा था कि कर्म अनुमानगम्य है। अब आप वह अनुमान बताएँ।

1. गाथा 1581 देखें। इसकी विशेष चर्चा आगे गाथा 1643 मे आएगी।
2. इसकी विशेष चर्चा 1643 मे है। यह वाक्य बृहदारण्यक उप० (4.4 5.) मे है।
3 ऐसी चर्चा, गाथा 1577–79 में देखें।

कर्मसाधक अनुमान

भगवान्—सुख-दु ख का कोई हेतु अथवा कारण होना चाहिए, क्योकि वे कार्य है, जैसे अकुर रूप कार्य का हेतु बीज है। सुख-दु ख रूप कार्य का जो हेतु है, वही कर्म है।

सुख-दु.ख मात्र दृष्टकारणाधीन नही

अग्निभूति—यदि सुख-दु ख का दृष्ट कारण सिद्ध हो तो अदृष्ट-रूप कर्म को मानने की क्या आवश्यकता है ? हम देखते है कि सुगन्धित फूलो की माला, चन्दन आदि पदार्थ सुख के हेतु है और साँप का विष, काँटा आदि पदार्थ दु ख के हेतु हैं। जब इन सब दृष्ट कारणो से सुख-दु ख होता हो तब उसका अदृष्ट कारण कर्म क्यो माना जाए ?

भगवान्—दृष्ट कारण मे व्यभिचार दृष्टिगोचर होता है, अत. अदृष्ट कारण मानना पडता है। [१६१२]

अग्निभूति—यह कैसे ?

भगवान्—सुख-दु ख के दृष्ट साधन अथवा कारण समान रूप से उपस्थित होने पर भी उन के फल मे (कार्य मे) जो तारतम्य (विशेषता) दिखाई देता है वह निष्कारण नहीं हो सकता, क्योंकि यह विशेषता घट के समान ही कार्य-रूप है। अत उस विशेषता का कोई जनक (हेतु) मानना ही चाहिए और वही कर्म है। जैसे कि सुख-दु ख के बाह्य साधन समान होने पर भी दो व्यक्तियो को उन से मिलने वाले सुख-दु ख रूप फल मे तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। अर्थात् जिन साधनो से एक को सुख मिलता है, उनसे दूसरे को कम या अधिक मिलता है। तुमने माला को सुख का दृष्ट कारण माना है, किन्तु यदि इसी माला को कुत्ते के गले मे डाली जाए तो वह उसे दु ख का कारण मान कर उससे छूटने का प्रयत्न क्यो करता है ? फिर विष भी यदि सर्वथा दु खदायी ही हो तो कितने ही रोगो मे वह रोग निवारण द्वारा जीव को सुख क्यो प्रदान करे ? अत मानना पडेगा कि माला आदि सुख-दु.ख के जो बाह्य साधन दिखाई देते है, उनके अतिरिक्त भी उन से भिन्न और अन्तरग कर्मरूप अदृष्ट कारण भी सुख-दु ख का हेतु है। [१६१३]

कर्म-साधक अन्य अनुमान

कर्म का साधक एक अन्य प्रमाण यह है—आद्य बाल शरीर देहान्तर पूर्वक है—अर्थात् देहान्तर का कार्य है, क्योकि वह इन्द्रिय आदि से युक्त है, जैसे कि युवा शरीर, यह बाल शरीर पूर्वक है। प्रस्तुत हेतु मे आदि पद से सुख-दु ख, प्राणवान्, निमेष-उन्मेष, जीवन आदि धर्म भी समझ लेने चाहिए और इन धर्मो को भी हेतु बना कर उक्त साध्य की सिद्धि कर लेनी चाहिए। आद्य बाल शरीर जिस देहपूर्वक है, वह कार्मण शरीर अर्थात् कर्म है।

अग्निभूति—पूर्वोक्त अनुमान से इतनी बात ही सिद्ध होती है कि बाल शरीर देहान्तर पूर्वक है, अत कार्मण शरीर के स्थान पर पूर्वभवीय अतीत शरीर को ही बाल शरीर के पहले का शरीर अर्थात् उसका कारण मानना चाहिए।

कार्मण शरीर की सिद्धि

भगवान्—पूर्वभव के अतीत शरीर को बाल शरीर का कारण नही माना जा सकता, क्योकि अन्तराल गति मे उसका सदन्तर अभाव ही होता है। अत. बाल शरीर पूर्वभवीय अतीत शरीर पूर्वक सम्भव ही नही है। अन्तराल गति मे पूर्व-भवीय शरीर का सद्भाव इसलिए नही है कि मृत्यु होने के पश्चात् जीव उस ओर गति करता है जहाँ नवीन जन्म होना हो। उस समय पूर्वभवीय शरीर छूट जाता है और नवीन शरीर का अभी ग्रहण नही होता। अत अन्तराल गति मे जीव औदारिक अथवा स्थूल शरीर से तो सर्वथा रहित होता है। इससे बाल शरीर को पूर्वभवीय औदारिक शरीर का कार्य नही कहा जा सकता। तब हम यह कैसे कह सकते है कि वह पूर्व भव के शरीर पूर्वक है ? और यदि जीव के कोई भी शरीर न हो तो वह नियत गर्भ देश मे कैसे जा सकता है ? अत नियत देश मे प्राप्ति का कारणभूत तथा नूतन शरीर की रचना का कारणभूत कोई शरीर को स्वीकार करना ही होगा। जैसे कहा जा चुका है, उसके अनुसार ऐसा कारण औदारिक शरीर तो नही हो सकता। अत कर्मरूप कार्मण को ही बाल देह का कारण समझना चाहिए। जीव अपने स्वभाव से ही नियत देश मे पहुँच जाएगा, यह मान्यता ठीक नही। इस विषय को मैं आगे स्पष्ट करूँगा।

शास्त्र मे भी कहा है, 'मृत्यु के उपरान्त जीव कार्मण योग से आहार करता है।'[1] अत· बाल शरीर को कार्मण शरीर पूर्वक मानना चाहिए। [१६१४]

चेतन की क्रिया सफल होने के कारण कर्म की सिद्धि

कर्म साधक तीसरा अनुमान यह है—दानादि क्रिया का कुछ फल होना ही चाहिए, क्योकि वह सचेतन व्यक्ति द्वारा की गई क्रिया है, जैसे कि कृषि क्रिया। सचेतन पुरुष कृषि क्रिया करता है तो उसे उस का फल धान्यादि प्राप्त होता है, उसी प्रकार दानादि क्रिया का कर्ता भी सचेतन है, अत उसे उसका कुछ न कुछ फल मिलना चाहिए। जो फल प्राप्त होता है वह कर्म है।

अग्निभूति—पुरुष कृषि करता है किन्तु अनेक बार उसे धान्यादि फल की प्राप्ति नही भी होती, अत आपका यह हेतु व्यभिचारी है। इसीलिए यह नियम नही बनाया जा सकता कि सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया का कोई फल अवश्य होना चाहिए।

---

1. "जोएण कम्मएणं आहारेई अणतरं जीवो।" सूत्रकृताग निर्युक्ति 177

भगवान्—तुम इस बात को स्वीकार करोगे कि बुद्धिमान् चेतन जो क्रिया करता है वह उसे फलवती मान कर ही करता है। फिर भी जहाँ क्रिया का फल नही मिलता, वहाँ उसका अज्ञान अथवा सामग्री की विकलता या न्यूनता इस बात का कारण होता है। अतः सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया को निष्फल नही माना जा सकता। यदि ऐसी बात हो तो सचेतन पुरुष ऐसी निष्फल क्रिया मे प्रवृत्ति ही क्यो करेगा ? यह तो मैं भी स्वीकार करता हूँ कि यदि दानादि क्रिया भी मन शुद्धि पूर्वक नही की जाती तो उसका कुछ भी फल नही मिलता। अत मेरे कथन का तात्पर्य इतना ही है कि यदि सामग्री का साकल्य अथवा पूर्णता हो तो सचेतन द्वारा आरब्ध क्रिया निष्फल नही होती।

अग्निभूति—आपके कथन के अनुसार दानादि क्रिया का फल भले ही हो, किन्तु जैसे कृषि आदि क्रिया का दृष्ट फल धान्यादि है, वैसे दानादि क्रिया का भी सब के अनुभव से सिद्ध मन प्रसाद रूप दृष्ट फल ही मानना चाहिए, परन्तु कर्मरूप अदृष्ट फल नही मानना चाहिए। इस प्रकार तुम्हारा हेतु अभिप्रेत अदृष्ट कर्म के स्थान पर दृष्ट फल का साधक होने से विरुद्ध हेत्वाभास है। [१६१५]

भगवान्—तुम भूलते हो। मन प्रसाद भी एक क्रिया है अत सचेतन की अन्य क्रियाओ के समान उसका भी फल होना चाहिए। वह फल कर्म है, अत मेरे इस नियम मे कोई दोष नही कि सचेतन द्वारा आरम्भ की गई क्रिया फलवती होती है।

अग्निभूति—मन प्रसाद का फल भी कर्म है, यह बात आप कैसे कहते है ?

भगवान्—क्योकि उस कर्म का कार्य सुख-दु ख भविष्य मे पुन हमारे अनुभव मे आते है।

अग्निभूति—आपने पहले दानादि क्रिया को कर्म का कारण बताया और और अब मन प्रसाद को कर्म का कारण बताते है, अत आपके कथन मे पूर्वापर विरोध है।

भगवान्—बात यह है कि कर्म का कारण तो मन प्रसाद ही है, किन्तु इस मन प्रसाद का कारण दानादि क्रिया है। अत कर्म के कारण के कारण मे कारण का उपचार करके दानादि क्रिया को कर्म का कारण रूप माना जाता है। इस तरह पूर्वापर विरोध का परिहार हो जाता है। [१६१६]

अग्निभूति—इस सारे झगडे को छोड कर सरल मार्ग से विचार किया जाए तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि मनुष्य जब मन मे प्रसन्न होता है तब ही वह दानादि करता है। दानादि करने पर उसे बाद मे मन प्रसाद प्राप्त होता है, इसलिए वह पुन दानादि करता है। इस तरह मन प्रसाद का फल दानादि है तथा

दानादि का फल मन प्रसाद और उसका भी फल दानादि। आप मन प्रसाद का अदृष्ट फल कर्म बताते है, उसके स्थान मे दृष्ट फल दानादि ही मानना चाहिए।

भगवान्—कार्य-कारण की परम्परा के मूल मे जाने पर हमे ज्ञात होगा कि मन प्रसाद रूप क्रिया का कारण दानादि क्रिया है। अत दानादि क्रिया मन. प्रसाद का कार्य अथवा फल नही हो सकती, जैसे कि मृत्पिण्ड घट का कारण है, वह घट का कार्य नही बन सकता। अर्थात् जैसे मृत्पिण्ड से तो घडा उत्पन्न होता है किन्तु घडे से पिण्ड उत्पन्न नही होता, वैसे ही सुपात्र को दान देने से मन प्रसाद उत्पन्न होता है, हम यह नही कह सकते कि मन प्रसाद से दान की उत्पत्ति हुई। कारण यह है कि जो जिसका कारण होता है, वह उसी का फल नही हो सकता। [१६१७]

अग्निभूति—आपने कृषि का दृष्टान्त दिया है और इस दृष्टान्त से आप सचेतन की समस्त क्रिया को फलवती सिद्ध करना चाहते है, किन्तु कृषि का धान्यादि फल दृष्ट है, अत सचेतन की समस्त क्रिया का फल कृषि के फल धान्य के समान दृष्ट ही मानना चाहिए, अदृष्ट कर्म मानने की क्या आवश्यकता है ? हम देखते हैं कि ससार मे लोग पशु का वध करते हैं, वह किसी अधर्मरूप अदृष्ट कर्म के लिए नही किया जाता, अपितु माँस खाने को मिले, इसी उद्देश्य से पशु-हिसा करते है। इसी प्रकार सभी क्रियाओ का कोई न कोई दृष्ट फल ही स्वीकार करना चाहिए, अदृष्ट फल को मानना अनावश्यक है। [१६१८]

अपि च, यह भी हमारे अनुभव की बात है कि प्राय. लोग कृषि, व्यापार आदि जो भी क्रिया करते है वह सब दृष्ट फल के लिए ही करते है। अदृष्ट फल के लिए दानादि क्रिया करने वाला व्यक्ति शायद ही कोई हो। दृष्ट यश की प्राप्ति के लिए दानादि जैसी क्रियाओ को करने वाले बहुत लोग है और बहुत कम लोग अदृष्ट कर्म के निमित्त दानादि करते होगे। अत सचेतन की सभी क्रियाओ का फल दृष्ट ही मानना चाहिए। [१६१९]

क्रिया का फल अदृष्ट है

भगवान्—सौम्य ! तुम कहते हो कि अदृष्ट फल के लिए दानादि शुभ क्रियाओ को करने वाले लोग बहुत कम है और अधिकतर लोग दृष्ट फल के लिए ही कृषि, वाणिज्य, हिसा आदि अशुभ क्रियाएँ करते देखे जाते है। किन्तु, इस बात से ही यह प्रमाणित होता है कि कृषि आदि क्रियाओ का दृष्ट के अतिरिक्त अदृष्ट फल भी होना चाहिए। वे लोग चाहे अदृष्ट अधर्म के लिए अशुभ क्रियाएँ न करते हो, फिर भी उन्हे उनका फल मिले बिना नही रहता। अन्यथा इस ससार मे अनन्त जीवो का अस्तित्व घटित नही हो सकता, क्योकि

तुम्हारे मतानुसार पाप कर्म करने वाले भी नए कर्मो का ग्रहण नही करते, फिर तो मृत्यु के बाद उन्हे मोक्ष प्राप्त होना चाहिए। ससार मे केवल कुछ धर्मात्मा शेष रह जाएँगे जो कि अदृष्ट के निमित्त दानादि क्रियाएँ करते है। किन्तु हम विश्व मे अनन्त जीव देखते है और उन मे भी अधर्मात्मा ही अधिक है अत मानना होगा कि समस्त क्रियाओ का दृष्ट के अतिरिक्त अदृष्ट कर्म रूप फल भी होता है।

अग्निभूति—दानादि क्रिया के कर्ता को चाहे धर्म रूप अदृष्ट फल मिले, क्योकि वह ऐसे फल की कामना करता है, किन्तु जो कृषि आदि क्रियाएँ करते हैं वे तो दृष्ट फल की ही अभिलाषा रखते है। फिर उन्हे भी अदृष्ट फल कर्म की प्राप्ति क्यो हो ?

न चाहने पर भी अदृष्ट फल मिलता है

भगवान्—तुम्हारी यह शका अनुचित है। कारण यह है कि कार्य का आधार उसकी सामग्री पर होता है। मनुष्य की इच्छा हो या न हो, किन्तु जिस कार्य की सामग्री होती है, वह कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। बोने वाला किसान यदि अज्ञानवश भी गेहूँ के स्थान पर कोदरा बो दे और उसे हवा, पानी आदि अनुकूल सामग्री मिले तो कृषक की इच्छा-अनिच्छा की उपेक्षा कर कोदरा उत्पन्न हो ही जाएँगे। इसी प्रकार हिंसा आदि कार्य करने वाले मॉसभक्षक चाहे या न चाहे, किन्तु अधर्म रूप अदृष्ट कर्म उत्पन्न होता ही है।

दानादि क्रिया करने वाले विवेकशील पुरुष यद्यपि फल की इच्छा न करे, तथापि सामग्री होने पर उन्हे धर्म रूप फल मिलता ही है। [१६२०]

अत यह बात मान लेनी चाहिए कि शुभ अथवा अशुभ सभी क्रियाओ का शुभ अथवा अशुभ अदृष्ट फल होता ही है। अन्यथा इस ससार मे अनन्त ससारी जीवो की सत्ता ही शक्य नही। कारण यह है कि अदृष्ट कर्म के अभाव मे सभी पापी अनायास मुक्त हो जाएँगे, क्योकि उनके इच्छित न होने के कारण मृत्यु के बाद ससार का कारण कर्म रहेगा ही नही। किन्तु जो लोग अदृष्ट शुभ कर्म के निमित्त दानादि क्रियाएँ करते होगे, उनके लिए ही यह क्लेश-बहुल ससार रह जाएगा। यह बात इस तरह होगी—जिसने दानादि शुभ क्रिया अदृष्ट के निमित्त की होगी, उसे कर्म का बन्ध होगा, उसे भोगने के लिए वह नया जन्म धारण करेगा। वहाँ पुन कर्म के विपाक का अनुभव करते हुए वह दानादि क्रिया करेगा और नए जन्म की सामग्री तैयार करेगा। इस तरह तुम्हारे मतानुसार ऐसे धार्मिक लोगो के लिए ही ससार होना चाहिए, अधार्मिको के लिए मानो मोक्ष का निर्माण हुआ है। तुम्हारी मान्यता मे ऐसी असगति उपस्थित होती है।

अग्निभूति—इसमे असगति क्या है ? धार्मिक लोगो ने अदृष्ट के लिए प्रयत्न किया, अत. उन्हे वह प्राप्त हुआ और उनके ससार मे वृद्धि हुई। हिंसादि

अशुभ क्रिया करने वालो ने तो मासादि दृष्ट फल की ही इच्छा की थी और उन्हे भी उसकी प्राप्ति हो गई तो फिर उनकी ससार वृद्धि क्यो हो ?

भगवान्—असगति क्यो नही ? यदि हिंसादि क्रियाएँ करने वाले सभी मोक्ष ही जाते रहे तो फिर इस ससार मे हिसादि क्रिया करने वाला कोई भी न रहे और हिसादि क्रिया का फल भोगते वाला भी कोई न रहे। केवल दानादि शुभ क्रियाएँ करने वाले और इनका फल भोगने वाले ही ससारमे रह जाएँगे। किन्तु ससार मे यह बात दिखाई नही देती। उसमे उक्त दोनो प्रकार के जीव दृष्टिगोचर होते है। [१६२१]

अनिष्ट रूप अदृष्ट का फल की प्राप्ति के लिए इच्छा पूर्वक कोई भी जीव कोई क्रिया नही करता फिर भी इस ससार मे अनिष्ट फल भोगने वाले अत्यधिक जीव दृष्टिगोचर होते है। अत हमे मानना पडेगा कि प्रत्येक क्रिया का अदृष्ट फल होता ही है। अर्थात् क्रिया शुभ हो अथवा अशुभ, उसका अदृष्ट रूप फल कर्म अवश्य होता है। इससे विपरीत दृष्ट फल की इच्छा करने पर दृष्ट फल की प्राप्ति अवश्य ही हो, ऐसा एकान्त नियम नही है। ऐसी स्थिति का कारण भी पूर्वबद्ध अदृष्ट कर्म ही होता है। साराश यह है कि दृष्ट फल धान्य आदि के लिए कृषि आदि कर्म करने पर भी पूर्व-कर्म के कारण धान्य आदि दृष्ट फल शायद न भी मिले, किन्तु अदृष्ट कर्म रूप फल तो अवश्य मिलेगा ही। कारण यह है कि चेतन द्वारा आरम्भ की गई कोई भी क्रिया निष्फल नही होती [१६२२-२३]

अथवा यह समस्त चर्चा अनावश्यक है। कारण यह है कि तुल्य साधनो की उपस्थिति मे भी फल की विशेषता अथवा तरतमता के कारण कर्म की सिद्धि पहले ही की जा चुकी है।[1] वहाँ यह बात स्पष्ट करदी गई है कि फल विशेष कार्य है. अत इसका कारण अदृष्ट कर्म होना चाहिए, जैसे घट का कारण परमाणु है। इसी कर्म की सिद्धि प्रस्तुत अनुमान मे भी की गई है कि सचेतन-क्रिया का कोई ऐसा अदृष्ट कर्म रूप फल होना चाहिए जो उस क्रिया से भिन्न हो, क्योकि कार्य-कारण मे भेद होता है। यहाँ क्रिया कारण है और कर्म कार्य है, अत. ये दोनो भिन्न-भिन्न होने चाहिएँ। [१६२४]

अग्निभूति—यदि कार्य के अस्तित्व से कारण की सिद्धि होती हो तो शरीर आदि कार्य के मूर्त होने के कारण उसका कारण भी मूर्त ही होना चाहिए।

अदृष्ट होने पर भी कर्म मूर्त है

भगवान्—मैने यह कब कहा कि कर्म अमूर्त है। मैं कर्म को मूर्त ही मानता हूँ, क्योकि उसका कार्य मूर्त है। जैसे परमाणु का कार्य घट मूर्त होने से परमाणु

1. गा० 1663

भी मूर्त है, वैसे कम भी मूर्त ही है। जो कार्य अमूर्त होता है, उसका कारण भी अमूर्त होता है; जैसे ज्ञान का समवायि कारण (उपादान कारण) आत्मा।

अग्निभूति—सुख-दु ख भी कर्म का कार्य है, अत कर्म को अमूर्त भी मानना चाहिए, क्योंकि सुख-दु ख भी अमूर्त है। ऐसी बात स्वीकार करने से कर्म मूर्त और अमूर्त सिद्ध होगा। यह सम्भव नही, क्योंकि इनमे विरोध है। जो अमूर्त है वह मूर्त नही होता और जो मूर्त है वह अमूर्त नही होता।

भगवान्—जब मै इस नियम का प्रतिपादन करता हूँ कि मूर्त कार्य का मूर्त कारण तथा अमूर्त कार्य का अमूर्त कारण होना चाहिए, तब उस कारण का तात्पर्य समवायि अथवा उपादान कारण है, अन्य नही। सुख-दु ख आदि कार्य का समवायि कारण आत्मा है और वह अमूर्त ही है। कर्म तो सुख-दु खादि का अन्न आदि के समान निमित्त कारण है। अत नियम निर्बाध है। [१६२५]

अग्निभूति—कर्म को मूर्त मानने मे यदि कुछ अन्य हेतु भी है, तो बताएँ।

भगवान्—(१) कर्म मूर्त है, क्योंकि उस से सम्बन्ध होने से सुख आदि का अनुभव होता है, जैसे कि खाद्य आदि भोजन। जो अमूर्त हो, उससे सम्बन्ध होने पर सुख आदि का अनुभव नही होता, जैसे कि आकाश। कर्म का सम्बन्ध होने पर आत्मा सुख आदि का अनुभव करती है, अत कर्म मूर्त है।

(२) कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना का अनुभव होता है। जिससे सम्बद्ध होने पर वेदना का अनुभव हो वह मूर्त होता है, जैसे कि अग्नि। कर्म का सम्बन्ध होने पर वेदना का अनुभव होता है, अत वह मूर्त होना चाहिए।

(३) कर्म मूर्त है, क्योंकि आत्मा और उस के ज्ञानादि धर्मों से भिन्न बाह्य पदार्थ से उसमे बलाधान होता है—अर्थात् स्निग्धता आती है। जैसे घडे आदि पर तेल आदि बाह्य वस्तु का विलेपन करने से बलाधान होता है, वैसे ही कर्म मे भी माला, चदन, वनिता आदि बाह्य वस्तु के ससर्ग से बलाधान होता है, अत वह घट के समान मूर्त है।

(४) कर्म मूर्त है, क्योंकि वह आत्मा आदि से भिन्न होने पर परिणामी है, जैसे की दूध। जैसे आत्मादि से भिन्न-रूप दूध परिणामी होने के कारण मूर्त है वैसे ही कर्म मूर्त है। [१६२६–२७]

अग्निभूति—कर्म का परिणामी होना सिद्ध नही, अत इस हेतु से कर्म मूर्त सिद्ध नही हो सकता।

कर्म परिणामी है

भगवान्—कर्म परिणामी है, क्योंकि उसका कार्य शरीर आदि परिणामी

है। जिसका कार्य परिणामी हो, वह स्वय भी परिणामी होता है। जैसे दूध का कार्य दही का परिणामी होने के कारण अर्थात् दही के छाछ रूप मे परिणत होने के कारण उसका कारण रूप दूध भी परिणामी है, वैसे ही कर्म के कार्य शरीर के परिणामी (विकारी) होने के कारण कर्म स्वय भी परिणामी है। अत. कर्म के परिणामी होने का हेतु असिद्ध नही। [१६२८]

अग्निभूति—आपने सुख-दु ख के हेतु रूप कर्म की सिद्धि की और समान साधनो के अस्तित्व मे जिस फल-विचित्रता का अनुभव होता है वह कर्म के बिना सम्भव नही, यह भी बताया[1] किन्तु बादलो मे विचित्र प्रकार के विकार होते हैं और उनका कारण कर्म की विचित्रता नही। इसी प्रकार ससारी जीव के सुख दु.ख की तरतमता रूप विचित्रता भी कर्म की विचित्रता के बिना ही मानने मे क्या दोष है? [१६२९]

कर्म विचित्र है

भगवान्—सौम्य! यदि तुम बाह्य स्कन्धों को विचित्र मानते हो तो आन्तरिक कर्म मे कौनसी ऐसी विशेषता है जिसके कारण दोनो के पुद्गलरूप में समान होने पर भी बादल आदि बाह्य स्कन्धो की विचित्रता को तो तुम सिद्ध मानो और कर्म की विचित्रता को सिद्ध न मानो। वस्तुत जीव के साथ सम्बद्ध कर्म-पुद्गलो को तो तुम्हे विचित्र मानना ही चाहिए, कारण यह है कि अन्य बाह्य पुद्गलो की अपेक्षा आन्तरिक कर्म-पुद्गलो मे यह विशेषता है कि वे जीव द्वारा गृहीत हुए है, इसी कारण वे जीवगत विचित्र सुख-दु ख के कारण भी बनते है। [१६३०]

पुनश्च, जिन पुद्गलो को जीव ने गृहीत नही किया, उन्हे भी यदि तुम विचित्र मानते हो तो जीव द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गलों को तो तुम्हे विशेषरूपेण विचित्र मानना ही चाहिए। जिस प्रकार बिना किसी के प्रयत्न के स्वाभाविक रूपेण बादल आदि पुद्गलों में इन्द्रधनुष आदि रूप जो विचित्रता होती है उसकी अपेक्षा किसी कारीगर द्वारा बनाए गए पुद्गलो मे एक विशिष्ट प्रकार की विचित्रता होती है, उसी प्रकार जीव द्वारा गृहीत कर्म-पुद्गलो मे नाना प्रकार के सुख-दु ख उत्पन्न करने की विशिष्ट प्रकार की परिणाम-विचित्रता क्यों नही होगी? [१६३१]

अग्निभूति—यदि इस प्रकार आप बादलों के विकार के समान कर्म-पुद्गलो मे भी विचित्रता स्वीकार करते है तो मेरा अब यह प्रश्न है कि बादलों की विचित्रता के समान अपने शरीर मे ही स्वाभाविक रूपेण नाना प्रकार के सुख दु ख उत्पन्न करने वाली विचित्रता क्यो न मानी जाए? और यदि बादलो के समान

---

1. गा० 1612–13

शरीर मे भी स्वभावत .उक्त विचित्रता का अस्तित्व हो तो फिर शरीर की विचित्रता के कारण-रूप कर्म की कल्पना की क्या आवश्यकता है ?

भगवान्—तुम यह भूल जाते हो कि मै तुम्हे यह बात समझा ही चुका हूँ कि कर्म भी एक शरीर है। अत. बादलों की विचित्रता के समान यदि शरीर भी विचित्र हो तो तुम्हे शरीर रूप कर्म को भी विचित्र मानना चाहिए। दोनो मे भेद यह है कि- बाह्य औदारिक शरीर की अपेक्षा कार्मण शरीर सूक्ष्मतर है और आभ्यन्तर है। फिर भी बादलो के समान यदि तुम बाह्य शरीर का वैचित्र्य स्वीकार करते हो तो आभ्यन्तर कार्मण शरीर को भी तुम्हे विचित्र मानना चाहिए। [१६३२]

अग्निभूति—बाह्य स्थूल शरीर दिखाई देता है, अत उसका वैचित्र्य स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही हो सकती। किन्तु कार्मण शरीर सूक्ष्म भी है और आभ्यन्तर भी, अत वह दिखाई नही देता, इसलिए उसका अस्तित्व ही असिद्ध है तो उसकी विचित्रता की बात ही कहाँ से होगी ? इसलिए स्थूल शरीर से भिन्न कार्मण शरीर को यदि न माना जाए तो इसमे क्या हानि है ?

कार्मण देह स्थूल शरीर से भिन्न है

भगवान्—मृत्यु के समय आत्मा स्थूल शरीर को सर्वथा छोड देती है। तुम्हारे मतानुसार स्थूल शरीर से भिन्न कोई कार्मण शरीर नही है, अत आत्मा मे नवीन शरीर ग्रहण करने का कोई कारण विद्यमान नही है। ऐसी परिस्थिति मे ससार का अभाव होगा और सभी जीव अनायास ही मुक्त हो जाएँगे। कार्मण शरीर का पृथक् अस्तित्व स्वीकार न करने मे यह आपत्ति है।

यदि तुम यह कहो कि शरीर-रहित जीव भी ससार मे भ्रमण कर सकता है तो फिर तुम्हे ससार निष्कारण मानना पडेगा। अर्थात् यह बात स्वीकार करनी होगी कि ससार का कोई भी कारण नही। फलत मुक्त जीवो का भी पुन भव-भ्रमण स्वीकार करना पडेगा। ऐसी अवस्था मे जीव मोक्ष के लिए प्रयत्न ही क्यो करेगे ? मोक्ष पर उनका विश्वास ही नही होगा। कार्मण शरीर को पृथक् न मानने मे ये सब दोष है। उनके निवारणार्थ उसे स्थूल शरीर से भिन्न मानना चाहिए। [१६३३–३४]

अग्निभूति— किन्तु मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध कैसे होगा ?

मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सम्बन्ध

भगवान्—हे सौम्य ! घट मूर्त है, फिर भी उसका सयोग सम्बन्ध अमूर्त आकाश से होता है, इसी प्रकार मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा से सयोग होता है। अथवा

अँगुली तक मूर्त द्रव्य है, फिर भी आकुचनादि अमूर्त क्रिया से उसका समवाय सम्वन्ध है, इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्वन्ध सिद्ध होता है। [१६३५]

किंवा जीव और कर्म का सम्वन्ध अन्य प्रकार से भी सिद्ध हो सकता है। स्थूल शरीर मूर्त है, परन्तु उसका आत्मा से सम्बन्ध प्रत्यक्ष ही है, अत. भवान्तर मे गमन करते हुए जीव का कार्मण शरीर से सम्बन्ध भी सिद्ध ही स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा नए स्थूल शरीर का ग्रहण सम्भव नही। अन्य भी ऐसे पूर्वोक्त दोष उपस्थित होगे।

अग्निभूति—नए शरीर का ग्रहण कार्मण शरीर से नही, अपितु धर्म और अधर्म से होता है। अत मूर्त कामरण शरीर का अमूर्त आत्मा से सम्वन्ध मानने की आवश्यकता ही नही है।

भगवान्—इस विषय मे यह पूछना है कि वे धर्म और अधर्म मूर्त हैं या अमूर्त ?

अग्निभूति—धर्म व अधर्म अमूर्त है।

भगवान्—तो फिर धर्म व अधर्म का भी अमूर्त आत्मा से कैसे सम्बन्ध होगा ? क्योंकि तुम कहते हो कि मूर्त का अमूर्त से सम्वन्ध नही होता। यदि वे मूर्त हो तो वे कर्म ही है,

अग्निभूति—ऐसी दशा में धर्म व अधम को अमूर्त मानना चाहिए।

धर्म व अधर्म कर्म ही हैं

भगवान्—तो भी धर्म व अधर्म का मूर्त स्थूल शरीर से कैसे सम्वन्ध होगा ? तुम तो यह कहते हो कि मूर्त अमूर्त का सम्वन्ध होता ही नही। पुनश्च यदि धर्माधर्म का शरीर से सम्वन्ध ही न हो तो उसके आधार पर वाह्य शरीर में चेष्टादि भी कैसे सम्पन्न होगी ? अत यदि तुम अमूर्त धर्माधर्म का सम्वन्ध मूर्त शरीर से मानते हो तो अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म से भी सम्वन्ध मान लेना चाहिए। [१६३६]

अग्निभूति—एक के अमूर्त और दूसरे के मूर्त होने पर भी जीव तथा कर्म का सम्वन्ध आकाश तथा अग्नि के समान सम्भव है, यह वात तो मेरी समझ में आ गई है, किन्तु जिस प्रकार आकाश और अग्नि का सम्वन्ध होने पर भी आकाश मे अग्नि द्वारा किसी प्रकार का अनुग्रह या उपघात नही हो सकता, उसी प्रकार अमूर्त आत्मा में मूर्त कर्म द्वारा उपकार अथवा उपघात सम्भव नही, चाहे उन दोनो का सम्वन्ध हो गया हो।

मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा पर प्रभाव है

भगवान्—यह कोई नियम नही कि मूर्त वस्तु अमूर्त वस्तु पर उपकार अथवा उपघात (ह्रास) कर ही न सके। कारण यह है कि हम देखते है कि विज्ञानादि अमूर्त है, परन्तु मदिरा, विष आदि मूर्त वस्तु द्वारा उन का उपघात होता है तथा घी-दूध आदि पौष्टिक भोजन से उनका उपकार होता है, इसी प्रकार मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा पर उपकार अथवा उपघात कर सकते है। मैंने यह सब चर्चा इस बात को सिद्ध करने के लिए की है कि अमूर्त आत्मा से मूर्त कर्म का सम्बन्ध और तत्कृत उपकार-उपघात भी सम्भव है। [१६३७]

संसारी आत्मा मूर्त भी है

किन्तु ससारी जीव वस्तुत एकान्त रूप से अमूर्त नही, वह मूर्त भी है। जैसे अग्नि और लोहे का सम्बन्ध होने पर लोहा अग्नि रूप हो जाता है, वैसे ही ससारी जीव तथा कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन होने के कारण जीव भी कर्म के परिणाम रूप हो जाता है, अत वह उस रूप मे मूर्त भी है। इस प्रकार मूर्त कर्म से कथचित् अभिन्न होने के कारण जीव भी कथचित् मूर्त ही है। अत मूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म द्वारा होने वाले उपकार अथवा उपघात को स्वीकार करने मे कोई दोष नही है।

तुमने जो यह बात कही है कि आकाश पर मूर्त द्वारा उपकार या उपघात नही होता, वह ठीक नही है। कारण यह है कि आकाश अचेतन है और अमूर्त है, अत. उस पर मूर्त द्वारा उपकार-उपघात नही होता। किन्तु ससारी आत्मा चेतन है तथा मूर्तामूर्त है, अत उस पर मूर्त द्वारा उपकार-उपघात मानने मे कोई हानि नही। [१६३८]

अग्निभूति—आप ने कहा है कि जीव से कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है, यह कैसे ?

जीव-कर्म का अनादि सम्बन्ध

भगवान्—गौतम! देह और कर्म मे परस्पर कार्य-कारण भाव है, अत. कर्म-सन्तति अनादि है। जैसे बीज से अकुर और अकुर से बीज की बीजाकुर-सन्तति अनादि है, वैसे ही देह से कर्म और कर्म से देह के विषय मे समझना चाहिए। इस प्रकार देह और कर्म की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है, अत कर्म-सन्तति अनादि माननी चाहिए। जिनका परस्पर कार्य-कारण भाव होता है, उनकी सन्तति अनादि होती है। [१६३९]

अग्निभूति—मै यह मानता हूँ कि आप की युक्तियो से कर्म का अस्तित्व

सिद्ध होता है, किन्तु वेद मे कर्म का निषेध बताने वाले वाक्यो को याद करने पर मेरा मन पुन दोलायमान हो जाता है कि वस्तुत कर्म है या नही ?

वेद-वाक्यो की संगति

भगवान्—यदि वेद मे कर्म का अभाव ही प्रतिपाद्य हो तो वेद की यह विधि कि 'स्वर्ग मे जाने के इच्छुक व्यक्ति को अग्निहोत्र करना चाहिए' निरर्थक सिद्ध होती है। अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने से आत्मा मे एक अपूर्व (कर्म) उत्पन्न होता है जिसके आधार पर जीव मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग मे जाता है। यदि यह कर्म उत्पन्न न हो तो फिर जीव स्वर्ग मे कैसे जाएगा ? मृत्यु के बाद शरीर तो छूट ही जाता है, अत नियामक कारण के अभाव मे स्वर्ग-गमन कैसे सम्भव होगा ? इसलिए यह बात नही मानी जा सकती कि वेद मे कर्म का निषेध प्रतिपाद्य है।

पुनश्च, ससार मे यह मान्यता है कि दानादि का फल स्वर्ग-प्राप्ति है। यदि कर्म न हो तो इसकी भी सम्भावना नही रहती। अत कर्म का सद्भाव स्वीकार करना चाहिए।[१६४०]

अग्निभूति—यदि ईश्वरादि को जगत् वैचित्र्य का कर्ता मान लिया जाए तो कर्म मानने की आवश्यकता नही रहती।

ईश्वरादि कारण नही

भगवान्—यदि तुम कर्म को न मान कर मात्र शुद्ध जीव को ही देहादि-वैचित्र्य का कर्ता स्वीकार करो, अथवा ईश्वर से इस समस्त वैचित्र्य की रचना मानो, किंवा अव्यक्त-प्रधान, काल, नियति, यदृच्छा (अकस्मात्) आदि से इस वैचित्र्य की ससार मे उत्पत्ति मानो, तो तुम्हारी ये सब मान्यताएँ असगत होगी। [१६४१]

अग्निभूति—इन की असगति का क्या कारण है ?

भगवान्—यदि शुद्ध जीव अथवा ईश्वरादि कर्म (साधन) की अपेक्षा नही है तो वह शरीरादि का आरम्भ ही नही कर सकता, क्योकि आवश्यक उपकरणो या साधनो का अभाव है, जैसे कि कुम्भकार दण्डादि उपकरणो के अभाव मे घटादि की उत्पत्ति नही कर सकता। शरीरादि के आरम्भ मे कर्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपकरण की सम्भावना सिद्ध नही होती। कारण यह है कि यदि गर्भस्थ जीव कर्म-रहित हो तो वह शुक्र-शोणित का भी ग्रहण नही कर सकता और उसके ग्रहण के बिना देह निर्माण शक्य नही। अत यह बात माननी पडती है कि जीव कर्म-रूप उपकरण द्वारा ही देह का निर्माण करता है।

दूसरा अनुमान यह हो सकता है—निष्कर्म जीव शरीरादि का आरम्भ नही कर सकता, क्योकि वह निश्चेष्ट है। जो आकाश के समान निश्चेष्ट होता है वह

शरीर आदि का आरम्भ करने मे असमर्थ है। कर्म-रहित जीव भी चेष्टा से हीन है, अत वह शरीर का आरम्भ नही कर सकता। इसी प्रकार अमूर्तत्व-रूप हेतु से इसी साध्य की सिद्धि की जा सकती है कि निष्कर्म जीव शरीर का आरम्भ करने मे समर्थ नही है। इसी साध्य की सिद्धि के लिए निष्क्रियता, सर्वगतता, अशरीरिता आदि हेतु भी दिए जा सकते है। अर्थात् कर्म माने बिना छुटकारा नही है।

अग्निभूति—हमे यह मानना चाहिए कि शरीर वाला ईश्वर देहादि सभी कार्यो का कर्ता है, कर्म की मान्यता आवश्यक नही है।

भगवान्—तुमने सशरीर ईश्वर का प्रतिपादन किया है, किन्तु इसी विषय मे मेरा प्रश्न है कि वह ईश्वर अपने शरीर की रचना सकर्म होकर करता है अथवा कर्म-रहित होकर ? कर्म-रहित होकर ईश्वर अपने शरीर की रचना नही कर सकता, क्योकि जीव के समान उसके पास भी उपकरणो का अभाव है। इसी प्रकार की अन्य उपर्युक्त युक्तियाँ दी जा सकती है जिनसे यह बात सिद्ध होगी कि अकर्म ईश्वर की शरीर-रचना अशक्य है। यदि तुम यह कहो कि किसी दूसरे ईश्वर ने उसके शरीर की रचना की है तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह अन्य ईश्वर सशरीर है अथवा शरीर-रहित ? यदि वह अशरीर है तो उपकरण-रहित होने के कारण शरीर-रचना नही कर सकता। इस विषय मे ऐसे उपर्युक्त सभी दोष बाधक है। और यदि ईश्वर के शरीर की रचना करने वाले किसी अन्य ईश्वर को तुम सशरीर मानते हो तो वह यदि अकर्म है, अपने शरीर की ही रचना नही कर सकेगा, तब दूसरे की शरीर-रचना का प्रश्न तो उत्पन्न ही नही होगा। उसके शरीर की रचना के लिए यदि तीसरा ईश्वर माना जाए तो उसके सम्बन्ध मे भी पूर्वोक्त प्रश्न-परम्परा उत्पन्न होगी। इस प्रकार अनवस्था होगी। अत ईश्वर को कर्म-रहित मानने से उसके द्वारा देहादि की विचित्रता सम्भव नही है। यदि ईश्वर को कर्म-सहित माना जाए तो फिर यही मानना युक्ति सगत होगा कि जीव ही सकर्म होने के कारण देहादि की रचना करता है।

अपि च, यदि ईश्वर बिना किसी प्रयोजन के ही जीव के शरीर आदि की रचना करता है तो वह उन्मत्त के समान समझा जाएगा और यदि उसका कोई प्रयोजन है तो वह ईश्वर क्यो कहलाएगा ? वह तो अनीश्वर हो जाएगा। ईश्वर को अनादि शुद्ध मानने पर भी शरीर आदि की रचना सम्भव नही है। कारण यह है कि ईश्वर राग-रहित है। राग के बिना इच्छा नही होती और इच्छा के अभाव मे रचना शक्य नही। अत देहादि की विचित्रता का कारण ईश्वर नही, अपितु सकर्म जीव है। इससे कर्म की सिद्धि हो जाती है। [१६४२]

अग्निभूति—'विज्ञानघन एव एतेभ्य '[1] इत्यादि वेद-वाक्यो से ज्ञात होता है

1. गाथा 1553, 1588, 1592-94, 1597 देखे।

कि इस शरीर आदि के वैचित्र्य की उत्पत्ति स्वाभाविक है—स्वभाव से ही होती है, उसके कारण के रूप मे कर्म जैसी किसी वस्तु को मानने की आवश्यकता नही है।

स्वभाववाद का निराकरण

भगवान्—स्वभाव से ही सब की उत्पत्ति स्वीकार करने मे कई दोष है। इसके अतिरिक्त वेद-वाक्यो का तुम जो अर्थ समझते हो, वह ठीक भी नही है, अत. स्वभाव से जगद्-वैचित्र्य मानना अयुक्त है।

अग्निभूति—स्वभाव से उत्पत्ति कैसे सम्भव नही है? किसी ऋषि ने भी कहा है—

"भावो(वस्तुओ)की उत्पत्ति मे किसी भी हेतु की अपेक्षा नही है, यह बात स्वभाववादी कह गए है। वे वस्तु की उत्पत्ति मे 'स्व' को भी कारण नही मानते।

वे कहते है कि कमल कोमल है, काँटा कठोर है, मयूरपिच्छ विचित्ररगी है और चन्द्रिका धवल है, यह विश्व-वैचित्र्य कौन करता है? यह सब कुछ स्वभाव से ही होता है। अत यह बात माननी चाहिए कि जगत् मे जो कुछ कादाचित्क है (कभी होता है कभी नही)उसका कोई हेतु नही है। जैसे उपर्युक्त कथनानुसार काँटे की तीक्ष्णता का कोई हेतु नही, वैसे ही जीव के सुख-दु ख का भी कोई हेतु नही है, क्योकि वे कभी-कभी होते है।"[1]

इस कथन से भी ज्ञात होता है कि विश्व की विचित्रता कर्म से नही अपितु स्वभाव से ही होती है।

भगवान्—तुम्हारी यह मान्यता दूषित है। तुम जिसे स्वभाव कहते हो, मैं तुमसे पूछता हूँ कि वह क्या है? क्या वह वस्तु-विशेष है? तुम अकारणता को स्वभाव कहते हो अथवा वस्तु-धर्म को?

अग्निभूति—स्वभाव को वस्तु-विशेष माने तो इस मे क्या दोष है?

भगवान्—वस्तु-विशेष-रूप स्वभाव का साधक कोई प्रमाण नही है। अतः कर्म के समान तुम्हे स्वभाव को भी स्वीकार नही करना चाहिए। यदि तुम

---

1 'सर्वहेतुनिराशस भावाना जन्म वर्ण्यते। स्वभावादिभिस्ते हि नाहु' स्वमपि कारणम्॥
राजीवकण्टकादीना वैचित्र्य कः करोति हि?। मयूरचन्द्रिकादिर्वा विचित्र केन निर्मित.॥
कादाचित्कं यदत्रास्ति नि शेष तदहेतुकम्। यथा कण्टकतैक्ष्ण्यादि तथा चैते सुखादय॥

ग्राहक प्रमाण के अभाव मे भी स्वभाव का अस्तित्व मानते हो तो उसी न्याय से तुम्हे कर्म का भी अस्तित्व मानना चाहिए।

पुनश्च, तुम स्वभाव को मूर्त मानोगे अथवा अमूर्त ? यदि तुम उसे मूर्त मानते हो तो वह कर्म का ही दूसरा नाम होगा। यदि उसे अमूर्त मानोगे तो वह रस्सी का भी कर्ता नही बन सकता। कारण यह है कि वह आकाश के समान अमूर्त और उपकरण-रहित भी है।

फिर, शरीर आदि मूर्त-पदार्थों का कारण भी मूर्त होना चाहिए। इसलिए यदि स्वभाव को अमूर्त माना जाए तो वह मूर्त शरीरादि का अनुरूप कारण नही बन सकता, अत उसे अमूर्त वस्तु-विशेष-रूप भी नही माना जा सकता।

अग्निभूति—ऐसी दशा मे उसे वस्तु-विशेष न मान कर यह मान लेना चाहिए कि अकारणता ही स्वभाव है।

भगवान्—स्वभाव का अर्थ अकारणता किया जाए तो यह तात्पर्य फलित होगा कि शरीर आदि बाह्य पदार्थों का कोई कारण नही है; किन्तु यदि शरीर आदि का कोई भी कारण न हो तो वे शरीर आदि सभी पदार्थ सर्वत्र सर्वदा एक साथ ही किसलिए उत्पन्न नही होते ? तुम्हें इसका स्पष्टीकरण करना होगा। यदि उनका कोई कारण न हो तो उन सब पदार्थों मे कारणाभाव समान रूप से होगा। अत सभी पदार्थ सर्वत्र सर्वदा एक साथ उत्पन्न हो जाने चाहिए, किन्तु यह अतिप्रसग होगा। फिर, यदि शरीर आदि को अहेतुक माना जाए तो उसे आकस्मिक भी मानना पडेगा। किन्तु ऐसी मान्यता अयुक्त है। कारण यह है कि जो अहेतुक (आकस्मिक) होता है वह बादल के विकार के समान सादि और नियत आकार वाला नही होता। शरीरादि तो सादि और नियत आकार वाले पदार्थ है, अत उन्हे आकस्मिक (अहेतुक) नही मान सकते, उन्हें तो कर्म-हेतुक मानना पडेगा। शरीर आदि पदार्थ सादि और नियत आकार वाले होने के कारण उनका कोई न कोई उपकरण-सहित कर्ता भी मानना चाहिए। गर्भावस्था मे जीव के पास कर्म के अतिरिक्त शरीर-रचना के लिए उपयोगी अन्य कोई उपकरण सम्भव नही है, अत जगत् की विचित्रता स्वभाव-जन्य न मान कर कर्म-जन्य ही माननी चाहिए।

अग्निभूति—फिर तो यही उचित प्रतीत होता है कि स्वभाव का अर्थ वस्तु-धर्म किया जाए।

भगवान्—यदि स्वभाव को आत्मा का धर्म माना जाए तो उस से आकाश के समान शरीर आदि की उत्पत्ति सम्भव नही, क्योकि वह अमूर्त धर्म है। अमूर्त से मूर्त शरीर की उत्पत्ति सिद्ध नही हो सकती। यदि स्वभाव को मूर्त वस्तु का धर्म माना जाए तो ठीक ही है। कारण यह है कि हम भी उसे पुद्गल का पर्याय-विशेष ही मानते हैं। हम जिस वस्तु को सिद्ध कर रहे थे, एक प्रकार से तुमने भी

उसी वस्तु की सिद्धि की है। अत स्वभाववादियो का यह कथन कि कर्म से कुछ नही होता, सब कुछ स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, असगत है।

अग्निभूति—यह सब ठीक है, किन्तु पहले कहे गए वेद-वाक्य का आप क्या स्पष्टीकरण करते हैं ?

वेद-वाक्य का समन्वय

भगवान्—'पुरुष एवेद ग्नि सर्व यद् भूत, यच्च भाव्य, उतामृतत्वस्येशान। यदन्नेनातिरोहति, यदेजति, यद् नैजति, यद् दूरे, यद् अन्तिके, यदन्तरस्य सर्वस्य, यत् सर्वस्यास्य बाह्यत'।[1] इन वेद-वाक्यो का अर्थ तुम इस प्रकार करते हो—पुरुष अर्थात् आत्मा ही है। इसमे 'यत्' (जो) शब्द का तात्पर्य कर्म, ईश्वर, प्रकृति इन सब तत्वो का निषेध है, ऐसा तुम समझते हो। अत उक्त वाक्यो का अर्थ होगा कि इस ससार मे चेतन-अचेतन रूप जो कुछ दिखाई देता है वह सब, जो भूत काल में विद्यमान था—अर्थात् मुक्त की अपेक्षा से जो ससार था वह, जो भावी हैं—अर्थात् ससार की अपेक्षा से जो मुक्ति है, दूसरे शब्दों मे ससार और मुक्ति भी, तथा जो अमृत अथवा अमरण-भाव या मोक्ष का प्रभु है वह भी, जो अन्न से वृद्धि प्राप्त करता है, जो चलता है—अर्थात् पशु आदि, जो अचल है—पर्वतादि, जो दूर है—मेरु आदि, जो निकट है, जो इन चेतन-अचेतन पदार्थो के मध्य मे है, जो इन सब पदार्थो से बाह्य है, वह सब केवल पुरुष है, आत्मा है। इस अर्थ के अनुसार तुम्हारी यह मान्यता है कि वेद पुरुष से भिन्न कर्म का अस्तित्व सिद्ध नही करते।

पुनश्च, वेद मे अन्यत्र भी 'विज्ञानघन एवैतेभ्य. भूतेभ्य'[2] इत्यादि कथन है। इसमे 'एव' शब्द है, अत तुम्हारे मत मे विज्ञान से भिन्न का अस्तित्व अमान्य है।

परन्तु, तुम उक्त वेद-वाक्यो का जो अर्थ करते हो, वह अयथार्थ है। इनका वास्तविक अर्थ यह है—'पुरुष एवेद' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य स्तुति-परक है; अर्थात् इसमे अतिशयोक्ति का प्रयोग कर पुरुष की प्रशसा की गई है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि इसका तात्पर्य केवल शब्दार्थ से फलित न होगा। उक्त वाक्य मे पुरुषाद्वैत के प्रतिपादन का तात्पर्य यह नही है कि ससार मे पुरुष से भिन्न अन्य कर्म आदि का अस्तित्व ही नही है, किन्तु इसका साराश तो यह है कि सभी आत्माएँ समान है, अत जाति-मद को पुष्ट कर ससार मे उच्च-नीच भाव की वृद्धि नही करनी चाहिए।

---

1. गाथा 1580 की व्याख्या देखें।
2 गाथा 1553 की व्याख्या देखें।

सभी वेद-वाक्यों का तात्पर्य समान नही होता। कुछ वेद-वाक्य विधिवाद का प्रतिपादन करते है अर्थात् कर्त्तव्य का बोध कराते हैं; कुछ वेद-वाक्य अर्थवाद प्रधान होते हैं—अर्थात् इष्ट की स्तुति कर उसमे प्रवृत्ति कराने वाले और अनिष्ट की निन्दा कर उससे निवृत्ति कराने वाले होते हैं, तथा कुछ वेद-वाक्य अनुवाद-परक अर्थात् अन्यत्र प्रतिपादित वस्तु का पुन कथन करने वाले होते हैं, उनमे कोई अपूर्व-प्रतिपादन नही होता। 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम.'[1]—स्वर्ग का इच्छुक अग्नि होत्र करे—इस वाक्य का अर्थ विधि-आज्ञा-परक है, यह बात स्पष्ट है। उक्त 'पुरुष एवेद सर्व' तथा इस प्रकार के अन्य वाक्य जैसे कि, 'स सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्नि आत्मा सुप्रतिष्ठितस्तमक्षर वेदयते यस्तु सर्वज्ञ सर्ववित् सर्वमेवाविवेशेति'[2] तथा 'एकया पूर्णयाहूत्या सर्वान् कामानवाप्नोति'[3] इत्यादि—इन सव मे स्तुतिरूप अर्थवाद को ही प्रधान अर्थ मानना चाहिए।

अग्निभूति—'एकया पूर्णया' इत्यादि उक्त वाक्य को विधिवाद-परक क्यों न माना जाए ? उसे स्तुति-परक मानने का क्या कारण है ?

भगवान्—यदि एक ही पूर्ण आहुति से सभी इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती हो तो फिर वेद मे जो नाना प्रकार की विधियाँ बताई गई है वे सव व्यर्थ सिद्ध हो, अत. 'एकया पूर्णया' इत्यादि वाक्य स्तुत्यर्थवाद-रूप ही मानने चाहिए।

पुनश्च, 'एष व प्रथमो यज्ञो योऽग्निष्टोम योऽनेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते सगर्तमभ्यपतत्'[4] इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि यदि अग्निष्टोम से पहले पशुयज्ञ

---

1. गाथा 1553 व 1592 देखें।

2 ऊपर जो पाठ दिया गया है, वह दो भागो मे भिन्न-भिन्न उपनिषदो मे कुछ परिवर्तित रूप मे उपलब्ध होता है। जैसे कि :—

'य सर्वज्ञ. सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित।'
मुण्डक० 2.2 7

तदक्षर वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञ सर्वमेवाविवेशेति'। प्रश्नोपनिषत् 4.10

दोनो पाठो का अर्थ क्रमश निम्न प्रकारेण सम्भव है :—

'जो सर्वज्ञ तथा सर्ववेदी है, जिसकी यह महिमा पृथ्वी तथा दिव्य ब्रह्मलोक मे है वह आत्मा आकाश मे प्रतिष्ठित है।'

'हे सौम्य ! जो उस अक्षर तत्व को जानता है वह सर्वज्ञ है तथा सर्वत्र व्याप्त है।'

3 यह वाक्य तैत्तिरीय ब्राह्मण का है–3.8 10 5; अर्थात् एक पूर्णाहुति से समस्त इष्ट वस्तुओ को प्राप्त कर लेता है।

4. ताण्ड्य महाब्राह्मण 16.1.2 'अग्निष्टोम प्रथम यज्ञ है। जो इस यज्ञ को विना किए दूसरा यज्ञ करता है, वह खड्डे मे पड़ता है।

किया जाए तो वह निन्द्य है। अतः इस प्रकार के वाक्य निन्दा-अर्थवाद के द्योतक है।

'द्वादश मासा सवत्सर'[1] 'अग्निरुष्ण.'[2] 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'[3] इत्यादि वाक्य प्रसिद्ध अर्थ के ही वोधक होने के कारण अनुवाद-प्रधान हैं। इस प्रकार सभी वेद-वाक्यो का एक ही तात्पर्य नही माना जा सकता। अत. उक्त 'पुरुष एवेद' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य स्तुति-परक ही मानना चाहिए।

'विज्ञान एवैतेभ्य.' का भी वास्तविक तात्पर्य यह है कि विज्ञानघन अर्थात् पुरुष (आत्मा) भूतो से भिन्न है। पुरुष कर्ता है और शरीरादि उसका कार्य है, यह मैं वता चुका हूँ। कर्ता व कार्य से भिन्न करण का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। जहाँ कर्तृ-कार्य-भाव हो वहा करण भी होना चाहिए। लुहार व लोहे के गोले मे कर्तृ कार्य-भाव है और सडासी करण है। आत्मा के शरीर-कार्य मे भी करण होना चाहिये, वही कर्म है।

कर्म साक्षात् प्रतिपादक वाक्य वेद मे है यह तुम भी मानते हो, जैसे कि 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पाप. पापेन कर्मणा'[5] अत. कर्म को प्रमाण सिद्ध ही मानना चाहिए। [१६४३]

इस प्रकार जरा-मरण से रहित भगवान् ने जव उस के सशय का निराकरण किया, तव अग्निभूति ने अपने ५०० शिष्यो सहित श्रमण-दीक्षा लेली। [१६४४]।

---

2. वारह महीने का वर्ष कहलाता है, यह उक्त वाक्य का अर्थ है। यह तैत्तिरीय व्राह्मण 1.1 4 का है।
3. अर्थात् अग्नि गरम है, वही 1.1.4
4. अर्थात् शीत की औषधि अग्नि है, वही 1.1.4
5. गाथा 1611 की व्याख्या देखें।

तृतीय गणधर वायुभूति

जीव-शरीर-चर्चा

इन्द्रभूति तथा अग्निभूति इन दोनो के दीक्षित होने का समाचार सुन कर तीसरे वायुभूति उपाध्याय ने मन मे यह विचार किया कि, मैं जाऊँ, वदन करूँ और वन्दना करके पर्युपासना करूँ। ऐसा विचार कर उसने भगवान् की ओर जाने के लिए प्रस्थान किया। [१६४५]

उसने यह भी सोचा कि इन्द्रभूति व अग्निभूति जिनके अभी-अभी शिष्य हुए है, ऐसे तीन लोक से वन्दित महाभाग्यशाली भगवान् के पास अवश्य जाना चाहिए। मै उनके पास जाऊँ, उनकी वन्दना व उपासना आदि द्वारा निष्पाप बनूँ और उनसे अपने सशय कर कथन का सशय-रहित बनूँ। इस प्रकार विचार करता हुआ वह इष्ट-स्थान पर जा पहुँचा। [१६४६ – ४७]

उसे आया हुआ देख कर जन्म-जरा-मरण से रहित भगवान् ने सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी होने के कारण उसके नाम व गोत्र का उच्चारण करते हुए उसका स्वागत किया और कहा—'वायुभूति गौतम !'। [१६४८]

जीव व शरीर एक ही है, यह संशय

किन्तु भगवान् के उसे इस प्रकार स्पष्ट बुलाने से, उनकी आन्तरिक ज्ञान-शक्ति से, शारीरिक सौन्दर्य से तथा समवसरण की शोभारूप बाह्य शक्ति से वायु-भूति को उलटा सकोच हुआ, अत वह भगवान् के सम्मुख अपना सशय कह नही सका। वह चकित हो कर मूक-सा खडा रहा। उसकी द्विविधा को दूर करने के लिए भगवान् ने ही स्वय उसे कहा—आयुष्मन् वायुभूति ! तुम्हारे मन मे यह सशय है कि जीव और शरीर एक ही है अथवा दोनो भिन्न-भिन्न है, फिर भी तुम मुझे पूछ नही रहे हो। किन्तु तुम्हे वेद-पदो का सच्चा अर्थ ज्ञात नही है, इसीलिए ऐसा सशय रहा करता है। उन पदो का अर्थ यह है। [१६४९]

वेद-पदो का सम्यग् अर्थ बताने से पहले मैं तुम्हारी शका को ही स्पष्ट कर दूँ।

तुम यह बात मानते हो कि पृथ्वी, जल, तेज, और वायु इन चार भूतो के समुदाय से चेतना उत्पन्न होती है। जिस प्रकार मद्य के प्रत्येक पृथक्-पृथक् अग (अवयव) जैसे कि धातकी के फूल, गुड, पानी इन मे किसी मे भी मद-शक्ति दिखाई

नही देती, फिर भी जब इन सब का समुदाय बन जाता है तब उन मे से मद-शक्ति की उत्पत्ति साक्षात् दिखाई देती है, उसी प्रकार यद्यपि पृथ्वी आदि किसी भी भूत मे चैतन्य-शक्ति दिखाई नही देती, तथापि जब उन का समुदाय होता है तब चैतन्य का प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाता है। [१६५०]

पुनश्च, जिस प्रकार मद के पृथक्-पृथक् अवयवो मे मद-शक्ति अदृष्ट है, किन्तु उनका समुदाय होने पर वह उत्पन्न हो जाती है और कुछ समय तक स्थिर रह कर कालान्तर मे विनाश की सामग्री उपस्थित होने पर विनष्ट भी हो जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक भूत मे चैतन्य अदृष्ट है किन्तु उनका समुदाय होने पर चैतन्य की उत्पत्ति होती है और कुछ समय तक विद्यमान रहने के बाद कालान्तर मे विनाश की सामग्री का आविर्भाव होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि, चैतन्य भूतो का धर्म है।

धर्म और धर्मी का तो अभेद है, क्योकि दोनों का भेद मानने पर घट-पट के समान धर्म-धर्मी भाव सम्भव नही होगा, अत भूत-समुदाय रूप शरीर का धर्म यदि चैतन्य (जीव) हो तो शरीर ही (जीव) है, यह मान्यता फलित होती है; किन्तु वेद के 'न ह वै सशरीरस्य'[1] इत्यादि वाक्यो से यह ज्ञात होता है कि जीव शरीर से भिन्न है। अत तुम्हे सशय है कि जीव शरीर से भिन्न है या अभिन्न ? [१६५१]

वायुभूति—आपने मेरा सशय ठीक ही बताया है। कृपया उसका निवारण करे।

संशय का निराकरण

भगवान्—तुम्हारा यह सशय अयुक्त है, क्योकि चैतन्य भूतों के समुदाय मात्र से उत्पन्न नही हो सकता। वह स्वतन्त्र है, क्योकि प्रत्येक भूत मे उसकी सत्ता नही है। जिस वस्तु का प्रत्येक अवयव मे अभाव हो, वह समुदाय से भी उत्पन्न नही हो सकती। जैसे रेत के प्रत्येक कण मे तेल नही है, इसलिए रेत के समुदाय से भी तेल नही निकलता। इसी प्रकार पृथ्वी आदि अलग-अलग भूतो मे चैतन्य न होने के कारण भूत-समुदाय से भी चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव नही है। जो कुछ समुदाय से उत्पन्न हो सकता है, वह प्रत्येक मे सर्वथा अनुपलब्ध नही हो सकता। यदि तिलो के समुदाय से तेल की प्राप्ति होती है तो प्रत्येक तिल मे भी वह उपलब्ध है। किन्तु चेतना प्रत्येक भूत मे उपलब्ध नही होती, अत उसे भूत-समुदाय से प्रादुर्भूत नही माना जा सकता। परन्तु अर्थापत्ति से यह बात माननी चाहिए कि भूत-समुदाय से सर्वथा भिन्न कोई ऐसा कारण उस समुदाय से सम्बद्ध है जिसके कारण उस समुदाय द्वारा चेतना आविर्भूत होती है। इसीलिए जीव देह से भिन्न है।

1. गाथा 1553, 1591 देखें।

वायुभूति—आपने यह नियम बताया है कि जो प्रत्येक अवस्था मे अनुपलब्ध होता है वह समुदायावस्था मे भी अनुपलब्ध होता है। किन्तु यह नियम व्यभिचारी है, क्योकि मद्य के अगो मे प्रत्येकावस्था मे मद की उपलब्धि नही होती। किन्तु समुदायवस्था मे मद की उत्पत्ति हो जाती है, इसी प्रकार प्रत्येक भूत मे चैतन्य की अनुपलब्धि होने पर भी वह भूत-समुदाय से उत्पन्न हो सकता है। भूत से भिन्न कारण मानने की आवश्यकता नही रहती।

जो प्रत्येक में नहीं होता, वह समुदाय में नही होता

भगवान्—तुम्हारा यह कहना अयुक्त है कि मद्य के अगो मे प्रत्येकावस्था मे मद अनुपलब्ध है। वस्तुत धातकी के फूल, गुड आदि मद्य के प्रत्येक अग मे मद की न्यून या कुछ अधिक मात्रा विद्यमान है ही, इसीलिए वह समुदाय मे उत्पन्न होती है। जो प्रत्येक मे न हो, वह समुदाय मे भी सम्भव नही। [१६५२]

वायुभूति—भूतो मे भी मद्य के अगो के समान प्रत्येक मे भी चैतन्य की मात्रा है, अत. वह समुदाय मे भी उत्पन्न होती है, इस बात को मानने मे क्या आपत्ति है ?

प्रत्येक भूत मे चैतन्य नहीं

भगवान्—यह बात मानी नही जा सकती, क्योकि मद्य के प्रत्येक अग मे मद-शक्ति दिखाई देती है, जैसे कि धातकी के फूल मे चित्त भ्रम करने की, गुड, अगूर, गन्ने के रस आदि मे तृप्त करने की और पानी मे प्यास शान्त करने की शक्ति है। यदि प्रत्येक भूत मे चैतन्य-शक्ति का सद्भाव हो तो वह समुदाय मे भी प्रकट हो, किन्तु प्रत्येक भूत मे वैसी कोई शक्ति मद्यागो के समान प्रत्यक्ष दिखाई नही देती, अत यह नही कहा जा सकता कि भूत-समुदाय-मात्र से चैतन्य उत्पन्न होता है। [१६५३]

वायुभूति—मद्य के प्रत्येक अग मे भी यदि मद-शक्ति न माने तो क्या दोष है ?

भगवान्—यदि भूतो मे चैतन्य के समान मद्य के भी प्रत्येक अग मे मद-शक्ति न हो तो फिर यह नियम नही बन सकता कि मद्य के धातकी के फूल आदि तो कारण हैं और अन्य पदार्थ उसके कारण नही है। न ही यह व्यवस्था स्थिर रह सकती है कि इस कारण समुदाय से मद उत्पन्न होता है और इससे नहीं। कोई भी राख, पत्थर, छाणे आदि वस्तुएँ भी मद का कारण बन जाएँगी और किन्ही चीजो के समुदाय से भी मद की उत्पति हो जाएगी, किन्तु ऐसा नही होता। अत मद के प्रत्येक अग मे मद-शक्ति माननी ही चाहिए। [१६५४]

वायुभूति—जैसे मद्यागो के समुदाय मे मद का आविर्भाव होने के कारण समुदाय के प्रत्येक अग मे भी मद-शक्ति माननी पडती है, अन्यथा उन के समुदाय मे भी मद का आविर्भाव नही हो सकता, वैसे ही केवल भूतो के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है, इसलिए प्रत्येक भूत मे भी चैतन्य शक्ति माननी चाहिए। किसी पृथक् चेतन को मानने की आवश्यकता नही।

भगवान्—तुम्हारा यह कथन असिद्ध है कि केवल भूतो के समुदाय से चैतन्य उत्पन्न होता है, क्योकि उस समुदाय मे केवल भूत ही नही है किन्तु आत्मा भी है, उसी से ही भूतो के समुदाय मैं चैतन्य प्रकट होता है। कारण यह है कि चैतन्य समुदायान्तर्गत आत्मा का धर्म है। तुम जिसे भूत-समुदाय कहते हो, यदि उसमे आत्मा का समावेश न हो तो चैतन्य कभी भी प्रकट नही हो सकता। भूतो के समुदाय-मात्र से चैतन्य प्रकट हो जाता हो तो मृत-शरीर मे भी उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु उसमे चैतन्य का अभाव स्पष्ट सिद्ध है। अत. चैतन्य को भूत मात्र से उत्पन्न नही माना जा सकता।

वायुभूति—मृत-शरीर मे वायु नही है, अत वह सब भूतो का समुदाय नही होता। इसीलिए उसमे चैतन्य का अभाव है।

भगवान्—मृत-शरीर मे नली द्वारा वायु प्रविष्ट की जाए तो भी उसमे चैतन्य की उत्पत्ति नही होती।

वायुभूति—मृत-शरीर मे अग्नि का भी अभाव है, तो फिर चैतन्य की उपलब्धि कैसे हो ?

भगवान्—मृत-शरीर मे अग्नि की पूर्ति करने पर भी चैतन्य उपलब्ध नही होता।

वायुभूति—मृत-शरीर मे विशिष्ट प्रकार की वायु और अग्नि का अभाव है, अत चैतन्य की प्राप्ति नही होती।

भगवान्—यह वैशिष्ट्य कोई अन्य नही किन्तु आत्मसहित वायु और अग्नि हो तो वे विशिष्ट वायु और विशिष्ट अग्नि कहलाती है। इस प्रकार तुमने दूसरे शब्दो मे आत्मा का ही प्रतिपादन कर दिया है। [१६५५]

वायुभूति—भूत-समुदाय मे चैतन्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, फिर भी आप कहते है कि वह भूत-समुदाय का धर्म नही है। आपका यह कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध है। जैसे घट के रूपादि गुणो के प्रत्यक्ष होने पर भी कोई यह कहे कि रूपादि गुण घट के नही है, तो उसका यह कथन प्रत्यक्ष-विरुद्ध होगा।

भगवान्—गौतम ! प्रत्यक्ष का विरोध नही है। क्योकि उस प्रत्यक्ष का

वाधक आत्मसाधक अनुमान विद्यमान है। जैसे पानी तथा भूमि के समुदाय-मात्र से हरे घास की उत्पत्ति देख कर कोई कहे कि यह घास पृथ्वी और पानी के समुदाय-मात्र से ही होती है तो उसका यह प्रत्यक्ष बीज-साधक अनुमान से वाधित हो जाता है, वैसे ही चैतन्य को केवल भूतो का धर्म प्रतिपादन करने वाला प्रत्यक्ष भी भूतो से सर्वथा भिन्न ऐसी आत्मा को सिद्ध करने वाले अनुमान से वाधित हो जाता है।

अपि च, समुदाय में चैतन्य देखकर तुम यह कहते हो कि प्रत्येक भूत मे भी चैतन्य है, किन्तु तुम्हारा यह कथन प्रत्यक्ष-विरुद्ध सिद्ध होता है, क्योकि प्रत्येक मे चैतन्य दिखाई नही देता। [१६५६]

वायुभूति—आप कौन से अनुमान से आत्मा का भूतो से भिन्न सिद्ध करते हैं?

भूत-भिन्न आत्मा का साधक अनुमान

भगवान्—भूत अथवा इन्द्रियो से भिन्न-स्वरूप किसी भी पदार्थ का धर्म चेतना है, क्योंकि भूत अथवा इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध पदार्थ का स्मरण होता है, जैसे कि पाँच झरोखो से उपलब्ध वस्तु का स्मरण होने से झरोखो से भिन्न स्वरूप देवदत्त का धर्म चेतना है। तात्पर्य यह है कि जैसे पाँच झरोखो से क्रमश देखने वाला देवदत्त एक ही है और वह झरोखों से भिन्न है, क्योकि वह पाँचो झरोखो द्वारा देखी गई चीजों का स्मरण करता है, वैसे ही पाँचों इन्द्रियो द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण करने वाला भी इन्द्रियों से भिन्न कोई पदार्थ होना चाहिए। वही आत्मा है जो भूतो अथवा इन्द्रियों से भिन्न है। जो भूत-समुदाय से भिन्न न हो अर्थात् अभिन्न हो, वह एक होने से अनेक द्वारा उपलब्ध अर्थ का स्मरण भी नही कर सकता, जैसे कि किसी एक शब्दादि को ग्रहण करने वाला मानसिक-ज्ञान-विशेष। यह ज्ञान-विशेष अपने ही विषय का ग्रहण करता है किन्तु अन्य विपय का स्मरण नही कर सकता। फिर भी यदि इस स्मरणकर्ता को देह अथवा इन्द्रियो से अभिन्न माना जाए तो पाँच झरोखों से देख कर सव का स्मरण करने वाले देवदत्त को भी झरोखे से अभिन्न मानना चाहिए। [१६५७]

वायुभूति—इन्द्रियो के द्वारा नही किन्तु इन्द्रियाँ ही स्वय उपलब्धि की कर्ता हैं। अत इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को मानने की आवश्यकता नही है।

इन्द्रियाँ आत्मा नहीं

भगवान्—इन्द्रिय व्यापार के वन्द होने पर भी अथवा इन्द्रियो का नाश हो जाने पर भी इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध वस्तु का स्मरण होता है और इन्द्रिय व्यापार के अस्तित्व मे भी अन्यमनस्क को कदाचित् वस्तु की उपलब्धि भी नहीं होती, अत. यह मानना चाहिए कि घटादि पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों को नही होता

प्रत्युत उन से भिन्न किसी अन्य पदार्थ को होता है; जैसे कि पाँच झरोखो से देखने वाला देवदत्त उन पाँच झरोखो से भिन्न है। झरोखे का नाश हो जाने पर भी देवदत्त उसके द्वारा देखी गई वस्तु को याद कर सकता है और झरोखे के अस्तित्व मे भी यदि देवदत्त का मन दूसरी ओर हो तो वस्तु का परिज्ञान नही होता। अतः उपलब्धि-कर्ता झरोखा नही किन्तु उससे भिन्न देवदत्त है। इसी प्रकार इन्द्रियो से भिन्न आत्मा उपलब्धि-कर्ता है, इन्द्रियाँ उस के उपकरण है। ऐसी बात न हो तो अन्ध और बधिर को देखी हुई और सुनी हुई वस्तु का कभी स्मरण नही हो। [१६५८]

दूसरा अनुमान भी उपस्थित किया जा सकता है—आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है, क्योकि वह एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत की गई वस्तु का दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण करता है। अर्थात् वह नेत्रेन्द्रिय से घडे को देख कर उस का ग्रहण हाथ द्वारा (स्पर्शनेन्द्रिय) द्वारा करता है। जैसे एक खिडकी से देखे गए घट को देवदत्त दूसरी खिडकी से ग्रहण करता है, इसलिए देवदत्त दोनो खिडकियो से भिन्न है, वैसे ही आत्मा भी इन्द्रियो से भिन्न है। फिर, वस्तु एक इन्द्रिय से ग्रहण की जाती है परन्तु विकार दूसरी इन्द्रिय मे होता है, इससे भी मानना पड़ता है कि आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है। यह तो अपने अनुभव की बात है कि हम आँखो द्वारा खट्टी वस्तु देखते है किन्तु विकार जिह्वा मे होता है, उस मे पानी छूटता है, इसलिए भी आत्मा को इन्द्रियो से भिन्न मानना चाहिए। [१६५९]

अपि च, जीव इन्द्रियो से भिन्न है, क्योकि वह सभी इन्द्रियों द्वारा गृहीत अर्थ का स्मरण कर सकता है। जिस प्रकार अपनी इच्छा से रूप आदि एक-एक गुण के ज्ञाता पॉच पुरुषो से इन पाँचो के रूपादि ज्ञान को जानने वाला पुरुष भिन्न है, उसी प्रकार पॉचो इन्द्रियो से उपलब्ध अर्थ का स्मरण करने वाला पाँचो इन्द्रियो से भिन्न होना चाहिए। वही आत्मा है।

वायुभूति—आपने यह दृष्टान्त दिया है कि पाँच पुरुष रूपादि का ग्रहण करते है, इससे यह बात सिद्ध होगी कि पॉच इन्द्रियाँ भी रूपादि का ग्रहण करतीं है, किन्तु यह बात आपको ही अनिष्ट है। कारण यह है कि आप इन्द्रियो को ग्रहण कर्ता नही किन्तु ग्रहण मे साधन-रूप मानते है।

इन्द्रियाँ ग्राहक नहीं

भगवान्—मैंने दृष्टान्त मे एक विशेषण का कथन किया था, उसका तुम्हें ध्यान नही रहा, इसीलिए ऐसी शका हुई है। मैंने कहा था कि पॉच पुरुष अपनी इच्छा से रूपादि को जानते है। इन्द्रियों मे इच्छा सम्भव नही, अत वे ग्राहक नहीं हो सकती। इन्द्रियाँ उपलब्धि मे सहकारी है, अत. उपचार से यदि तुम उन्हे ग्राहक मानो तो इस मे कोई दोष नही है।

अतीन्द्रिय वस्तु की सिद्धि में प्रमाण

पुनश्च, मैंने तुम्हें युक्ति से समझाने का प्रयत्न किया है, किन्तु आत्मा जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय केवल युक्ति से नही हो सकता, अत उस मे युक्ति का एकान्त आग्रह निरर्थक है। कहा भी है कि 'अतीन्द्रिय अर्थो के सद्भाव को सिद्ध करने वाले आगम और उपपत्ति ये दोनों पूर्णरूपेण प्रमाण है।'[1] [१६६०]

भूत-भिन्न आत्मा का साधक अनुमान

भूतो से सर्वथा भिन्न आत्मा को सिद्ध करने के लिए एक अन्य अनुमान यह है :—बाल-ज्ञान ज्ञानान्तर-पूर्वक होता है,क्योकि वह ज्ञान है। जो-जो ज्ञान होता है वह ज्ञानान्तर-पूर्वक होता है, जैसे कि युवक का ज्ञान। बाल-ज्ञान भी अन्य ज्ञान-पूर्वक ही होना चाहिए। वह जिस ज्ञान-पूर्वक है—अर्थात् बालक के ज्ञान से पहले जो ज्ञान है वह शरीर से तो भिन्न ही होना चाहिए। कारण यह है कि पूर्वभवीय शरीर का त्याग होने पर भी वह ज्ञान इस भव मे बालक के ज्ञान का कारण बनता है। वह ज्ञान गुण होने के कारण निराधार नही रह सकता, उसका कोई गुणी होना चाहिए। त्यक्त-शरीर गुणी नही हो सकता, अतः आत्मा को ही उस ज्ञान का गुणी स्वीकार करना चाहिए। इससे शरीर ही आत्मा है ऐसा नही माना जा सकता, आत्मा को शरीर से भिन्न ही मानना चाहिए।

वायुभूति—उक्त अनुमान मे आपने यह हेतु दिया है कि 'क्योकि वह ज्ञान है' प्रतिज्ञा मे भी बाल-ज्ञान शब्द मे ज्ञान है, अत यह हेतु प्रतिज्ञात पदार्थ का एक-देश होने के कारण असिद्ध मानना पड़ेगा। कारण यह है कि प्रतिज्ञात पदार्थ स्वय असिद्ध होता है।

भगवान्—हेतु रूप मे ज्ञान सामान्य का कथन है और प्रतिज्ञा मे ज्ञान विशेष का, अत उक्त हेतु दोष सम्भव नही है। वर्णात्मक शब्द अनित्य है, क्योकि वह शब्द है, मेघ के शब्द के समान। इस अनुमान मे जैसे शब्द-सामान्य को हेतु बना कर शब्द-विशेष को प्रतिज्ञा मे स्थान दिया है किन्तु हेतु असिद्ध नही, वैसे ही प्रस्तुत मे भी बाल-विज्ञान रूप विशेष ज्ञान का निर्देश प्रतिज्ञा मे है और ज्ञान सामान्य का निर्देश हेतुरूप मे है, अत हेतु को असिद्ध नही कह सकते। सामान्य सिद्ध हो और विशेष असिद्ध हो तो सामान्य के बल पर विशेष को भी सिद्ध किया जा सकता है। शब्द अनित्य है, क्योंकि वह शब्द है। इस प्रकार के अनुमान में प्रतिज्ञान्तर्गत शब्द और हेतु-रूप शब्द ये दोनो सामान्य शब्द है। इससे ऐसे अनुमान

---

1 "आगमश्चोपपत्तिश्च सपूर्णं दृष्टिकारणम्। अतीन्द्रियाणामर्थाना सद्भावप्रतिपत्तये॥

मे हेतु असिद्ध कहा जाएगा। किन्तु मैंने जो अनुमान दिया है, उसमे वैसा नही, है, अतः हेतु असिद्ध नही माना जा सकता। [१६६१]

एक और अनुमान भी है—वालक मे जो स्तनपानाभिलाषा दृष्टिगोचर होती है वह अन्य अभिलापा-पूर्वक है। कारण यह कि वह अनुभव रूप है। जिस प्रकार साम्प्रतिक अभिलाषा एक अनुभव है, अत. साम्प्रतिक अभिलाषा के पूर्व भी कोई अभिलाषा थी, उसी प्रकार वालक की प्रथम अभिलापा के पूर्व भी किसी अभिलापा का अस्तित्व होना चाहिए।

अथवा उक्त अनुमान का प्रयोग इस प्रकार भी किया जा सकता है—वालक की प्रथम स्तनपानाभिलाषा अन्य अभिलापा-पूर्वक है, क्योकि वह अभिलापा है।[1] जो भी अभिलापा होती है वह अन्य अभिषाला-पूर्वक होती है; जैसे साम्प्रतिक अभिलाषा। वालक के मन मे जो प्रथम अभिलाषा होती है वह भी अभिलाषा है, अत उस से पहिले किसी अभिलापा का अस्तित्व होना चाहिए। यह अन्य अभिलाषा अवश्यमेव शरीर से भिन्न होगी, क्योंकि शरीर का परित्याग होने पर भी वह विद्यमान रहती है और वालक की प्रथम स्तनपानाभिलापा का कारण वनती है। पुनश्च, अभिलापा भी एक ज्ञान गुण ही है, अत. उसका कोई गुणी होना चाहिए। नष्ट-शरीर गुणी नही हो सकता, इसलिए शरीर से भिन्न विद्यमान आत्मा को ही उस अभिलापा-रूप गुण का स्वतन्त्र आधार स्वीकार करना चाहिए।

वायुभूति—'क्योकि वह अभिलापा है'—आपका यह हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि मोक्ष सम्वन्धी अभिलाषा मोक्षाभिलाषा पूर्वक नही होती, तथापि वह अभिलाषा तो है। अतः यह कोई नियम नही कि अभिलाषा अभिलापा-पूर्वक ही होती है।

भगवान्—उक्त नियम का तात्पर्य यह नही है कि जैसी अभिलाषा हो उसके पूर्व वैसी ही अभिलापा हानी चाहिए। भाव यह है कि अभिलाषा के पूर्व वैसी अथवा अन्य प्रकार की कोई अभिलापा अवश्य होनी चाहिए। अर्थात् सामान्य अभिलापा विवक्षित है, विशेष नही। अत मोक्षाभिलाषा चाहे मोक्षाभिलापा-पूर्वक न हो, फिर भी उसके पूर्व किसी न किसी प्रकार की अभिलापा का अस्तित्व अवश्य था, इसमे सन्देह नही। अत. उक्त हेतु व्यभिचारी नही है। [१६६२]

एक अनुमान यह भी है—वाल-शरीर देहान्त-रपूर्वक है, क्योकि वह इन्द्रियो से युक्त है। जो इन्द्रियादि से युक्त होता है वह शरीरान्तर-पूर्वक होता है, जैसे कि

---

1 प्रस्तुत हेतु मूल मे नही है, टीकाकार ने निर्दिष्ट किया है।

युवक का शरीर बाल-शरीर पूर्वक है। इस बाल-शरीर से पहले जो शरीर था वह पूर्वभवीय औदारिक शरीर नही हो सकता, क्योंकि वह तो नष्ट हो चुका था। इसलिए उसके द्वारा प्रस्तुत बाल-शरीर का निर्माण सम्भव नही। अत. बाल-शरीर के कारण-रूप कार्मण शरीर को मानना चाहिए। यह कार्मण शरीर अकेला नही हो सकता, इसीलिए यह जिसका शरीर है उस शरीरी आत्मा को स्वीकार करना चाहिए। वह आत्मा एक भव से दूसरे भव मे जाती है और शरीर से भिन्न भी है। अत यह बात असिद्ध है कि शरीर ही आत्मा है। [१६६३]

एक और अनुमान भी है—बालक के सुख-दु खादि अन्य सुख-दु खादि पूर्वक हैं क्योकि वे अनुभवात्मक है, जैसे कि साम्प्रतिक सुख-दु ख। जिसके सुख-दु खादि अनुभव बालक के सुख-दु ख के पूर्व है, वह पूर्वभवीय शरीर से पृथक् होना चाहिए, क्योकि पूर्वभवीय शरीर नष्ट हो जाने के कारण बालक के सुख-दु ख का हेतु नही बन सकता। उक्त अनुभव गुण रूप है, अत उनके गुणी आत्मा को शरीर से भिन्न मानना चाहिए। [१६६४]

पुनश्च, शरीर तथा कर्म का परस्पर हेतु-हेतुमद्भाव (कार्य-कारण-भाव) होने से बीज तथा अकुर के समान इन दोनो की सन्तान अनादि है।[1] [१६६५]

इसीलिए शरीर के कार्य रूप तथा कर्म के करण रूप होने से, इन दोनो से भिन्न किसी कर्ता को स्वीकार करना चाहिए। दण्ड और घट का करण-कार्य-भाव है, अत इन दोनो से भिन्न कुम्भकार को कर्ता माना जाता है।[2] [१६६६]

पुनश्च, घट के समान शरीर प्रतिनियत आकार वाला है, अत उसका कोई कर्ता होना चाहिए। वही आत्मा है।

जिस प्रकार दण्डादि करण का अधिष्ठाता कुम्भकार है, उसी प्रकार करण रूप इन्द्रियो का भी कोई अधिष्ठाता होना चाहिए। वही आत्मा है। [१६६७]

इन्द्रिय तथा विषय मे आदान-आदेय-भाव सम्बन्ध है—अर्थात् इन्द्रियो की सहायता से विषयो का ग्रहण होता है। अत जिस प्रकार सण्डासी और लोहे का आदान-आदेय सम्बन्ध होने के कारण आदाता (ग्रहण करने वाले) के रूप मे लोहकार-अवश्यभावी है, उसी प्रकार इन्द्रिय और विषय के आदान-आदेय भाव मे आत्मा को आदाता मानना चाहिए।[3] [१६६८]

---

1 यह गाथा पहले भी आ चुकी है—स० 1639, इसके बाद भी आएगी—1813

2 यह गाथा भी पहले आ चुकी है—1567, वहाँ यह पाठ है– देहस्सत्थि विधाता'

3 यह गाथा भी पहले आई है—1568

इसके अतिरिक्त देह भोग्य है, अत उसका कोई भोक्ता होना चाहिए, जैसे कि भोजन का भोक्ता पुरुष है। देह भी भोग्य है, अत. जो उसका भोक्ता है वही आत्मा है।[1]

घट सघातादि रूप है, अत. उसका कोई अर्थी अथवा स्वामी है। इसी प्रकार शरीर भी सघातादि रूप है। अत इसका कोई स्वामी होना चाहिए। जो स्वामी है वह आत्मा है। [१६६९]

वायुभूति—आपने कर्ता आदि के रूप में आत्मा की सिद्धि तो की, किन्तु आपके इन अनुमानो से आपको इष्ट ऐसे अमूर्त आत्मा की सिद्धि नही होती, वह तो कुम्भकार आदि के समान मूर्त सिद्ध होती है। अत आपने इष्ट-साध्य से विरुद्ध की सिद्धि की।

भगवान्—प्रस्तुत मे ससारी आत्मा की सिद्धि इष्ट है, अत साध्य से विरुद्ध की सिद्धि नही हुई। कारण यह है कि ससारी आत्मा कथचित् मूर्त भी है।[2] [१६७०]

वायुभूति—जीव चाहे शरीर से भिन्न सिद्ध हो जाए, फिर भी शरीर के समान क्षणिक होने के कारण वह शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है। अत उसे शरीर से भिन्न सिद्ध करने मे क्या लाभ है?

जीव क्षणिक नहीं

भगवान्—बौद्ध मत के अनुसरण से ऐसी शका की उत्पत्ति स्वाभाविक है, किन्तु ससार मे सभी पदार्थ क्षणिक नही है। द्रव्य नित्य है, केवल उसके परिणाम अथवा पर्याय ही अनित्य या क्षणिक है। अत शरीर के साथ जीव का नाश नही माना जा सकता। कारण यह है कि पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले जीव का उसके पूर्वभव के शरीर का नाश हो जाने पर भी, क्षय नही माना जा सकता। अन्यथा पूर्वभव का स्मरण कैसे होगा? जिस प्रकार बाल्यावस्था का स्मरण करने वाली वृद्ध की आत्मा का बाल्यावस्था मे सर्वथा नाश नही होता, क्योंकि वह बाल्यावस्था का स्मरण करती है, उसी प्रकार जीव पूर्व जन्म का स्मरण करता है। अत पूर्व जन्म में शरीर के साथ उस का सर्वथा नाश सम्भव नही है। अथवा जिस प्रकार विदेश मे गया हुआ कोई व्यक्ति स्वदेश की बातो का स्मरण करता है, अत उसे नष्ट नही माना जा सकता, उसी प्रकार पूर्व जन्म का स्मरण करने वाले व्यक्ति का भी सर्वथा नाश स्वीकार नही किया जा सकता।

---

1 यह गाथा भी पहले आई है—1569

2 यह गाथा भी पहले आई है—1570

वायुभूति—पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षण के सस्कार उत्तर-उत्तर विज्ञान-क्षण मे सक्रान्त होते है, अत विज्ञानक्षणरूप जीव को क्षणिक स्वीकार करने पर भी स्मरण की सम्भावना है।

विज्ञान भी सर्वथा क्षणिक नहीं

भगवान्—यदि विज्ञान-क्षण का सर्वथा निरन्वय नाश माना जाए तो पूर्व-पूर्व विज्ञान-क्षण से उत्तर-उत्तर विज्ञान-क्षण सर्वथा भिन्न ही होगे। ऐसी स्थिति मे पूर्व विज्ञान द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण उत्तर विज्ञान मे सम्भव नही। देवदत्त द्वारा अनुभूत वस्तु का स्मरण यज्ञदत्त को नही होता। पूर्वभव का स्मरण तो होता है, अत जीव को सर्वथा विनष्ट नही माना जा सकता। [१६७१]

वायुभूति—जीव रूप विज्ञान को क्षणिक मान कर भी विज्ञान-सन्तति के सामर्थ्य से स्मरण हो सकता है।

भगवान्—यदि ऐसी वात है तो शरीर के नष्ट हो जाने पर भी विज्ञान-सन्तति का नाश नही हुआ। अत विज्ञान-सन्तति को शरीर से भिन्न ही मानना चाहिए। यह वात भी स्वीकार करनी पडेगी कि विज्ञान-सन्तति भवान्तर मे भी सक्रान्त होती है। [१६७२]

पुनश्च, ज्ञान का भी सर्वथा क्षणिक होना सम्भव नही है, कारण यह है कि पूर्वोपलब्ध वस्तु का स्मरण होता है। जो क्षणिक होता है उसे भूत (अतीत) का स्मरण जन्मानन्तर विनष्ट के समान सम्भव नही है। किन्तु स्मरण होता है, अत विज्ञान को क्षणिक नही माना जा सकता। [१६७३]

जिनका यह मत है कि ज्ञान एक है—अर्थात् असहाय है, और वह एक ज्ञान एक ही विषय का ग्रहण करता है तथा वह ज्ञान क्षणिक भी है, उन के मत मे इस स्वेष्ट मन्तव्य की कभी भी सिद्धि नही हो सकती कि 'इस ससार से जो सत् है, वह सव क्षणिक है'।[1] जव सव पदार्थ सामने उपस्थित हो, तव ही यह ज्ञान उत्पन्न हो सकता है कि 'ये सब पदार्थ क्षणिक है'।[2] किन्तु सौगत मत मे तो एक ज्ञान एक ही पदार्थ को ग्रहण करता है, अत एक ज्ञान से सव पदार्थों की क्षणिकता का ज्ञान नही हो सकता।

पुनश्च, ज्ञान के एक पदार्थ का ग्रहण करने पर भी यदि एक ही समय ऐसे अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हो और उन सव ज्ञानो का अनुसन्धान करने वाला कोई एक आत्मा विद्यमान हो तो सव पदार्थों के सम्बन्ध मे क्षणिकता का ज्ञान सम्भव हो

---

1 यत् मत् तत् सर्व क्षणिकम्—हेतुविन्दु–पृ० 44।

2 क्षणिका सर्वसस्कारा ।

सकता है, किन्तु सौगत उस प्रकार के अनेक ज्ञानो की युगपदुत्पत्ति स्वीकार नही करता। अत. सब वस्तुओ की क्षणिकता का ज्ञान कभी भी नही होगा।

इसके अतिरिक्त यदि ज्ञान एक हो और एक समय मे एक ही विषय का ज्ञान करता हो, किन्तु वह क्षणिक न हो तो वह क्रमश सब वस्तुओ की क्षणिकता का परिज्ञान कर सकता है। किन्तु तुम विज्ञान को क्षणिक भी मानते हो, अत वह सब पदार्थो की क्षणिकता का परिज्ञान कर ही नही सकता। इसलिए विज्ञान को क्षणिक नही मानना चाहिए। ज्ञान गुण है, अत. वह निराधार नही रह सकता। फलत. शरीर से भिन्न गुणी आत्मा भी स्वीकार करनी चाहिए। [१६७४]

वायुभूति—आपने कहा है कि क्षणिक विज्ञान इस बात का ज्ञान नही कर सकता कि 'सभी पदार्थ क्षणिक हैं' इस का और अधिक स्पष्टीकरण करने की कृपा करे।

भगवान्—बौद्ध मत के अनुसार विज्ञान स्व-विषय मे ही नियत है और वह क्षणिक भी है, अत इस प्रकार का विज्ञान अनेक विज्ञानो के विषयभूत पदार्थो के धर्मों, क्षणिकता, निरात्मकता, दु.खता आदि को कैसे जान सकता है ? कारण यह है कि वे विषय उस ज्ञान के ही नही है। अपि च, वह ज्ञान क्षणिक होने के कारण उन विषयो को क्रमश. भी नही जान सकता। इस प्रकार अपने विषय से भिन्न सभी पदार्थ उस ज्ञान के लिए अविषय रूप ही हैं। अत उनकी क्षणिकता आदि के ज्ञान की सम्भावना नही रहती। [१६७५]

वायुभूति— एक ही वस्तु का ग्रहण करने-वाला क्षणिक विज्ञान भी सभी वस्तुओ के क्षण भग का स्व-तथा स्व-विषय के समान अनुमान से ज्ञान कर सकता है। तात्पर्य यह है कि वह ज्ञान अनुमान करेगा कि ससार के सभी ज्ञान क्षणिक होने चाहिए, क्योकि जो ज्ञान है वे सब ज्ञान होने के कारण मेरे समान ही क्षणिक होने चाहिए, उनके विषय भी क्षणिक होने चाहिए क्योकि वे सभी मेरे विषय के सदृश ज्ञान के ही विषय है। मेरा विषय क्षणिक है, अत वे सब ही क्षणिक होने चाहिए। इस प्रकार ज्ञान एक ही वस्तु का ग्रहण करते हुए तथा क्षणिक होते हुए भी समस्त वस्तुओ की क्षणिकता का ज्ञान कर सकता है।

भगवान्—तुमने जो अनुमान उपस्थित किया है वह अयुक्त है, कारण यह है कि जब पहले स्वेतर ज्ञान की सत्ता तथा स्व-विषयेतर विषयो की सत्ता सिद्ध हो जाए, तब उन सब की क्षणिकता का अनुमान हो सकता है। यह एक मान्य सिद्धान्त है कि प्रसिद्ध धर्मी पक्ष होता है।[1] किन्तु वह क्षणिक विज्ञान उन सब की सत्ता को

---

1 तत्र पक्ष प्रसिद्धो धर्मी—न्यायप्रवेश पृ० 1

ही सिद्ध नही कर सकता, उनकी क्षणिकता की सिद्धि की बात तो अलग ही रह जाती है।

वायुभूति—स्वेतर विज्ञान तथा स्व-विषयेतर वस्तु की सिद्धि भी विज्ञान उसी प्रकार के अनुमान से ही करेगा और कहेगा कि जैसे मेरा अस्तित्व है उसी प्रकार अन्य ज्ञानो का भी अस्तित्व होना चाहिए तथा जैसे मेरा विषय है वैसे ही अन्य ज्ञानो के भी विषय होने चाहिए। तदनन्तर वह यह निश्चय करेगा कि जैसे मैं क्षणिक हूँ और मेरा विषय क्षणिक है, वैसे वे सब ज्ञान और उनके विषय भी क्षणिक होने चाहिए।

भगवान्—तुम्हारा यह कथन भी युक्ति सगत नही है, क्योकि तुम्हारे द्वारा मान्य सर्व वस्तु की क्षणिकता को जानने वाला स्वय विज्ञान ही अपना जन्म होते ही तत्काल नष्ट हो जाता है, अत वह अपने ही नाश को तथा अपनी ही क्षणिकता को जानने मे असमर्थ है। तब अन्य ज्ञानो, उनके विषयो तथा उन सब की क्षणिकता को जानने मे उसकी असमर्थता का कहना ही क्या है।

अपि च, वह क्षणिक ज्ञान अपने ही विषय की क्षणिकता को भी नही जान सकता, क्योकि ज्ञान और उसका विषय दोनो एक ही काल मे नष्ट हो जाते है। यदि वह ज्ञान अपने विषय का विनाश होता देखे और इससे उसकी क्षणिकता का निर्णय करे और बाद मे वह स्वय नष्ट हो तो ही वह अपने विषय की क्षणिकता की प्रतिपत्ति कर सकता है। किन्तु ऐसा नही होता, क्योकि बौद्धो के मत मे ज्ञान और विषय दोनो एक ही समय मे अपने अन्तर क्षणो को उत्पन्न कर नष्ट हो जाते है। वस्तु की क्षणिकता को जानने के लिए अन्य स्व-सवेदन अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी समर्थ नही है, और उक्त प्रकार का अनुमान भी सिद्ध नही होता। अत बौद्ध मत मे सर्व वस्तु की क्षणिकता अज्ञात ही रहती है। [१६७६]

वायुभूति—पूर्व-पूर्व विज्ञानो द्वारा उत्तर-उत्तर विज्ञानो मे एक ऐसी वासना उत्पन्न होती है जिससे वह विज्ञान एक ही वस्तु का ग्रहण करते हुए तथा क्षणिक होते हुए भी अन्य विज्ञानो के तथा उनके विषयो के सत्व, क्षणिकतादि धर्मो का ज्ञान कर सकता है। इस प्रकार बौद्धो को सभी पदार्थो की क्षणिकता अज्ञात नही रहती, अत उसे स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है।

भगवान्—तुम्हारे द्वारा कही गई वासना भी तभी सम्भव है जब वास्य तथा वासक ये दोनो ज्ञान एक ही समय मे एक साथ मिलते हो। किन्तु बौद्धो के मतानुसार उक्त दोनो ज्ञान जन्मानन्तर ही नष्ट हो जाने के कारण एक ही समय मे विद्यमान नही हो सकते। यदि वे दोनो एक ही काल मे सयुक्त हो तो उन ज्ञानो की क्षणिकता नही। अत सभी ज्ञानो और सभी विषयो की क्षणिकता कैसे सिद्ध हो सकती है?

पुनश्च, यदि वह वासना भी क्षणिक है तो उससे भी ज्ञान के समान सर्वक्षणिकता सिद्ध नही हो सकती। और यदि वासना स्वय अक्षणिक है तो तुम्हारी इस प्रतिज्ञा मे वाधा आती है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं।

इस प्रकार वासना से भी सभी वस्तुओं की क्षणिकता सिद्ध नही हो सकती।

[१६७७]

विज्ञान को एकान्त क्षणिक मान कर भी यदि सर्व क्षणिकता का ज्ञान करना हो तो पूर्वोक्त प्रकार से निम्न दोषो की आपत्ति है—

१ एक साथ अनेक विज्ञानो की उत्पत्ति माननी पडेगी और इन सव विज्ञानों की आश्रयभूत एक आत्मा भी स्वीकार करनी पडेगी। अथवा

२. यह वात स्वीकार करनी होगी कि एक विज्ञान का एक ही विषय नही, प्रत्युत एक ही ज्ञान अनेक विषयो को जान सकता है। अथवा

३. विज्ञान को अवस्थित अक्षणिक मानना होगा, जिससे वह सव पदार्थो को क्रमश जान सके। इस प्रकार के विज्ञान तथा आत्मा मे केवल नाम का भेद है, अतः वस्तुत. अक्षणिक विज्ञान नही अपितु आत्मा ही माननी पड़ेगी।

४ उक्त आत्मा को स्वीकार करने से वौद्ध-सम्मत प्रतीत्य समुत्पादवाद का ही विघात होता है। कारण की अपेक्षा से कार्य की उत्पत्ति होती है, कारण का किसी भी प्रकार से कार्यावस्था में अन्वय नही है—प्रतीत्य समुत्पादवाद का यह रूप है। परन्तु इस वाद को स्वीकार करने से स्मरणादि समस्त व्यवहार का उच्छेद मानना पडता है। कारण है कि स्मरणादि व्यवहार उसी अवस्था मे सम्भव है जव अतीत सकेतादि का आश्रय रूप कोई पदार्थ स्मरणादि ज्ञान रूप परिणाम को प्राप्त हो, अर्थात् उत्तर काल मे भी उसी का अन्वय विद्यमान रहे। अन्यथा उसकी सम्भावना ही नही। ऐसी अन्वयी वस्तु ही आत्मा है। अत स्मरणादि व्यवहार की उपपत्ति के लिए यदि आत्मा को स्वीकार किया जाए तो प्रतीत्यसमुत्पादवाद का विघात हो जाता है।

विज्ञान को एकान्त-क्षण-विनाशी स्वीकार करने पर उक्त तथा अन्य अनेक दोषो की आपत्ति उपस्थित होती है। किन्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त विज्ञानमय आत्मा को मानने मे एक भी दोष नही है। ऐसी आत्मा स्वीकार करने से ही समस्त व्यवहार की भी सिद्धि होती है, अत क्षणिक विज्ञान के स्थान पर शरीर मे भिन्न आत्मा ही माननी चाहिए। [१६७८–७९]

वायुभूति—उक्त आत्मा के कौन से ज्ञान होते है और वे किससे होते है?

ज्ञान के प्रकार

भगवान्—इस आत्मा मे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण तथा मन पर्ययज्ञानावरण का जब क्षयोपशम होता है तब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान उत्पन्न होते है तथा केवलज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विचित्र आवरणो के क्षय एव क्षयोपशम से आत्मा मे विचित्र ज्ञान उत्पन्न होते है। वे पर्याय रूप से क्षणिक होते है तथा द्रव्य रूप से कालान्तर-स्थायी नित्य भी होते है। [१६८०]

इन सब ज्ञानो की जो सन्तान सामान्य रूप है वह नित्य है, उसका कभी भी व्यवच्छेद नही होता, किन्तु सामग्री के अनुसार उन मे अनेक प्रकार की विशेषता उत्पन्न होती है। इससे ज्ञान के अनेक अवस्थानुरूप भेद हो जाते है—अथवा विशेष बनते है।

किन्तु ज्ञानावरण के सर्वथा क्षय से जो केवलज्ञान उत्पन्न होता है उस मे भेदो का स्थान नही, अत उसे अविकल्प कहते है। वह सदा केवल-रूप, असहाय-रूप अनन्तकाल तक विद्यमान रहता है और अनन्त वस्तुओ का ग्रहण करता है, अत. उसे अनन्त भी कहते है। [१६८१]

वायुभूति—यदि आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह शरीर मे प्रवेश करते समय अथवा वहाँ से बाहर निकलते समय दिखाई क्यो नही देती ?

विद्यमान होने पर भी अनुपलब्धि के कारण

भगवान्—किसी भी वस्तु की अनुपलब्धि दो प्रकार की मानी गई है। एक प्रकार तो यह है कि जो वस्तु खरशृगादि के समान सर्वथा असत् हो वह कभी भी उपलब्ध नही होती। दूसरा प्रकार यह है कि वस्तु सत् अथवा विद्यमान होने पर भी निम्न लिखित कारणो से अनुपलब्ध होती है—

१ बहुत दूर हो, जैसे मेरु आदि।

२ अति निकट हो, जैसे आँख की भौहे।

३ अति सूक्ष्म हो, जैसे परमाणु।

४ मन के अस्थिर होने पर भी वस्तु का ग्रहण नही होता, जैसे ध्यानपूर्वक न चलने वाले को।

५ इन्द्रियों मे पटुता न हो, जैसे किंचित् बधिर को।

६ मति की मन्दता के कारण भी गम्भीर अर्थ का ज्ञान नही होता।

७ अशक्यता से भी वस्तु की उपलब्धि नही होती, जैसे कि अपने कान का, मतस्क का अथवा पीठ का दर्शन अशक्य है।

८ आवरण के कारण—जैसे आँख को हाथ से ढक दिया जाए तो वह कुछ भी देख नही सकती। अथवा दीवार आदि से अन्तरित वस्तु भी दिखाई नही देती।

९ अभिभव के कारण—जैसे उत्कट सूर्य तेज से तारागण अभिभूत हो जाते है, अत दिखाई नही देते।

१० सदृशता होने के कारण—वारीकी से ध्यान पूर्वक देखा हुआ उडद का दाना यदि उडद के समूह (ढेर) मे मिला दिया जाय तो उडद के सभी दाने एक समान होने के कारण उस दाने को ढूँढना या पहचानना सम्भव नही है।

११ अनुपयोग के कारण—जिस मनुष्य का ध्यान उपयोग रूप मे न हो वह जैसे गन्धादि को नही जानता वैसे।

१२ अनुपाय होने पर—जैसे कोई व्यक्ति सीग देख कर गाय-भैस के दूध के परिमाण को जानना चाहे तो वह नही जान सकता, क्योंकि दूध के परिमाण का ज्ञान प्राप्त करने का उपाय सीग नही है।

१३ विस्मरण होने पर भी पूर्वोपलब्ध वस्तु का ज्ञान नही हो सकता।

१४ दुरागम—मिथ्या उपदेश मिला हो तो सुवर्ण के समान चमकती हुई रेत को सुवर्ण मानने पर भी सुवर्ण की उपलब्धि नही होती।

१५ मोह—मूढमति या मिथ्यामति के कारण विद्यमान जीवादि तत्वों का ज्ञान नही होता।

१६ विदर्शन—दर्शन शक्ति के अभाव के कारण—जैसे जन्मान्ध को।

१७. विकार के कारण—वृद्धावस्था आदि विकार के कारण अनेक बार पूर्वोपलब्ध वस्तु की भी उपलब्धि नही होती।

१८ अक्रिया से—जमीन खोदने की क्रिया न की जाए तो वृक्ष का मूल दिखाई नही देता।

१९ अनधिगम—शास्त्र को न सुनने से उसके अर्थ का ज्ञान नही होता।

२० कालविप्रकर्ष के कारण भूत तथा भावी वस्तु की उपलब्धि नही होती।

२१ स्वभावविप्रकर्ष अर्थात् अमूर्त होने के कारण आकाशादि दिखाई नही देता।

इन २१ कारणो से विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि होती है। इन मे प्रस्तुत मे आत्मा स्वभाव से विप्रकृष्ट है, अर्थात् वह आकाश के समान समूर्त है, अतः

उसकी उपलब्धि नही होती। उसका कार्मण शरीर परमाणु के सदृश सूक्ष्म है, अत वह भी अनुपलब्ध रहता है। इसीलिए हमारे शरीर मे से निकलते समय अथवा उस मे प्रविष्ट होते समय आत्मा कार्मण शरीर से युक्त होने पर भी दिखाई नही देती। अत उसका अभाव नही माना जा सकता।

वायुभूति—किन्तु वह सत् ही है, यह बात कैसे ज्ञात हुई? खरशृ ग के समान असत् होने के कारण ही वह अनुपलब्ध है, यह बात क्यो स्वीकार न की जाए?

आत्मा का अभाव क्यों नहीं?

भगवान्—अनेक अनुभवो द्वारा जीव की सत्ता सिद्ध की ही गई है, अत उसे असत् नही माना जा सकता। अतएव यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि उपर्युक्त कारणो मे से किसी कारणवशात् विद्यमान जीव की अनुपलब्धि है। [१६८२–८३]

वायुभूति—'जीव शरीर से भिन्न है' क्या इस मन्तव्य को वेदवाक्यो का आधार प्राप्त है?

वेद से समर्थन

भगवान्—यदि शरीर ही जीव हो और जीव शरीर से भिन्न न हो तो फिर यह वेद विधान वाधित हो जाता है कि 'स्वर्ग की इच्छा करने वाले व्यक्ति को अग्निहोत्र करना चाहिए।' कारण यह है कि शरीर यही जल कर राख हो जाता है, फिर स्वर्ग मे कौन जाएगा अपि? च, दानादि के फल से स्वर्ग की प्राप्ति की लोक प्रसिद्ध मान्यता भी असगत माननी पडेगी। [१६८४]

वायुभूति—ऐसी परिस्थिति मे वेद मे यह उल्लेख क्यो किया गया है कि 'विज्ञानघन एव एतेभ्य' इत्यादि? अर्थात् आत्मा भूतो से भिन्न नही है।

भगवान्—तुम उक्त वाक्यो का यथार्थ अर्थ नही जानते, इसीलिए तुम्हे यह प्रतीत होता है कि शरीर ही जीव है, किन्तु मैने उनका जो वास्तविक अर्थ वताया है, उसके अनुसार तो जीव शरीर से भिन्न ही सिद्ध होता है। मैं इस अनुमान का भी पहले निर्देश कर चुका हूँ कि शरीर रूप मे परिणत इस भूत-सघात का कोई कर्ता विद्यमान होना चाहिए, क्योकि यह सघात सादि प्रतिनियत आकार वाला है, जैसे कि घट। उसका जो कर्ता है वह शरीर से भिन्न जीव है, इत्यादि। पुनश्च 'आत्मा भूतो से भिन्न है' इस मत का समर्थन करने वाले वेदवाक्यो को क्या तुम नही जानते? वेद मे लिखा है, "सत्य से, तपश्चर्या से,

तथा ब्रह्मचर्य से नित्य, ज्योतिर्मय, विशुद्ध स्वरूप आत्मा प्राप्त की जा सकती है। धीर तथा सयतात्मा यति उसका साक्षात्कार करते है,"[1] इत्यादि। इस प्रकार वेद मे भी शरीर से भिन्न जीव का प्रतिपादन है। अत यह बात माननी चाहिए कि जीव शरीर से भिन्न है। [१६८५]

इस प्रकार जन्म-मरण से रहित भगवान् ने जब उसके सशय का निवारण किया, तब वायुभूति ने अपने ५०० शिष्यो के साथ जिन-दीक्षा अगीकार की। [१६८६]

—o—

1. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्य ज्योतिर्मयो विशुद्धो यं पश्यन्ति धीरा यतयः संयतात्मानः।
—मुण्डकोपनिषद् 3 1.5.

चतुर्थ गणधर व्यक्त

शून्यवाद-निरास

इन सब को दीक्षित हुए सुन कर व्यक्त ने भी विचार किया कि मैं भगवान् के पास जाऊँ, उन्हें नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह विचार कर वह भगवान् के निकट आ पहुँचा। [१६८७]

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान् ने उसे नाम व गोत्र से सम्बोधित करते हुए कहा 'व्यक्त भारद्वाज'। कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी थे। [१६८८]

भूतों की सत्ता के विषय में संशय

भगवान् ने उसे बतलाया कि वेद के परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वाक्यो के श्रवण से तुम्हे यह सशय है कि भूतो का अस्तित्व है या नही ? वेद का एक वाक्य यह है कि 'स्वप्नोपम वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरजसा विज्ञेय' तुम इसका यह अर्थ समझते हो कि यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्न सदृश ही है, यह ब्रह्मविधि अर्थात् परमार्थ-प्रकार स्पष्ट रूप से जानना चाहिए। इससे तुम यह मानते हो कि ससार मे भूतो जैसी कोई वस्तु नही है, किन्तु वेद मे "द्यावापृथिवी" 'पृथिवी देवता' 'आपो देवता'[1] इत्यादि वाक्य भी है जिन से पृथ्वी, जल आदि भूतो का अस्तित्व सिद्ध होता है। अत. तुम्हे सन्देह है कि वस्तुत भूतो का अस्तित्व है या नही ? किन्तु तुम इन वेद-वाक्यो का यथार्थ अर्थ नही जानते, इसीलिए ऐसा सशय करते हो। मैं तुम्हे इनका सच्चा अर्थ बतलाऊँगा जिससे तुम्हारे सशय का निवारण हो जाएगा। [१६८९]

पदार्थ मायिक है

उक्त वेद-वाक्य से तुम्हे यह प्रतीत होता है कि ये सब भूत स्वप्न समान है। अर्थात् कोई निर्धन मनुष्य यह स्वप्न देखे कि उसके घर के आँगन मे हाथी घोडे बन्धे हुए है और उसका भण्डार मणि व रत्नों से भरपूर है। फिर भी परमार्थत. इनमे से किसी भी वस्तु की सत्ता नही होती। इसी प्रकार मानो किसी इन्द्रजालिक ने मायिक नगर की रचना की है और उसमे भी वस्तुतः अविद्यमान सुवर्ण, मणि, मोती, चादी के वर्तन आदि पदार्थ दिखाए है और उद्यान मे फल

---

1 द्यावापृथिवी सहास्ताम्—तैत्तिरीयब्राह्मण 1–1–3

तथा फूल भी दिखाए है तथापि यह सब मायिक होने के कारण परमार्थ-रूपेण विद्यमान नही है । इसी प्रकार ससार के समस्त पदार्थ स्वप्नोपम है और मायोपम है। इस तरह जहाँ प्रत्यक्ष भूतो के अस्तित्व मे भी सन्देह है वहाँ जीव, पुण्य, पाप आदि परोक्ष पदार्थों की तो बात ही क्या है ? अत तुम्हे भूतादि सभी वस्तुओं की शून्यता ज्ञात होती है और तुम समस्त लोक को मायोपम समझते हो।

अपि च, युक्ति से विचार करने पर भी तुम्हे यही प्रतीति होती है कि यह सब स्वप्न सदृश है। [१६९०-९१]

समस्त व्यवहार सापेक्ष है

हे व्यक्त ! तुम यह मानते हो कि ससार में सकल व्यवहार ह्रस्व-दीर्घ के समान सापेक्ष है । अत वस्तु की सिद्धि स्वत , परत स्व-पर-उभय से अथवा किसी अन्य प्रकार से भी नही हो सकती ।

ससार मे सभी कुछ सापेक्ष है, इस बात का स्पष्टीकरण तुम इस प्रकार करते हो —ससार मे जो कुछ है वह सब कार्य अथवा कारण के अन्तर्गत है । कार्य और कारण की सिद्धि परस्पर सापेक्ष है--अर्थात् दोनो एक दूसरे की अपेक्षा रखते है । यदि ससार मे कार्य ही न हो तो किसी को कारण नही कहा जा सकता । इसी प्रकार यदि कारण न हो तो किसी को कार्य भी नही कहा जा सकता । दूसरे शब्दो मे किसी भी पदार्थ के विषय मे कार्यत्व का व्यवहार कारणाधीन है और कारणत्व का व्यवहार कार्याधीन है । इस तरह कार्य और कारण दोनो स्वत सिद्ध नही है । अत ससार मे कुछ भी स्वत सिद्ध नही है । यदि कोई भी पदार्थ स्वत सिद्ध न हो तो वह परत सिद्ध कैसे हो सकता है ? कारण यह है कि जैसे खर-विषाण स्वत सिद्ध नही तो उसे परत सिद्ध भी नही कह सकते, वैसे ही ससार के सकल पदार्थ यदि स्वत सिद्ध न हो तो वे परत. सिद्ध भी नहीं हो सकते। स्व-पर-उभय से भी वस्तु की सिद्धि अशक्य है, क्योकि उक्त प्रकारेण यदि स्व और पर पृथक्-पृथक् सिद्धि के कारण प्रमाणित न होते हों तो वे दोनो मिल कर भी वस्तु की सिद्धि मे असमर्थ रहेगे । रेत के एक-एक कण मे तेल नही है, अत. समस्त कणो को मिलाने पर भी तेल की निष्पत्ति नही हो सकती । इसी प्रकार स्व और पर के अलग-अलग असमर्थ होने पर यदि दोनो मिल भी जाएँ तो भी उन मे सिद्धि का सामर्थ्य उत्पन्न नही होता । अपि च, स्व-पर-उभय से सिद्धि स्वीकार करने मे परस्पराश्रय दोष भी है क्योकि जब तक कारण सिद्ध न हो तब तक कार्य नही होता और जब तक किसी कार्य की निष्पत्ति न हुई हो तब तक किसी को कारण नही कहा जा सकता । इस प्रकार दोनो एक दूसरे के आश्रित है, एक की सिद्धि दूसरे के बिना नही होती ।

अत उन में परस्पराश्रय दोष होने के कारण स्वय असिद्ध वे दोनो एकत्रित हो अन्य किसी की सिद्धि करे, यह सम्भव नही है। उक्त तीन प्रकारो से जो सिद्ध न हो वह इन से भिन्न प्रकार से भी सिद्ध नही हो सकता, क्योकि अन्य प्रकार अनुभयरूप ही हो सकता है। अर्थात् स्व-पर-उभय से भिन्न प्रकारेण। किन्तु संसार मे स्व-पर से भिन्न कोई वस्तु सम्भव ही नही, क्योकि जो कुछ होगा वह स्व या पर होगा। अत. अनुभय से निष्पत्ति मानने का अर्थ होगा कि वस्तु की सिद्धि अहेतुक है, अर्थात् उसका कोई हेतु या कारण नही है। किन्तु यह बात असम्भव है। कारण के बिना संसार मे कुछ भी उत्पन्न नही हो सकता। अत अनुभय से भी वस्तु की सिद्धि नही होती।

ह्रस्व-दीर्घत्व के व्यवहार के विषय मे भी यही बात है। वह व्यवहार भी सापेक्ष ही है। अत कोई भी वस्तु स्वत ह्रस्व अथवा दीर्घ नही है। प्रदेशिनी—अँगूठे के निकटस्थ पहली अँगुली—अँगूठे की अपेक्षा लम्बी है, किन्तु वही मध्यमा अँगुली की अपेक्षा छोटी है। इसलिए वह स्वत न तो लम्बी है और न छोटी। वह तो अपेक्षा से लम्बी और छोटी है। अत हम कह सकते है कि दीर्घत्व-ह्रस्वत्व स्वत सिद्ध नही हैं। स्वत सिद्ध न होने के कारण खर-विषाण के समान वे परत. सिद्ध भी नही हो सकते। स्व-पर-उभय अथवा अनुभय प्रकार से भी ह्रस्वत्व-दीर्घत्व की सिद्धि सम्भव नही है। फलस्वरूप यह स्वीकार करना पडेगा कि यह समस्त व्यवहार सापेक्ष है। इसीलिए किसी ने ठीक ही कहा है —

"दीर्घ कहलाने वाली वस्तु मे दीर्घत्व जैसी कोई चीज नही है, ह्रस्व कहलाने वाली वस्तु मे भी दीर्घत्व का अभाव है। इन दोनो मे भी दीर्घत्व नही है, अत दीर्घत्व नामक वस्तु ही असिद्ध है। असिद्ध शून्य है, अत उसका अस्तित्व कहाँ माना जा सकता है ?"[1]

"ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ की सिद्धि कही जाती है और ह्रस्व की सिद्धि भी दीर्घ की अपेक्षा से है। किन्तु निरपेक्ष रूप से किसी की भी सिद्धि नही है, अत यह समस्त सिद्धि व्यवहार के कारण ही है, परमार्थत कुछ भी नही है।"[2]

इस प्रकार ससार में सब कुछ सापेक्ष होने के कारण शून्य ही है। [१६९२]

सर्व शून्यता के समर्थन के लिए तुम्हारा मन निम्न प्रकार से भी ऊहापोह करता है —

---

1 न दीर्घेऽस्तीह दीर्घत्व न ह्रस्वे नापि च द्वये।
तस्मादसिद्ध शून्यत्वात् सदित्याख्यायते क्व हि ?॥

2 ह्रस्व प्रतीत्य सिद्ध दीर्घं दीर्घं प्रतीत्य ह्रस्वमपि।
न किंचिदस्ति सिद्ध व्यवहारवशाद् वदन्त्येवम्॥

सर्वशून्यता का समर्थन

घट तथा अस्तित्व ये दोनो एक ही हैं अर्थात् अभिन्न है ? अथवा अनेक हैं अर्थात् भिन्न है ? उन दोनो को एक नही माना जा सकता क्योकि सभी पदार्थ एक घट-रूप हो जाएँगे। जो कुछ अस्ति-रूप है वह सव घट-रूप हो, तभी हम यह कह सकेंगे कि घट तथा अस्तित्व एक ही है, अन्यथा नही। ऐसी स्थिति मे घट-भिन्न पटादि किसी भी पदार्थ का अस्तित्व सम्भव नही होगा, इसलिए सव कुछ घट-रूप ही स्वीकार करना पडेगा।

अथवा घट केवल घट ही नही प्रत्युत पट भी है, और इसी प्रकार यह मानना पडेगा कि घट ससार की समस्त वस्तु-रूप है। कारण यह है कि ससार की सभी वस्तुओ मे अस्तित्व व्याप्त है और घट उस अस्तित्व से अभिन्न है।

अथवा घट और अस्तित्व को एक मानने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जो घट है वही अस्ति-रूप है। इससे घटेतर सभी पदार्थ अस्तित्व शून्य हो जाएँगे, उन सव का अभाव हो जायगा और ससार मे केवल घट का ही अस्तित्व रह जायगा।

यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए तो घट का अस्तित्व भी सिद्ध नही हो सकेगा, क्योकि अघट से व्यावृत्त होने के कारण ही घट 'घट' कहलाता है। यदि ससार मे घटेतर-अघट का अस्तित्व ही न हो तो फिर किसकी अपेक्षा से उसे 'घट' कहा जायगा ? अत घट का अस्तित्व भी सिद्ध न होगा और इस प्रकार सर्वशून्य की ही सिद्धि होगी।

इस तरह घट तथा अस्तित्व को एक मानने से सर्व-शून्यता की बाधा होने के कारण घट तथा अस्तित्व को यदि अनेक या भिन्न माना जाए, तो भी सर्व-शून्यता की आपत्ति स्थिर रहती है। यदि अस्तित्व घट से भिन्न हो तो घट को 'अस्ति' नही कहा जा सकता। अर्थात् घट अस्तित्व से शून्य होगा। अस्तित्व शून्य घट खर-विषाण के समान असत् होता है। इस प्रकार सभी पदार्थ अस्तित्व शून्य होने के कारण असत् ही मानने पडेगे—शून्य ही स्वीकार करने होगे। अपि च, सत् का भाव सत्व अथवा अस्तित्व है। अव यदि वह अपने आधार-रूप घटादि सत् पदार्थों से एकान्त भिन्न ही हो तो उसका असत्व उपस्थित हो जाता है। कारण यह है कि आधार से अन्य (सर्वथा भिन्न) रूप आधेय धर्म का अस्तित्व ही शक्य नही है।

इस प्रकार घट तथा अस्तित्व को एक अथवा अनेक मानने में उक्त दोषों की सम्भावना है। अतः वे अवाच्य या सर्वथा शून्य हैं। इसी प्रकार समस्त पदार्थ अनभिलाप्य (अवाच्य) अथवा सर्वथा शून्य ही है। (१६९३)

उत्पत्ति घटित नही होती

तुम यह भी मानते हो कि जो उत्पन्न नही होता वह खर-विषाण के समान असत् होता है, अत. उसकी चर्चा ही व्यर्थ है। किन्तु जिसे उत्पन्न माना जाता है, उसकी उत्पत्ति भी विचार करने पर घटित नही होती, अत. वह भी शून्य ही सिद्ध होता है। इसका स्पष्टीकरण यह है—

जात (उत्पन्न) की उत्पत्ति सम्भव नही, क्योकि वह घट के समान जात ही है। यदि जात की भी उत्पत्ति मानी जाए तो अनवस्था का प्रसग उपस्थित होगा अर्थात् जन्म परम्परा का अन्त ही न होगा।

अजात (अनुत्पन्न) की उत्पत्ति भी सम्भव नही। यदि अजात की भी उत्पत्ति मानी जाए तो अभाव (असत्) खर-विषाण की भी उत्पत्ति माननी चाहिए, क्योकि वह भी अजात ही है।

जात-अजात की उत्पत्ति भी शक्य नही, क्योकि इन दोनों पक्षो मे पूर्वोक्त दोनो दोषो की आपत्ति है। पुनश्च, जात-अजात-स्वरूप उभय लक्षण पदार्थ की सत्ता है या नही ? यदि वह विद्यमान है तो उसे 'जात' ही कहा जायगा, उभय नहीं। इस पक्ष मे अनवस्था दोष की भी आपत्ति है। और यदि वह विद्यमान नही है तो भी उसे जात-अजात उभयरूप नही कहा जा सकता, किन्तु अजात ही कहा जायगा। इस पक्ष मे पूर्वोक्त दूषण है ही। इसी प्रकार जायमान की उत्पत्ति भी घटित नही होती। कारण यह है कि वह भी यदि विद्यमान हो तो 'जात' कहलाएगा और यदि विद्यमान न हो तो उसे 'अजात' कहा जायगा। इन दोनो पक्षो मे पूर्वोक्त दोषो की आपत्ति उपस्थित होगी। कहा भी है कि—

"गमन क्रिया हो चुकी हो तो जाना नही होता और यदि गमन क्रिया का अभाव हो तो भी जाना नही होता। गमन क्रिया के भाव तथा अभाव से भिन्नरूप कोई चालू गमन क्रिया होती ही नही।"[1] अत ससार मे उत्पाद आदि किसी भी क्रिया का सद्भाव न होने से जगत् को शून्य ही मानना चाहिए। (१६६४)

पुनश्च, अन्य प्रकार से भी उत्पत्ति का अभाव सिद्ध होता है। वस्तु की उत्पत्ति मे हेतु (उपादान) तथा प्रत्यय (निमित्त) ये दो कारण माने जाते है। उनमें हेतु अथवा प्रत्यय यदि पृथक्-पृथक् अर्थात् स्वतन्त्र हो तो वे कार्य की उत्पत्ति मे असमर्थ हैं, किन्तु जब ये सब इकट्ठे मिले तब सामग्री से कार्य की उत्पत्ति होती है,

---

1. गतं न गम्यते तावद् अगत नैव गम्यते।
   गतागतविनिर्मुक्त गम्यमान न गम्यते॥ माध्यमिक कारिका 2,1

ऐसी मान्यता है। किन्तु सामग्री के घटक प्रत्येक हेतु अथवा प्रत्यय मे यदि कार्योत्पादन सामर्थ्य ही न हो तो वह सामग्री मे भी कसे हो सकता है ? जैसे कि रेत के प्रत्येक करण मे तेल का अभाव होने से समग्र कणों मे भी तेल का अभाव ही होता है। अर्थात् ससार में कार्य जैसी कोई वस्तु प्रमाणित न हो, सर्वाभाव हो जाए, तो फिर सामग्री का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न होगा ? तथा सामग्री के अभाव मे कार्य का भी अभाव हो जायगा। इस तरह सर्व-शून्यता की ही सिद्धि होती है। कहा भी है.—

'हेतु प्रत्यय रूप सामग्री यदि पृथक् हो तो उसमे कार्य का दर्शन नही होता और जब तक घटादि कार्य उत्पन्न न हो तब तक उसमे घटादि संज्ञा की प्रवृत्ति न होने के कारण वह स्वभावत. अनभिलाप्य (अवाच्य) है।"[1]

"ससार मे जहाँ कही संज्ञा की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है वह सामग्री में ही है, अत भाव ही नही है। भाव न हो तो सामग्री भी नही होती।[2]" (१६६५)

अदृश्य होने के कारण शून्यता

सर्व-शून्यता की सिद्धि निम्न प्रकार से भी की जाती है—जो अदृश्य है वह अनुपलब्ध होने के कारण खर-विषाण के समान असत् ही है। जिसे दृश्य कहा जाता है उसका भी पिछला भाग अदृश्य होने से तथा निकटतम भाग सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देता, अत. उसे भी सर्वथा अदृश्य मानना चाहिए। इसलिए वह भी खर-विषाण के समान शून्य होगा। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि स्तम्भादि बाह्य पदार्थ दिखाई तो देते है, फिर उन्हे अदृश्य कैसे कहा सकता है ? इसका समाधान यह है कि स्तम्भादि समस्त पदार्थ अखण्ड तो दिखाई नही देते। हम उसके तीन अवयवों की कल्पना करे—अन्तिम भाग, मध्य भाग तथा हमारे सन्मुख उपस्थित अग्र भाग। इनमे अन्तिम और मध्य भाग तो दिखाई ही नही देते, अत: वे अदृश्य है। सामने का जो भाग हमे दिखाई देता है वह भी सावयव है। उसके अन्तिम अवयव तक जाएँ तो वह परमाणु ही होगा। वह भी सूक्ष्म होने के कारण अदृश्य है। इस प्रकार स्तम्भादि पदार्थो का वस्तुत: दर्शन ही सम्भव नही। इसलिए वे सब अनुपलब्ध होने के कारण खर-विषाण के समान असत् ही हैं। इससे सर्व-शून्यता सिद्ध होती है। कहा भी है :—

"जो कुछ दृश्य है उसका पर (पश्चात्) का भाग तो दिखाई नही देता। अत ये सब पदार्थ स्वभाव से अनभिलाप्य (अवाच्य) ही है।"[3]

---

1 हेतुप्रत्यमामग्रीपृथग्भावेष्वदर्शनात्। तेन ते नाभिलाप्या हि भावा सर्वे स्वभावत ॥

2. लोके यावत् सज्ञा सामग्र्यामेव दृश्यते यस्मात्। तस्मान् न सन्ति भावा भावेऽसति नास्ति सामग्री ॥

3 य वद् दृश्य परस्तावद् भाग स च न दृश्यते। तेन ते नाभिलाप्या हि भावाः सर्वे स्वभावत ॥

इस प्रकार तुम युक्ति से विचार करते हो कि ससार मे भूतों की सत्ता ही नही है। किन्तु वेद मे भूतो का अस्तित्व प्रतिपादित भी किया है। अत तुम्हे सशय है कि भूत वस्तुत है या नही ? [१६९६]

व्यक्त—आपने मेरे सशय का यथार्थ वर्णन किया है। कृपया अब उसका निवारण करे।

संशय-निवारण

भगवान्—व्यक्त ! तुम्हे इस प्रकार का सगय नही करना चाहिए। कारण यह है कि यदि ससार मे भूतो का अस्तित्व ही न हो तो उनके विषय मे आकाश-कुसुम तथा खर-शृ ग के समान सशय ही उत्पन्न न हो। जो वस्तु विद्यमान हो, उसी के सम्बन्ध मे सशय होता है, जैसे कि स्थाणु व पुरुष के सम्बन्ध मे। [१६९७]

भूतों के विषय में संशय का होना उनकी सत्ता का द्योतक है

ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण सर्वशून्य होने पर भी स्थाणु-पुरुष के विषय मे तो सन्देह होता है किन्तु आकाश-कुसुम, खर-शृ ग आदि के विषय मे कोई सशय नही होता ? तुम ही इसको स्पष्ट करो। अथवा ऐसा क्यो नही होता कि आकाश-कुसुम आदि के विपय मे ही सशय हो तथा स्थाणु-पुरुप के विपय मे कभी भी संशय न हो, ऐसा विपर्यय क्यो नही होता ? अत यह मानना चाहिए कि खर-शृ ग के समान सव कुछ ही समान-रूपेण शून्य नही है। [१६९८]

व्यक्त—आप ही बताएँ कि किस विशेषता के कारण स्थाणु-पुरुष के सम्बन्ध मे सन्देह होता है।

भगवान्—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम–इन प्रमाणो द्वारा पदार्थ की सिद्धि होती है। अत इन प्रमाणो के विषयभूत पदार्थों के सम्वन्ध मे ही सन्देह उत्पन्न हो सकता है। जो विषय सर्व प्रमाणातीत हो उसके सम्वन्ध मे सशय कैसे हो सकता है ? यही कारण है कि स्थाणु आदि पदार्थो के विपय मे सन्देह होता है किन्तु आकाश-कुसुम आदि के विषय मे नही। [१६९९]

अपि च, सशयादि ज्ञान-पर्याय है तथा ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है। इससे भी ज्ञात होता है कि यदि ज्ञेय ही नही तो सशय भी कैसे हो सकता है ? [१७००]

अत सशय होने के कारण भी ज्ञेय का अस्तित्व अनुमान सिद्ध मानना चाहिए। वह अनुमान यह है - ये सव पदार्थ विद्यमान है, क्योकि उनके विपय मे सन्देह होता है। जिसके विषय मे सन्देह होता है वह स्थाणु-पुरुप के समान विद्यमान होता है। अत सशय होने के कारण पदार्थों का अस्तित्व मानना चाहिए।

व्यक्त—जव सव कुछ शून्य है तव स्थाणु-पुरुष भी असत् ही है, अत वह भी प्रमाण सिद्ध नही है। फिर वह दृष्टान्त कैसे वन सकता है ?

भगवान्—इस तरह तुम्हे सशय का भी अभाव मानना पडेगा, क्योकि जब सब का अभाव है तो सशय का भी अभाव सिद्ध होगा। फिर जब तुम्हे भूतो के विषय मे सन्देह ही नही होगा, तब वे सब विद्यमान ही मानने पडेगे। [१७०१]

व्यक्त ऐसा कोई नियम नही है कि यदि सब का अभाव हो तो सशय ही न हो। सोए हुए पुरुष के पास कुछ भी नही होता, तदपि वह स्वप्न मे सशय करता है कि 'यह गजराज है अथवा पर्वत ?' अत सब वस्तुओ के शून्य होने पर भी सशय सम्भव है।

भगवान्—तुम्हारा कथन ठीक नही है, क्योकि स्वप्न मे जो सन्देह होता है वह भी पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण से होता है। यदि सभी वस्तुओ का सर्वथा अभाव ही हो तो स्वप्न मे भी सशय न हो। [१७०२]

व्यक्त—क्या निमित्त के विना स्वप्न नही होता ?

भगवान्—नही, निमित्त के विना कभी भी स्वप्न नही होता।

व्यक्त—स्वप्न के निमित्त कौन से है ?

स्वप्न के निमित्त

भगवान्—अनुभव मे आए हुए जैसे कि स्नान, भोजन, विलेपन आदि पदार्थो के स्मरण मे अनुभव निमित्त है। हस्ति आदि पदार्थ दृष्ट होने के कारण स्वप्न के विषय वनते है। चिन्ता भी स्वप्न का निमित्त है। जैसे कि अपनी प्रियतमा के सम्बन्ध मे चिन्ता हो तो वह स्वप्न मे दिखाई देती है। यदि किसी विषय के सम्बन्ध मे कुछ सुन रखा हो तो वह भी स्वप्न मे आता है। प्रकृति-विकार अर्थात् वात, पित्त, कफ के विकार से भी स्वप्न आते है। अनुकूल अथवा प्रतिकूल देवता, सजल प्रदेश, पुण्य तथा पाप भी स्वप्न के निमित्त हैं। किन्तु वस्तु का सर्वथा अभाव कभी भी स्वप्न का निमित्त नही बन सकता। अत स्वप्न भी भावरूप है, इसलिए उसे सर्वशून्य कैसे माना जाए ? [१७०३]

व्यक्त—आप स्वप्न को भावरूप कैसे मानते है ?

भगवान्—स्वप्न भावरूप है, क्योंकि घट-विज्ञानादि के समान वह भी विज्ञान रूप है। अथवा स्वप्न भावरूप है क्योकि वह भी उक्त निमित्तो द्वारा उत्पन्न होता है। जैसे घट अपने दण्डादि निमित्तो द्वारा उत्पन्न होने के कारण भावरूप है, वैसे ही स्वप्न भी निमित्तो से उत्पन्न होने के कारण भावरूप है। [१७०४]

सर्वशून्यता में व्यवहाराभाव

अपि च, सर्वाभाव हो (सर्वशून्य हो) तो ज्ञानो मे यह भेद किस कारण से होता है कि अमुक ज्ञान स्वप्न है और अमुक ज्ञान अस्वप्न, यह सत्य है और यह झूठ, यह गन्धर्वनगर है (मायानगर है) और यह पाटलिपुत्र है, यह तथ्य है (मुख्य है) और यह

औपचारिक है, यह कार्य है और यह कारण है, यह साध्य है और यह साधन है, यह कर्त्ता है, यह वक्ता है, यह उसका वचन है, यह त्रि-अवयव वाला वाक्य है, यह पच अवयव वाला वाक्य है, यह वाच्य अर्थात् वचन का अर्थ है, यह स्वपक्ष है तथा वह परपक्ष है- ये सम्पूर्ण व्यवहार यदि ससार मे सर्वशून्य के हो तो किस लिए प्रवृत्ति हो ? पुनश्च, पृथ्वी मे स्थिरत्व, पानी मे द्रवत्व, अग्नि मे उष्णत्व, वायु मे चलत्व तथा आकाश मे अमूर्तत्व --यह सब कुछ कैसे नियत हो सकता है ? यह नियम भी कैसे बनेगा कि शब्दादि विषय-ग्राह्य है तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ ग्राहक है ? उक्त सभी बाते एकरूप क्यो नही हो जाती ? अर्थात् जैसा स्वप्न वैसा ही अस्वप्न क्यो नही माना जाता ? उक्त बातो मे असमानता का क्या कारण है ? अथवा स्वप्न की प्रतीति अस्वप्न रूप मे हो, ऐसा विपर्यय व्यवहार मे क्यो नही होता ? तथा यदि सब कुछ शून्य ही है तो फिर सर्वाग्रहण क्यो नही होता ? अर्थात् किसी भी वस्तु का ग्रहण या ज्ञान ही न हो।

व्यक्त—भ्रान्ति के कारण यह व्यवहार प्रवृत्त होता है कि यह स्वप्न है और यह अस्वप्न ।

सभी ज्ञान भ्रान्त नहीं

भगवान्—सभी ज्ञानों को भ्रान्तिमूलक नही माना जा सकता। कारण यह है कि वे ज्ञान देश,काल, स्वभाव आदि के कारण नियत है । फिर भ्रान्ति स्वय विद्यमान है या अविद्यमान ? यदि भ्रान्ति को विद्यमान माना जाए तो सर्वशून्यता सिद्ध नही होती । यदि उसे अविद्यमान माने तो भावग्राहक ज्ञानो को अभ्रान्त मानना पडेगा । अत सर्वशून्यता नही, अपितु सर्वसत्ता ही माननी चाहिए ।

फिर तुम यह भेद भी कैसे करोगे कि शून्यता का ज्ञान ही सम्यक् है तथा भावसत्ता ग्राही ज्ञान मिथ्या है। तुम्हारे मत मे तो सब कुछ शून्य ही है, अत ऐसा भेद सम्भव ही नही है । [१७०५-८]

व्यक्त—स्वत , परत , उभयत तथा अनुभयत इन चारो प्रकारो से वस्तु की सिद्धि नही होती, इसलिए तथा सब सापेक्ष होने के कारण सर्वशून्यता को सिद्ध स्वीकार करना चाहिए।

भगवान्—यदि सव कुछ शून्य है तो यह बुद्धि भी कैसे उत्पन्न होगी कि यह स्व है और वह पर है। जव स्व-पर आदि विषयक बुद्धि ही नही होगी तो स्वत , परत इत्यादि विकल्प करके वस्तु की जो परस्पर असिद्धि सिद्ध की जाती है, वह भी कैसे सम्भव होगी ?

अपि च, एक ओर तो यह वात स्वीकार करना कि वस्तु की सिद्धि ह्रस्व-दीर्घ के समान सापेक्ष है और दूसरी ओर यह कहना कि वस्तु की सिद्धि स्व-पर आदि किसी से भी होती नही, परस्पर विरुद्ध कथन करना है।

सर्वसत्ता मात्र सापेक्ष नही

यह एकान्त भी स्वीकार नही किया जा सकता कि वस्तु की सत्ता केवल आपेक्षिक ही है। कारण यह है कि स्व-विपयक ज्ञान को उत्पन्न करना आदि जैसी अर्थ-क्रिया भी वस्तु-सत्ता का लक्षण है। अत ह्रस्व आदि पदार्थ स्व विषयक ज्ञान को उत्पन्न करने के कारण सत् अथवा विद्यमान है, इसलिए उन्हे असिद्ध कैसे कहा जाए ?

अपि च, यदि स्वय असत् स्वरूप अँगुली मे ह्रस्वत्वादि अन्य अँगुली सापेक्ष हो तो स्वय असत् रूप ऐसे खर-विपाण मे भी अन्य की अपेक्षा से ह्रस्वत्वादि व्यवहार क्यो नही होता ? सर्वशून्यता समान होने पर भी एक मे ही ह्रस्वत्वादि व्यवहार होता है और दूसरे मे वह नही होता, इसका क्या कारण है ? अत मानना पडेगा कि अँगुली आदि पदार्थ स्वय सत् है और उनमे अनन्त धर्म होने के कारण भिन्न-भिन्न सहकारियो के सन्निधान से भिन्न-भिन्न धर्म अभिव्यक्त होते है तथा उनके विपय मे ज्ञान होता है। यदि अँगुली आदि पदार्थ खर-विपाण के समान सर्वथा असत् हो तो उनमे अपेक्षाकृत ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि का व्यवहार भी नही हो सकता और स्वत, परत आदि विकल्प भी सम्भव नही हो सकते।

व्यक्त—शून्यवादी के मत मे यह भेद-व्यवहार ही नही है कि यह स्व है और यह पर है, किन्तु परवादी वैसा व्यवहार करते है अत उनकी अपेक्षा से स्वत, परत आदि विकल्पो की सृष्टि समझनी चाहिए।

शून्यवाद में स्व-पर-पक्ष का भेद नहीं घटता

भगवान्—किन्तु जहाँ सब कुछ शून्य है वहाँ स्वमत तथा परमत का भेद भी सम्भव नही है। यदि स्वमत और परमत का भेद स्वीकार किया जाए तो शून्यवाद ही वाधित हो जाता है। [१७०९]

व्यक्त—मैं यह तो कह ही चुका हूँ कि समस्त व्यवहार सापेक्ष है।

भगवान्—तुम ह्रस्व-दीर्घ आदि व्यवहार को सापेक्ष मानते हो, किन्तु इस विपय मे मेरा प्रश्न यह है कि ह्रस्व-दीर्घ का ज्ञान युगपद् होता है अथवा क्रमश ? यदि युगपद् होता है तो जिस समय मध्यम अँगुली के विषय मे दीर्घत्व का प्रतिभास हुआ, उसी समय प्रदेशिनी मे ह्रस्वत्व का प्रतिभास हुआ, यह वात माननी होगी। अर्थात् युगपद् पक्ष मे एक ज्ञान मे दूसरे ज्ञान की किसी भी अपेक्षा का अवकाश न रहने से यह कैसे कहा जायगा कि ह्रस्वत्व-दीर्घत्व आदि व्यवहार सापेक्ष है ? यदि ह्रस्वत्व-दीर्घत्व का ज्ञान क्रमश स्वीकार करते हो तो भी पहले प्रदेशिनी मे ह्रस्वत्व का ज्ञान हो चुका है, फिर मध्यम अँगुली के दीर्घत्व के ज्ञान की अपेक्षा कहाँ रही ? अत दोनो पक्षो से यह सिद्ध नही होता कि ह्रस्वत्व-दीर्घत्व का ज्ञान व्यवहार सापेक्ष

है। इसलिए यह बात स्वत सिद्ध है कि सभी पदार्थ चक्षु आदि सामग्री उपस्थित होने पर अन्य किसी की अपेक्षा रखे बिना स्वज्ञान मे प्रतिभासित होते है।

पुनश्च, बालक जन्म लेने के बाद पहली बार ही आँख खोल कर जो ज्ञान प्राप्त करता है, उसमे उसे किस की अपेक्षा है ? और जो दो पदार्थ दो नेत्रो के समान सदृश हो, उनका ज्ञान यदि एक साथ हो तो इसमे भी किसी की अपेक्षा दृष्टिगोचर नही होती। अतः मानना चाहिए कि अँगुली आदि पदार्थो का स्वरूप सापेक्ष मात्र नही है किन्तु वे स्वविषयक ज्ञानो मे अन्य की अपेक्षा के बिना ही स्वरूप से स्वत प्रतिभासित होते है और तदनन्तर अपने प्रतिपक्षी पदार्थ का स्मरण होने से उनमे इस प्रकार का व्यपदेश होता है कि यह अमुक से ह्रस्व है और अमुक से दीर्घ है। अत पदार्थों को स्वत सिद्ध मानना ही चाहिए। [१७१०–११]

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि जब सब कुछ शून्यता के कारण समानरूप से असत् है तब प्रदेशिनी आदि ह्रस्व पदार्थो की अपेक्षा से ही मध्यमा अँगुली आदि मे दीर्घत्व का व्यवहार क्यो होता है ? दीर्घ पदार्थ की अपेक्षा से ही दीर्घ पदार्थो मे दीर्घत्व का व्यवहार क्यो नही होता ? इसके विपरीत दीर्घ पदार्थ की अपेक्षा से ही ह्रस्व द्रव्य मे ह्रस्वत्व का व्यवहार क्यो होता है ? और ह्रस्व की अपेक्षा से ही ह्रस्व मे ह्रस्वत्व की प्रवृत्ति क्यो नही होती ? असत् के समानरूप से विद्यमान होने पर भी ह्रस्व आदि पदार्थ की अपेक्षा से ही दीर्घत्व आदि के व्यवहार का क्या कारण है ? यह व्यवहार आकाश-कुसुम आदि की अपेक्षा से क्यों नही होता ? आकाश-कुसुम की अपेक्षा से ही आकाश-कुसुम मे ह्रस्व आदि व्यपदेश और ज्ञान न होने का क्या कारण है ? अत यह बात माननी होगी कि सर्वशून्य नही हैं किन्तु पदार्थ विद्यमान है। [१७१२]

और, जब सर्वशून्य है तब अपेक्षा की भी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि जैसे घटादि सत्त्व शून्यता के प्रतिकूल है वैसे अपेक्षा भी शून्यता के प्रतिकूल है।

व्यक्त—यह स्वाभाविक बात है कि अपेक्षा के विना काम नही चलता। अर्थात् अपेक्षा से ही ह्रस्व दीर्घ व्यवहार की प्रवृत्ति होती है, यह स्वभाव है। यह प्रश्न नही किया जा सकता कि ऐसा स्वभाव क्यो है ? कहा भी है :—

"अग्नि जलती है किन्तु आकाश नही जलता, इसे किससे पूछा जाए[1] ?" अर्थात् ऐसे नियत स्वभाव मे किसी से यह प्रश्न या आदेश नही किया जा सकता कि इससे विपरीत कार्य क्यो नही होता ?

शून्यता स्वाभाविक नही

भगवान्—स्वभाव मानने से भी सर्वशून्यता की हानि ही होती है, क्योंकि 'स्व' रूप जो भाव है उसे स्वभाव कहते है। अत 'स्व' तथा 'पर' इन दो भावो की

---

1. "अग्निर्दहति नाकाश कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम् ।"

कल्पना करनी ही पडती है। उससे शून्यवाद का स्वत ही निरास हो जाता है। वन्ध्या-पुत्र जैसे अविद्यमान पदार्थो मे स्वभाव की कल्पना नही की जा सकती, वह विद्यमान पदार्थो मे ही करनी पडती है। ऐसी स्थिति मे शून्यवाद का निरास स्पष्ट है। [१७१३]

अपेक्षा मानने मे मुझे भी आपत्ति नही, किन्तु मेरे कथन का भाव इतना ही है कि वस्तु के दीर्घत्वादि का विज्ञान तथा व्यवहार कथचित् अपेक्षाजन्य होने पर भी वस्तु की सत्ता अपेक्षाजन्य नही है। इसी प्रकार रूप, रस आदि अन्य वस्तु धर्म भी आपेक्षिक नही हैं। अत वस्तु के अस्तित्व मे अन्य किसी की अपेक्षा न होने के कारण उसे असत् नही कहा जा सकता और फलत सर्व शून्य भी नही माना जा सकता। [१७१४]

व्यक्त—वस्तु सत्ता तथा उसके रसादि धर्मो को अन्य-निरपेक्ष क्यो माना जाए?

वस्तु की अन्य-निरपेक्षता

भगवान् –यदि वस्तु सत्तादि अन्यनिरपेक्ष न हो तो ह्रस्व पदार्थो का नाश होने पर दीर्घ पदार्थो का भी सर्वथा नाश हो जाना चाहिए, क्योकि दीर्घ पदार्थो की सत्ता ह्रस्व पदार्थ सापेक्ष है। किन्तु ऐसा नही होता। अत यही फलित होता है कि पदार्थ के ह्रस्व आदि धर्म का ज्ञान और व्यवहार ही पर-सापेक्ष है, उसके सत्ता आदि धर्म पर-सापेक्ष नही है। वे अन्य-निरपेक्ष ही है। अत यह नियम दूषित है कि 'सब कुछ सापेक्ष होने से शून्य है।' फलत सर्वशून्यता भी असिद्ध ही है। [१७१५]

सर्वशून्यता की सिद्धि के लिए 'अपेक्षा होने से' यह हेतु दिया गया है, परन्तु यह विरुद्ध है। क्योकि यह सर्वशून्यता के स्थान पर वस्तु-सत्ता को ही सिद्ध करता है।

व्यक्त—यह कैसे ?

भगवान्—अपेक्षणरूप क्रिया, अपेक्षकरूप कर्त्ता तथा अपेक्षणीयरूप कर्म इन तीनो से निरपेक्ष अपेक्षा सम्भव ही नही है। अर्थात् जब क्रिया, कर्म और कर्त्ता तीनो विद्यमान हो तब ही अपेक्षा की सम्भावना है। इससे सर्वशून्यता के स्थान पर वस्तु-सत्ता ही सिद्ध होती है। अत उक्त हेतु विरुद्ध है। [१७१६]

स्वतः परत आदि पदार्थो की सिद्धि

ठीक बात तो-यह है कि मेघ आदि कुछ पदार्थ अपने कारणभूत द्रव्यो के विशेष परिणाम-रूप हो कर कर्त्ता आदि किसी की भी अपेक्षा न रखते हुए स्वत सिद्ध कहलाते है, घटादि कुछ पदार्थ कुम्भकारादि कर्त्ता की अपेक्षा रखने से परत सिद्ध कहलाते हैं, पुरुषादि कुछ पदार्थ माता-पिता आदि पर-पदार्थ तथा स्वीकृत कर्म रूप स्व-पदार्थ की अपेक्षा रखने से उभयत सिद्ध कहलाते है, तथा आकाशादि कुछ पदार्थ नित्य-सिद्ध कहलाते है। यह समस्त व्यवहार व्यवहार-नयाश्रित है ऐसा समझना चाहिए। [१७१७]

किन्तु निश्चय-नय की अपेक्षा से बाह्य कारण निमित्त मात्र है, उनका उपयोग होने पर भी सब पदार्थ स्वत सिद्ध ही माने जाते है। कारण यह है कि बाह्य-निमित्तो के होने पर भी खर-विषाण आदि पदार्थ यदि स्वत सिद्ध न हो तो वे कभी भी सिद्ध नही हो सकते। अत. निश्चय-नय के मत से सभी पदार्थ स्वत सिद्ध ही माने जाते हैं। इस प्रकार व्यवहार तथा निश्चय दोनो नयो द्वारा होने वाला वस्तुदर्शन सम्यक् कहलाता है। [१७१८]

व्यक्त—अस्तित्व तथा घट के एकानेकत्व (भेदाभेद) की युक्ति[1] का क्या उत्तर है ?

सर्वशून्यता का निराकरण

भगवान्—जब पहले यह सिद्ध हो जाए कि 'घट है' तब यह पर्याय विषयक विचारणा हो सकती है कि घट तथा उसका धर्म अस्तित्व—ये दोनो एक है अथवा अनेक। इससे यह स्पष्टतः सिद्ध है कि घट अथवा अस्तित्व का अभाव नही माना जा सकता। जो वस्तु खर-विषाण के समान पहले से ही असिद्ध हो, उसके विषय मे भेदाभेद का विचार ही उत्पन्न नही होता। यदि घट तथा उसका अस्तित्व अविद्यमान हो और फिर भी उनके विषय मे एकानेकत्व की विचारणा हो तो खर-विषाण के सम्बन्ध मे भी यह बात होनी चाहिए, ऐसा नही होता। अत मानना होगा कि घटादि के विपय मे यह चर्चा इसीलिए होती है कि खर-विषाण के समान उनका सर्वथा अभाव नही है। [१७१६]

अपि च, 'घट है' इस पर घट तथा अस्तित्व के विषय मे तुमने जो ऊहापोह की, वही ऊहापोह तुम्हारे मत मे 'घट शून्य है' इस पर घट तथा शून्यता के विषय मे भी की जा सकती है। घट तथा शून्यता में भेद है अथवा अभेद ? यदि शून्यता घट से भिन्न है तो व्यक्त ! तुम ही बताओ कि घट से भिन्न शून्यता कैसी है ? यदि घट तथा शून्यता अभिन्न है तो घट ही मानना चाहिए, क्योंकि वह प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध होता है। शून्यता-रूप धर्म स्वतन्त्ररूपेण उपलब्ध नही होता, अत. उसे मानने की आवश्यकता नही रहती। [१७२०]

पुनश्च, तुम्हें जो यह ज्ञान होता है कि 'ये तीनों लोक शून्य है' और तुम उक्त वचन का भी जो व्यवहार करते हो, वे दोनो तुम से अभिन्न है या भिन्न ? यदि अभेद हो तो वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योकि जैसे शिंशपा और वृक्षत्व का एकत्व सद्भूत है वैसे तुम सब का भी है, अत शून्यता मानी नही जा सकती। यदि तुम विज्ञान और वचन से भिन्न हो तो तुम पत्थर के समान अज्ञानी तथा वचन-शून्य बन जाओगे। फिर तुम वादी अर्थात् शून्यवादी कैसे बन सकोगे ? शून्यवाद की सिद्धि भी कैसे होगी ? [१७२१]

---

1. गाथा 1693 देखें।

व्यक्त—'घट तथा उसके अस्तित्व को अभिन्न मानने पर सब कुछ घट-रूप हो जाएगा और इससे अघट-रूप वस्तु के अभाव मे घट भी सम्भव न होगा'—मेरी इस विचारणा का क्या स्पष्टीकरण है ?

भगवान्—घटसत्ता (घट का अस्तित्व) घट का धर्म होने के कारण घट से अभिन्न है, तदपि वह पटादि से तो भिन्न है । अत 'घट है' अर्थात् घट को अस्तिरूप कहने से ही 'घट ही है, अन्य कुछ भी नही' ऐसा नियम कैसे फलित हो सकेगा ? कारण यह है कि घट के समान पटादि की सत्ता पटादि मे है ही, अत घट के समान अघटरूप पटादि सभी पदार्थ भी विद्यमान है । इस प्रकार अघट का अस्तित्व होने के कारण तद्भिन्न को घट कहा जा सकता है । [१७२२]

व्यक्त—यदि घट और अस्तित्व एक ही हो तो यह नियम किसलिए नही वन सकता कि 'जो-जो अस्तिरूप है वह सब घट ही है' ? अथवा 'घट है' यह वचन कहने से वह पटादि समस्त वस्तु रूप कैसे नही होगा ?

भगवान्—ऐसा इसलिए नही होता कि घट का अस्तित्व पटादि के अस्तित्व से भिन्न है । घट का अस्तित्व घट मे ही है, पटादि मे नही । अत· घट और उसके अस्तित्व को अभिन्न मान कर भी उक्त नियम नही वन सकता तथा घट को अस्ति कहने से केवल उसका ही अस्तित्व ज्ञात होता है, अत· उसे सर्वात्मक कैसे कहा जा सकता है ? [१७२३]

तात्पर्य यह है कि 'अस्ति' अर्थात् 'है', केवल यह शब्द कहने से जितने पदार्थों मे अस्तित्व धर्म है, उन सब का वोध होगा । अर्थात् घट और अघट सव का ज्ञान होगा । किन्तु घट कहने से तो इतना ही वोध होगा कि घट है । कारण यह है कि घट का अस्तित्व घट तक ही सीमित है । जैसे कि वृक्ष कहने से आम्र तथा अन्य नीम आदि वृक्षो का वोध होता है क्योकि इन सव मे वृक्षत्व समान रूपेण है, किन्तु आम्र कहने से तो यही ज्ञान होगा कि वह वृक्ष है क्योकि जो अवृक्ष होता है उसे आम्र नही कहते । [१७२४]

व्यक्त—जात-अजात[1] आदि विकल्पो के विषय मे आपका क्या कथन है ?

उत्पत्ति सम्भव है

भगवान्—इस विषय मे मैं तुम से इतना ही पूछना चाहता हूँ कि तुम जात (उत्पन्न) किसे कहते हो ? 'जात, अजात, उभय, जायमान इन चारो प्रकार से उत्पत्ति घटित नही होती अर्थात् इन चारो प्रकार से वह अजात है—यदि तुम जात के सम्बन्ध· मे यह वात कहते हो तो तुम वताओ कि तुम्हारे मत मे अजात रूप जात का क्या स्वरूप है? उसका स्वरूप कुछ भी हो, किन्तु यदि वह तुम्हारे लिए सिद्ध है तो तुम्हे सर्व शून्यता की वात ही नही करनी चाहिए । यदि वह जात है तो विकल्पो द्वारा तुम

1 गा० 1694

उसे अजात कैसे कहते हो ? एक ही वस्तु जात तथा अजात दोनों नही हो सकती। इसमे स्ववचन-विरोध है। यदि जात सर्वथा असत् है तो जातादि विकल्प निरर्थक है। यदि असत् पदार्थ के विषय मे भी जातादि का विचार हो सकता है तो आकाश-कुसुम के विषय मे ऐसी विचारणा क्यो नही की जाती? वह भी असत् तो है ही, अत सर्वशून्य नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त मैं पहले यह कह ही चुका[1] हूँ कि यदि सब कुछ शून्य है तो स्वप्न अस्वप्न इत्यादि सब एक समान हो जाना चाहिए अथवा अस्वप्न स्वप्न इत्यादि हो जाना चाहिए, आदि। उसी प्रकार यहाँ भी उन सब दोषो का पुनरावर्तन किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि यदि सब कुछ शून्य ही है तो जात और अजात दोनो समान होने चाहिए अथवा अजात जात हो जाना चाहिए, इत्यादि। [१७२५]

अपि च, यदि शून्यवादी का यही मत हो कि घटादि वस्तु किसी भी प्रकार उत्पन्न ही नही होती तो मै यह प्रश्न करता हूँ कि जो घडा पहले मिट्टी के पिण्ड मे उपलब्ध न था, वह कुम्भकार, दण्ड, चक्रादि सामग्री से उत्पन्न होने के पश्चात् उपलब्ध कैसे हुआ ? इस सामग्री के अभाव मे वह उपलब्ध क्यो नही होता था ? फिर उत्पत्ति के बाद वह दृष्टिगोचर हुआ, किन्तु तत्पश्चात् मुद्गर आदि से नष्ट हो जाने के बाद कालान्तर मे वह दिखाई क्यो नही देता ? जो वस्तु सर्वथा अजात हो वह खर-शृंग के समान सर्वदा अनुपलब्ध रहती है। अत जिसकी उपलब्धि कादाचित्क हो, उस वस्तु को जात मानना चाहिए। [१७२६]

पुनश्च, जात-अजात आदि विकल्पो द्वारा 'यह सब कुछ शून्य है' ऐसा ज्ञान और वचन भी अजात सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी उस ज्ञान और वचन को किसी न किसी प्रकार जात माने विना तुम्हारा छुटकारा नही हो सकता। उसी प्रकार सब भावो को तुम्हे जात मानना चाहिए, चाहे उनके विषय मे जात-अजात आदि विकल्प घटित न होते हो। अत सब भावो के जात होने के कारण शून्य नही माना जा सकता।

व्यक्त —उस शून्यता विषयक विज्ञान और वचन को भी मैं जात होने पर भी अजात ही मानता हूँ।

भगवान्—ऐसी स्थिति मे अजात विज्ञान तथा वचन द्वारा शून्य का प्रकाशन नही होगा। फिर शून्यता का प्रकाश उसके विना कैसे होगा ? अर्थात् यह बात मानने से शून्यता ही असिद्ध हो जायेगी। [१७२७]

व्यक्त —किन्तु जातादि विकल्पो से वस्तु की उत्पत्ति सिद्ध नही होती, इस विषय मे आप क्या कहते है ?

---

1 गा० 1708

भगवान्—एकान्तवाद का आश्रय ले तो कुछ भी घटित नही होता, किन्तु अनेकान्त का आश्रय लेने से अपेक्षा विशेष से (१) जात की (२) अजात की (३) जाताजात की (४) जायमान की उत्पत्ति घटित हो सकती है और (५) कुछ ऐसे भी पदार्थ है जिसकी उत्पत्ति उक्त एक भी प्रकार से नही होती। [१७२८]

व्यक्त—यह कैसे ? उदाहरण देकर समझाने की कृपा करे।

भगवान्—१. घट की रूपी के रूप मे उत्पत्ति जात की उत्पत्ति है, क्योकि मिट्टी का पिण्ड पहले भी रूपी था और वह घटावस्था मे भी रूपी ही है।

२ आकार की अपेक्षा से घडे की जो उत्पत्ति है वह अजात की उत्पत्ति है, क्योकि घटाकार मे आने से पूर्व मिट्टी का पिण्ड घटाकार रूप मे अजात ही था।

३ रूप तथा आकार दोनो की अपेक्षा से घडे की उत्पत्ति जाताजात दोनो की उत्पत्ति कहलाती है, क्योकि घटाकार मे आने से पूर्व वह रूपी तो था, परन्तु उसमे आकार-विशेष का अभाव था।

४. अतीत-काल के नष्ट हो जाने से तथा अनागत-काल के अनुत्पन्न होने से इन दोनो कालो मे क्रिया सम्भव नही, अर्थात् क्रिया वर्तमान-काल मे ही घटित होती है, अत जायमान घड़े की उत्पत्ति माननी चाहिए। [१७२९]

५. किन्तु, यदि वही घडा पूर्वकाल मे जात (उत्पन्न) हो तो पुन उसकी उत्पत्ति असम्भव होने से यह कहा जा सकता है कि जात की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। पुनश्च, जात-घट भी परपर्यायरूप पट-रूप मे तो उत्पन्न नही हो सकता, अत पर-पर्याय की अपेक्षा से भी जात की उत्पत्ति सर्वथा घटित नही होती। जात-अजात घट भी अर्थात् स्वपर्याय की अपेक्षा से जात और परपर्याय की अपेक्षा से अजात घट भी पूर्वजात होने से पुन उसी रूप मे उत्पत्ति योग्य नही होता, अत जात-अजात की भी सर्वथा उत्पत्ति शक्य नही। घट-रूप मे जायमान घट भी कभी पट-रूप मे उत्पन्न नही होता, अत इस अपेक्षा से जायमान की उत्पत्ति भी घटित नही होती। [१७३०]

व्योम आदि नित्य पदार्थों की जातादि प्रकार से सर्वथा उत्पत्ति नही होती, क्योकि वे सर्वदा स्थित है।

सारांश यह है कि द्रव्य की उसी रूप मे कभी उत्पत्ति नही होती, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से उपर्युक्त रीति से वस्तु की जातादि विकल्पो द्वारा भजना है, अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से जात की उत्पत्ति घटित भी होती है और नही भी होती। [१७३१]

तुमने जो यह विचार किया था कि सब कुछ सामग्री से होता है किन्तु जब सर्वशून्य है तो सामग्री का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता, उस विषय मे मुझे यह कहना है कि तुम्हारी ऐसी मान्यता सर्वथा प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योकि वचनजनक कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि सामग्री प्रत्यक्ष है और उस का कार्य वचन भी प्रत्यक्ष है।

व्यक्त—वस्तु न हो और फिर भी अविद्याजन्य भ्रान्ति से वह दिखाई दे तो इससे वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं हो जाती। कहा भी है—

"[1]कामवासना, स्वप्न, भय, उन्माद तथा अविद्याजन्य भ्रान्ति से मनुष्य अविद्यमान अर्थ को भी केशोण्डुक[2] के समान देखता है।"

भगवान्—यदि ऐसा ही है तो शून्यता के समानभाव से होने पर भी कछुआ के बाल की सामग्री किसलिए दिखाई नहीं देती? वचन की ही सामग्री क्यों दिखाई देती है? या तो दोनों की दिखाई देनी चाहिए अथवा किसी की भी नहीं। कारण यह है कि तुम्हारे मत मे दोनों समान रूप से शून्य हैं। [१७३२]

पुनश्च, छाती, मस्तक, कण्ठ, ओष्ठ, तालु, जीभ आदि सामग्री-रूप वक्ता तथा उसका वचन सत् है या नहीं? यदि वे सत् है तो सर्वशून्य नहीं कहा जा सकता। यदि वक्ता और वचन असत् हैं तो यह बात किसने कही कि 'सब कुछ शून्य है?' किस ने सुनी? सर्वशून्य मानने से न कोई वक्ता रहेगा और न कोई श्रोता। [१७३३]

व्यक्त—ठीक तो है, वक्ता भी नहीं है, वचन भी नहीं है, अत. वचनीय पदार्थ भी नहीं है। इसीलिए तो सर्वशून्य सिद्ध होता है।

भगवान्—किन्तु मैं तुम से पूछता हूँ कि तुम ने जो यह बात कही कि 'वक्ता, वचन तथा वचनीय का अभाव होने से सर्वशून्य ही है' वह (तुम्हारी बात) सत्य है या मिथ्या? [१७३४]

यदि तुम अपने इस वचन को सत्य मानते हो तो वचन का सद्भाव सिद्ध होने से सर्ववस्तु का अभाव सिद्ध नहीं होता। यदि तुम अपने इस वचन को मिथ्या मानते हो तो वह अप्रमाण होने के कारण सर्वशून्यता को सिद्ध करने मे असमर्थ है।

व्यक्त—चाहे यह वचन शून्यता को सिद्ध न कर सके, फिर भी हम तो शून्यता को मानते ही है।

भगवान्—तो भी यह प्रश्न हो सकता है कि तुम्हारा यह अभ्युपगम (मान्यता) सत्य है या मिथ्या? उत्तर से यही फलित होगा कि शून्यता नहीं माननी चाहिए। अपि च, अभ्युपगम भी तभी घटित हो सकता है जब तुम अभ्युपगन्ता (स्वीकार करने वाला) अभ्युपगम (स्वीकार) तथा अभ्युपगमनीय (स्वीकरणीय वस्तु) इन तीनों वस्तुओं का सद्भाव मानो। किन्तु सर्वशून्यता मानने पर अभ्युपगम भी घटित नहीं होता, अत सर्वशून्यता का आग्रह छोड देना चाहिए। [१७३५]

---

1 कामस्वप्नभयोन्मादैरविद्योपप्लवात्तथा। पश्यन्त्यसन्तमप्यर्थं जन केशोण्डुकादिवत्।

2 आकाश मे कुछ भी न हो, फिर भी बाल के गुच्छों जैसा दिखाई देता है, उसे केशोण्डुक कहते हैं।

यदि सर्वशून्य ही हो तो लोक मे जो व्यवहार की व्यवस्था है वह लुप्त हो जाएगी, भाव तथा अभाव दोनो को समान मानना पड़ेगा। फिर रेत के कणों में तेल क्यो नही होगा ? तिलो मे ही क्यों होगा ? आकाश-कुसुम की सामग्री से ही सब कुछ सिद्ध क्यो नही हो जाएगा ? ऐसी बात नही होती, किन्तु प्रतिनियत कार्य का प्रतिनियत कारण होता है, अत सर्वशून्यता नही माननी चाहिए। [१७३६]

यह भी कोई एकान्त नियम नही है कि ससार मे जो कुछ है, वह सब सामग्री से ही उत्पन्न होता है। द्व्यणुकादि स्कन्ध सावयव होने से द्वि-आदि परमाणु सामग्री से उत्पन्न होते है, अतः वे सामग्री-जन्य कहलाते हैं। किन्तु निरवयव परमाणु किसी से भी उत्पन्न नही होता, फिर उसे सामग्री-जन्य कैसे कहा जा सकता है ?

व्यक्त—परमाणु भी सप्रदेश (सावयव) ही है, अत. वह भी सामग्री-जन्य है।

भगवान्—किन्तु उस परमाणु के जो अवयव होगे अथवा उन अवयवो के भी जो अवयव होगे और इस प्रकार जो अन्तिम निरवयव (अप्रदेशी अवयव) होगा, उसे तो सामग्री द्वारा जन्य नही माना जाएगा। अत यह एकान्त नियम नही है कि सभी कुछ सामग्रीजन्य है।

व्यक्त—यदि ऐसा कोई परमाणु नही माने तो ?

भगवान्—परमाणु का सर्वथा अभाव तो माना नही जा सकता। कारण यह है कि उसका कार्य दिखाई देता है। अत कार्य द्वारा कारण का अनुमान हो सकता है। कहा भी है कि—

"मूर्त वस्तु द्वारा परमाणु का अनुमान किया जा सकता है। वह परमाणु अप्रदेश है, निरवयव है, अन्त्य कारण है, नित्य है और उस मे एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध तथा दो स्पर्श है। कार्य द्वारा उसका अनुमान हो सकता है।"[1] [१७३७]

व्यक्त—किन्तु इस परमाणु का अस्तित्व ही नही है, क्योकि वह सामग्री से उत्पन्न नही होता।

भगवान्—एक ओर तुम कहते हो कि सब कुछ सामग्रीजन्य है और दूसरी ओर कहते हो कि परमाणु नही है, यह कथन तो परस्पर विरुद्ध कहलाएगा। जैसे कोई कहे 'सभी वचन झूठे हैं' तो उसका यह कथन स्ववचन विरुद्ध है, वैसे तुम्हारे कथन मे भी विरोध है। कारण यह है कि यदि परमाणु ही नही है तो उससे इतर कौनसी ऐसी सामग्री है जिसमे सब कुछ उत्पन्न होता है ? क्या यह सब आकाश-

---

1. मूर्तैर्ग्णुरप्रदेश कारणमन्त्य भवेत् तथा नित्य ।
एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्श. कार्यलिङ्गश्च ॥

कुसुम से उत्पन्न होता है ? अत यदि सब कुछ सामग्रीजन्य मानना हो तो परमाणु-रूप सामग्री का अभाव नहीं माना जा सकता। [१७३८]

व्यक्त—किन्तु परभाग का अदर्शन ही है तथा निकटस्थ भाग भी सूक्ष्म होने से अदृश्य है, इत्यादि[1] तर्क द्वारा जो सर्वशून्यता की सिद्धि की थी, उस विषय मे आप क्या कहते है ?

सब कुछ अदृश्य नहीं

भगवान् —इसमें भी विरोध है। दृश्य वस्तु के अग्र भाग का तुम्हे ग्रहण होता है, फिर भी तुम कहते हो कि 'वह नही है'। इसमे विरोध नहीं तो और क्या है ?

व्यक्त—वस्तुत सर्वाभाव होने से अग्रभाग का ग्रहण भी भ्रान्ति ही है।

भगवान्—यदि अग्रभाग का ग्रहण भ्रान्ति मात्र है तो फिर शून्य रूप से समान होने पर भी खर-शृंग का अग्रभाग क्यो गृहीत नहीं होता ? दोनों का ग्रहण समान रूप से होना चाहिए अथवा नही होना चाहिए। समान होने पर यह नहीं हो सकता कि एक का तो ग्रहण हो किन्तु दूसरे का नही। अपि च, विपर्यय क्यो नही होता ? स्तम्भादि के अग्रभाग की जगह खर-शृंग का ही अग्रभाग दिखाई दे तथा स्तम्भादि का अग्रभाग दिखाई न दे, यह बात क्यो नही होती ? अतः सर्वशून्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। [१७३९]

पुनश्च, 'परभाग दिखाई नही देता अत अग्रभाग भी नहीं होना चाहिए', तुम्हारा यह अनुमान कितना विचित्र है! अग्रभाग तो अबाधित प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अत उक्त अनुमान से अग्नि की उष्णता के समान अग्रभाग बाधित नहीं हो सकता, किन्तु अग्रभाग ग्राहक इस प्रत्यक्ष से ही तुम्हारा अनुमान बाधित हो जाता है। तुम ही बताओ कि अग्रभाग के ग्रहण से परभाग की सिद्धि कैसे नहीं होती ? कारण यह है कि अग्रभाग आपेक्षिक है, अत. यदि कोई परभाग हो तो अग्रभाग भी सम्भव है, अन्यथा नही। इस प्रकार अग्रभाग के अस्तित्व के बल पर परभाग का अनुमान सहज है।

अदर्शन अभाव-साधक नहीं होता

पुनश्च, केवल अदर्शन से वस्तु का निह्नव(उत्थापन)नही किया जा सकता। देशादि से विप्रकृष्ट वस्तुओ के विद्यमान होने पर भी उनका दर्शन नही होता, फिर भी उनका अभाव नही माना जा सकता। साराश यह है कि परभाग के अदर्शन मात्र से अग्रभाग का निषेध नही हो सकता। अग्रभाग का दर्शन होने के कारण अदृश्य रूप परभाग का अस्तित्व भी अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है। जैसे कि दृश्य वस्तु का परभाग भी है, क्योंकि तत्सम्बद्ध अग्रभाग का ग्रहण होता है। जैसे

1 गाथा 1696

आकाश के पूर्वभाग का ग्रहण होने से तत्सम्बन्धी परभाग भी है ही। इसी प्रकार दृश्यवस्तु का भी परभाग है।

अग्रभाग का भी एक भाग अग्र है और उसका भी एक भाग अग्र है, इस प्रकार जो सर्वाग्र भाग है वह सूक्ष्म है और अदृश्य है, अत. अग्रभाग का सर्वथा अभाव[1] है, इत्यादि, तुम्हारी विचारणा भी अयुक्त है। क्योकि यहाँ भी यदि परभाग न माने तो अग्रभाग सम्भव ही न होगा। अत परभाग अदृश्य होने पर भी मानना ही चाहिए। [१७४०]

फिर यदि सर्वशून्य हो तो अग्रभाग, मध्यभाग तथा परभाग जैसे भेद भी कैसे हो सकते है ?

व्यक्त—ये भेद परमत की अपेक्षा से किए गए है।

भगवान्—किन्तु जहाँ सर्वाभाव हो वहाँ स्वमत तथा परमत का भेद भी कैसे हो सकता है ? [१७४१]

यदि शून्यता न मानी जाए तो अग्रभाग, मध्यभाग, परभाग जैसे भेद माने जा सकते है और यदि इन भेदो को ही न माना जाए तो खर-विषाण के समान वैसे विकल्प करना व्यर्थ है। [१७४२]

जब सर्वशून्य है तब ऐसा क्योंकर होता है कि अग्रभाग तो दिखाई दे किन्तु परभाग अदृश्य रहे। वस्तुत कुछ भी दिखाई नही देना चाहिए। फिर ग्रहण में विपर्यास क्यो नही हो जाता ? अर्थात् परभाग ही दिखाई दे, अग्रभाग नही, ऐसा क्यो नही होता ? अत सर्वशून्यता असिद्ध है। [१७४३]

यदि ऐसा नियम है कि परभाग दिखाई न देने से वस्तु शून्य है तो भी स्फटिक की सत्ता माननी ही पडेगी, क्योकि उसका परभाग भी दिखाई देता है।

व्यक्त—स्फटिकादि भी वस्तुत शून्य ही है।

भगवान्—तो परभाग के अदर्शन से वस्तु का अभाव सिद्ध नही होगा। परभाग का अदर्शन अहेतु हो जायेगा। फिर ऐसा क्यो नही कहते कि 'कुछ भी दिखाई नही देता', अत सर्वशून्य है।

व्यक्त—हाँ, सच्ची बात यही है कि 'कुछ भी दिखाई नही देता', इसीलिए सब का अभाव है—सर्वशून्य है।

भगवान्—ऐसी बात मानने पर तुम जिसे पहले स्वीकार कर चुके हो वह बाधित हो जायेगा। पहले तुमने यह कहा था कि परभाग का अदर्शन है और अब तुम यह कहते हो कि किसी का भी दर्शन नही है। इन दोनो बातो मे परस्पर विरोध है। फिर घट-पट आदि बाह्य वस्तु सब को प्रत्यक्ष है, अत यह कैसे कह सकते है कि

---

1 गा० 1696

कुछ भी दिखाई नही देता। इसमें तो प्रत्यक्ष विरोध है। अत उपर्युक्त हेतु से तुम सर्वाभाव सिद्ध नही कर सकते।

व्यक्त—सर्व सपक्ष मे हेतु विद्यमान न हो,तदपि यदि वह सर्व विपक्ष से व्यावृत्त हो—अर्थात् किसी भी विपक्ष मे विद्यमान न हो तो उसे सद् हेतु कहते है। जैसे कि शब्द अनित्य है, क्योकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है। यह हेतु सभी अनित्य पदार्थों मे विद्यमान नही है, क्योकि बिजली, बादल आदि ऐसे अनित्य पदार्थ है जो प्रयत्न की अपेक्षा नही रखते। फिर भी यह हेतु किसी भी विपक्ष मे नही पाया जाता। अर्थात् ऐसा एक भी नित्य पदार्थ नही है जो स्वोत्पत्ति मे प्रयत्न की अपेक्षा रखता हो। कारण यह है कि नित्य पदार्थ की उत्पत्ति ही नही होती, वहाँ प्रयत्न से क्या प्रयोजन ? अत उक्त हेतु सर्व सपक्षव्यापी न होने पर भी सर्वविपक्ष से व्यावृत्ति के कारण स्वसाध्य अनित्यता को सिद्ध करता है। उसी प्रकार 'परभाग का अदर्शन' चाहे स्फटिकादि शून्य पदार्थो मे न हो—अर्थात् सर्व सपक्ष मे न हो तो भी सपक्ष के अधिकाश भाग मे है ही, अत वह स्वसाध्य की सिद्धि कर सकता है।

भगवान्—'परभाग का अदर्शन' इस हेतु मे उक्त हेतु के समान व्यतिरेक सिद्ध नही होता। उक्त हेतु का निम्न व्यतिरेक सिद्ध है–'जो अनित्य नही होता वह प्रयत्न से उत्पन्न भी नही होता, जैसे आकाश।' किन्तु यहाँ ऐसा व्यतिरेक कैसे सिद्ध करोगे कि 'जहाँ शून्यता नही, वहाँ परभाग का अदर्शन भी नही।' ऐसा व्यतिरेक किसी सद्भूत वस्तु मे ही सिद्ध हो सकता है। तुम सर्वाभाव मानते हो, अत किसी भी सद्भूत वस्तु को स्वीकार नही कर सकते। अत परभाग का अदर्शन अहेतु ही रहेगा। [१६४४-४५]

व्यक्त—पर तथा मध्यभाग नही है, क्योकि खर-विषाण के समान वे अप्रत्यक्ष हैं। जब पर तथा मध्यभाग ही नही है तो अग्रभाग कहाँ से होगा ? क्योकि अग्रभाग भी पर-मध्य भाग की अपेक्षा से है। इस प्रकार सर्वशून्यता की सिद्धि होगी।

भगवान्—जो पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियो का विषय बनता है वह अर्थ-प्रत्यक्ष कहलाता है। अत जब तुम यह कहते हो कि 'अप्रत्यक्ष है' तब तुम कम से कम इतना तो मानोगे ही कि इन्द्रियाँ और अर्थ विद्यमान है। कारण यह है कि विद्यमान का ही निषेध होता है। उन दोनों को स्वीकार करने से शून्यता की हानि होती है। अत शायद तुम इन्द्रियों और अर्थ को न मानोगे तथा शून्य को ही स्वीकार करोगे तो भी तुम यह नही कह सकते कि 'अप्रत्यक्ष होने से' कारण यह है कि इन्द्रियो और अर्थ के अभाव मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का व्यवहार नही हो सकता। [१७४६]

'अप्रत्यक्ष होने से' यह हेतु व्यभिचारी भी है, क्योकि ऐसा नियम नही है कि जो अप्रत्यक्ष हो वह अविद्यमान ही हो। तुम्हारे अपने ही सशय का तथा अन्य ज्ञानों का बहुत से लोग प्रत्यक्ष नही करते, फिर भी वे विद्यमान हैं ही। इसी प्रकार

अन्य पदार्थ भी ऐसे हो सकते हैं जो अप्रत्यक्ष होकर भी विद्यमान हों। इसी तरह पर-मध्यभाग भी अप्रत्यक्ष होकर विद्यमान हो सकते हैं।

व्यक्त—'अप्रत्यक्ष होने से सशयादि ज्ञान भी विद्यमान नही है,' यदि मै यह बात कहूँ तो ?

भगवान्—तो फिर यही हुआ न कि तुम्हें भूतों की शून्यता के विषय में सशय नही है। तो फिर वह किस को है ? और वह क्या है ? तथा शून्यता को किसने पहिचाना है ?

साराश यह है कि किसी दूसरे को भूतों के विषय में सन्देह ही नही है। यह सन्देह तुम्हे ही था। अब तुम कहते हो कि मुझे भी सन्देह नही है। फिर तो यह चर्चा यही समाप्त हो जानी चाहिए, क्योंकि दूसरे लोगों को इन ग्राम, नगर आदि की सत्ता के विषय मे लेशमात्र भी सन्देह नही है। अत सर्वशून्यता का प्रश्न ही नही रहता। [१७४७]

पृथ्वी आदि भूत प्रत्यक्ष हैं

अतः हे व्यक्त ! पृथिवी, जल, अग्नि, आदि जो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनके विषय मे तुम्हे भी सन्देह नही करना चाहिए। जैसे कि तुम अपने स्वरूप के विषय में सन्देह नही करते। वायु तथा आकाश प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, उनके विषय मे कदाचित् सशय हो सकता है, किन्तु उस सशय का निवारण अनुमान से हो सकता है। [१७४८]

व्यक्त—वायु की सिद्धि के लिए कौन-सा अनुमान है ?

वायु का अस्तित्व

भगवान्—स्पर्शादि गुणों का गुणी अदृश्य होने पर भी विद्यमान होना चाहिए क्योकि वे गुण है, जैसे कि रूप गुण का गुणी घट है। अत स्पर्श-शब्द-स्वास्थ्य-कम्पादि गुणों का जो गुणी सम्पादक है, वह वायु है। इस प्रकार वायु का अस्तित्व सिद्ध है, इसमे सन्देह का अवकाश नही रहता। [१७४९]

व्यक्त—अवकाश-साधक अनुमान कौन-सा है ?

आकाश की सिद्धि

भगवान्—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन सब का कोई आधार होना चाहिए, क्योकि वे सब मूर्त हैं। जो मूर्त होता है, उसका आधार अवश्य होता है, जैसे कि पानी का आधार घट है। जो पृथ्वी आदि का आधार है, वह आकाश है। हे व्यक्त ! इस प्रकार आकाश की सिद्धि भी सगत है, उसके विषय मे सशय का कोई कारण नही है।

व्यक्त—पृथ्वी आदि भूतों का आधार साध्य है, अतः दृष्टान्त में जल का आधार रूप जिस घटस्वरूप पृथ्वी का कथन किया गया है, उसे अभी साधाररूप में सिद्ध करना है। इसलिए वह आधारयुक्त अंश में साध्य ही है। अतः साधाररूप में अब तक असिद्ध पृथ्वी को दृष्टान्त में कैसे सम्मिलित किया जा सकता है?

भगवान्—ऐसी अवस्था में उक्त अनुमान के स्थान पर निम्न अनुमान से भूतों का आधार सिद्ध करना चाहिए—पृथ्वी आधार वाली है, मूर्त होने से, पानी के समान। इसी प्रकार पानी के आधार की सिद्धि के लिए अग्नि, अग्नि के आधार की सिद्धि के लिए वायु, तथा वायु के आधार की सिद्धि के लिए पृथ्वी का दृष्टान्त देकर पृथक्-पृथक् भूतों का आधार सिद्ध करना चाहिए। इससे उक्त दोष की निवृत्ति हो जाएगी। इस प्रकार उक्त भूतों के आधार रूप आकाश की सिद्धि हो जाने के कारण उसके अस्तित्व में सन्देह का स्थान नहीं रहता। [१७५०]

हे सौम्य! इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध भूतों की सत्ता स्वीकार करनी ही चाहिए। जब तक शस्त्र से उपघात न हुआ हो तब तक ये भूत सचेतन अथवा सजीव हैं, शरीर के आधारभूत हैं और विविध प्रकार से जीव के उपभोग में आते हैं। [१७५१]

व्यक्त—आप ने भूतों को सजीव कैसे कहा?

भूत सजीव हैं

भगवान्—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों ही सचेतन हैं, क्योंकि उन में जीव के लक्षण दिखाई देते हैं। किन्तु आकाश अमूर्त है और वह केवल जीव का आधार ही बनता है। वह सजीव नहीं है। [१७५२]

व्यक्त—पृथ्वी के सचेतन होने में क्या हेतु है?

भगवान्—सुनो, पृथ्वी सचेतन है क्योंकि उस में स्त्री में दृग्गोचर होने वाले जन्म, जरा, जीवन, मरण, क्षतसंरोहण, आहार, दोहद, रोग, चिकित्सा इत्यादि लक्षण पाये जाते हैं।

व्यक्त—अचेतन में भी जन्म आदि दिखाई देते हैं, जैसे दही उत्पन्न हुआ। जीवित विष, निष्क्रिय कसुम्बा जैसे प्रयोग में दही आदि में भी जन्म इत्यादि हैं, फिर भी वह सजीव नहीं।

भगवान्—दही आदि अचेतन वस्तु में ऐसा प्रयोग औपचारिक है, क्योंकि उसमें जरादि सभी धर्म मनुष्य के समान दिखाई नहीं देते। किन्तु [illegible] जन्मादि सभी भाव निरुपचरित हैं, अतः उन्हें सचेतन मानना चाहिए।

अपि च, वनस्पति मे चैतन्यसाधक अन्य हेतु भी है। स्पृष्टप्ररोदिका (लाजवन्ती) वनस्पति क्षुद्र जीव के समान केवल स्पर्श से सकुचित हो जाती है। लता अपना आश्रय प्राप्त करने के लिए मनुष्य के समान वृक्ष की ओर सचरित होती है। शमी आदि मे निद्रा, प्रबोध, सकोच आदि जीव के लक्षण माने गए है। यह भी सिद्ध है कि अमुक काल मे बकुल शब्द का, अशोक वृक्ष रूप का, कुरुवक गन्ध का, विरहक रस का तथा चम्पक तिलक आदि स्पर्श का उपभोग करते है। [१७५३-५५]

पुनश्च, जैसे मनुष्य आदि जीवो मे अर्श के मॉस का अँकुर फूटता है, अर्थात् एक बार अर्श को काटने के बाद फिर उसके मॉस के अँकुर उत्पन्न होते है, वैसे वृक्ष समूह, विद्रुम, लवण तथा उपल मे भी जब तक वे स्वाश्रयस्थान मे होते है, तब तक एक बार छिन्न होने के बाद पुन. स्वजातीय अँकुरो का प्रादुर्भाव होता है और वे बढते है। अत उनमे जीव है।

व्यक्त—पृथ्वी आदि भूतो को सचेतन सिद्ध करने का प्रसग है, अत सर्वप्रथम पृथ्वी को ही सजीव सिद्ध करना चाहिए था। उसके स्थान पर प्रथम वृक्षो मे तथा तत्पश्चात् विद्रुम (प्रवाल), लवणादि रूप पृथ्वी मे सजीवता सिद्ध करने का क्या कारण है ?

भगवान्—लौकिक प्रसिद्धि के अनुसार वनस्पति भी पृथिवीभूत का विकार है, अत. पृथ्वीभूत मे उसका समावेश है। वह कोई स्वतन्त्र भूत नही है। इस के अतिरिक्त वनस्पति मे जैसे स्पष्ट चैतन्य लक्षण दिखाई देते है वैसे विद्रुम आदि मे नही हैं। इन कारणो से पहले वृक्ष मे ही सजीवता सिद्ध की है। [१७५६]

व्यक्त—जल को सचेतन कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

भगवान्—जमीन खोदने से जमीन से सजातीय-स्वरूप स्वाभाविक रूप से पानी निकलने के कारण वह मेढक के समान सजीव है। अथवा मछली के समान बादलो से गिरने के कारण आकाश का पानी सजीव है। [१७५७]

व्यक्त—वायु की सजीवता कैसे मानी जाए ?

भगवान्—जैसे गाय किसी की प्रेरणा के बिना ही अनियमित रूप से तिर्यक् गमन करती है, वैसे वायु भी गति करती है, अत वह सजीव है।

व्यक्त—अग्नि की सजीवता का क्या कारण है ?

भगवान्—जैसे मनुष्य मे आहार आदि से वृद्धि और विकार दृष्टिगोचर होते है वैसे ही अग्नि मे भी काष्ठ के आहार से वृद्धि और विकार दिखाई देते है। अत वह मनुष्य के समान सजीव है। [१७५८]

पृथ्वी आदि चारो भूत जीव द्वारा उत्पन्न तथा जीव के आधारभूत शरीर है। कारण यह है कि वे अभ्रविकार से भिन्न प्रकार की मूर्त जाति के द्रव्य है, जैसे कि गाय आदि का शरीर। ये शरीर जब तक शस्त्रोपहत न हो तब तक सजीव है तथा शस्त्रोपहत होने के बाद वे निर्जीव हो जाते है। [१७५९]

हे सौम्य! यदि ससार मे पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव न हो तो ससार का ही विच्छेद हो जाए। कारण यह है कि ससार मे से अनेक जीव मोक्ष मे जाते रहते है तथा नए जीव उत्पन्न नही होते। लोक भी अति परिमित है, अत उसमे स्थूल जीव तो थोडे से ही रह सकते हैं, इसलिए ससार जीव-रहित हो जाएगा। किन्तु यह बात कोई भी स्वीकार नही करता कि ससार जीव-रहित हो जाता है। अत पार्थिव आदि एकेन्द्रिय जीवो की अनन्त सख्या मानने चाहिए। ये जीव भूतो को अपना आधारभूत शरीर बनाकर उनमे उत्पन्न होते है। [१७६०–६१]

व्यक्त यदि पृथ्वी आदि भूतो मे आपके कथनानुसार अनन्त जीव हो तो साधु को भी आहारादि लेने के कारण अनन्त जीवो की हिसा का दोप लगेगा, इससे अहिंसा का अभाव हो जाएगा।

भूतो के सजीव होने पर भी अहिंसा का सद्भाव

भगवान्—अहिसा का अभाव नही होता, क्योकि मैं पहले ही कह चुका हूं कि शस्त्रोपहत पृथ्वी आदि भूतो मे जीव नही होता, वे सभी भूत निर्जीव होते है।

तुम्हे हिंसा और अहिसा का विवेक करना चाहिए। लोक जीवो से परिपूर्ण है, केवल इतने से ही हिसा हो जाती है, यह बात नही है। [१७६२]

अपि च, यह भी ठीक नही है कि कोई व्यक्ति जीव का घातक बना और इसी से वह हिसक हो गया। यह भी असगत है कि एक व्यक्ति किसी जीव का घातक नही, अत वह निश्चयपूर्वक अहिसक है। यह बात भी नही है कि थोडे जीव हो तो हिसा नही होती और अधिक जीव हो तो हिसा होती है। [१७६३]

व्यक्त—फिर किसी को हिसक या अहिसक कैसे समझना चाहिए?

हिसा-अहिसा का विवेक

भगवान्—जीव की हत्या न करने पर भी दुष्ट भावो के कारण कसाई के समान हिंसक कहलाता है तथा जीव का घातक होने पर भी शुद्ध भावो के कारण सुवैद्य के समान अहिंसक कहलाता है। इस प्रकार अनुक्रम से शुद्ध तथा दुष्ट भावो के कारण जीव को मारने पर भी अहिंसक तथा न मारने पर भी हिंसक कहलाता है। [१७६४]

व्यक्त किसी के मन के भावो को कैसे जाना जाए ?

भगवान्—पाँच समिति तथा तीन गुप्ति सम्पन्न ज्ञानी साधु अहिंसक होता है, किन्तु इसके विपरीत जो असयमी है, वह हिंसक है। उक्त सयमी से जीव का घात हो या न हो किन्तु उससे वह हिंसक नही कहलाता; क्योंकि हिंसक होने का आधार आत्मा के अध्यवसाय पर है। वाह्य-निमित्त-रूप जीवघात तो व्यभिचारी है। [१७६५]

व्यक्त—यह कैसे ?

भगवान्—वस्तुत निश्चय नय से अशुभ परिणाम का नाम ही हिंसा है। यह अशुभ परिणाम वाह्य जीवघात की अपेक्षा रख भी सकता है और नही भी रखता। साराश यह है कि अशुभ परिणाम ही हिंसा है। वाह्य जीव का घात हुआ हो या न हुआ हो अशुभ परिणाम वाला जीव हिंसक है। [१७६६]

व्यक्त—तो क्या वाह्य जीव का घात हिंसा नही कहलाती ?

भगवान्—जो जीव-वध अशुभ परिणामजन्य हो अथवा अशुभ परिणाम का जनक हो वह जीव-वध तो हिंसा ही है, अत. यह नही कहा जा सकता कि जीव-वध सर्वथा हिंसा है ही नही। जो जीव-वध अशुभ परिणाम से जन्य नही अथवा अशुभ परिणाम का जनक नही, वह हिंसा की कोटि मे नही आता। [१७६७]

जैसे इन्द्रियों के विषय, रूप, शब्दादि वीतराग पुरुष के लिए राग के जनक नही होते, क्योंकि वीतराग पुरुष के भाव शुद्ध है, वैसे ही सयमी का जीव-वध भी हिंसा नही है। कारण यह है कि उसका मन शुद्ध है।

अत हे व्यक्त! यह कहना ठीक नही कि लोक-जीव सकुल है, अतः सयमी को भी हिंसा का दोष लगेगा और अहिंसा का अभाव हो जाएगा।

इस तरह यह वात सिद्ध हो गई कि ससार मे पाँच भूत है, उनमे पहले चार—पृथ्वी, जल, तेज, वायु सजीव है और पाँचवा आकाश निर्जीव है।

व्यक्त—प्रमाण से पाँच भूतो की सिद्धि हुई, किन्तु वेद-वचन के विरोध के विषय मे आप क्या कहते है ?

वेद-वचन का समन्वय

भगवान्—वेद मे ससार के सभी पदार्थो को स्वप्न-सदृश कहा है, इसका अर्थ यह नही है कि उनका सर्वथा अभाव है। किन्तु अन्य जीव इन पदार्थो मे अनुरक्त होकर मूढ न हो जाएँ, उनमे आसक्त न हो जाएँ, इस उद्देश्य से उन्हे स्वप्नोपम अथवा असार वताया गया है। मनुष्य संसार के परिग्रह से मुक्त हो कर,

निर्मोही बनकर, वीतराग और सर्वज्ञ बने तथा अन्त मे मोक्ष प्राप्त करे, यही इस कथन का भाव है। अतः उक्त वेद-वचन का तात्पर्य सर्व-शून्यता नही है किन्तु पदार्थों मे आसक्ति योग्य कोई वस्तु नही है, यही वेद-वचन का आशय है। [१७६८]

इस प्रकार जरा जन्म-मरण से मुक्त भगवान् ने जब उसका संशय दूर किया, तब उसने अपने ५०० शिष्यो सहित दीक्षा लेली। [१७६९]

—०—

पंचम गणधर सुधर्मा

इस भव तथा परभव के सादृश्य की चर्चा

(कार्य-कारण के सादृश्य की चर्चा)

उन सब के दीक्षित होने का समाचार सुनकर सुधर्मा भी यह विचार कर भगवान् के पास आया कि उनके निकट जाकर उन्हे नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। [१७७०]

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी थे, अत उन्होने उसे नाम-गोत्र-पूर्वक सम्बोधित करते हुए कहा 'सुधर्मा अग्निवेश्यायन !' [१७७१]

इह-परलोक के सादृश्य-वैसादृश्य का संशय

फिर भगवान् ने उसे कहा—वेद मे कहा है **'पुरुषो मृत सन् पुरुषत्वमेवाश्नुते, पशव पशुत्वम्**[1]' अन्य स्थान पर कहा है **'शृगालो वै एष जायते यः स पुरीषो दह्यते** ।[2]' अत तुम्हे यह सशय है कि जीव जैसा इस भव मे है वैसा ही परभव मे भी होता है या नही ? कारण यह है कि तुम प्रथम वाक्य का यह तात्पर्य समझते हो कि जीव भवान्तर मे भी सदृश ही रहता है तथा दूसरे वाक्य का तात्पर्य तुम यह समझते हो कि भवान्तर मे वैसादृश्य की सम्भावना है। अत वेद-वाक्यो मे परस्पर विरोध प्रतीत होने से तुम्हे सशय हुआ है, किन्तु यह सशय ठीक नही है। उन वाक्यो का तुम जो अर्थ समझते हो, वह यथार्थ नही है। मै तुम्हे उनका वास्तविक अर्थ बताऊँगा, तब तुम्हारा सशय दूर हो जायेगा। [१७७२]

कारण-सदृश कार्य

पहले तुम्हारे भ्रम का निवारण करना आवश्यक है। तुम यह समझते हो कि कारण जैसा ही कार्य होता है, जैसे कि यवांकुर, यव बीज के समान होता है। अत तुम यह स्वीकार करने के लिए लालायित हो कि परभव मे भी जीव इस भव के अनुरूप ही होता है। किन्तु तुम्हारी मान्यता अयुक्त है। [१७७३]

---

1 पुरुष मर कर परभव मे भी पुरुष ही बनता है। पशु भी मर कर पशु ही होता है।

2 जिसे मल सहित जलाया जाता है, वह शृगाल रूप मे जन्म ग्रहण करता है।

सुधर्मा—हाँ, भगवन्! आपने मेरे मन की बात ठीक-ठीक कह दी है, किन्तु मेरी मान्यता अयुक्त क्यो हैं?

सशय निवारण—कारण से विलक्षण कार्य

भगवान्—यह कोई ऐकान्तिक नियम नही है कि कार्य कारण के सदृश ही होता है। शृ ग से भी शर नामक वनस्पति उत्पन्न होती है, और उसी पर यदि सरसों का लेप किया जाए तो पुन उसी मे से अमुक प्रकार का घास उत्पन्न होता है। इस के अतिरिक्त गाय तथा बकरी के बालो से दूर्वा उत्पन्न होती है। इस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यों के सयोग से विलक्षण वनस्पति की उत्पत्ति का वर्णन वृक्षायूर्वेद मे है। इससे सिद्ध होता है कि यह कोई नियम नही है कि कार्य कारणानुरूप ही होता है। कार्य कारण से विलक्षण भी हो सकता है। योनिप्राभृत के योनि-वर्णन से भी सिद्ध होता है कि नाना द्रव्यो के समिश्रण से सर्प, सिंहादि प्राणियों की तथा सुवर्ण व मणि की उत्पत्ति होतो है। अत. यह मानना चाहिए कि कार्य कारण से विलक्षण भी उत्पन्न हो सकता है। यह एकान्त नही है कि कार्य कारणानुरूप ही होना चाहिए। [१७७४-७५]

कारण वैचित्र्य से कार्य वैचित्र्य

कारणानुरूप कार्य मानने पर भी भवान्तर में विचित्रता की सम्भावना है। अर्थात् कारणानुरूप कार्य स्वीकार करके भी यह निश्चित नही किया जा सकता कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही बनता है।

सुधर्मा—यह कैसे?

भगवान्—यदि तुम बीज के अर्थात् कारण के अनुरूप ही अँकुर अर्थात् कार्य की उत्पत्ति मानते हो तो भी तुम्हे परजन्म मे जीव मे वैचित्र्य मानना ही पडेगा। कारण यह है कि भवाकुर का बीज मनुष्य नही किन्तु उस का कर्म है और वह विचित्र होता है। अत. इसमें कोई नई बात नही कि मनुष्य का परभव विचित्र हो। जब कारण ही विचित्र है तो कार्य भी विचित्र होगा ही।

सुधर्मा—कर्म की विचित्रता का क्या कारण है?

भगवान्—कर्म के हेतुओं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग में विचित्रता है, अत कर्म भी विचित्र है। कर्म के विचित्र होने के कारण जीव का भवाकुर भी विचित्र ही होगा। यह बात तुम्हे माननी ही चाहिए। अत मनुष्य मर कर अपने कर्मो के अनुसार नारक, देव, अथवा तिर्यंच रूप मे भी जन्म ले सकता है। [१७७६-७८]

उक्त वस्तु को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण भी है। वह यह है—जीवों की सासारिक अवस्था नारकादि रूप मे विचित्र है, क्योकि वह विचित्र कर्म का फल अथवा कार्य है। जो विचित्र हेतु का फल होता है, वह विचित्र होता है; जैसे कृषि आदि विचित्र कर्म का फल लोक मे विचित्र दृष्टिगोचर होता है। [१७७६]

सुधर्मा—कर्म की विचित्रता का क्या प्रमाण है?

भगवान्—कर्म पुद्गल का परिणाम है अत उस मे वाह्य अभ्रादि विकार के समान अथवा पृथ्वी आदि के विकार के समान विचित्रता है। जो विचित्र परिणति वाला नही होता वह आकाश के समान पुद्गल का परिणाम भी नहीं होता। यद्यपि पुद्गल के परिणाम के रूप मे कर्म के सभी परिणाम समान है, तथापि कर्म की आवरण रूप से जो विशेपता है वह मिथ्यात्व आदि सामान्य हेतुओ तथा ज्ञानी के प्रद्वेप आदि विशेप हेतुओ की विचित्रता के कारण है। [१७८०]

सुधर्मा—क्या इस भव के समान परभव कभी सम्भव ही नही है?

इस भव की तरह पर-भव विचित्र है

भगवान्—यदि इस भव के अनुरूप परभव मानना हो तो भी जैसे इस भव मे कर्मफल की विचित्रता दृश्य है वैसे परभव मे भी माननी चाहिए। अर्थात् इस भव मे जीव शुभा-शुभ विचित्र क्रिया करते है, विचित्र कर्म करते है, उनके अनुरूप ही परभव में भी विचित्र फल मानना चाहिए। [१७८१]

सुधर्मा—कृपया आप इसे स्पष्टता पूर्वक समझाएँ।

भगवान्—इस ससार मे जीव नाना प्रकार से कर्म वाँधते है, कुछ नारक योग्य कर्मवन्धन करते हैं तथा कुछ देव आदि योनि के योग्य। यह वात सभी को प्रत्यक्ष है। अव यदि परलोक मे इन कर्मो का फल उन्हे मिलना ही हो तो हम यह कह सकते है कि इस लोक मे उन के कर्म या उन की क्रिया को जैसी विचित्रता है, वैसी ही परलोक मे उन जीवो की विचित्रता होगी। अत. एक अपेक्षा से तुम्हारा कथन ठीक ही है कि इस भव मे जो जैसा होता है वह परलोक मे भी वैसा ही होता है। अर्थात् जो इस भव मे अशुभ कर्म वाँधता है वह परभव मे भी अशुभ कर्मो को भोगने वाला होता है। इस प्रकार 'जैसे को तैसा' इस अर्थ की अपेक्षा से तुम्हारा न्याय भी युक्त हो जाता है। [१७८२]

कर्म का फल परभव में भी होता है

सुधर्मा—इस भव मे ही जिसका फल मिलता है, ऐसा कृषि आदि कर्म ही सफल है, किन्तु परभव के लिए जो दानादि कर्म किए जाते है उनका कुछ भी फल नही मिलता। अत परभव मे विचित्रता का कोई कारण नही रहेगा। फलत इस

भव मे जीव मनुष्यादि के रूप से जैसा होगा, वैसे का वैसा वह पर-भव मे भी रहेगा उसमे वैसादृश्य का अवकाश नही रहता।

भगवान् -ऐसी बात मानने से तो पर-भव मे जीव का तुम्हे जो इष्ट है वह सर्वथा सादृश्य घटित ही नही होता। पर-भव मे जीव की उत्पत्ति का कारण कर्म है, किन्तु तुम उस कर्म या कर्म के फल को परलोक मे मानते ही नही।

सुधर्मा—कर्म के बिना भी जीव परलोक मे सदृश ही होता है।

भगवान्—इस से तो निष्कारण की उत्पत्ति माननी पडेगी, क्योकि परलोक मे सादृश्य के किसी भी कारण के अभाव मे उसकी उत्पत्ति हुई, किन्तु उत्पत्ति निष्कारण नही होती। अत यह मानना पडेगा कि जो कर्म नही किया, उसका फल मिला, तथा परलोक के लिए जो दानादि क्रिया की थी वह निष्फल सिद्ध हुई। इस प्रकार कृत का नाश स्वीकार करना होगा। [१७८३]

अपि च, यदि दानादि क्रिया परलोक मे निष्फल होगी तो वस्तुत कर्म का ही अभाव हो जाएगा। कर्म के अभाव मे परलोक की ही सत्ता नही रहेगी। फिर सादृश्य का प्रश्न ही कैसे उत्पन्न होगा ?

सुधर्मा—कर्म के अभाव मे भी भव मानने मे क्या आपत्ति है ?

कर्म के अभाव मे संसार नही

भगवान् —ऐसी स्थिति मे भव का नाश भी निष्कारण मानना पडेगा। अत मोक्ष के लिए तपस्या आदि अनुष्ठान भी व्यर्थ ही सिद्ध होगे। फिर यदि भव निष्कारण हो सकता है तो जीव के वैसादृश्य को भी निष्कारण ही क्यो न मान लिया जाए ? [१७८४]

सुधर्मा—कर्म के अभाव मे स्वभाव से ही परभव मानने मे क्या हानि है ? जैसे कर्म के बिना भी मिट्टी के पिण्ड से उस के अनुरूप घट का निर्माण स्वभावत होता है, वैसे ही जीव की सदृश जन्म-परम्परा स्वभाव से ही होती है।

परभव स्वभाव-जन्य नहीं

भगवान् —घडा भी केवल स्वभाव से ही उत्पन्न नही होता, किन्तु वह कर्त्ता, करण आदि की भी अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार जीव के विषय मे भी जीव को तथा उसके परभव के शरीर आदि के निर्माण को करण की अपेक्षा है। ससार मे जो करण होता है वह कर्त्ता से तथा कार्य से -कुम्भकार और घट से—चक्र के समान भिन्न होता है। इसलिए जीवरूप कर्त्ता से तथा पारभविक-शरीर-रूप कार्य से प्रस्तुत मे भी करण पृथक् होना चाहिए। वही कर्म है।

सुधर्मा—घटादि कार्य मे कुम्भकार, चक्र आदि रूप कर्त्ता और करण प्रत्यक्ष सिद्ध है, अत उन्हे मानने मे आपत्ति नही है, किन्तु शरीरादि कार्य तो बादल के विकार के समान स्वाभाविक ही है, इसलिए उसके निर्माण मे कर्म-रूप करण की आवश्यता नही है।

भगवान्—तुम्हारा यह कथन ठीक नही है, क्योकि शरीर सादि है तथा प्रतिनियत (निश्चित) आकार वाला भी है, अत घट के समान उसका कोई कर्त्ता और करण होना चाहिए। तुमने कारणानुरूप कार्य का जो सिद्धान्त स्वीकार किया है वह भी बादल के विकार-रूप दृष्टान्त मे घटित नही होता होता। कारण यह है कि बादल के विकार अपने कारण-रूप द्रव्य पुद्गल से अति विलक्षण दिखाई देते है। साराश यह है कि शरीर आदि काय को स्वाभाविक नही माना जा सकता। [१७८५]

अपि च, स्वभाव[1] क्या है? वस्तु है? निष्कारणता है? अथवा वस्तु-धर्म है? यदि तुम उसे वस्तु मानते हो तो उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु आकाश-कुसुम के समान उसकी उपलब्धि नही होती। अत. स्वभाव जैसी कोई वस्तु नही है। [१७८६]

स्वभाववाद का निराकरण

यदि आकाश-कुसुम के समान अत्यन्त अनुपलब्ध होने पर भी स्वभाव का अस्तित्व स्वीकार करते हो तो फिर अनुपलब्ध होने पर कर्म का अस्तित्व क्यो नही स्वीकार करते? जिस कारण के आधार पर स्वभाव का अस्तित्व मानते हो, उसी कारण से कर्म का अस्तित्व भी मान लेना चाहिए। [१७८७]

कल्पना करो कि मैं स्वभाव का ही दूसरा नाम कर्म रख देता हूँ तब तुम ही बताओ इसमे क्या दोष है? अपि च, यदि स्वभाव हमेशा सदृश ही रहे तो ही सदा एक-रूप कार्य बने, अर्थात् मनुष्य मर कर मनुष्य हो। किन्तु मैं पूछता हूँ कि स्वभाव हमेशा एक जैसा क्यों रहता है? यदि तुम यह कहो कि स्वभाव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह हमेशा सदृश रहता है, अत उससे सदृश भव ही होता है, तो फिर इस के उत्तर मे यह भी कहा जा सकता है कि स्वभाव का स्वभाव ही ऐसा है कि जिससे विसदृश भव उत्पन्न होता है। [१७८८]

पुनश्च स्वभाव मूर्त है अथवा अमूर्त? यदि स्वभाव मूर्त है तो उसमे और कर्म मे क्या भेद है? दोनो मूर्त होने से समान ही है। तुम जिसे स्वभाव कहते हो,

---

1. गाथा 1643 मे भी स्वभाववाद के विषय मे चर्चा की गई है, उसे देख लेना चाहिए। प्रस्तुत गाथा 1786-1793 को सम्मुख रख कर ही गाथा 1643 की टीका मे टीकाकार ने स्वभाववाद का खण्डन किया है।

उसे ही मैं कर्म कहता हूँ। इनमे केवल नामका भेद है। स्वभाव परिणामी होने के कारण दूध के समान सदा एक जैसा भी नही रह सकता। अथवा बादल के समान मूर्त होने के कारण भी स्वभाव एक जैसा नही रह सकता।

सुधर्मा—स्वभाव मूर्त नही, परन्तु अमूर्त है।

भगवान्—यदि स्वभाव अमूर्त है तो उपकरण-रहित होने से वह शरीर आदि कार्यो का उत्पादक नही हो सकता। जैसे कुम्भकार दण्डादि उपकरण के विना घट का निर्माण नही कर सकता वैसे स्वभाव भी उपकरण के अभाव मे शरीर आदि का निर्माण नही कर सकता अथवा अमूर्त होने से आकाश के समान वह कुछ भी नही कर सकता।

पुनश्च, शरीर आदि कार्य मूर्त है तो भी हे सुधर्मन्! अमूर्त स्वभाव से उसका निष्पादन सम्भव नही है, जैसे अमूर्त आकाश से मूर्त कार्य नही होता। मूर्त कर्म को माने विना सुख-सवेदन आदि भी घटित[1] नही होता। इसकी विशेष चर्चा अग्निभूति के साथ की ही गई है। अत. स्वभाव को अमूर्त भी नही माना जा सकता। [१७८९–९०]

सुधर्मा- ऐसी स्थिति मे दूसरे विकल्प के अनुसार स्वभाव अर्थात् निष्कारणता यह उपयुक्त प्रतीत होता है।

भगवान्—स्वभाव को निष्कारणता मान कर भी परभव मे सादृश्य कैसे घटित होगा? यदि सादृश्य का कोई कारण नही है तो वैसादृश्य का कारण भी क्यो माना जाए? अर्थात् सादृश्य के समान वैसादृश्य भी कारण-रहित हो जाएगा। फिर कारण न होने से भव का विच्छेद ही क्यो नही हो जाता? अर्थात् मोक्ष भी निष्कारण मानना चाहिए। यदि शरीरादि की उत्पत्ति कारण-विहीन है तो खर-विषाण की उत्पत्ति क्यो नही हो जाती? कारण के बिना शरीरादि का प्रतिनियत आकार भी कैसे होगा? बादलो के समान अनियत आकार वाला शरीर क्यो उत्पन्न नही होता? स्वभाव को निष्कारणता मानने से इन समस्त प्रश्नो का समाधान नही होता। अत अकारणता को स्वभाव नही माना जा सकता। [१७९१]

सुधर्मा—फिर स्वभाव को वस्तु-धर्म मानना चाहिए।

भगवान्—यदि स्वभाव वस्तु-धर्म हो तो वह सदा एक जैसा नही रह सकता, ऐसी दशा मे वह सदा सदृश शरीरादि को किस प्रकार उत्पन्न कर सकेगा?

सुधर्मा—किन्तु वस्तु-धर्मरूप स्वभाव सदा सदृश क्यो नही रह सकता?

भगवान्—कारण यह है कि वस्तु की पर्याय उत्पाद-स्थिति-भगरूप विचित्र होती हैं, अत वे सदा सदृश नही रह सकती। वस्तु के नीलादि धर्मो का अन्य रूप

---

1 गाथा 1625, 1626

मे परिणमन प्रत्यक्ष हो सिद्ध है। तुम स्वभाव को वस्तु-धर्म कहते हो, किन्तु यह तो बताओ कि वह आत्मा का धर्म है अथवा पुद्गल का ? यदि वह आत्मा का धर्म है तो आकाश के समान अमूर्त होने से वह शरीरादि का कारण नही बन सकता और यदि उसे पुद्गल का धर्म माना जाए तो कर्म का ही अपर नाम स्वभाव होगा, क्योंकि मै कर्म को पुद्गलास्तिकाय मे समाविष्ट करता हूँ। [१७९२]

अत हे सुधर्मन् ! यदि तुम स्वभाव को पुद्गलमय कर्मरूप वस्तु का परिणाम अर्थात् धर्म मानते हो और उसे ही इस जगत् के वैचित्र्य का कारण समझते हो तो इसमे कुछ भी दोष नही है, किन्तु तुम्हे यह न मानना चाहिए कि वह सदा सदृश ही है। मिथ्यात्व आदि हेतु से कर्म-परिणाम विचित्र बनता है और इसी कारण उसका कार्य भी विचित्र हो जाता है, यह बात तुम्हे स्वीकार करनी चाहिए। अत परभव मे एकान्त सादृश्य नही, किन्तु वैसादृश्य भी सम्भव है। [१७९३]

वस्तु समान तथा असमान है

अथवा सुधर्मन् ! वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि उसमे प्रत्येक क्षण कुछ समान तथा कुछ असमान पर्यायो की उत्पत्ति और विनाश हुआ ही करते है तथा उसका द्रव्याश तदवस्थ (एकरूप) रहता है। अत दूसरे क्षण मे वस्तु स्वय वैसी ही नही रहती है। अर्थात् पूर्वकाल मे वस्तु का जो रूप होता है, उत्तर-काल में उससे विलक्षण हो जाता है। जब अपनी ही समानता स्थिर नही रहती, तब दूसरे पदार्थो के साथ की समानता कैसे रह सकती है ? फिर भी हम यह नही कह सकते कि वह ससार के सभी पदार्थो से सर्वथा विलक्षण है। कारण यह है कि अस्तित्व आदि कुछ समान धर्मो के कारण ससार के सभी पदार्थो से उसका साम्य है, अत. अपनी पूर्व-कालिक अवस्था के साथ उन समान धर्मो के कारण उसका साम्य होगा ही, इसमे सन्देह नही है। [१७९४-९५]

साराश यह है कि इस भव मे भी ऐसी कोई वस्तु नही है जो सर्वथा असमान ही हो, तो फिर परभव मे ऐसा कैसे हो सकता है ? ठीक बात तो यह है कि ससार के सभी पदार्थ सदृश भी है और असदृश भी, नित्य भी है तथा अनित्य भी। वे अनेक विरोधी धर्मो से युक्त है। [१७९६]

समस्त विश्व के पदार्थो के साथ सत्वादि धर्मो के कारण समानता होने पर भी जैसे युवक की अपनी भूतकालीन बाल्यावस्था तथा भावी वृद्धावस्था के साथ समानता नही होती, वैसे ही जीव की भी अस्तित्व आदि धर्मो के कारण समस्त वस्तुओं से समानता होने पर भी परभव मे सर्वथा समानता नही होती, किन्तु समानता तथा असमानता दोनो होती है। [१७९७]

एक जीव प्रथम मनुष्य है, किन्तु मरकर जब वह देव बनता है तब सत्वादि धर्मों के कारण अपनी पूर्वावस्था के साथ तथा समस्त विश्व के साथ उसकी समानता होने पर भी देवत्वादि धर्मों के कारण पूर्वावस्था से असमानता है। उसी प्रकार वही मनुष्य जीव-रूप से नित्य है किन्तु मनुष्यादि पर्याय-रूप से अनित्य है। जीव जैसे समान और असमान धर्मों वाला है, वैसे ही वह नित्य और अनित्य भी है। उसमे इसी प्रकार अन्य अनेक विरोधी धर्मों की भी सिद्धि होती है। अत. परभव में जीव में सर्वथा सादृश्य नहीं है।

सुधर्मा—मेरे मतानुसार भी कारण के साथ कार्य का सर्वथा सादृश्य नहीं है। किन्तु जब मैं यह कहता हूँ कि 'पुरुष मर कर पुरुष होता है' तब मेरा तात्पर्य केवल जाति के अन्वय से है। अर्थात् जाति नहीं बदलती, यही कथन करना मुझे इष्ट है।

पर-भव में वही जाति नहीं

भगवान्—किन्तु यदि तुम पर-भव को कर्मजन्य मानते हो तो कर्म के हेतु की विचित्रता के कारण कर्म को भी विचित्र ही मानना पडेगा। फलत कर्म का फल भी विचित्र स्वीकार करना होगा। अत यह नहीं कहा जा सकता कि पर-भव मे उसी जाति का अन्वय रहता है। [१७९८]

अपि च, यदि जाति समान ही रहती है तो समान जाति मे भी जो उत्कर्ष-अपकर्ष दिखाई देता है, वह घटित नहीं होता। जो पुरुष इस भव मे सम्पत्तिशाली हो, उसे पर-भव मे भी वैसा ही रहना चाहिए। जो इस भव मे दरिद्र हो उसे पर-भव मे भी दरिद्र होना चाहिए। फलत पर-भव मे उत्कर्ष तथा अपकर्ष का अवकाश नही रहेगा। यदि यही बात हो तो दानादि का फल वृथा सिद्ध होगा, उसे निष्फल मानना पडेगा। किन्तु दानादि को निष्फल नहीं मान सकते। कारण यह है कि लोग इसी भावना से दानादि सत्कार्य मे प्रवृत्त होते हैं कि परलोक मे उन्हे देवताओं की समृद्धि मिले जिससे उनका उत्कर्ष हो। यदि सत्कार्य का कोई फल ही नहीं होता तो लोग दानादि मे क्यों प्रवृत्त होगे? [१७९९]

वेद-वाक्यों का समन्वय

अपि च, जाति-सादृश्य का यदि एकान्त आग्रह रखा जाए तो वेद के निम्न-लिखित वाक्य का विरोध होगा—"**शृगालो वै एष जायते य सपुरीषो दह्यते।**' अर्थात् 'जिसे मल-मूत्र सहित जलाया है वह शृगाल बनता है।" उक्त वेद-वाक्य से यह सिद्ध होता है कि पुरुष मरकर शृगाल हो सकता है। इसके अतिरिक्त '**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम**' अर्थात् 'स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करे' तथा '**अग्निष्टोमेन यमराज्यमभिजयति**' अर्थात् 'अग्निष्टोम से यमराज्य पर विजय प्राप्त करता है'

इत्यादि वाक्यों मे मनुष्य की स्वर्ग प्राप्ति तथा देवत्व प्राप्ति का उल्लेख है, यह भी बाधित हो जाएगा। अत परलोक मे जाति-सादृश्य का आग्रह नही रखना चाहिए।

सुधर्मा—फिर वेद मे यह कथन किसलिए किया है कि '**पुरुषो वै पुरुषत्व-मश्नुते पशवः पशु वम्**। अर्थात् पुरुप मर कर पुरुप होता है तथा पशु मर कर पशु होते है' आदि।

भगवान्—तुम इस वाक्य का यथार्थ अर्थ नही जानते, इसीलिए तुम्हे सशय होता है। इसका अर्थ यह है—जो मनुष्य इस भव मे सज्जन प्रकृति का होता है, विनयी, दयालु तथा अमत्सरी होता है, वह मनुष्य-नाम-कर्म तथा मनुष्य-गोत्रकर्म का बन्धन करता है। तदनन्तर वह मर कर उस कर्म के कारण पुन मनुष्यरूपेण जन्म ग्रहण करता है। सभी मनुष्य उक्त कर्म का बन्धन नही करते, अत अन्य पुरुप भिन्न प्रकार के कर्म-बन्धन के कारण अन्यान्य योनि मे जन्म लेते है। इसी प्रकार इस भव मे जो पशु माया के कारण पशु-नाम-कर्म तथा पशु-गोत्र-कर्म का उपार्जन करते है वे पर-भव मे भी पुन पशुरूप मे उत्पन्न होते हैं। सभी पशु उक्त कर्म का बन्धन नही करते, अत सभी पशुरूप मे अवतरित नही होते। इस प्रकार जीव की गति कर्मानुसारी है। [१८००]

उक्त प्रकार से जरा-मरण से रहित भगवान् ने जब उसके सशय का निवारण किया तब सुधर्मा ने अपने ५०० शिष्यो के साथ जिन दीक्षा अगीकार की। [१८०१]

छठे गणधर मण्डिक

बन्ध-मोक्ष-चर्चा

उन सब के दीक्षित होने का समाचार ज्ञात कर मण्डिक ने विचार किया कि मैं भगवान् के पास जाऊँ, उन्हे नमस्कार करू तथा उनकी सेवा करू। यह विचार कर वह भगवान् के पास गया। [१८०२]

जाति-जरा-मरण से रहित भगवान् ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के कारण उसे 'मण्डिक वसिष्ठ !' कह कर सम्बोधित किया। [१८०३]

बन्ध-मोक्ष का संशय

तथा उसे कहा—वेद मे एक वाक्य है '[1]**स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा, न मुच्यते मोचयति वा, न वा एष बाह्यमभ्यन्तरं वा वेद**' इससे तुम्हे यह प्रतीत होता है कि जीव के बन्ध और मोक्ष नही होते। किन्तु एक दूसरा वाक्य यह है— **न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत.**[2]।' इससे तुम यह समझते हो कि जीव सशरीर और अशरीर इन दो अवस्थाओ को प्राप्त होता है, अर्थात् जीव के बन्ध व मोक्ष है। इस प्रकार वेद वाक्यो का कथन परस्पर विरोधी होने से तुम्हारे मन मे सन्देह है कि वस्तुत. जीव के बन्ध व मोक्ष होते है या नही।

किन्तु तुम उक्त वाक्यो का यथार्थ अर्थ नही जानते, इसीलिए तुम्हें यह सन्देह है, मैं तुम्हे उनका ठीक-ठीक अर्थ बताऊँगा। [१८०४]

अपि च, तुम युक्ति से भी बन्ध-मोक्ष का अभाव सिद्ध करते हो, किन्तु वेद मे उनका सद्भाव प्रतिपादित किया है। इसलिए भी तुम्हें सशय होता है कि बन्ध-मोक्ष की सत्ता है या नही। बन्ध-मोक्ष के विरोध मे तुम ये युक्तियाँ देते हो—

यदि जीव का कर्म के साथ सयोग ही बन्ध है तो वह बन्ध सादि है या अनादि ? यदि वह सादि है तो प्रश्न होता है कि १ प्रथम जीव तथा तत्पश्चात् कर्म

---

1 अर्थात यह आत्मा सत्वादि गुणरहित विभु है। उसे पुण्य पाप का बन्ध नही होना अथवा उसका ससार नही है। वह कर्म से मुक्त नही होता, कर्म को मुक्त नही करता; अर्थात् वह अकर्ता है। वह बाह्य या आभ्यन्तर कुछ भी नही जानता, क्योकि ज्ञान प्रकृति का धर्म है।

2 अर्थात् सशरीर जीव के प्रियाप्रिय का, सुख-दु ख का नाश नही होता, किन्तु अशरीर अमूर्त जीव को प्रियाप्रिय का, सुख दु ख का स्पर्श भी नही होता।

उत्पन्न होता है ? अथवा २. प्रथम कर्म और तदुपरान्त जीव उत्पन्न होता है ? अथवा ३ वे दोनो साथ ही उत्पन्न होते है ? [१८०५]

इस प्रकार तुम सादि-वन्ध के विषय मे तीन विकल्पों की कल्पना करके यह मानते हो कि इन तीनों अपेक्षाओं से सादि बन्ध की सिद्धि नही होती । इस सम्वन्ध मे तुम ये युक्तियाँ देते हो ।

जीव कर्म से पूर्व नहीं हो सकता

१ कर्म से पहले आत्मा की उत्पत्ति शक्य नहीं हो सकती । कारण यह है कि खर-शृग के समान उसका कोई हेतु नहीं है। यदि आत्मा की उत्पत्ति निर्हेतुक मानी जाए तो उसका विनाश भी निर्हेतुक मानना होगा । [१८०६]

यदि कोई कहे कि जीव तो अनादि सिद्ध है अत उसकी उत्पत्ति का विचार ही युक्त नही, तो तुम उसका समाधान ऐसे करते हो कि जीव के अनादि सिद्ध होने पर उसका कर्म से सयोग ही नही होगा, क्योंकि वह सयोग कारण-शून्य होगा। यदि कारण के अभाव मे भी जीव का कर्म-सयोग माना जाए तो मुक्त जीव का भी कर्म-सयोग स्वीकार करना पडेगा, क्योंकि उसमे भी वह कारण-शून्य होगा । यदि मुक्त भी पुन बद्ध होते हों तो लोग ऐसी मुक्ति मे विश्वास ही क्यों रखेगे ? अतः जीव का वन्ध अहेतुक नही हो सकता । [१८०७]

तथा यदि जीव का वन्ध ही न माना जाएगा तो उसे नित्य मुक्त ही मानना पडेगा अथवा बन्ध के अभाव मे उसे मुक्त भी कैसे कह सकते है ? क्योंकि मोक्ष-व्यवहार वन्ध-सापेक्ष ही होता है । जैसे आकाश मे बन्ध नही है तो मोक्ष भी नहीं है, वैसे जीव में भी वन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव होगा । इस प्रकार तुम मानते हो कि जीव को कर्म से पहले स्वीकार करने पर वन्ध-मोक्ष व्यवस्था घटित नही होती है । [१८०८]

कर्म जीव से पहले सम्भव नहीं

२ तुम्हारे मतानुसार जीव से पहले कर्म की उत्पत्ति भी सम्भव नही है । कारण यह है कि जीव कर्म का कर्त्ता माना जाता है । यदि कर्त्ता ही न हो तो कर्म कैसे हो सकता है ? तथा जीव के समान ही कर्म की निर्हेतुक उत्पत्ति शक्य नही हो सकती । यदि कर्म की उत्पत्ति बिना किसी कारण से मानी जाएगी तो उसका विनाश भी कारण-विहीन मानना पडेगा । उत्पत्ति या विनाश निर्हेतुक नही हो सकते । अत कर्म को जीव से पहले नही माना जा सकता ।

जीव तथा कर्म युगपद् उत्पन्न नहीं हैं

३ यदि जीव और कर्म दोनों युगपद् उत्पन्न हों तो जीव को कर्त्ता तथा कर्म को उसका कार्य नही कहा जा सकता । जैसे लोक मे एक साथ उत्पन्न होने

वाले गाय के सीगो मे एक को कर्त्ता तथा दूसरे को कार्य नही कहा जा सकता, वैसे ही यदि जीव व कर्म एक साथ उत्पन्न हो तो उनमे भी कर्त्ता-कर्म का व्यपदेश (व्यवहार) घटित नही हो सकता । इस प्रकार तुम यह मानते हो कि जीव व कर्म का सयोग सादि मानने मे अनुपपत्ति है । [१८०९-१०]

तुम्हे जीव व कर्म का अनादि सम्बन्ध भी अयुक्त प्रतीत होता है। कारण यह है कि उन्हे अनादि मानने पर जीव का मोक्ष कभी भी सम्भव नही हो सकता। जो वस्तु अनादि होती है वह अनन्त भी होती है, जैसे कि जीव तथा आकाश का सम्बन्ध अनादि भी है और अनन्त भी। इसी प्रकार जीव व कर्म का सम्बन्ध भी अनादि होने पर अनन्त मानना पडेगा। अनन्त होने पर मोक्ष की सम्भावना ही नही रहती, क्योकि कर्म-सयोग का अस्तित्व हमेशा बना रहेगा। [१८११]

इस प्रकार पूर्वोक्त वेदवाक्यो के अतिरिक्त तुम युक्ति के आधार पर भी यही मानते हो कि जीव मे बन्ध व मोक्ष घटित नही होते, किन्तु वेदवाक्य मे इन दोनो के अस्तित्व का भी प्रतिपादन है। अत तुम्हे बन्ध-मोक्ष की वास्तविक सत्ता मे सन्देह है, किन्तु तुम्हे ऐसा सशय नही करना चाहिए । मैं तुम्हे इसका कारण बताता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो । [१८१२]

मण्डिक—कृपया मेरे सशय का निवारण करे तथा बताएँ कि मेरी युक्ति मे क्या दोष है ? तथा जीव के बन्ध-मोक्ष कैसे सम्भव है ?

सशय-निवारण—कर्म-सन्तान अनादि है

भगवान्—तुम्हारे द्वारा उपस्थित की गई युक्ति का सार यह है कि जीव व कर्म का सम्बन्ध सिद्ध नही हो सकता। इस विषय का स्पष्टीकरण यह है कि, शरीर तथा कर्म की सन्तान अनादि है, क्योकि इन दोनो मे परस्पर कार्यकारण भाव है—बीजांकुर के समान। जैसे बीज से अँकुर तथा अँकुर से बीज होता है और यह क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है, अत इन दोनो की सन्तान अनादि है, उसी प्रकार देह से कर्म और कर्म से देह की उत्पत्ति का क्रम अनादि-काल से चला आ रहा है, इसलिए इन दोनो की सन्तान अनादि है।

अत तुम्हारे इन विकल्पो का कोई अवकाश नही रहता कि जीव पहले या कर्म पहले। कारण यह है कि उनकी सन्तान अनादि है। कर्म की अनादि सन्तान की सिद्धि निम्न प्रकारेण होती है—

शरीर से कर्म उत्पन्न होता है—अर्थात् कर्म शरीर का कार्य है । किन्तु यदि शरीर ने कर्म को उत्पन्न किया है तो शरीर भी पूर्व-कर्म का कार्य है, अर्थात् वह भी कर्म से उत्पन्न होता है । पूर्व मे जिन कर्मो ने कर्मोत्पादक शरीर को उत्पन्न किया, वे कर्म भी पूर्व-शरीर से उत्पन्न हुए होते हैं। अत कर्म और देह परस्पर कार्य-

कारण है और उन दोनो की सन्तान अनादि है। फलत कर्म की सन्तान अनादि सिद्ध हाती है।

मण्डिक—कर्म की सन्तान चाहे अनादि हो, किन्तु यहाँ जीव के बन्ध-मोक्ष की चर्चा हो रही है। उस चर्चा के साथ इस कर्म-सन्तान के अनादित्व का क्या सम्बन्ध है ?

जीव का बन्ध

भगवान्—सम्बन्ध है ही, क्योंकि कर्म जो कुछ कराता है वही बन्ध है, अत कर्म-सन्तान के अनादि सिद्ध होने पर बन्ध भी अनादि सिद्ध होता है [१८१३–१४]

मण्डिक—कर्म-सन्तान को अनादि सिद्ध कर आप बन्ध की सम्भावना का कथन करते है, किन्तु आप ने तो शरीर व कर्म मे परस्पर कार्यकारण भाव सिद्ध किया है। उससे जीव का क्या सम्बन्ध है ? यह कैसे कहा जा सकता है कि जीव व कर्म का सयोग अनादि है ?

भगवान्—शरीर व कर्म का कार्यकारण भाव यथार्थ है, किन्तु यदि कोई कर्त्ता न हो तो शरीर व कर्म मे से किसी की भी उत्पत्ति नही हो सकती। अत. हमे स्वीकार करना चाहिए कि जीव कर्म द्वारा शरीर उत्पन्न करता है, अत वह शरीर का कर्त्ता है तथा जीव शरीर द्वारा कर्म को उत्पन्न करता है, अत वह कर्म का भी कर्त्ता है, जैसे कि दण्ड द्वारा घट को उत्पन्न करने वाला कुम्भकार घट का कर्त्ता कहलाता है। इस प्रकार यदि शरीर व कर्म की सन्तान अनादि हो तो जीव को भी अनादि मानना चाहिए और उसके बन्ध को भी अनादि ही समझना चाहिए। [१८१५]

मण्डिक—किन्तु कर्म तो अतीन्द्रिय होने के कारण असिद्ध है, आप उसे कारण कैसे कह सकते है ?

कर्म-सिद्धि

भगवान्—कर्म अतीन्द्रिय होने पर भी असिद्ध नही है क्योकि कार्य द्वारा उसकी सिद्धि होती है। शरीर आदि की उत्पत्ति का कोई कारण होना चाहिए, क्योकि वे घटादि के समान कार्य है। जैसे घटादि कार्य दण्डादि करण के बिना उत्पन्न नही होते, वैसे ही शरीर-रूपी कार्य करण के बिना उत्पन्न नही हो सकता। शरीर कार्य मे जो करण है, वही कर्म कहलाता है।

अथवा जीव व शरीर इन दोनो से किसी करण का सम्बन्ध होना चाहिए, क्योकि उनमे एक कर्त्ता है और दूसरा कार्य है। जैसे कुम्भकार तथा घट ये दोनो कर्त्ता-कार्य है और दण्ड उनका करण है, वैसे ही आत्मा व शरीर कर्त्ता तथा कार्य-रूप है तो उनका कोई करण मानना चाहिए।

अपि च, जैसे चेतन की कृषि आदि क्रिया सफल होती है वैसे ही दानादि क्रिया भी सफल होनी चाहिए। उसका जो फल है, वही कर्म है। यह चर्चा अग्निभूति के साथ की ही गई है। जैसे उसने कर्म का अस्तित्व स्वीकार किया, वैसे तुम्हे भी स्वीकार करना चाहिए। [१८१६]

बन्ध अनादि सान्त है

पुनश्च, तुमने जो यह बात कही है कि जो अनादि होता है, उसे अनन्त भी होना चाहिए, वह अयुक्त है। अत यह नही कहा जा सकता कि सन्तान अनादि है, इसलिए वह अनन्त भी होनी चाहिए। कारण यह है कि बीज-अँकुर की सन्तान यद्यपि अनादि है तथापि उसका अन्त हो जाता है। इसी प्रकार अनादि कर्म-सन्तान का भी नाश हो सकता है। [१८१७]

मण्डिक—यह कैसे ?

भगवान्—बीज तथा अंकुर मे मे किसी का भी यदि अपने कार्य को उत्पन्न करने से पूर्व ही नाश हो जाए तो बीजांकुर की सन्तान का भी अन्त हो जाता है। यही बात मुर्गी और अण्डे के विषय मे भी कही जा सकती है कि उन दोनो की सन्तान अनादि होने पर भी उस अवस्था मे नष्ट हो जाती है, जब दोनो मे से कोई एक अपने कार्य को उत्पन्न करने के पूर्व ही नष्ट हो जाए। [१८१८]

अपि च, सोने तथा मिट्टी का सयोग अनादि सन्ततिगत है, फिर भी अग्नितापादि से उस सयोग का नाश हो जाता है। इसी प्रकार जीव तथा कर्म का अनादि सयोग भी सम्यक् श्रद्धा आदि रत्नत्रय द्वारा नष्ट हो सकता है। [१८१९]

मण्डिक—जीव तथा कर्म का सयोग जीव और आकाश के सयोग के समान अनादि अनन्त है ? अथवा सोने और मिट्टी के समान अनादि सान्त है ?

भगवान्—जीव मे दोनो प्रकार का सयोग घटित हो सकता है, इसमे कुछ भी विरोध नही है। [१८२०]

मण्डिक—यह कैसे सम्भव है ? ये दोनो सम्बन्ध परस्पर विरुद्ध है। अत जीव मे यदि अनादि अनन्त सम्बन्ध हो तो अनादि सान्त सम्बन्ध नही होना चाहिए, अनादि सान्त हो तो अनादि अनन्त नही होना चाहिए। दोनो सम्बन्ध एकत्र नही हो सकते, क्योकि दोनो मे विरोध है।

भगवान्—मैंने जीव सामान्य की अपेक्षा से यह बात कही है कि उसमे उक्त दोनो प्रकार के सम्बन्ध है। जीव विशेष की अपेक्षा से विचार किया जाए तो अभव्य जीवो मे अनादि अनन्त सयोग है क्योकि उनकी मुक्ति नही होती है, अत उनके कर्म-सयोग का नाश कभी भी नही होता। भव्य जीवो मे अनादि सान्त सयोग है, क्योकि वे कर्म-सयोग का नाश कर मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखते है।

भव्य-अभव्य का भेद

मण्डिक—सभी जीव समान है, उनमे भव्य-अभव्य का भेद क्यो ? यह तो नही कहा जा सकता कि सब जीवो के समान होने पर भी जैसे नारक, तिर्यंच आदि भेद होते है वैसे ही भव्य-अभव्य का भेद भी सम्भव है। कारण यह है कि जीव के नारकादि भेद कर्मकृत है, स्वाभाविक नही है, किन्तु आप भव्य-अभव्य का भेद कर्मकृत न मान कर स्वाभाविक मानते है। अत प्रश्न होता है कि जीव के ऐसे स्वाभाविक भेद मानने का क्या कारण है ? [१८२१-२२]

भगवान्—जैसे जीव तथा आकाश मे द्रव्यत्व, सत्व, प्रमेयत्व, ज्ञेयत्व आदि धर्मो के कारण समानता होने पर भी जीवत्व तथा अजीवत्व, चेतनत्व तथा अचेतनत्व आदि के कारण स्वभाव भेद है वैसे ही समस्त जीव जीवत्व की अपेक्षा से समान होने पर भी भव्यत्व तथा अभव्यत्व की अपेक्षा से स्वभावत भिन्न होकर भव्य और अभव्य हो सकते है। [१८२३]

मण्डिक—यदि भव्यत्व स्वाभाविक है तो जीवत्व के समान उसे नित्य भी मानना चाहिए तथा यदि भव्यत्व को नित्य माना जाए तो जीव कभी मुक्त नही हो सकता, क्योकि मुक्त जीवो मे भव्य-अभव्य का भेद नही होता। [१८२४]

अनादि होने पर भी भव्यत्व का अन्त

भगवान्—घटादि कार्य का प्रागभाव अनादि स्वभाव-रूप होने पर भी घटोत्पत्ति होने पर नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार भव्यत्व स्वभाव अनादि होने पर भी ज्ञान, तप तथा अन्य क्रियाओ के आचरण से नष्ट हो जाता है। [१८२५]

मण्डिक—आपने प्रागभाव का उदाहरण दिया, किन्तु वह खर-विषाण के समान अभाव-रूप होने से अवस्तु है। अत. उसका उदाहरण नही दिया जा सकता।

भगवान्—उसका उदाहरण दिया जा सकता है। कारण यह है कि घट प्रागभाव अवस्तु नही किन्तु वस्तुरूप ही है। वह अनादि काल से विद्यमान एक पुद्गल सघात के स्वरूप मे है। अन्तर केवल यह है कि वह पुद्गल सघात घटाकार रूप मे परिणत नही हुआ, इसीलिए उसे घट-प्रागभाव कहते है। [१८२६]

मण्डिक—आपके कथनानुसार भव्यत्व का नाश मान भी लिया जाए तो इसमे एक और आपत्ति है। ससार से भव्यत्व का किसी समय उच्छेद हो जाएगा, जैसे धान्य के भण्डार से थोडा-थोडा धान्य निकालते रहे तो एक दिन वह खाली हो जाएगा। इसी प्रकार भव्य जीवो के क्रमश मोक्ष चले जाने पर ससार मे भव्य जीवो का अभाव हो जाएगा।

भव्यों का मोक्ष मानने से भी संसार खाली नहीं होता

भगवान्—ऐसा नहीं हो सकता। अनागत काल तथा आकाश के समान भव्य भी अनन्त हैं, अतः संसार कभी भी भव्यों से शून्य नहीं हो सकता। अनागत काल की समय-राशि में प्रत्येक क्षण कमी होती रहती है, किन्तु वह अनन्त समय प्रमाण है, अतः उसका कभी भी उच्छेद सम्भव नहीं है। अथवा आकाश के अनन्त प्रदेशों में से कल्पना द्वारा प्रति समय एक-एक प्रदेश अलग किया जाए तो भी आकाश के प्रदेशों का उच्छेद नहीं होता। इसी प्रकार भव्य जीव भी अनन्त है, प्रत्येक समय उनमें से कुछ के मोक्ष जाने पर भी भव्य-राशि का कभी उच्छेद नहीं होता। [१८२७]

अपि च, अतीत काल तथा अनागत काल का परिणाम समान होता है। अतीत काल में भव्यों का अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध हुआ है और वह निगोद के जीवों का अनन्तवाँ भाग है। अतः अनागत काल में भी उतना भाग ही सिद्ध हो सकेगा। कारण यह है कि उसका परिमाण अतीत काल जितना ही है। अतः संसार से कभी भी भव्य जीवों का उच्छेद सम्भव नहीं है, सम्पूर्ण काल में भी भव्य जीवों के उच्छेद का प्रसंग नहीं आएगा।

मण्डिक—किन्तु आप यह कैसे सिद्ध करते हैं कि भव्य अनन्त हैं तथा सर्वकाल में उनका अनन्तवाँ भाग ही मुक्त होता है?

भगवान्—आकाश तथा काल के समान भव्य जीव भी अनन्त हैं। जैसे इन दोनों का उच्छेद नहीं होता वैसे भव्य जीवों का भी उच्छेद नहीं होता। अतः यह बात स्वीकार करनी चाहिए कि भव्य जीवों का अनन्तवाँ भाग ही मुक्त होता है। अथवा इस युक्ति की आवश्यकता ही नहीं है। यह बात मैं कहता हूँ, इसलिए भी तुम्हें मान लेनी चाहिए। [१८२८-३०]

मण्डिक—मैं आपके कथन को सत्य क्यों मानूँ?

सर्वज्ञ के वचन को प्रमाण मानो

भगवान्—इतनी चर्चा से तुम्हें यह तो विश्वास हो गया होगा कि मैंने तुम्हारे संशय से लेकर अब तक जो कुछ कहा है, वह सत्य ही है। उसी आधार पर मेरा यह कथन भी तुम्हें यथार्थ मानना चाहिए। अथवा यह समझो कि मैं सर्वज्ञ हूँ (वीतराग हूँ), इस कारण भी तुम्हें मेरी बात मध्यस्थ-ज्ञाता की बात के समान सच्ची माननी चाहिए। [१८३१]

तुम्हारे मन में यह विचार उत्पन्न होगा कि "मैं यह कैसे मानूँ कि आप सर्वज्ञ हैं।" किन्तु तुम्हारा यह संशय अयुक्त है। कारण यह है कि तुम जानते हो कि मैं सब के सभी संशयों का निवारण करता हूँ। यदि मैं सर्वज्ञ न होऊँ तो सर्व-संशय का निवारण न कर सकूँ। अतः तुम्हें मेरी सर्वज्ञता के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए।

मण्डिक—किन्तु दूसरा ऐसा कोई व्यक्ति दिखाई नही देता जो सर्वज्ञ हो और सर्व-सशय का निवारण करने वाला हो। अत. दृष्टान्त के अभाव मे आपको सर्वज्ञ कैसे माना जाए ?

भगवान्—दृष्टान्त की क्या आवश्यकता है ? यह बात सिद्ध है कि ज्ञान के बिना सशय का निवारण नही हो सकता। तुम मे से किसी को जो भी सशय हो, वह तुम मेरे सामने रखो और देखो कि मै उन सब का निवारण करता हूँ या नही ? सर्व-सशय का निवारण सर्वज्ञ के बिना सम्भव ही नही है। जब मैं सब सशयो का निराकरण करता हूँ तो तुम सब मुझे सर्वज्ञ क्यों नही मानोगे ? [१८३२]

मण्डिक—आपने कहा है कि भव्यों का अनन्तवाँ भाग ही मुक्त हो सकता है, अर्थात् कुछ भव्य ऐसे भी हैं जो कभी मुक्त न होंगे। ऐसी स्थिति मे उन्हें अभव्य ही कहना चाहिए। आप उन्हे भव्य क्यो कहते है ? [१८३३]

मोक्ष में न जाने वाले भव्य क्यों ?

भगवान्—भव्य का अर्थ योग्य है—अर्थात् उस जीव मे मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है। जिनमें योग्यता है वे सब मोक्ष जाते ही है, यह बात नही कही जा सकती। जिन भव्य जीवो को मोक्ष जाने के लिए सम्पूर्ण सामग्री प्राप्त होती है, वही मोक्ष जाते है। अत भव्य जीव के मुक्त न होने का कारण सामग्री का अभाव है, योग्यता का अभाव नही। सुवर्ण, मणि, पाषाण, चन्दन, काष्ठ इन सब मे प्रतिमा बनने की योग्यता है, फिर भी ये सभी द्रव्य प्रतिमा नही बनते, किन्तु शिल्पी इनमें से ही मूर्ति का निर्माण कर सकता है, अर्थात् उक्त जिन द्रव्यो मे से प्रतिमा का निर्माण न हुआ हो अथवा न होना हो, उन्हे प्रतिमा के अयोग्य नही कहा जा सकता। इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को कभी मोक्ष नही जाना है उन्हें अभव्य नही कहा जा सकता। साराँश यह है कि ऐसा नियम बनाया जा सकता है कि जो द्रव्य प्रतिमा योग्य है उनकी ही प्रतिमा बनती है, दूसरों की नही. तथा जो जीव भव्य है वही मोक्ष जाते है अन्य नही। किन्तु यह नियम नही बनाया जा सकता कि जो द्रव्य प्रतिमा योग्य है, उनकी प्रतिमा अवश्य बननी ही है और जो जीव भव्य है वे मोक्ष जाते ही है। [१८३४]

अथवा इस बात का स्पष्टीकरण इस प्रकार भी हो सकता है—कनक तथा कनक-पाषाण के संयोग मे वियोग की योग्यता है—अर्थात् कनक को कनक-पाषाण से पृथक् किया जा सकता है, किन्तु यह बात नही होती कि सभी कनक-पाषाणो से कनक अलग होता हो। जिसे वियोग की सामग्री मिलती है, उसमे ही कनक पृथक् होता है तथा सामग्री होने पर भी कनक सर्व प्रकार के पाषाण से नही प्रत्युत कनक पाषाण से ही अलग होता है। अत यह कनक-पाषाण की ही विशेषता समझी जाती है, सब पाषाणों का नही। इसी प्रकार चाहे सभी भव्य मोक्ष न जाएँ, तथापि भव्य ही मुक्त होते है, इस आधार पर भव्यो मे ही मोक्ष की योग्यता मानी जाती है।

कोई भी अभव्य मोक्ष नही जाता, अतः अभव्यों मे उस योग्यता का अभाव माना जाता है। [१८३५-३६]

मोक्ष कृतक होने पर भी नित्य है

मण्डिक—यदि मोक्ष की उत्पत्ति उपाय से होती हो तो उसे कृतक (जन्य) मानना चाहिए और जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, नित्य नही, अत घटादि के समान कृतक होने के कारण मोक्ष को भी अनित्य मानना चाहिए।

भगवान्—यह नियम व्यभिचारी है कि जो कृतक होता है वह अनित्य ही होता है। घटादि का प्रध्वसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है। यदि प्रध्वसाभाव को अनित्य माना जाएगा तो प्रध्वसाभाव का अभाव हो जाने के कारण घटादि पदार्थ पुन उपस्थित हो जाएँगे, अत. प्रध्वसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है। इसी प्रकार कृतक होने पर भी मोक्ष को नित्य मानने मे क्या आपत्ति हो सकती है? [१८३७]

मण्डिक—प्रध्वसाभाव अभावस्वरूप होने से अवस्तु है, अत. उसके उदाहरण मे उक्त नियम बाधित नही होता।

भगवान - प्रध्वसाभाव केवल अभाव-स्वरूप नही है, किन्तु वह घट-विनाश से विशिष्ट पुद्गल-सघात-रूप है, अत वह भावरूप वस्तु है। इसलिए उसका उदाहरण दिया जा सकता है। [१८३८]

मोक्ष एकान्ततः कृतक नही

अथवा इस बात को जाने दे। मैं तुम्हारे प्रश्न का समाधान अन्य प्रकार से करता हूँ। तुमने मोक्ष को कृतक कहा है और यह अनुमान किया है कि कृतक होने से उसे अनित्य होना चाहिए। किन्तु मोक्ष का अर्थ इतना ही है कि कर्म जीव से अलग हो जाते हैं, अत. मै तुमसे पूछता हूँ कि कर्म-पुद्गलो के जीव से मात्र पृथक् होने पर जीव मे एकान्त रूप से ऐसी क्या विशिष्टता आई कि जिससे तुम मोक्ष को कृतक मानते हो। जैसे आकाश मे विद्यमान घडे को मुद्गर से फोडने पर आकाश मे कोई विशेषता नही आती, वैसे ही कर्म को तपस्यादि उपायो से नष्ट करने पर जीव मे किसी नई वस्तु की उत्पत्ति नही होती है। अत मोक्ष को एकान्तरूप से कृतक कैसे माना जा सकता है?

मण्डिक—आप कर्म के विनाश को मोक्ष कहते है। जैसे मुद्गर से घट का नाश होने पर उस विनाश को कृतक माना जाता है, वैसे ही तपस्यादि से किया गया कर्म-विनाश भी कृतक होगा। अत मोक्ष भी कृतक और अनित्य सिद्ध होगा।

भगवान् – तुम घट-विनाश और कर्म-विनाश को कृतक मानते हो, किन्तु तुम इन दोनो के स्वरूप को नही जानते, इसीलिए उन्हे कृतक कहते हो। वस्तुत घट-विनाश केवल घट-रहित आकाश ही है, अन्य कुछ नही। आकाश सदा अवस्थित

होने के कारण नित्य ही है, अत. उसे कृतक कैसे कह सकते हैं? मुद्गर के उपस्थित होने से आकाश में कोई नवीनता नहीं आई। फिर घट-विनाश-रूप केवलाकाश को कृतक क्यों कहा जाए? इसी प्रकार कर्म-विनाश का भाव भी यही है कि कर्मरहित केवल आत्मा ही है। यहाँ तपस्यादि से आत्मा में किसी नवीनता की उत्पत्ति नहीं हुई, क्योंकि आकाश के समान सदा अवस्थित होने से आत्मा नित्य ही है। अतः मोक्ष को अनित्य अथवा एकान्त कृतक नहीं माना जा सकता। यदि तुम मोक्ष को पर्याय दृष्टि से कथचित् अनित्य मानते हो तो इसमे मुझे कोई आपत्ति नही है; क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि विश्व के समस्त पदार्थ द्रव्य तथा पर्याय दोनों की अपेक्षा से नित्य और अनित्य हैं। अत: मोक्ष नित्य भी है तथा अनित्य भी। [१८३९]

मण्डिक—घडे के फूट जाने पर उसके कपाल के साथ आकाश का सयोग बना रहता है, इसी प्रकार जीव ने जिन कर्मों की निर्जरा कर दी हो, उनके साथ उसका सयोग बना रहना चाहिए, क्योंकि कर्म और जीव लोक मे ही रहते है। फिर जीव व कर्म का बन्ध क्यों नही होता?

भगवान्—जैसे निरपराधी को कैद नही मिलती, वैसे ही आत्मा मे भी बन्ध-कारण का अभाव होने से वह पुन बद्ध नहीं होती। मुक्त जीव अशरीर है, अत. कर्म-बन्ध के कारणभूत मन-वचन-काय का योग न होने से उसका पुन' कर्म-बन्ध नही होता। केवल कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा के साथ सयोग मात्र होने से कर्म-बन्ध नही माना जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी जीवो का समान भाव से कर्म बन्ध होना चाहिए, कारण यह है कि कर्म-वर्गणा के पुद्गल सर्वत्र विद्यमान हैं। इस प्रकार अतिप्रसगादि दोष होने के कारण जीव-कर्म-पुद्गलो का केवल सयोग ही कर्म-बन्धन का कारण नही माना जा सकता। जीव के मिथ्यात्वादि दोष तथा योग के कारण बन्ध होता है। [१८४०]

मण्डिक—सौगत मानते है कि आत्मा बार-बार ससार मे आती है, इस विषय मे आपका क्या मत है?

मुक्त पुन. संसार में नहीं आते

भगवान्—मुक्त जीव ससार मे पुन' जन्म नहीं लेता, क्योंकि उनमे जन्म के कारण का अभाव है। जैसे बीज के अभाव मे अँकुर की उत्पत्ति नही होती वैसे ही जन्म के बीज (कर्म) मुक्तावस्था मे नही होते, अत. मुक्त जीव सदा मुक्त ही रहते है। [१८४१]

पुनश्च, मुक्तात्मा नित्य है क्योंकि वह द्रव्य होने पर भी अमूर्त है, जैसे आकाश।

मण्डिक—अमूर्त द्रव्य होने के कारण आप आत्मा को आकाश के समान नित्य मानते है। इसी हेतु के आधार पर उसे आकाश के समान ही सर्वव्यापी भी मानना चाहिए।

आत्मा व्यापक नहीं है

भगवान्—आत्मा को सर्वव्यापी नही माना जा सकता, क्योकि इसमे अनुमान बाधक है। बाधक अनुमान यह है—आत्मा असर्वगत है, क्योकि वह कर्त्ता है; कुम्भकार के समान। आत्मा मे कर्तृत्व धर्म सिद्ध है। यदि आत्मा को कर्त्ता न माना जाए तो वह भोक्ता अथवा द्रष्टा भी नही हो सकता, अत उसे कर्त्ता मानना ही चाहिए। [१८४२]

मण्डिक—क्या आप आत्मा को एकान्त नित्य मानते है ?

आत्मा नित्य-अनित्य है

भगवान्—नही। जो लोग आत्मा को बौद्धो के समान एकान्त अनित्य कहते है, उनके निराकरण के लिए आत्मा का नित्यत्व सिद्ध किया है। वस्तुत आत्मा के नित्यत्व के सम्वन्ध मे मुझे एकान्त आग्रह नही है। मेरी मान्यतानुसार तो सभी पदार्थ उत्पाद, स्थिति, भग इन तीनो धर्मों से युक्त होने के कारण नित्या-नित्य हैं। जव केवल पर्याय की विवक्षा हो तो पदार्थ अनित्य कहलाता है। द्रव्य की अपेक्षा से उसे नित्य कहते है। जैसे कि घट के विषय मे कहा जाता है कि मिट्टी का पिण्ड नष्ट होता है तथा मिट्टी का घडा उत्पन्न होता है, किन्तु मिट्टी तो विद्यमान ही रहती है। इसी प्रकार मुक्त जीव के विषय मे कह सकते है कि वह ससारी आत्मा के रूप मे नष्ट हुआ, मुक्त आत्मा के रूप मे उत्पन्न हुआ तथा जीवत्व (सोपयोगत्वादि) धर्मों की अपेक्षा से जीव-रूप मे स्थिर रहा। उस मुक्त जीव के विषय मे भी हम कह सकते है कि वह प्रथम समय के सिद्ध रूप मे नष्ट हुआ, द्वितीय समय के सिद्ध रूप मे उत्पन्न हुआ, किन्तु द्रव्यत्व, जीवत्वादि धर्मों की अपेक्षा से अवस्थित ही है। अत पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है और द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है। [१८४३]

मण्डिक—यदि आत्मा सर्वगत नही तो मुक्तात्मा कहाँ रहती है ?

भगवान्—सौम्य ! मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग मे रहती है।

मण्डिक—मुक्त जीव मे विहायोगति नाम कर्म का अभाव है। ऐसी स्थिति मे वह लोक के अग्रभाग मे कैसे गमन करता है ?

मुक्त लोक के अग्रभाग में रहते हैं

भगवान्—जव जीव के सभी कर्म नष्ट हो जाते है और वह कर्म-भार से हलका हो जाता है तव कर्म के बिना भी वह अपने ऊर्ध्वगति-रूप स्वाभाविक परिणाम के कारण एक ही समय में ऊँचे लोकान्त तक पहुँच जाता है। सकल कर्म के विनाश से जैसे जीव को सिद्धत्व पर्याय की प्राप्ति होती है, वैसे ही उक्त ऊर्ध्वगति परिणाम की भी। अत वह एक ही समय मे लोक के अग्रभाग मे पहुँच जाता है।

अपि च, मुक्त जीव की ऊर्ध्व-गति के समर्थन के लिए शास्त्र मे अनेक दृष्टान्त भी दिए गए है । वे ये हैं—तूम्बडा, एरण्ड के बीज, अग्नि, धूम तथा धनुष से छोडे गए वाण मे जैसे पूर्व प्रयोग से गति होती है, वैसे ही सिद्ध की गति समझनी चाहिए[1] ।

इस विषय को समझने के लिए कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। तूम्बड पर मिट्टी के अनेक लेप कर यदि उसे पानी मे डुवा दिया जाए तो क्रमश उन लेपो के उतर जाने पर जैसे तूम्बडा पानी के ऊपर आ जाता है, वैसे जीव भी कर्म-लेप से मुक्त होकर उर्ध्वगति करता है, कोप मे विद्यमान एरण्ड वीज-कोष के टूट जाने पर जैसे ऊपर उडता है वैसे ही जीव भी कर्म-कोप से वाहर निकलता है और स्वाभाविकरूपेण ऊर्ध्वगमन करता है जैसे अग्नि और धूम स्वभावत ही ऊपर जाते है वैसे ही जीव भी स्वभावत तथा गति-परिणाम से ऊर्ध्व-गमन करता है । जैसे धनुष खीच कर वाण चलाने से अथवा कुम्भार के चक्र की पूर्व-प्रयोग से गति होती है, वैसे जीव भी ऊर्ध्वगति करता है । [१८४४]

मण्डिक—क्या अरूपी द्रव्य भी सक्रिय होता है ? आकाशादि अरूपी पदार्थ निष्क्रिय ही है तो आप आत्मा को सक्रिय कैसे मानते है ?

आत्मा अरूपी होकर भी सक्रिय

भगवान्—मै तुमसे पूछता हूँ कि जव अरूपी आकाश अचेतन है तो अरूपी आत्मा चेतन क्यो है ? अरूपी होने पर भी जैसे चैतन्य आत्मा का विशेष धर्म है वैसे ही सक्रियत्व भी आत्मा का विशेष धर्म है। इस मे विरोध कहाँ है ? [१८४५]

पुनश्च, अनुमान से भी आत्मा का सक्रियत्व सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है—आत्मा सक्रिय है, कर्त्ता होने से, कुम्भकार के समान। अथवा भोक्ता होने से आत्मा सक्रिय है। अथवा देह-परिस्पन्द के प्रत्यक्ष होने से आत्मा सक्रिय होनी चाहिए। जैसे यन्त्र-पुरुष मे परिस्पन्द दृग्गोचर होता है, इसलिए वह सक्रिय है, इसी प्रकार आत्मा मे भी देह-परिस्पन्द प्रत्यक्ष होने से वह भी सक्रिय है। [१८४६]

मण्डिक—परिस्पन्द देह मे है अत उसे सक्रिय मानना चाहिए, आत्मा को नहीं।

भगवान्—देह के परिस्पन्द मे आत्मा का प्रयत्न कारण-रूप है, अत आत्मा को सक्रिय माना गया है।

मण्डिक—किन्तु प्रयत्न तो क्रिया नहीं है, अत प्रयत्न के कारण आत्मा सक्रिय नहीं मानी जा सकती।

---

1 लाउ य एरण्डफले अग्गी धूमो य इसु धणुविमुक्को ।
गइ पुव्वपओगेणं एवं सिद्धाण वि गई उ ॥

भगवान्—प्रयत्न को चाहे क्रिया न माने, किन्तु जो पदार्थ आकाश के समान निष्क्रिय होता है उसमे प्रयत्न की सम्भावना नही है, अत आत्मा को सक्रिय मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रयत्न भी वस्तुत क्रिया ही है। यदि यह कल्पना की जाए कि प्रयत्न क्रिया नही है तो प्रश्न होता है कि अमूर्तरूप प्रयत्न देह के परिस्पन्द मे कैसे कारण वनता है ?

मण्डिक—प्रयत्न को किसी अन्य हेतु की अपेक्षा नही है, वह स्वत ही देह के परिस्पन्द का हेतु वनता है।

भगवान्—तो फिर यही मानलो कि स्वत आत्मा से ही देह-परिस्पन्द होता है। व्यर्थ प्रयत्न को मानने की क्या आवश्यकता है ?

मण्डिक—देह-परिस्पन्द का कारण किसी अदृष्ट को ही मान लेना चाहिए। आत्मा निष्क्रिय होने से कारण नही बन सकती।

भगवान्—वह अदृष्ट कारण मूर्त है या अमूर्त ? यदि अमूर्त है तो आत्मा स्वयमेव देह-परिस्पन्द का कारण क्यो नही बनती ? आत्मा भी अमूर्त है। यदि अदृष्ट-रूप कारण मूर्त है तो वह कार्मण देह ही हो सकता है, अन्य नही। उस कार्मण शरीर मे भी यदि परिस्पन्द हो तो ही वह वाह्य शरीर के परिस्पन्द का कारण बन सकता है, अन्यथा नही। अत प्रश्न होता है कि उस कार्मण शरीर के परिस्पन्द का क्या कारण है ? यदि उसका कोई कारण है तो उसके परिस्पन्द का भी कोई अन्य कारण होना चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसग आता है। यदि कार्मण देह मे स्वभावत ही परिस्पन्द माना जाए तो वाह्य शरीर मे भी स्वभावत परिस्पन्द मानना चाहिए। अदृष्ट मूर्त कार्मण शरीर को परिस्पन्द का कारण मानने की क्या जरूरत है ?

मण्डिक—हाँ, यह ठीक है। वाह्य शरीर मे स्वभावत ही परिस्पन्द होता है, अत आत्मा को सक्रिय मानने की आवश्यकता नही है।

भगवान्—किन्तु शरीर मे जिस प्रकार का प्रतिनियत विशिष्ट परिस्पन्द दिखाई देता है, उसे स्वाभाविक नही माना जा सकता। कारण यह है कि शरीर जड है। 'जो वस्तु स्वाभाविक होती है—अर्थात् किसी अन्य कारण की अपेक्षा नही रखती—वह वस्तु सदैव होती है अथवा कभी नही होती[1]।' इस न्याय से यदि शरीर मे परिस्पन्द स्वाभाविक हो तो उसे हमेशा एक जैसा ही रहना चाहिए, किन्तु वस्तुत शरीर की चेष्टाएँ नाना प्रकार की होने पर भी अमुक अपेक्षा से नियत ही दिखाई देती है, अत उन्हे स्वाभाविक नही मान सकते। फलत कर्म-महित आत्मा

1. नित्य सत्त्वमसत्त्व वा हेतोरन्यानपेक्षणात्।

को ही शरीर की प्रतिनियत विशिष्ट क्रिया मे व्यापार-रूप मानना चाहिए। इस से आत्मा सक्रिय ही सिद्ध होती है। [१८४७-४८]

मण्डिक—सकर्म होने से ससारी जीव सक्रिय सिद्ध हुआ, किन्तु मुक्तात्मा में तो कर्म का अभाव है, अत वह निष्क्रिय ही होगा। फिर भी आप यदि उसे सक्रिय स्वीकार करे तो इसका क्या कारण है?

भगवान्—मैने तुम्हे बताया है कि मुक्तात्मा की गति-क्रिया स्वाभाविक तथा गति-परिणाम के कारण होती है। मैं यह भी कथन कर चुका हूं कि कर्म-विनाश से जीव जैसे सिद्धत्व-रूप धर्म को प्राप्त करता है वैसे तथाविध गति-परिणाम को भी प्राप्त करता है। [१८४९]

मण्डिक—आपका यह कथन युक्तियुक्त है कि मुक्तात्मा मे गति है, किन्तु अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मुक्तात्मा सिद्धालय से भी आगे क्यो गति नही करती?

भगवान्—क्योकि उससे आगे गति-सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय का अभाव है।

मण्डिक - धर्मास्तिकाय उससे आगे क्यो नही है?

भगवान्—गति-सहायक धर्मास्तिकाय लोक में ही है, अलोक मे नही। सिद्धालय से आगे अलोक है, अत उसमे धर्मास्तिकाय नही है। इसलिए उससे आगे जीव की गति नही होती। [१८५०]

मण्डिक—इस बात मे क्या प्रमाण है कि लोक से भिन्न रूप अलोक का अस्तित्व है?

अलोक के अस्तित्व मे प्रमाण

भगवान्—लोक का विपक्ष होना चाहिए, क्योकि यह व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद का अभिधेय है। जो व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद का अभिधेय होता है उसका विपक्ष अवश्य होता है। जैसे घट का विपक्ष अघट है। इसी प्रकार लोक का विपक्ष अलोक होना चाहिए।

मण्डिक—जो लोक नही वह अलोक है। अर्थात् घटादि पदार्थों मे से किसी को भी अलोक कहा जा सकता है। उन सब से स्वतन्त्र अलोक मानने की क्या आवश्यकता है?

भगवान्—अलोक को घटादि पदार्थों से स्वतन्त्र मानने की आवश्यकता इसलिए है कि यहाँ पर्युदास निषेध अभिप्रेत है। अत विपक्ष निषेध्य के अनुरूप ही होना चाहिए। प्रस्तुत मे लोक निषेध्य है और वह आकाश-विशेष है। अत अलोक भी उसके अनुरूप ही होना चाहिए। जैसे कि 'यह अपण्डित है' इस कथन से केवल

अभाव अभिप्रेत नही होता अथवा इससे किसी अचेतन घटादि वस्तु का भी बोध नही होता। किन्तु हमे इस कथन से विशिष्ट ज्ञान-रहित किसी चेतन पुरुष-विशेष का ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार यहाँ भी वस्तु-भूत आकाश-विशेष का ही बोध अलोक शब्द से होना चाहिए। कहा भी है—'जिस कार्य को 'नञ्' युक्त अथवा "इव' युक्त कहा जाता है उससे समान किन्तु अन्य ऐसे अधिकरण (पदार्थ) का लोक के प्रसग मे बोध कराता है[1]।"

"नञ् तथा इव युक्त पद का अर्थ अन्य किन्तु सदृशरूप अधिकरण (वस्तु) समझा जाता है।"[2]

साराश यह है कि लोक का विपक्ष अलोक भी मानना चाहिए।

धर्माधर्मास्तिकायों को सिद्धि

इस प्रकार लोक तथा अलोक दोनों वस्तुभूत हैं। अत लोक से अलोक को भिन्न सिद्ध करने वाले किसी तत्व की भी सिद्ध होती है तथा वे धर्म और अधर्मास्तिकाय है। अर्थात् जितने आकाश-क्षेत्र मे धर्म और अधर्म है, वह लोक है। इस रीति से यदि ये दोनों अस्तिकाय लोक का परिच्छेद न करते हों तो आकाश के सर्वत्र समानरूपेण व्याप्त होने के कारण यह भेद कैसे होगा कि 'यह लोक है' और 'वह अलोक है'। [१८५१-५२]

यदि उक्त प्रकारेण इन दोनों अस्तिकायों द्वारा अलोकाकाश से लोकाकाश का विभाग न हो तो जीव और पुद्गल गति मे किसी प्रकार का प्रतिघात न होने से अप्रतिहतगति वाले हो जाएँ। अलोक अनन्त है, अत. उनकी गति का कही अन्त ही न होगा। यदि उनकी गति का अन्त ही न होगा तो जीव और पुद्गल का सम्बन्ध ही न हो सकेगा। सम्बन्धाभाव मे पुद्गल स्कन्धों की औदारिक आदि विचित्र रचना भी असम्भव होगी। फलत बन्ध, मोक्ष, सुख-दु ख आदि सासारिक व्यवहार का अभाव हो जाएगा। इसलिए लोकालोक का विभाग मानना चाहिए तथा उस विभाग को करने वाले धर्माधर्मास्तिकाय मानने चाहिएँ। [१८५३]

जैसे पानी के बिना मछली की गति नही होती, वैसे ही लोक से परे अलोक मे गति-सहायक द्रव्य के न होने से जीव तथा पुद्गल की गति अलोक मे नही होती। अत लोक मे गति-सहायक-रूप धर्मास्तिकाय द्रव्य मानना चाहिए जो कि लोक परिमाण है। [१८५४]

---

1 'नञ्युक्तमिवयुक्त वा यद्धि कार्यं विधीयते।
तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिल्लोकेऽप्यर्थगतिस्तथा॥

2 नञ्-इवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगति.।

पुनश्च, लोक प्रमेय है, अत उसका कोई परिमाण-कर्त्ता द्रव्य होना चाहिए। जैसे ज्ञेय का अस्तित्व होने से उसके परिच्छेदक ज्ञान का अस्तित्व माना जाता है, वैसे ही लोक के परिमाण-कर्त्ता द्रव्य (धर्मास्तिकाय) की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए।

अथवा जीव और पुद्गल हो लोक कहलाते हैं। वे प्रमेय हैं, अत उनका परिमाणकर्त्ता द्रव्य मानना चाहिए। जैसे प्रमेय-रूप शाल्यादि धान्य का परिमाण-कर्त्ता द्रव्य प्रस्थ है, वैसे ही जीव पुद्गलात्मक लोक का परिमाण-कर्त्ता द्रव्य धर्मास्तिकाय है। आकाश सर्वत्र समान है, अत अलोक मानने से ही धर्मास्तिकाय की सार्थकता सिद्ध होती है। इसलिए धर्मास्तिकाय से परिच्छिन्न-रूप लोक से भिन्न अलोक मानना चाहिए और यह स्वीकार करना चाहिए कि सिद्ध लोक के अग्रभाग मे ही अवस्थित रहते है। [१८५५]

मण्डिक—सिद्धो का स्थान सिद्ध-स्थान कहलाता है, अत वह सिद्धों का अधिकरण है। जो अधिकरण होता है उससे पतन अवश्य होता है, जैसे वृक्ष से फल का अथवा पर्वतादि स्थान से देवदत्त का। अत सिद्ध-स्थान से सिद्धो का भी पतन होना चाहिए।

सिद्ध-स्थान से पतन नहीं

भगवान्—'सिद्धो का स्थान' इसमे जो छठी विभक्ति है वह कर्त्ता के अर्थ की द्योतक समझनी चाहिए। इसका अर्थ होगा—सिद्धकर्तृक स्थान, अर्थात् सिद्ध रहते है। इसमे सिद्ध तथा उनके स्थान मे भेद नही अपितु अभेद विवक्षित है। सारॉश यह है कि सिद्धो का स्थान सिद्धो से पृथक् नहो है, अत. वहॉ से पतन मानने की आवश्यकता नही है। [१८५६]

अथवा सिद्धो से स्थान का भेद माना जाए तो भी वह स्थान आकाश ही है। आकाश नित्य होने से विनाश-रहित है, अत पतन का अवकाश नही है। पुनः मुक्तात्मा मे कर्म भी नही होते। कर्म के बिना पतन कैसे सम्भव है ? सिद्ध मे गति-क्रिया का पहले समर्थन किया जा चुका है, किन्तु वह गति-क्रिया केवल एक समय के लिए होती है और पूर्व-प्रयोग से होती है, आदि बात भी बताई जा चुकी है, अत वह गति-क्रिया पुनः नही होती, इसलिए भी पतन का अवकाश नही है। पतन के कई कारण होते है—अपना प्रयत्न, आकर्षण, विकर्षण, गुरुत्व आदि। मुक्तात्मा मे इनकी सम्भावना ही नही है। कारण यह है कि तदुत्पादक कारणो का अभाव है। फिर सिद्धो का पतन कैसे हो ? [१८५७]

अपि च, यह नियम ही व्यभिचारी है कि 'स्थान है अत पतन होना चाहिए।' इस कारण से भी मुक्त का पतन नही माना जा सकता। आकाश का स्थान नित्य है, फिर भी आकाश का पतन नही होता, जब स्थान होने पर भी आकाश का पतन

नही होता तब मुक्त का भी स्थान होने पर पतन क्या माना जाए ? 'स्थान है, अतः पतन होता है' यह कथन स्ववचन के ही विरुद्ध है। वस्तुत. यह कहना चाहिए कि 'अस्थान है अत पतन है।' साराश यह है कि स्थान के कारण सिद्धो का पतन नही माना जा सकता। [१८५८]

मण्डिक समार अथवा भव से ही सिद्ध होते हैं। अत सभी मुक्तो में एक ऐसा मुक्त होना चाहिए जो सर्व सिद्धों की आदि मे हो।

आदि सिद्ध कोई नहीं

भगवान् - तुम यह नियम प्रतिपादित करना चाहते हो कि जिनमें सादित्व (कार्यत्व) हो उनमे किसी न किसी को प्रथम होना चाहिए, किन्तु ऐसा नियम व्यभिचारी है। कारण यह है कि दिन और रात के आदि युक्त होने पर भी अनादि काल के कारण किसी एक दिन या रात को सर्वप्रथम नही कह सकते। इसी प्रकार मुक्त जीवो के सादि होने पर भी काल के अनादित्व के कारण किसी मुक्त को सर्वप्रथम नही कह सकते। [१८५९]

मण्डिक—अनादि काल से नवीन-नवीन सिद्ध होते रहे हैं, किन्तु सिद्ध-क्षेत्र तो परिमित है, अत उसमे अनन्त सिद्धो का समावेश कैसे सम्भव है ?

सिद्धो का समावेश

भगवान्—मुक्त जीव अमूर्त है, अत' परिमित क्षेत्र में भी अनन्त का समावेश हो जाता है। जैसे प्रत्येक द्रव्य अनन्त सिद्धो के अनन्त ज्ञान व दर्शन का विषय बनता है अर्थात् एक ही द्रव्य में अनन्त ज्ञान व दर्शन रह सकते है तथा एक ही नर्तकी मे हजारो प्रेक्षको की दृष्टि समा सकती है वैसे ही परिमित क्षेत्र मे अनन्त सिद्धो का समावेश हो सकता है। पुनश्च, छोटे से कमरे मे अनेक दीपकों का मूर्त प्रकाश समा जाता है। ऐसी स्थिति मे अमूर्त अनन्त सिद्धो का परिमित क्षेत्र में समावेश क्यो नही हो सकता ? [१८६०]

वेद-वाक्यो का समन्वय

इस तरह युक्ति से बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध हो जाती है, अत उसे मानना ही चाहिए। वेद मे भी बन्ध व मोक्ष का प्रतिपादन किया ही है। '**नहि वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत।**' इत्यादि वेद-वाक्यो का तुम यथार्थ अर्थ नही जानते इसीलिए बन्ध-मोक्ष मे सन्देह करते हो, किन्तु तुम्हे ऐसा नही करना चाहिए। उक्त वाक्य के पूर्वार्द्ध में सशरीर तथा उत्तरार्द्ध मे अशरीर जीव के विषय मे कहा गया है। अत स्पष्टत पूर्वार्द्ध से बन्ध तथा उत्तरार्द्ध से मोक्ष का प्रतिपादन सिद्ध होता है।

पुनश्च, **'स एष विगुणो विभुर्न विद्यते'** आदि वाक्य का अर्थ तुम यह समझते हो कि ससारी जीव के वन्ध-मोक्ष नही हैं, किन्तु वस्तुतः यह वाक्य मुक्त जीव के स्वरूप का प्रतिपादक है। मैं भी तुम्हे वता चुका हूँ कि मुक्त के वन्धादि नही होते। इस युक्ति का समर्थन वेद-वाक्य से भी हो जाता है, अत तुम्हे वन्ध-मोक्ष के सम्वन्ध में शका नही करनी चाहिए। [१८६१-६२]

इस प्रकार जब जरा-मरणरहित भगवान् ने मण्डिक के सशय का निवारण किया, तब उस ने अपने साढ़े तीन सौ शिष्यो सहित दीक्षा ली। [१८६३]

सातवें गणधर मौर्यपुत्र
देव-चर्चा

मण्डिक के दीक्षित होने का समाचार ज्ञात कर मौर्यपुत्र ने भी विचार किया कि मैं भी भगवान् के पास जाऊँ, वन्दना करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह विचार कर वह भगवान् के पास आ गया। [१८६४]

देवों के विषय मे सन्देह

जाति-जरा-मरण से मुक्त भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे अत उन्होने उसे नाम गोत्र से बुलाते हुए कहा 'मौर्यपुत्र काश्यप !' [१८६५]

तत्पश्चात् उन्होने कहना प्रारम्भ किया, "तुम्हारे मन मे यह सन्देह है कि देव हैं अथवा नही। तुमने वेद के परस्पर विरोधी अर्थ वाले वाक्य सुने हैं, जैसे कि **'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति'**[1] इत्यादि तथा **'अपामसोममसृता अभूम, अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्, कि नूनमस्मान्, कृणवदराति. किमु धूर्तिरमृत-मर्त्यस्य'**[2] आदि। इन वाक्यो से तुम्हे यह प्रतीत होता है कि स्वर्ग मे बसने वाले देवो का अस्तित्व है। किन्तु तुमने इसके विरोधी अर्थ के प्रतिपादक वेद-वाक्य भी सुने है, जैसे कि **'को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेरादीन्'**[3] आदि। अत तुम समझते हो कि देव तो है ही नही।

वस्तुत तुम इन वाक्यो का तात्पर्य नही जानते, इसीलिए तुम्हे सशय है। मैं तुम्हे वास्तविक अर्थ बताऊँगा। उससे तुम्हारे सशय का निवारण हो जाएगा। [१८६६]

---

1 यज्ञरूप शस्त्र वाला यजमान निश्चितरूपेण स्वर्ग मे जाता है।

2 मुद्रित गणधरवाद मे शुद्ध पाठ नही है। ऊपर दिए गए शुद्ध पाठानुसार अर्थ यह है—"हे अमृत-सोम ! हमने तुम्हे पीया और हम अमर हो गए। हमने प्रकाश प्राप्त किया, देवो का ज्ञान प्राप्त किया। अब शत्रु हमारा क्या कर सकते है ? मरणशील मानव की धूर्तता क्या कर सकती है ?"
सायण-कृत अर्थ की अपेक्षा ग्रिफिथ द्वारा किया गया अर्थ अधिक सगत प्रतीत होने से यहाँ वही दिया गया है। देखें 8 48 Hymns of The Rigveda Vol. II

3 माया सदृश इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर आदि देवो को कौन जानता है ?

देवो के अभाव का समर्थन तुम निम्न प्रकार से युक्ति द्वारा भी करते हो—तुम समझते हो कि नारक तो परतन्त्र है तथा अत्यन्त दु खी भी है, अतः वे हमारे सन्मुख उपस्थित होने मे असमर्थ है। वे चाहे दिखाई न दे, तो भी दूसरो के वचन को प्रमाण मान कर उनका अस्तित्व श्रद्धा का विषय वन जाता है। [१८६७]

किन्तु देव तो स्वच्छन्द-विहारी है—अर्थात् उन्हे यहाँ आने से कोई भी रोक नही सकता। वे दिव्य प्रभाव वाले भी है। फिर भी वे कभी दिखाई नही देते। श्रुति-स्मृति मे यद्यपि उनका अस्तित्व वताया है तथापि उनके सम्वन्ध मे सन्देह होना अयुक्त नही है। [१८६८]

संशय का निवारण—देव-प्रत्यक्ष हैं

किन्तु हे मौर्यपुत्र ! तुम्हे देवो की सत्ता के विषय मे सन्देह नही करना चाहिए। श्रुति-स्मृति के आधार पर ही नही, अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण से भी तुम उनकी सत्ता मान लो। यहाँ पर मेरे इस समवसरण मे ही मनुष्य से भिन्न-जातीय भवनपति, व्यतर, ज्योतिष्क, वैमानिक इन चारो प्रकार के देव उपस्थित है। तुम उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर अपने सशय का निवारण कर लो।" [१८६९]

मौर्यपुत्र—किन्तु यहाँ देखने से पूर्व मुझे जो सशय था, वह तो युक्तियुक्त था न ?

भगवान्—नही, क्योकि मेरे समवसरण मे आने से पहले तुम यदि दूसरे देवो को नही तो कम से कम सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देवो को तो प्रत्यक्ष देखते ही थे। अत. यह नही माना जा सकता कि देव कभी देखे नही गए, इसलिए उनके विषय मे अस्तित्व विषयक सन्देह युक्त है। तुम्हे इस समय से पूर्व ही देवो के एक देश का प्रत्यक्ष था ही, इसलिए समस्त देवो सम्बन्धी शका अयुक्त थी।

अनुमान से सिद्धि

पुनश्च, लोक मे देवकृत अनुग्रह और पीडा दोनो ही हैं। इस कारण भी देवो का अस्तित्व मानना चाहिए; जैसे लोक का हित या अहित करने वाले राजा का अस्तित्व माना जाता है, वैसे ही देवो का अस्तित्व भी मानना चाहिए, क्योकि वे भी किसी को वैभव प्रदान करते है तथा किसी के वैभव का नाश करते है। [१८७०]

मौर्यपुत्र—चन्द्र-विमान, सूर्य-विमान आदि निवास-स्थान शून्य नगर के सदृश दिखाई देते है। उनमे निवास करने वाला कोई भी नही है। अत यह कैसे कहा जा सकता है कि सूर्य-चन्द्र का प्रत्यक्ष होने से देवो का भी प्रत्यक्ष हो गया ?

भगवान्—यदि तुम सूर्य व चन्द्र को आलय(स्थान) मानते हो तो उसमे रहने वाला कोई होना ही चाहिए, अन्यथा उसे आलय नही कहा जा सकता। जैसे

वसन्तपुर के आलयो मे देवदत्तादि रहते है, इसीलिए उन्हे आलय कहा जाता है, वैसे ही सूर्य-चन्द्र भी यदि आलय हो तो उनमे निवास करने वाले भी होने चाहिएँ। जो वहाँ रहते है, वही देव कहलाते है।

मौर्यपुत्र—आलय होने से उनमे देवदत्त जसे मनुष्य रहते होगे। आप यह कैसे कहते है कि वे देव हैं ?

भगवान्—तुम स्वय प्रत्यक्ष देखते हो कि इस देवदत्त के आलय की अपेक्षा वे आलय विशिष्ट हैं। अत उनमे निवास करने वाले भी देवदत्त की अपेक्षा विशिष्ट होने चाहिएँ। अत उन्हे देव मानना चाहिए।

मौर्यपुत्र—आप ने यह नियम बनाया है कि वे आलय है, अत उनमे रहने वाला कोई न कोई होना चाहिए, किन्तु यह नियम अयुक्त है। कारण यह है कि शून्य घर आलय कहलाते है, किन्तु उनमे रहने वाला कोई नही होता।

भगवान्—कहने का भाव यह है कि जो आलय होता है वह सर्वदा शून्य नही हो सकता। उसमे कभी न कभी कोई रहता ही है। अत चन्द्रादि मे निवास करने वाले देवो की सिद्धि होती है। [१८७१]

मौर्यपुत्र—आप जिन्हे आलय कहते है वे वस्तुत आलय है या नही, अभी इसी बात का निर्णय नही हुआ। ऐसी अवस्था मे यह कहना ही निर्मूल है कि वे निवास-स्थान है, अत उनमे रहने वाले होने चाहिएँ। सम्भव है कि जिसे आप सूर्य कहते है वह एक अग्नि का गोला ही हो और जिसे चन्द्र कहते हैं वह स्वभावत स्वच्छ जल ही हो। यह भी सम्भव है कि वे ज्योतिष्क विमान प्रकाशमान रत्नो के गोले ही हो।

भगवान्—वे देवो के रहने के ही विमान है, क्योकि वे विद्याधरो के विमानों के समान रत्न-निर्मित हैं तथा आकाश मे भी गमन करते हैं। बादल तथा वायु भी आकाश मे गमन करते है, फिर भी उन्हे विमान नही कहा जा सकता, कारण यह है कि वे रत्न-निर्मित नही है। [१८७२]

मौर्यपुत्र—सूर्य-चन्द्र-विमानो को मायावी की माया क्यो न माना जाए ?

भगवान्—वस्तुत ये मायिक नही है। इन्हे मायिक माने, तो भी इस माया को करने वाले देव तो मानने ही पडेगे। मायावी के बिना माया कैसे सम्भव है ? मनुष्य ऐसी विक्रिया नही कर सकते, अत विवश होकर देव ही मानने पडते हैं। अपि च, सूर्य-चन्द्र-विमानो को मायिक कहना भी अयुक्त है। कारण यह है कि माया तो क्षण पश्चात् नष्ट हो जाती है, किन्तु उक्त विमान सदा सब द्वारा उपलब्ध होने के कारण शाश्वत हैं, जैसे चम्पा अथवा पाटलिपुत्र सत्य है, वैसे ये भी सत्य हैं। [१८७३]

पुनश्च, इस लोक मे जो प्रकृष्ट पाप करते है, उनके लिए उस पाप के फल-भोग के निमित्त परलोक मे नारको का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। इसी

प्रकार इस लोक मे प्रकृष्ट पुण्य करने वालो के फल-भोग के लिए अन्यत्र देवो का अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिए ।

मौर्यपुत्र—इसी ससार मे ही अपने प्रकृष्ट पाप का फल भोगने वाले अत्यन्त दु खी मनुष्य तथा तिर्यंच है तथा अपने प्रकृष्ट पुण्य का फल भोगने वाले अति सुखी मनुष्य भी है। अगर हम यह वात मान ले तो अदृष्ट नारक तथा देवो को पृथक् मानने की आवश्यकता नही रहती ।

भगवान्– इस ससार मे दु खी मनुष्यो व तिर्यचो तथा सुखी मनुष्यों के होने पर भी नारक तथा देव-योनि को पृथक् मानने का कारण यह है कि प्रकृष्ट पाप का फल केवल दु ख ही होना चाहिए तथा प्रकृष्ट पुण्य का फल केवल सुख ही, इस दृष्ट ससार मे ऐसा कोई प्राणी नही है जो मात्र दु खी हो और जिसे सुख का कुछ भी अंश प्राप्त न हो । ऐसा भी कोई प्राणी नही है जो मात्र सुखी हो और जिसे लेश मात्र भी दु ख प्राप्त न हा। मनुष्य कितना भी सुखी क्यो न हो, फिर भी रोग, जरा, इष्ट-वियोग आदि से थोडा दु ख होता ही है। अत. कोई ऐसी यानि भी होनी चाहिए जहाँ प्रकृष्ट पाप का फल केवल दु ख ही हो तथा प्रकृष्ट पुण्य का फल केवल मुख ही हो। ऐसी योनियाँ क्रमश नारक व देव है। अत उनका पृथक् अस्तित्व मानना चाहिए। [१८७४]

मौर्यपुत्र—किन्तु आप के कथनानुसार यदि देव है तो वे स्वैरविहारी ह ते हुए भी मनुष्य लोक मे क्यो नही आते ?

देव इस लोक में क्यों नहीं आते ?

भगवान्—वे यहाँ आते ही नही है, ऐसी वात नही है। कारण यह है कि तुम उन्हे समवसरण मे वैठे देख रहे हो। हाँ, सामान्यत वे नही आते, यह बात सत्य है, किन्तु इसका कारण देवो का अभाव नही है। वास्तविक कारण यह है कि वे स्वर्ग मे दिव्य पदार्थो मे आसक्त हो जाते हैं, वहाँ के विषय-भोग मे लिप्त हो जाते है। वही का काम समाप्त नही होता। उनके यहाँ आगमन का विशेष प्रयोजन भी नही है और इस लोक की दुर्गन्ध के कारण भी वे यहाँ नही आते। [१८७२]

वे यहाँ कैसे आएँ ?

ये सभी उनके न आने के कारण है तथापि वे किसी समय इस लोक मे आते भी हैं। तीर्थकर के जन्म, दीक्षा, केवल, निर्वाण इन सव महोत्सवो के प्रसग पर वे इस लोक मे आते है। उन मे कुछ इन्द्रादि स्वय भक्ति-पूर्वक आते है, कुछ उनका अनुसरण करते हुए आते है, कुछ अपने संशय के निवारणार्थ आते है। इनके अतिरिक्त भी उनके यहाँ आगमन के कारण है—जैसे कि पूर्व-भव के पुत्र-मित्रादि का राग, मित्रादि को प्रतिवोध देने के लिए पूर्व सकेत का अस्तित्व, तपस्या गुण के

प्रति आकर्षण, पूर्वभव के वैरी को पीडा देना, मित्र का उपकार करना तथा काम-क्रीडा। कभी-कभी किसी साधु की परीक्षा के निमित्त भी वे इस लोक मे आते है। [१८७६–७७]

मौर्यपुत्र—देवो की सिद्धि के लिए क्या और भी कोई प्रमाण है ?

देव-साधक अन्य अनुमान

भगवान्—हाँ, अनुमान प्रमाण है। वे ये हैं—देवो के अस्तित्व मे श्रद्धा रखनी चाहिए, क्योकि (१) जातिस्मरणज्ञानी आप्त पुरुष अपने पूर्वभव का ज्ञान प्राप्त कर ये बताते है कि वे देव थे, (२) कुछ तपस्वियो को देव प्रत्यक्ष दिखाई देते है, (३) कुछ व्यक्ति विद्या, मन्त्र, उपयाचन द्वारा देवो से अपने कार्य की सिद्धि करवाते है, (४) कुछ मनुष्यो में ग्रह-विकार अर्थात् भूत-पिशाच-कृत विक्रिया दिखाई देती है (५) तप, दानादि क्रिया द्वारा उपार्जित प्रकृष्ट पुण्य का फल होना ही चाहिए और (६) देव यह एक अभिधान है। अत इन सब हेतुओ से देवों की सिद्धि होती है। फिर सभी शास्त्रो में देवो का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस कारण भी उनके विषय में शका नही करनी चाहिए।

मौर्यपुत्र—आपने कहा है कि ग्रह-विकार के कारण देवो का अस्तित्व मानना चाहिए, किन्तु यह कैसे ज्ञात होगा कि मनुष्य शरीर की अमुक क्रिया ग्रह-विकार है ?

ग्रह-विकार की सिद्धि

भगवान्—जैसे यन्त्र-पुरुष में चलने की शक्ति नही है, किन्तु यदि उसमे कोई पुरुष प्रविष्ट हो तो यन्त्र मे गति आ जाती है, वैसे ही शरीर मे अमुक कार्य करने की शक्ति का अभाव होने पर भी शरीर वह काम करता दिखाई दे तो उसमे शरीराधिष्ठाता जीव से भिन्न किसी अदृश्य जीव का अधिष्ठान मानना पडेगा। ऐसा अधिष्ठाता देव है। उसी के कारण मनुष्य अपने शरीर से अपनी शक्ति का अतिक्रमण कर काम करता है। [१८७८–७९]

मौर्यपुत्र—देवत्व की सिद्धि के लिए आपने एक हेतु यह दिया है कि देव एक अभिधान है। कृपया इसका स्पष्टीकरण करे।

देव पद की सार्थकता

भगवान्—देव एक सार्थक पद है उसका कोई अर्थ होना चाहिए, क्योंकि वह व्युत्पत्ति वाला शुद्ध पद है, जैसे कि घट।

मौर्यपुत्र—देव पद का अर्थ मनुष्य मान ले, जैसे कि गुण-सम्पन्न गणधरादि तथा ऋद्धि-सम्पन्न चक्रवर्ती आदि। ये सब ससार में देव कहलाते है, फिर अदृष्ट देव की कल्पना क्यो की जाए ?

भगवान्—गणधर, चक्रवर्ती आदि को तो उपचार से देव कहा जाता है। जैसे यदि कोई मुख्य सिह न हो तो मनुष्य को भी उपचार से सिह नही कह सकते, वैसे ही यदि देव न हो तो चक्रवर्ती आदि को उपचार से भी देव नही कहा जा सकता। अत देव शब्द का अर्थ मनुष्य से भिन्न रूप देव मानना चाहिए। [१८८०-८१]

मौर्यपुत्र—युक्ति से देवो की सिद्धि होने पर भी वेद मे परस्पर विरोधी कथन क्यों है ?

वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान्—वेद वाक्यों का यथार्थ अर्थ जान कर तुम्हें विरोध के स्थान में सगति ज्ञात होगी। वेदो को यदि देवो का अस्तित्व मान्य न हो तो वेद मे अनेक स्थलो पर प्रतिपादित अग्निहोत्रादि का स्वर्ग रूप फल अयुक्त सिद्ध होगा[1]। यदि देवो का ही अस्तित्व न हो तो स्वर्ग किसे मिलेगा ? अत मानना पडेगा कि वेदों को देवो का अस्तित्व मान्य है।

अपि च, यह लोक-मान्यता है कि दानादि का फल भी स्वर्ग मे मिलता है। देवों के अभाव मे यह मान्यता भी निराधार हो जाती है। तुम यह बात तो पहले ही मान चुके हो कि '**स एष यज्ञायुधी**' इत्यादि वेद-वाक्य स्पष्टत देवो की सत्ता के द्योतक है।

मौर्यपुत्र—यह सब तो ठीक है, किन्तु '**को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान् इन्द्रयमवरुणकुबेरादीन्**' इत्यादि वाक्य मे देवो को मायोपम क्यो कहा है ?

भगवान्—इस वाक्य का तात्पर्य देवो का अभाव बताना नही है। इसका भाव तो यह है कि स्वय देव भी अनित्य है। ऐसी अवस्था मे अन्य सिद्धि तो अत्यन्त नि सार तथा अनित्य हो, इसमे आश्चर्य नही। इसी अर्थ का सन्मुख रखकर ही इन्द्रादि देवो को मायोपम या मायिक कहा है। ऐसा न हो तो देवो के अस्तित्व द्योतक वाक्य तथा श्रुति मन्त्र के पदो से देवो का आवाहन आदि असगत हो जाते हैं। [१८८२]

---

1 जैसे कि 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम'—स्वर्ग-इच्छुक अग्निहोत्र करे।

उक्थ-षोडशि आदि क्रतु[1] से 'यम, सोम, सूर्य तथा सुरगुरु के स्वाराज्य पर विजय प्राप्त होती है'[2] यह बात बताने वाले वाक्यों मे देव का अस्तित्व प्रतिपादित ही है। देवों के अभाव मे ये सब वाक्य व्यर्थ हो जाते है।

अपि च, यदि इन्द्रादि देव न हों तो **'इन्द्र आगच्छ मेधातिथे मेषवृषण'** आदि वाक्यो द्वारा इन्द्रादि का आवाहन निरर्थक सिद्ध होता है। अत वेद-शास्त्र तथा युक्ति दोनो के आधार से तुम्हे देवो की सत्ता माननी चाहिए। [१८८३]

इस प्रकार जरा-मरण से रहित भगवान् ने जब मौर्यपुत्र के सशय का निवारण किया, तब उसने अपने साढ़े तीन सौ शिष्यो के साथ दीक्षा ली। [१८८४]

---

1. यूप सहित यज्ञ को क्रतु कहते हैं किन्तु जिस मे यूप न हो तथा दानादि क्रियाए हो, वह यज्ञ कहलाता है।

2 यम-सोम-सूर्य-सुरगुरु-स्वाराज्यानि जयति।

आठवें गणधर अकम्पित

नारक-चर्चा

इन सवको दीक्षित हुए जान कर अकम्पित ने भी विचार किया कि मैं भी भगवान् के पास जाऊँ, वन्दना करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह निश्चय कर वह भगवान् के समीप आ पहुँचा। [१८८५]

नारक विषयक सन्देह

जाति-जरा-मरण से मुक्त भगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी थे। उन्होंने उसे 'अकम्पित गौतम!' कह कर सम्बोधित किया [१८८६] और कहने लगे—तुम्हारे मन मे यह संशय है कि नारक हैं या नही ? इसका कारण यह है कि **"नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति"**[1] इत्यादि वेद-वाक्य सुन कर तुम्हे नारको की सत्ता का ज्ञान होता है, किन्तु **'न ह वै प्रेत्य नारका'**[2] इत्यादि वाक्यो से नारकों का अभाव सूचित होता है। अत. वेद के ऐसे परस्पर विरोधी अर्थ वाले वाक्य सुन कर तुम्हे संशय होता है कि नारक होगे या नही ? किन्तु तुम इन वेद-वाक्यो का ठीक-ठीक अर्थ नही जानते इसीलिए सन्देह करते हो। मैं तुम्हे इनका यथार्थ अर्थ बताऊँगा जिससे तुम्हारा संशय दूर हो जाएगा। [१८८७]

तुम युक्ति से भी नारको के अभाव का समर्थन करते हो और कहते हो कि ये चन्द्र, सूर्य तथा अन्य देव तो प्रत्यक्ष दिखाई देते है और जो देव प्रत्यक्ष नही है उनकी सिद्धि अनुमान से हो सकती है, जैसे कि विद्यामन्त्र की साधना द्वारा फल-सिद्धि होने के कारण अदृष्ट देवो का अस्तित्व मानना चाहिए। किन्तु 'नारक' यह तो केवल शब्द ही सुनाई देता है। इस शब्द का अर्थ न तो प्रत्यक्ष है और न ही किसी अनुमान से इसकी सिद्धि होती है। इस प्रकार प्रमाण से अनुपलब्ध नारकों का मनुष्य, तिर्यच, देव से भिन्न जातीय जीव रूप मे अस्तित्व क्यों माना जाए ? [१८८८–८९]

अकम्पित—आपने मेरे संशय का कथन ठीक-ठीक कर दिया है। अब आप सर्व प्रथम यह बताएँ कि नारको के अभाव की सिद्धि का समर्थन करने वाली मेरी युक्ति क्यो अयुक्त है ?

---

1 जो ब्राह्मण शूद्र का अन्न खाता है, वह नारक बनता है।

2 जीव मर कर नारक नही होता। अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि परलोक में नारक नहीं हैं।

संशय निवारण—नारक सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष है

तुम्हारी यह मान्यता असिद्ध है कि प्रत्यक्ष न होने के कारण नारकों का अभाव है। कारण यह है कि मैं जीवादि पदार्थो के समान नारको को भी केवलज्ञान द्वारा साक्षात् देखता हूँ, अत तुम्हे जीवादि पदार्थों के समान नारको की सत्ता भी स्वीकार करनी चाहिए।

अकम्पित—किन्तु मैं तो नारको को देखता नही, अत. मै उनकी सत्ता कैसे मानूँ ?

किसी को भी प्रत्यक्ष हो, वह प्रत्यक्ष ही है

भगवान्—तो क्या स्वप्रत्यक्ष ही केवल एक प्रत्यक्ष है ? यह नही हो सकता। ससार मे अन्य आप्त पुरुष के प्रत्यक्ष को भी स्वप्रत्यक्ष के तुल्य महत्व दिया जाता है। सिह, शरभ[1], हँस का प्रत्यक्ष दर्शन सब को नही होता, फिर भी कोई उन्हे अप्रत्यक्ष नही कहता। ये सभी पदार्थ प्रत्यक्ष माने जाते है, अपि च, तुम स्वय भी सभी देश, काल, ग्राम, नगर, नदी, समुद्र को साक्षात् नही देखते, तथापि वे सब किसी अन्य को प्रत्यक्ष है, अत तुम भी उन्हे प्रत्यक्ष मानते हो। इसी प्रकार नारक मुझे प्रत्यक्ष हैं, तुम उन्हे अप्रत्यक्ष कैसे कहते हो ? नारको को प्रत्यक्ष ही कहना चाहिए। [१८९०-९१]

अकम्पित—किन्तु चर्म-चक्षुओ से तो इस लोक मे किसी को भी नारक प्रत्यक्ष नही होते, फिर उन्हे प्रत्यक्ष कैसे कहा जाए ?

इन्द्रिय-ज्ञान परोक्ष है

भगवान्—तुम्हारी भूल का अब पता चल गया है। क्या इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही केवल प्रत्यक्ष है ? क्या इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष सम्भव ही नही है ? वस्तुत जो प्रत्यक्ष नही है, उसे तुम प्रत्यक्ष समझ रहे हो, और जो प्रत्यक्ष है, उसे तुम प्रत्यक्ष नही मानते, यह तुम्हारा महान् भ्रम है। इसी भ्रम के कारण तुम नारको को प्रत्यक्ष मानने के लिए तैयार नही हो। किन्तु हे अकम्पित ! इन्द्रिय प्रत्यक्ष केवल उपचार से प्रत्यक्ष कहलाता है। अतीन्द्रिय ज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह मात्र आत्मा की अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है। इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है, तदपि उसे उपचार से इसलिए प्रत्यक्ष कहते हैं कि जैसे बाह्य लिंग-रूप धूम द्वारा बाह्य अग्नि का ज्ञान अनुमान-जन्य होने से परोक्ष है वैसे इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय मे नही कहा जा सकता, क्योकि धूम जैसी बाह्य वस्तु के ज्ञान की उसमे अपेक्षा नही रहती, इसीलिए उसे

1 एक प्रकार का प्राणी जिसके आठ पैर माने जाते हैं। वह बरफ वाले प्रदेश मे रहता है, ऐसी लोक-मान्यता है। इस शब्द के ये अर्थ भी प्रसिद्ध हैं ऊँट, हाथी का बच्चा, नितर्गी, टिड्डी आदि।

औपचारिक प्रत्यक्ष कहते है, किन्तु वस्तुत इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष ही है। कारण यह है कि जैसे अनुमान मे अग्नि का ज्ञान साक्षात् नही होता प्रत्युत् धूम द्वारा होता है, वैसे ही प्रस्तुत मे अक्ष अर्थात् आत्मा को वस्तु का साक्षात् ज्ञान नही होता किन्तु आत्मा से पृथक् ऐसी इन्द्रियो द्वारा बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है, इसलिए अनुमान के समान वस्तुत वह परोक्ष ही है। इन्द्रियातीत ज्ञान ही वास्तविक प्रत्यक्ष है। ऐसे ज्ञान द्वारा मुझे नारक प्रत्यक्ष है, अत तुम्हे उन्हे प्रत्यक्ष मानना चाहिए। [१८९२]

उपलब्धि-कर्त्ता इन्द्रियाँ नही, आत्मा है

अकम्पित—अक्ष अर्थात् आत्मा इन्द्रियो द्वारा पदार्थ को उपलब्ध करती है, इसलिए आप इन्द्रिय ज्ञान को परोक्ष कहते है, किन्तु मैं तो यह कहता हूँ कि आत्मा को उपलब्धि-कर्त्ता क्यो माना जाए? अक्ष अर्थात् इन्द्रियाँ ही उपलब्धि-कर्त्ता है, अत यह क्यो न माना जाए कि इन्द्रिय ज्ञान ही प्रत्यक्ष है?

भगवान्—इन्द्रियो को उपलब्धि-कर्त्ता नही माना जा सकता, क्योकि इन्द्रियाँ घटादि पदार्थ के समान अमूर्त और अचेतन है। जब वे उपलब्धि-कर्त्ता ही सिद्ध नही होती, तो तज्जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कैसे कह सकते है? इन्द्रियाँ तो उपलब्धि के द्वार है तथा जीव उपलब्धि का कर्त्ता है। जैसे झरोखा स्वय कुछ नही देख सकता किन्तु उसके द्वारा देवदत्त देखता है, वैसे ही इन्द्रियाँ भी द्वार या करण है तथा उनके द्वारा कर्त्ता जीव उपलब्धि करता है। अत इन्द्रियाँ उपलब्धि-कर्त्ता नही है और तज्जन्य ज्ञान भी वास्तविक प्रत्यक्ष नही है। [१८९३]

अकम्पित—इन्द्रियों से भिन्न आत्मा क्यो मानी जाए? इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं, इस बात को क्या न स्वीकार किया जाए?

आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है

भगवान्—इन्द्रिय-व्यापार समाप्त हो जाने के बाद भी इन्द्रियो द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण होता है तथा इन्द्रिय-व्यापार की उपस्थिति मे भी अन्य-मनस्कता होने पर उपलब्धि नही होती, अत आत्मा को इन्द्रियो से भिन्न ही मानना चाहिए और इन्द्रियो को उपलब्धि का केवल साधन ही मानना चाहिए। जैसे घर के पाँच झरोखो द्वारा देखने वाला देवदत्त पाँच झरोखो से भिन्न है, वैसे ही पाँच इन्द्रियों द्वारा ज्ञान करने वाला ज्ञाता उनसे भिन्न ही है। [१८९४]

अकम्पित—यदि आत्मा इन्द्रियो की सहायता न ले तो वह बहुत ही कम ज्ञान प्राप्त कर सकती है, अत अतीन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा इन्द्रिय ज्ञान ही अधिक जान सकता है।

अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय समस्त है

भगवान्—इन्द्रियाँ जिस आत्मा की सहायक नही है अर्थात् जो केवलज्ञानी आत्मा है वह अत्यधिक तो क्या, परन्तु सब कुछ जान सकता है। जैसे घर मे बैठ कर देवदत्त झरोखो द्वारा जितने पदार्थ देखता है, उनसे कुछ अधिक खुले आकाश मे रह कर जान सकता है, वैसे ही जीव के जब ज्ञान-दर्शन के समस्त आवरण दूर हो जाते है तब वह इन्द्रियो द्वारा होने वाले ज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक जान सकता है, देख सकता है। यही नही, अपितु कोई ऐसी वस्तु शेष नही रहती जो उसे ज्ञात न हो। [१८९५]

अकम्पित—ससार मे सभी लोग इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है, आप उसे परोक्ष क्यो मानते है ?

इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष क्यो ?

भगवान्—वस्तु मे अनन्त धर्म है, किन्तु इन्द्रिय द्वारा किसी एक रूपादि धर्म का ही ज्ञान होता है तथा उस ज्ञान से रूपादि किसी एक धर्म से विशिष्ट वस्तु का ज्ञान होता है। अत वह अनुमान ज्ञान के समान परोक्ष ही है। जैसे अनुमान ज्ञान द्वारा किसी एक कृतकत्वादि धर्म से किसी एक अनित्यत्वादि धर्म-विशिष्ट घट की सिद्धि होती है, वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान से भी इन्द्रिय द्वारा किसी एक धर्म के ग्रहण से उस धर्म से विशिष्ट वस्तु की सिद्धि होती है। [१८९६]

पुनश्च, जैसे पूर्वोपलब्ध सम्बन्ध के स्मरण के सहयोग से धूमज्ञान द्वारा होने वाला अग्नि का ज्ञान परोक्ष है, वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान भी परोक्ष है। कारण यह है कि उसमे भी पूर्वगृहीत सकेत-स्मरण आवश्यक है। अभ्यास आदि के कारण यह सकेत-स्मरण प्राय शीघ्र होता है, इसलिए हमारे ध्यान मे नही आता। फिर भी वह अनिवार्य है, अन्यथा जिस मनुष्य ने सकेत ग्रहण न किया हो, उसे भी घडा देख कर यह ज्ञान हो जाना चाहिए कि यह घडा है। ऐसा नही होता, अत सकेत-स्मरण आवश्यक है। इस प्रकार अनुमान तथा इन्द्रिय ज्ञान दोनो मे स्मरण समान रूप से सहायक है, इसलिए ये दोनो परोक्ष है।

अपि च, जिस ज्ञान मे आत्मा को निमित्त की अपेक्षा हो, वह परोक्ष हो कहलाता है। जैसे वह्निज्ञान मे धूमज्ञान के निमित्त रूप होने से वह ज्ञान अनुमानात्मक परोक्ष है, वैसे ही इन्द्रिय ज्ञान मे भी अक्ष अर्थात् आत्मा को इन्द्रिय की अपेक्षा होने से इन्द्रिय निमित्त है, इसलिए इन्द्रिय ज्ञान भी परोक्ष है। जो प्रत्यक्ष होता है वह केवलज्ञान के समान किसी भी निमित्त की अपेक्षा नही रखता, वह साक्षात् ज्ञेय को जानता है। [१८९७]

इस लिए केवलज्ञान, मन पर्ययज्ञान तथा अवधिज्ञान के अतिरिक्त शेष सभी ज्ञान अनुमान के समान परोक्ष ही है। ये तीन ज्ञान केवल आत्मसापेक्ष होने के

कारण प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते है। ऐसे प्रत्यक्ष से नारको की सिद्धि होती है, अत उनका सद्भाव मानना चाहिए। वे अनुमान से भी सिद्ध होते है। [१८९८]

अकम्पित– कौन से अनुमान से नारको की सिद्धि होती है ?

अनुमान से नारक-सिद्धि

भगवान्—प्रकृष्ट पाप फल का भोक्ता कोई न कोई होना ही चाहिए, क्योंकि वह भी जघन्य-मध्यम कर्मफल के समान कर्मफल है। जघन्य-मध्यम कर्मफल के भोक्ता तिर्यंच तथा मनुष्य है। इसी प्रकार प्रकृष्ट पाप फल के जो भोक्ता है, उन्हे नारक मानना चाहिए।

अकम्पित—जो तिर्यच, मनुष्य अत्यन्त दु खी हों, उन्हे ही प्रकृष्ट पाप फल के भोक्ता मानने मे क्या आपत्ति हो सकती है ?

भगवान्—देवो मे जैसा सुख का प्रकर्ष दृग्गोचर होता है, वैसा दु ख का प्रकर्ष तिर्यच-मनुष्यों मे दिखाई नही देता, अत. उन्हे नारक नही कह सकते। ऐसा एक भी तिर्यंच या मनुष्य नही जो केवल दु खी ही हो। अत प्रकृष्ट पाप-कर्म-फल के भोक्ता रूप मे तिर्यंच-मनुष्यो से भिन्न नारक मानने चाहिएँ। कहा भी है— "नारको में तीव्र परिणाम वाला सतत दु ख लगा ही रहता है। तिर्यचो मे उष्ण ताप, भय, भूख, तृषा इन सबका दु.ख होता है तथा अल्प सुख भी होता है।"

"मनुष्य को नाना प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक सुख और दु ख होते है, किन्तु देवो को तो शारीरिक सुख ही होता है, अल्प मात्रा मे ही मानसिक दु ख होता है[1]।" [१८९९–१९००]

सर्वज्ञ के वचन से सिद्धि

अपि च, हे अकम्पित ! मेरे दूसरे वचनो के समान नारक का अस्तित्व बताने वाला वचन भी सत्य ही है, क्योंकि मै सर्वज्ञ हूँ। अतः तुम्हे स्वेष्ट जैमिनी आदि अन्य सर्वज्ञ के वचन के समान मेरा वचन भी प्रमाण मानना चाहिए। [१९०१]

अकम्पित—सर्वज्ञ होते हुए भी आप झूठ क्यो नही बोलते ?

---

1 सततमनुबद्धमुक्त दु.ख नरकेषु तीव्रपरिणामम्।
तिर्यक्षूष्णभयक्षुत्तृडादिदु ख सुख चाल्पम्॥
नृृषु दु खे मनुजाना मन.शरीराश्रये बहुविकल्पे।
सुखमेव तु देवानामल्प दु ख तु मनसिभवम्॥
यह उद्धरण आचारांग टीका मे भी है पृ० 25

भगवान्—मेरा वचन सत्यरूप तथा अहिंसक ही है, क्योंकि असत्य और हिंसक वचन के कारण रूप, राग, द्वेष, भय, मोह का मुझ मे अभाव है। अत. ज्ञाता तथा मध्यस्थ पुरुष के वचन के सदृश तुम्हे मेरा वचन सत्य और अहिंसक ही मानना चाहिए[1]। [१६०२]

अकम्पित—किन्तु आप सर्वज्ञ है, इसका क्या प्रमाण है ?

भगवान्—तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि मैं सभी सशयो का निवारण करता हूँ। क्या सर्वज्ञ के बिना ऐसा निराकरण कोई कर सकता है ? अत तुम्हे मुझे सर्वज्ञ मानना चाहिए। पुनश्च, भय, राग, द्वेष के कारण मनुष्य अज्ञानी बनता है। मुझ मे इनमे से कोई भी दोष नही है। तुम उन का कोई भी बाह्य चिह्न मेरे मे नही देख रहे हो। अतः भयादि दोष से रहित होने के कारण मुझे सर्वज्ञ मान कर तुम्हे मेरा वचन प्रमाण मानना चाहिए।

अकम्पित—युक्ति तथा आपके वचनों से नारकों का सद्भाव मानने के लिए मै तैयार हूँ, किन्तु पहले कहे गए वेद-वाक्य के विषय में आपका क्या विचार है ? '**न ह वै प्रेत्य नारका.**' इस वाक्य मे नारको का स्पष्ट रूप से अभाव बताया है।

वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान्—इस वाक्य का तात्पर्य नारकों का अभाव नही है। इसका भाव यह है कि परलोक मे मेरु आदि के समान नारक शाश्वत नही हैं, किन्तु जो यहाँ प्रकृष्ट पाप करते है, वे मर कर नारक बनते है। अत. ऐसा पाप नही करना चाहिए, जिससे नारक बनना पडे। [१६०३]

इस प्रकार जब जरा-मरण से रहित भगवान् ने अकम्पित के सशय का निवारण किया तब उसने अपने ३५० शिष्यो के साथ दीक्षा अँगीकार की। [१६०४]

---

1. यह गाथा पहले भी आई है 1573

नवम गणधर अचलभ्राता

पुण्य-पाप-चर्चा

उन सब को दीक्षित हुए सुन कर अचलभ्राता ने भी विचार किया कि मैं भगवान् के पास जाऊँ, उन्हे नमस्कार करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। तत्पश्चात् वह भगवान् के पास आ पहुँचा। [१६०५]

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान् ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के कारण उसे 'अचलभ्राता हारित !' इस नाम-गोत्र से बुलाया। [१६०६]

पुण्य-पाप के विषय में सन्देह

और भगवान् ने उसे कहा—'**पुरुष एवेदं ग्नि सर्वम्**' इत्यादि वाक्यानुसार तुम्हे यह प्रतीत होता है कि इस ससार मे पुरुष के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नही है, अत पुण्य-पाप जैसी वस्तु को भी मानने की आवश्यकता नही हैं। किन्तु तुम देखते हो कि अधिकतर लोग पुण्य-पाप का सद्भाव मानते है। अत तुम्हे सन्देह है कि पुण्य-पाप का सद्भाव है या नही ? किन्तु तुम उक्त वेद-वाक्य का यथार्थ अर्थ नहीं जानते इसीलिए ऐसा सशय करते हो। मैं तुम्हे इसका यथार्थ अर्थ बताऊँगा, उस से तुम्हारा सशय दूर हो जाएगा। [१६०७]

अपि च, पुण्य-पाप के सम्बन्ध मे तुम्हारे सम्मुख भिन्न-भिन्न मत उपस्थित है। इसलिए भी तुम यह निर्णय नही कर सकते कि सच्चा पक्ष कौनसा होगा ? तुम्हारा मन अस्थिर रहता है। तुम्हारे समक्ष पुण्य-पाप के सम्बन्ध मे निम्नलिखित मत उपस्थित है—

१. केवल पुण्य ही है, पाप नही।

२ केवल पाप ही है, पुण्य नही।

३ पुण्य और पाप एक ही साधारण वस्तु है। जैसे मेचक मणि मे विविध रग होने पर भी वह एक ही साधारण वस्तु है वैसे ही सुख तथा दु ख रूप फल देने वाली कोई एक ही वस्तु है।

४. सुख रूप फल देने वाला पुण्य तथा पाप रूप फल देने वाला पाप ये दोनो स्वतन्त्र है।

५. कर्म जैसी अर्थात् पुण्य-पाप जैसी कोई वस्तु ही नही है, यह समस्त भव-प्रपच स्वभाव से ही होता है।

इन पाँचो मतो को मानने वाले अपने-अपने मत के समर्थन के लिए निम्न युक्तियाँ देते हैं—

पुण्यवाद

१ केवल पुण्य ही है, पाप का सर्वथा अभाव है। पुण्य का क्रमश उत्कर्ष होता है, वह शुभ है। अर्थात् जैसे-जैसे पुण्य थोडा-थोडा बढता है वैसे-वैसे क्रमश सुख की भी वृद्धि होती है। अन्त मे पुण्य का परम उत्कर्ष होने पर स्वर्ग का उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है। किन्तु यदि पुण्य की क्रमश हानि होती जाए तो सुख की भी क्रमिक हानि होती है। अर्थात् उसी परिमाण में दु ख बढता जाता है और निदान जब पुण्य न्यूनतम रह जाता है तब नरक में उत्कृष्ट दु ख मिलता है। किन्तु पुण्य का सर्वथा क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार केवल पुण्य को स्वीकार करने से सुख-दु ख दोनो घटित हो जाते है तो फिर पाप को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है ? जैसे पथ्याहार की क्रमिक वृद्धि से आरोग्य-वृद्धि होती है, वैसे ही पुण्य-वृद्धि से सुख-वृद्धि होती है, जैसे पथ्याहार के कम होने पर आरोग्य की हानि होती है, अर्थात् रोग बढता है, वैसे ही पुण्य की हानि से दु ख बढता है। सर्वथा पथ्याहार का त्याग करने पर मरण होता है और सर्वथा पुण्य का क्षय होने पर मोक्ष होता है। इस तरह केवल पुण्य से सुख-दु ख की उपपत्ति हो जाती है, अत पाप को पृथक् क्यो माना जाए ? [१९०८-९]

पापवाद

२. इसके विपरीत केवल पाप का अस्तित्व मानने वाले तथा पुण्य का निषेध करने वाले लोगो का कथन है कि जैसे अपथ्याहार की वृद्धि से रोग की वृद्धि होती है, वैसे ही पाप की वृद्धि से अधमता अथवा दु ख की वृद्धि होती है। जब पाप का परम प्रकर्ष होता है तब नारको मे उत्कृष्ट दु ख मिलता है। पुनश्च, जैसे अपथ्याहार को कम करने से आरोग्य-लाभ की वृद्धि होती है, वैसे ही पाप का अपकर्ष होने पर शुभ अथवा सुख की वृद्धि होती है और न्यूनतम पाप होने पर देवो का उत्कृष्ट सुख मिलता है। अपथ्याहार के सर्वथा त्याग से परम आरोग्य की प्राप्ति होती है तथा पाप के सर्वथा नाश से मोक्ष का लाभ होता है। इस प्रकार केवल पाप को मानने से सुख-दु ख की उपपत्ति हो जाती है, अत पुण्य को पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। [१९१०]

पुण्य-पाप दोनों संकीर्ण है

३ पुण्य या पाप ये दोनो ही स्वतन्त्र नही है किन्तु उभय साधारण एक ही वस्तु हैं। ऐसा मानने वालो का कथन है कि जैसे अनेक रगो के सम्मिश्रण से एक साधारण सकीर्ण वर्ण की उत्पत्ति होती है, अथवा विविध वर्णयुक्त मेचक मरिण एक ही है, अथवा सिंह और नर का रूप धारण करने वाला नरसिंह एक ही है, वैसे ही पाप और पुण्य की सज्ञा प्राप्त करने वाली एक ही साधारण वस्तु है। इस साधारण वस्तु मे जब पुण्य की एक मात्रा बढ जाती है तब उसे पुण्य कहते है। तथा जब पाप की एक मात्रा बढ जाती है तब उसे पाप कहते हैं। अर्थात् पुण्यांश

का अपकर्ष होने पर उसे पाप कहते है और पापाश का अपकर्ष होने पर उसे पुण्य कहते है। [१६११]

पुण्य-पाप दोनों स्वतन्त्र हैं

४. इसके विपरीत कुछ लोग यह मानते है कि पुण्य व पाप दोनो स्वतन्त्र है। उनकी युक्ति यह है कि सुख व दुःख दोनो कार्य हैं, किन्तु इन दोनो का अनुभव एक साथ नही होता, अत. इनके कारण भिन्न-भिन्न होने चाहिएँ। सुख का कारण पुण्य है और दु ख का कारण पाप है।

स्वभाववाद

५ पुण्य-पाप सम्बन्धी उपर्युक्त चारों मान्यताओ को परस्पर विरुद्ध देख कर कुछ लोग मानते है कि पुण्य-पाप जैसे कोई पदार्थ इस ससार मे नही है, समस्त भव-प्रपच स्वभाव से ही होता है।

संशय-निवारण

इन पाँचो मतो को देख कर तुम्हारा मन दुविधा में है कि पाप-पुण्य को माना जाए या न माना जाए ? मानना हो तो दोनो को स्वतन्त्र मानना अथवा केवल पाप या केवल पुण्य को मानना। किन्तु अचलभ्राता ! इनमे चौथा पक्ष ही युक्ति-युक्त है—अर्थात् पाप व पुण्य दोनों स्वतन्त्र हैं। अन्य सभी पक्ष युक्ति-बाधक है।

अचलभ्राता—आप स्वभाववाद को क्यो अयुक्त मानते हैं, पहले यह बताएँ।

स्वभाववाद का निराकरण

भगवान्—ससार मे सुख-दु ख की जो विचित्रता है वह स्वभाव मे घटित नही हो सकती। स्वभाव[1] के विषय मे मेरे तीन प्रश्न है—क्या स्वभाव वस्तु है ? क्या स्वभाव निष्कारणता है ? क्या स्वभाव वस्तु धर्म है ? इनमे स्वभाव को वस्तु तो नही मान सकते, क्योकि आकाश-कुसुम के समान वह अत्यन्त अनुपलब्ध हैं। [१६१२-१३]

अचलभ्राता—अत्यन्त[2] अनुपलब्ध होने पर भी उसके अस्तित्व मे क्या बाधक है ?

भगवान्—ऐसी स्थिति मे अत्यन्त अनुपलब्ध होने पर भी पुण्य-पाप रूप कर्म को ही क्यों न स्वीकार किया जाए ? अत्यन्त अनुपलब्ध होने पर भी जिन कारणो के आधार पर स्वभाव को माना जाए, उन्ही के आधार पर कर्म की सत्ता भी मान लेनी चाहिए। [१६१४]

---

1 यह गाथा पहले भी आई है-- 1786। स्वभाववाद का निराकरण गाथा 1643 की व्याख्या मे देखें।

2. यह गाथा भी पहले आई है–1787।

अथवा कर्म[1] का ही दूसरा नाम स्वभाव है, इसे मानने मे क्या आपत्ति है ?

अपि च, स्वभाव से विविध प्रकार के प्रतिनियत आकार वाले शरीरादि कार्यों की उत्पत्ति सम्भव नही है, क्योकि स्वभाव एक-रूप ही होता है, जैसे कुम्भकार प्रतिनियत आकार वाले घडे की उत्पत्ति विविध उपकरणो के बिना नही कर सकता, वैसे ही विविध कर्मों के अभाव मे नाना प्रकार के सुख-दु ख की उत्पत्ति भी नही हो सकती। स्वभाव के एकरूप होने के कारण उसे ऐसी उत्पत्ति का कारण नही माना जा सकता। [१९१५]

पुनश्च, यदि स्वभाव[2] वस्तु है तो वह मूर्त है या अमूर्त ? यदि वह मूर्त है तो केवल नाम का ही भेद है। मैं उसे पुण्य-पाप-रूप कर्म कहता हूँ तथा स्वभाववादी उसे स्वभाव कहता है। यदि स्वभाव-रूप वस्तु अमूर्त है तो वह आकाश के समान कुछ भी काम नही कर सकती। फिर देहादि अथवा सुख-दु ख-रूप कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? अथवा देहादि कार्य मूर्त है, अत उसका कारण स्वभाव भी मूर्त होना चाहिए। यदि उसे मूर्त माना जाए तो स्वभाव और कर्म मे, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, नाममात्र का भेद रह जाता है।

अचलभ्राता—स्वभाव[3] का अर्थ निष्कारणता मानने मे क्या दोष है ?

भगवान्—इसका अर्थ यह होगा कि कार्योत्पत्ति का कोई भी कारण नही है। ऐसी स्थिति मे घटादि के समान खर-शृग की भी उत्पत्ति क्यो नही हो जाती ? किन्तु यह उत्पत्ति नही होती। कारण यह है कि खर-शृग का कोई भी कारण नही है। अत निष्कारण उत्पत्ति मान्य नही हो सकती। इसलिए स्वभाव को निष्कारणता कहना अयुक्त है। [१९१६–१७]

अचलभ्राता—फिर स्वभाव को वस्तु-धर्म मानना चाहिए।

अनुमान से पुण्य-पाप कर्म की सिद्धि

भगवान्—स्वभाव को यदि वस्तु-धर्म माना जाए तो वह प्रस्तुत मे जीव और कर्म का पुण्य एव पाप-रूप परिणाम ही सिद्ध होगा।

अचलभ्राता—यह कैसे ?

---

1. गाथा 1788 के पूर्वार्ध मे भी यही कथन है।

2 यहाँ उठाए गए प्रश्न पहले भी स्वभाव का वर्णन करते हुए आ चुके हैं, किन्तु उनका निराकरण कुछ अलग ढग से किया था। (गाथा 1789–90) यहाँ के समान प्रश्न गाथा 1643 की व्याख्या मे टीकाकार ने उठाए हैं तथा उनका उत्तर भी दिया है।

3 इस पक्ष का अन्य प्रकारेण निराकरण गाथा 1643 की व्याख्या मे तथा 1791 मे है।

भगवान्—कारणानुमान तथा कार्यानुमान द्वारा इस परिणाम की सिद्धि होती है। अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान करके तथा कार्य से कारण का अनुमान करके इस बात को सिद्ध किया जा सकता है। [१९१८]

अचलभ्राता—अनुमान-प्रयोग किस प्रकार का है?

भगवान्—दानादि क्रिया तथा हिंसादि किया के कारणरूप होने से इनका कोई कार्य होना चाहिए। यह कार्य कोई अन्य नही, परन्तु जीव और कर्म का पुण्य व पाप-रूप परिणाम है। इस प्रकार कारणानुमान से जैसे तुम कृषि-क्रिया का कार्य शालि, जौ, गेहूँ आदि मानते हो, उसी प्रकार दानादि क्रिया का पुण्य तथा हिसादि क्रिया का पाप-रूप कार्य कारणानुमान से मानना चाहिए। कहा भी है—

"समान प्रयत्न का समान फल मिलता है, तथा असमान प्रयत्न का भी समान फल मिलता है। प्रयत्न करने पर भी फल नही मिलता तथा प्रयत्न के अभाव में भी फल मिल जाता है। अत ज्ञात होता है कि प्रयत्न के फल का आधार केवल प्रयत्न ही नही है, किन्तु वह जीव के किसी धर्म पर आधारित है। वह धर्म ही कर्म है[1]।"

कार्यानुमान का प्रयोग इस प्रकार है—देहादि का कोई कारण होना चाहिए, क्योंकि वे कार्य है, जैसे कि घटादि। देहादि का जो कारण है वह कर्म है। मैंने इस विषय की विशेष चर्चा अग्निभूति से की है। अत उसके समान तुम्हे भी कर्म को स्वीकार करना चाहिए। [१९१९]

अचलभ्राता—देहादि के कारण माता-पितादि प्रत्यक्ष है तो फिर अदृष्ट कर्म को मानने की क्या आवश्यकता है?

पुण्य-पाप रूप अदृष्ट कर्म की सिद्धि

भगवान्—दृष्ट-कारण-रूप माता-पिता के समान होने पर भी एक पुत्र सुन्दर देह वाला होता है तथा दूसरा कुरूप। अत दृष्ट-कारण माता-पिता से भिन्न रूप अदृष्ट कारण कर्म को भी मानना चाहिए। वह कर्म भी दो प्रकार का स्वीकार करना चाहिए पुण्य और पाप। शुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पुण्य कर्म का तथा अशुभ देहादि कार्य से उसके कारणभूत पाप कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। शुभ-क्रिया-रूप कारण से शुभ कर्म पुण्य की निष्पत्ति होती है तथा अशुभ-क्रिया-रूप कारण से अशुभ कर्म पाप की निष्पत्ति होती है। इससे भी कर्म के पुण्य व पाप ये दो भेद स्वभाव से ही भिन्नजा-तीय सिद्ध होते हैं। कहा भी है—

---

1. समानु तुल्य विषमानु तुल्य मतीष्वमच्चाप्यसतीषु सच्च।
   फल क्रियास्विरयथ यन्निमित्त तद्देहिना सोऽस्ति नु कोऽपि धर्म ॥

"दृष्ट हेतुओ के होने पर भी कार्य विशेष असम्भव हो तो कुम्भकार के यत्न के समान एक अन्य अदृष्ट हेतु का अनुमान करना पडता है और वह कर्त्ता का शुभ अथवा अशुभ कर्म है[1]।"

मेरे कहने से भी अग्निभूति के समान तुम्हे शुभाशुभ कर्म स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि सर्वज्ञ का वचन प्रमाणभूत होता है। [१६२०]

कर्म के पुण्य-पाप भेदों की सिद्धि

एक अन्य प्रकार से भी कर्म के पुण्य और पाप इन दो भेदो की सिद्धि हो सकती है। सुख और दु ख दोनों ही कार्य है, अत. दोनों के ही उनके अनुरूप कारण होने चाहिएँ। जैसे घट का अनुरूप कारण मिट्टी के परमाणु है तथा पट के अनुरूप कारण तन्तु हैं, वैसे ही सुख का अनुरूप कारण पुण्य कर्म तथा दु ख का अनुरूप कारण पाप कर्म है। इस प्रकार दोनो का पार्थक्य है। [१६२१]

अचलभ्राता—कार्य के अनुरूप कारण का नियम स्वीकार करने पर सुख-दु.ख का कारण कर्म भी उनके अनुरूप होना चाहिए। सुख-दु ख आत्मा के परिणाम होने से अरूपो है। इसलिए यदि कर्म को अरूपी न मान कर रूपी मानेंगे तो कार्यानुरूप कारण का नियम वाधित हो जाएगा। अत मानना पडेगा कि कारण कार्यानुरूप नही होता। [१६२२]

कर्म अमूर्त नहीं

भगवान्—जब मैं यह कहता हूँ कि कारण कार्यानुरूप होना चाहिए तव इसका अर्थ यह नही है कि कारण सर्वथा अनुरूप होता है। कारण कार्य के सर्वथा अनुरूप भो नही होता तथा उससे सर्वथा अननुरूप अर्थात् भिन्न भी नही होता। कार्य-कारण को सर्वथा अनुरूप मानने के दोनो से सभी धर्म एक-समान ही मानने पडेंगे, ऐसी स्थिति मे दोनो मे कोई भेद हो नही रहेगा। दोनो कारण ही वन जाएँगे, अथवा कार्य हो। यदि इन दोनो मे सर्वथा भेद माना जाए तो कारण या कार्य मे से एक को वस्तु तथा दूसरे को अवस्तु मानना पडेगा। दोनो वस्तुरूप नही हो सकेंगे, क्योंकि इस प्रकार दोनो का ऐकान्तिक भेद वाधित हो जाएगा। अत कार्यकारण की सर्वथा अनुरूपता अथवा अननुरूपता न मान कर कुछ अशो मे समानता और कुश अँशो मे असमानता माननी चाहिए। इससे सुख-दु ख का कारण कर्म, सुख-दु ख की अमूर्तता के कारण अमूर्त सिद्ध नही हो सकेगा। [१६२३]

अचलभ्राता—आपके कहने का भावार्थ यह है कि ससार मे सभी कुछ तुल्य और अतुल्य है। फिर इस कथन का क्या प्रयोजन है कि कारण कार्यानुरू

---

1 इह दृष्टहेत्वमभविकायविशेपात् कुलालयत्न इव।
हेत्वन्तरमनुमेय तत् कर्म शुभाशुभ कर्तु ॥

होना चाहिए ? आप न कहें, तो भी यह बात समझ मे आने वाली है। यदि ससार मे कोई वस्तु ऐकान्तिक अतुल्य हो, तभी उसकी व्यावृत्ति के लिए कार्यानुरूप कारण का विधान आवश्यक सिद्ध हो। किन्तु यह पक्ष तो किसी का है ही नही, फिर विशेषत कार्यानुरूप कारण सिद्ध करने का कुछ भी प्रयोजन नही है।

भगवान्—सौम्य ! कार्यानुरूप कारण को सिद्ध करने का प्रयोजन यह है कि यद्यपि ससार मे सभी कुछ तुल्यातुल्य है, तथापि कारण का ही एक विशेष-स्वपर्याय कार्य है, इसलिए उसे इस दृष्टि से अनुरूप कहा गया है। कार्य के अतिरिक्त समस्त पदार्थ उसके अकार्य है—परपर्याय है, इसलिए इस दृष्टि से उन सब को कारण से असमान (भिन्न) कहा गया है। तात्पर्य यह है कि कारण कार्य-वस्तुरूप मे परिणत होता है किन्तु उससे भिन्न अन्य वस्तुरूप में परिणत नही होता। इसी बात के समर्थन के लिए ही यहाँ विशेषत : कार्यानुरूप कारण का कथन किया गया है अर्थात् अन्य समस्त वस्तुओ के साथ कारण की इतर प्रकार से समानता होने पर भी पर-पर्याय की दृष्टि से कार्य-भिन्न सभी पदार्थ कारण के अननुरूप है। इस बात का प्रतिपादन करना ही यहाँ इष्ट है।

अचलभ्राता—प्रस्तुत मे सुख और दु ख अपने कारण के स्वपर्याय किस प्रकार है ?

भगवान्—जीव तथा पुण्य का सयोग ही सुख का कारण है। उस सयोग का ही स्वपर्याय सुख है। जीव व पाप का सयोग दु ख का कारण है। उस सयोग का ही स्वपर्याय दु.ख है। जैसे सुख को शुभ, कल्याण, शिव आदि कह सकते है वैसे ही उसके कारण पुण्य के लिए भी यही शब्द प्रयुक्त किए जा सकते है। जैसे दु.ख को अकल्याण, अशुभ, अशिव आदि सज्ञा दी जाती है, उसके कारण पाप-द्रव्य को भी इन शब्दो से प्रतिपादित किया जाता है। इसीलिए ही विशेषरूपेण सुख-दु.ख-के अनुरूप कारण के रूप मे पुण्य पाप माने जाते है। [१९२४]

अचलभ्राता—क्या आपके कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे नीलादि पदार्थ मूर्त होने पर भी अमूर्त-रूप तत्प्रतिभासी ज्ञान को उत्पन्न करते है वैसे मूर्त कर्म भी अमूर्त सुखादि को उत्पन्न करते हैं ?

भगवान्—हाँ।

अचलभ्राता—तो क्या आप यह भी मानते है कि जैसे अन्नादि दृष्ट पदार्थ सुख के मूर्त कारण है वैसे कर्म भी मूर्त कारण है ?

भगवान्—हाँ। [१९२५]

अचलभ्राता—तो फिर मूर्त होते हुए भी कर्म दिखाई क्यो नही देता ? इसलिए दृष्ट-रूप मूर्त अन्नादि को ही अमूर्त सुख का कारण मानना चाहिए। अतएव अदृष्ट मूर्त कर्म को स्वीकार करना निष्प्रयोजन है।

अदृष्ट-रूप कर्म की सिद्धि

भगवान्—अन्नादि दृष्ट मूर्त साधन समान हो, तो भी उनका सुख-दु ख आदि फल समान नही होता। जिस अन्न से एक व्यक्ति को आरोग्य का लाभ होता है, उसी से दूसरा व्यक्ति व्याधिग्रस्त बनता है। इस प्रकार दृष्ट अन्न समान होने पर भी सुख-दु खादि की जो विशेषता दिखाई देती है वह सकारण होनी चाहिए, अत. अदृष्ट कर्म को उसका कारण मानना पडता है। यदि सुख-दु.खादि की विशेषता निष्कारण मानी जाए तो वह आकाश के समान या तो सदा विद्यमान रहेगी अथवा खर-विषाण के समान कभी भी उत्पन्न न होगी। किन्तु यह विशेषता कादाचित्क है, अत उसका कारण अदृष्ट मूर्त कर्म मानना ही चाहिए। [१९२६]

अचलभ्राता—किन्तु वह कर्म दृष्टिगोचर नही होता—अदृष्ट है। फिर उसे मूर्त क्यो माना जाए ? अमूर्त क्यो न मान लिया जाए ?

भगवान्—उसे मूर्त इसलिए माना गया है कि वह देहादि मूर्त वस्तु का निमित्त मात्र बन कर घट[1] के समान बलाधायक है। अथवा जैसे घट को तेलादि मूर्त वस्तु से बल प्राप्त होता है वैसे ही कर्म को भी विपाक प्रदान करने मे माला, चन्दनादि मूर्त वस्तुओ से बल की प्राप्ति होने के कारण कर्म भी घट के समान मूर्त है। अथवा कर्म को इसलिए भी मूर्त मानना चाहिए कि उसका देहादिरूप कार्य मूर्त है। जैसे परमाणु का कार्य घटादि मूर्त है, अत परमाणु भी मूर्त या रूपादि युक्त है, वैसे ही कर्म का कार्य शरीर भी मूर्त है, इसलिए कर्म को भी मूर्त मानना चाहिए।

अचलभ्राता—किन्तु इस विषय मे मेरा पुन. यह प्रश्न है कि क्या कर्म के देहादि कार्य मूर्त हैं, इसलिए कर्म मूर्त है अथवा सुख-दु खादि कार्य के अमूर्त होने से कर्म अमूर्त है ? अर्थात् यदि आप कार्य की मूर्तता या अमूर्तता के आधार पर कारण की मूर्तता या अमूर्तता मानते हैं तो कर्म के कार्य मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के हैं। अत. सहज ही प्रश्न होता है कि कर्म मूर्त है अथवा अमूर्त ? [१९२७-२८]

भगवान्—मेरे कथन का तात्पर्य यह तो नही है कि कार्य के मूर्त या अमूर्त होने पर उसके सभी कारण मूर्त या अमूर्त होने चाहिएँ। सुखादि अमूर्त कार्य का कारण केवल कर्म ही नही है, आत्मा भी उसका कारण है। दोनों मे भेद यह है कि आत्मा समवायी कारण है तथा कर्म समवायी कारण नही है। अत. सुख-दु खादि के अमूर्त कार्य होने से उनके समवायी कारण रूप आत्मा की अमूर्तता का अनुमान हो सकता है। सुख-दु खादि की अमूर्तता के कारण कर्म की अमूर्तता के अनुमान

---

1. इसका तात्पर्य यह ज्ञात होता है कि पानी को लाने के लिए केवल शरीर अकिंचत्कर है। घट का सहकार प्राप्त होने पर ही शरीर मे पानी लाने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है।

की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए देहादि कार्य के मूर्त होने से उसके कारण कर्म को भी मूर्त मानना चाहिए। मेरे इस कथन में कुछ भी दोष नहीं है। [१६२६]

केवल पुण्यवाद का निरास, पापसिद्धि

इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि कर्म रूपी होकर भी सुख-दुःख का कारण बनता है। अतः उसे पुण्यरूप और पापरूप दोनों प्रकार का मानना चाहिए। इससे इस प्रथम पक्ष का निरास हो जाता है कि 'पुण्य का अपकर्ष होने से दुःख की वृद्धि होती है, पाप को पुण्य से स्वतन्त्र मानने की आवश्यकता नहीं है।' [१६३०]

अचलभ्राता: आप यह बात कौन-सी युक्ति के आधार पर कहते हैं?

भगवान्—दुःख की बहुलता तदनुरूप कर्म के प्रकर्ष से माननी चाहिए, क्योंकि दुःख का अनुभव प्रकृष्ट है। जैसे सुख के प्रकृष्ट अनुभव के आधार पर पुण्य का प्रकर्ष उसका कारण माना जाता है, वैसे ही प्रकृष्ट दुःखानुभव का कारण भी किसी कर्म का प्रकर्ष मानना चाहिए। इसलिए यह कारण पुण्य का अपकर्ष नहीं, प्रत्युत पाप का प्रकर्ष स्वीकार करना चाहिए। [१६३१]

अपि च, जीव को जिस प्रकृष्ट दुःख का अनुभव होता है, उस का कारण केवल पुण्य का अपकर्ष ही नहीं है। कारण यह है दुःख के प्रकर्ष में बाह्य अनिष्ट आहार आदि का प्रकर्ष भी अपेक्षित है। यदि पुण्य के अपकर्ष से ही प्रकृष्ट दुःख स्वीकार किया जाए तो पुण्य-सम्पाद्य इष्ट आहार आदि बाह्य साधनों के अपकर्ष से ही प्रकृष्ट दुःख होना चाहिए, किन्तु उसमें सुख के प्रतिकूल अनिष्ट आहारादि विपरीत बाह्य साधनों के बल के प्रकर्ष की अपेक्षा नहीं रहनी चाहिए। साराश यह है कि यदि दुःख पुण्य के अपकर्ष से होता हो तो सुख के साधनों का अपकर्ष ही उसका कारण होना चाहिए, दुःख के साधनों के प्रकर्ष की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए। वस्तुतः दुःख का प्रकर्ष केवल सुख के साधनों के अपकर्ष से नहीं होता, उसके लिए दुःख के साधनों का प्रकर्ष भी आवश्यक है ही। इसलिए जिस प्रकार सुख के साधनों के प्रकर्ष-अपकर्ष के लिए पुण्य का प्रकर्ष-अपकर्ष अनिवार्य है, उसी प्रकार दुःख के साधनों के प्रकर्ष-अपकर्ष के लिए पाप का प्रकर्ष-अपकर्ष भी अनिवार्य है। पुण्य के अपकर्ष से इष्ट साधनों का अपकर्ष हो सकता है, किन्तु उससे अनिष्ट साधनों की वृद्धि कैसे सम्भव है? अतः उसका अन्य स्वतन्त्र कारण पाप को मानना ही चाहिए। [१६३२]

पुनश्च, यदि पुण्य के उत्कर्ष के आधार पर ही सुखी शरीर की तथा अपकर्ष के आधार पर ही दुःखी शरीर की रचना होती हो और पाप जैसा कोई स्वतन्त्र पदार्थ न हो तो शरीर के मूर्त होने के कारण पुण्य के उत्कर्ष से ही उसे बड़ा होना चाहिए तथा पुण्य का अपकर्ष होने पर ही छोटा एवं बड़ा शरीर ही सुखदायक होना चाहिए छोटा शरीर दुःखद होना चाहिए। मगर वस्तुतः ऐसा नहीं होता।

चक्रवर्ती की अपेक्षा हाथी का शरीर बडा है, तथापि पुण्य प्रकर्ष चक्रवर्ती में है, हाथी मे नही। यदि पुण्य के अपकर्ष से शरीर की रचना अपकृष्ट होती हो तो हाथी मे पुण्य का अपकर्ष होने के कारण उसका शरीर अत्यन्त लघु होना चाहिए, किन्तु वह तो बहुत ही विशाल है। फिर पुण्य तो शुभ होता है। अत अत्यन्त अल्प पुण्य से भी उसका कार्य शुभ होना चाहिए, अशुभ कदापि नही। जैसे थोडे सोने से छोटा सोने का घट बनता है किन्तु वह मिट्टी का नही बन जाता, वैसे ही पुण्य से जो कुछ भी निष्पन्न हो वह शुभ ही होना चाहिए, किसी भी दशा मे अशुभ नही। अत अशुभ का कारण पाप मानना चाहिए। [१९३३]

अचलभ्राता—पाप के उत्कर्ष से दु ख होता है तथा पाप के अपकर्ष से सुख, इस पक्ष को स्वीकार करने मे क्या बाधा है?

केवल पापवाद का निरास, पुण्यसिद्धि

भगवान्—जो कुछ मैंने पुण्य-पक्ष के विषय में कहा है, उसे उलटा कर पाप-पक्ष के विषय मे कहा जा सकता है। जैसे पुण्य के अपकर्ष से दु ख नही हो सकता, वैसे ही पाप के अपकर्ष मे सुख नही हो सकता। यदि अधिक परिमाण युक्त विष अधिक हानि करता हो तो न्यूनपरिमाण युक्त विष कम हानि करेगा, किन्तु उससे लाभ कैसे हो सकता है? इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि थोडा पाप थोडा दु ख देता है, किन्तु सुख के लिए तो पुण्य की कल्पना ही करनी पडेगी।

अचलभ्राता—पुण्य पाप को साधारण (संकीर्ण-मिश्रित) मानने मे क्या दोष है?

संकीर्ण पक्ष का निरास

भगवान्—कोई भी कर्म पुण्य-पाप उभयरूप नही हो सकता। कारण यह है कि ऐसा कर्म निर्हेतुक है। [१९३४]

अचलभ्राता—आप यह कैसे कहते है कि साधारण कर्म का कोई भी कारण नही।

भगवान्—कर्म का कारण है योग। एक समय में योग शुभ होगा अथवा अशुभ, किन्तु वह शुभाशुभ उभयरूप नही होता। अत उसका कार्य कर्म भी पुण्यरूप शुभ अथवा पापरूप अशुभ होगा, उभय रूप नही। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्म-बन्ध के हेतु कहलाते है। इनमे एक योग ही ऐसा कारण है जिसका कर्म-बन्ध के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। इसलिए जहाँ-जहाँ कर्म-बन्ध होता है वहाँ योग अवश्य होता है। इसीलिए यहाँ अन्य कारणों का उल्लेख न कर केवल योग का ही कथन किया है, मन, वचन, काय इन तीन साधनो के भेद के कारण योग के तीन भेद हैं। [१९३५]

अचलभ्राता—मन वचन-काय योग किसी समय शुभाशुभ अर्थात् मिश्र भी होता है, अत: आप का कथन युक्त नहीं है। अविधिपूर्वक दान देने का विचार करने वाले पुरुष का मनोयोग शुभाशुभ है, क्योंकि उसमें देने की भावना शुभयोग की तथा अविधिपूर्वकता अशुभ योग की सूचक है। इसी प्रकार अविधिपूर्वक दानादि देने का उपदेश करने वाले व्यक्ति का वचन योग शुभाशुभ होगा। जो मनुष्य जिन पूजा, वन्दन आदि अविधिपूर्वक करता है, उसकी वह कायचेष्टा शुभाशुभ काययोग है।

भगवान्—प्रत्येक योग के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। उसमें मन, वचन तथा काययोग के प्रवर्तक पुद्गल-द्रव्य द्रव्ययोग कहलाते हैं और मन, वचन, काय का स्फुरण (परिस्पद) भी द्रव्ययोग है। इन दोनों प्रकार के द्रव्ययोग का कारण अध्यवसाय है और उसे भावयोग कहते हैं। द्रव्ययोग में शुभाशुभरूपता हो सकती है, किन्तु उसका कारण अध्यवसायरूप भावयोग एक समय में या तो शुभ होगा या अशुभ, उसका उभयरूप होना सम्भव नहीं है। द्रव्ययोग भी व्यवहार नय की अपेक्षा से ही उभयरूप है, निश्चय नय की अपेक्षा से वह भी एक समय में शुभ अथवा अशुभ होगा। तत्वचिन्ता के समय व्यवहार की अपेक्षा निश्चय नय की दृष्टि की प्रधानता माननी चाहिए। अध्यवसाय स्थानों के शुभ और अशुभ ये दो भेद ही है, किन्तु शुभाशुभ रूप तीसरा भेद नहीं है। जब शुभ अध्यवसाय होता है तब पुण्य कर्म का तथा जब अशुभ अध्यवसाय हो तब पाप कर्म का बन्ध होता है। शुभाशुभ उभयरूप किसी भी अध्यवसाय के अभाव के कारण शुभाशुभ उभयरूप कर्म भी सम्भव नहीं है। अत: पुण्य तथा पाप को स्वतन्त्र ही मानना चाहिए, संकीर्ण नहीं। [१९३६]

अचलभ्राता—भावयोग को शुभाशुभ उभयरूप न मानने का क्या कारण है?

भगवान्—भावयोग ध्यान और लेश्यारूप होता है। ध्यान एक समय में धर्म या शुक्लरूप शुभ ही अथवा आर्त या रौद्र रूप अशुभ ही होता है, शुभाशुभ उभयरूप कोई ध्यान ही नहीं है। तथा ध्यान विरति होने पर लेश्या भी तैजसादि कोई एक शुभ अथवा कापोती आदि कोई एक अशुभ होती है, किन्तु उभयरूप लेश्या कोई नहीं है। इसलिए ध्यान और लेश्यारूप भावयोग भी एक समय में शुभ या अशुभ ही हो सकता है। फलत: भावयोग के निमित्त से बद्ध होने वाला कर्म भी पुण्यरूप शुभ अथवा पापरूप अशुभ ही होना चाहिए। अत: पाप तथा पुण्य को स्वतन्त्र ही मानना चाहिए। [१९३७]

अचलभ्राता—यदि कोई भी कर्म शुभाशुभ उभयरूप नहीं होता, तो फिर मोहनीय कर्म की सम्यङ्-मिथ्यात्व-रूप प्रकृति मिश्ररूप शुभाशुभ क्यों मानी जाती है?

भगवान्—उक्त मिश्र मोहनीय प्रकृति बन्ध की अपेक्षा से मिश्र नहीं है। अर्थात् योग द्वारा कर्म का जो ग्रहण होता है उसकी अपेक्षा से तो कर्म शुभ या

अशुभ ही होता है, किन्तु वह पूर्वगृहीत कर्म-प्रकृति को शुभ से अशुभ, अथवा अशुभ से शुभ अथवा शुभाशुभ मे भिन्न-भिन्न अध्यवसायो के आधार पर परिणत कर सकता है, इस से पूर्वगृहीत मिथ्यात्व रूप अशुभ कर्म का विशुद्ध परिणाम से शोधन कर सम्यक्त्व रूप शुभ कर्म मे परिवर्तन किया जा सकता है तथा अविशुद्ध परिणाम से सम्यक्त्व के शुभ पुद्गलो का मिथ्यात्व रूप मे परिवर्तन किया जा सकता है। मिथ्यात्व के कुछ कर्म-पुद्गलों को अर्द्धविशुद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार सत्तागत कर्म की अपेक्षा से मिश्र मोहनीय का सद्भाव सम्भव है। ग्रहणकाल मे किसी मिश्र मोहनीय कर्म का बन्ध नही होता। [१९३८]

अचलभ्राता—कर्म प्रकृति के अन्योन्य सक्रम का क्या नियम है ?

कर्म संक्रम का नियम

भगवान्—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय इन आठ मूल कर्म-प्रकृतियो मे तो परस्पर सक्रम हो ही नही सकता। अर्थात् एक मूल प्रकृति दूसरी प्रकृति रूप में परिणत नही की जा सकती, किन्तु उत्तर प्रकृतियो मे परस्पर सक्रम सम्भव है। इस नियम में भी यह अपवाद है कि आयुकर्म की मनुष्य, देव, नारक, तिर्यंच इन चार उत्तर प्रकृतियो मे परस्पर सक्रम नही होता तथा मोहनीय कर्म की दर्शनमोह तथा चारित्रमोह रूप दो उत्तर प्रकृतियो मे भी परस्पर सक्रम नही होता। इनके अतिरिक्त कर्म की शेष उत्तर प्रकृतियो मे परस्पर सक्रम की भजना है, जो इस प्रकार है—पाँच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, सोलह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, पाँच अन्तराय ये सब मिल कर ४७ ध्रुवबन्धिनी उत्तर प्रकृतियाँ है। इन सब का अपनी-अपनी मूल प्रकृति से अभिन्न रूप उत्तर प्रकृतियो मे परस्पर सक्रम हमेशा होता है। शेष समस्त अध्रुवबन्धिनी प्रकृतियो के विषय मे यह नियम है कि अपनी-अपनी मूल प्रकृति से अभिन्न रूप उत्तर प्रकृतियो मे से जो अवध्यमान होती है वही बध्यमान प्रकृति मे सक्रात होती है, किन्तु बध्यमान प्रकृति अवध्यमान मे सक्रात नही होती। यही प्रकृति-सक्रम की भजना है। [१९३९]

अचलभ्राता—आप पुण्य और पाप का लक्षण बताने की कृपा करें।

पुण्य व पाप का लक्षण

भगवान्—जो स्वय शुभ वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श युक्त हो तथा जिसका विपाक भी शुभ हो वह पुण्य है और जो इससे विपरीत है, वह पाप है।

पुण्य व पाप ये दोनो पुद्गल हैं, किन्तु वे मेरु आदि के समान अतिस्थूल नही हैं और परमाणु के समान अतिसूक्ष्म भी नही है। [१९४०]

अचलभ्राता—ससार मे पुद्गल तो खचाखच भरे पडे है, उनमे से जीव पुण्य-पाप के रूप मे कौन से पुद्गलो को ग्रहण करता है तथा कैसे ग्रहण करता है ?

कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया

भगवान्—जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगा कर नग्न शरीर ही खुले स्थान मे वैठे तो तेल के परिमाण के अनुसार उसके समस्त शरीर पर मिट्टी चिपक जाती है, वैसे ही राग-द्वेष से स्निग्ध जीव भी कर्म-वर्गणा मे विद्यमान कर्म योग्य पुद्गलो को ही पाप-पुण्य रूप मे ग्रहण करता है। कर्म-वर्गणा के पुद्गलो से भी सूक्ष्म परमाणु का अथवा स्थूल औदारिकादि शरीर योग्य पुद्गलों का कर्म रूप मे ग्रहण नही होता। अपि च, जीव स्वय आकाश के जितने प्रदेशो मे होता है उतने ही प्रदेशो मे विद्यमान तद्रूप पुद्गलों का अपने सर्व प्रदेश मे ग्रहण करता है। इसी विषय को निम्न गाथा मे कहा गया है—"एक प्रदेश मे विद्यमान (अर्थात् जिस प्रदेश मे जीव हो उस प्रदेश मे विद्यमान) कर्म योग्य पुद्गल को जीव अपने सर्व प्रदेश से वाँधता है। इसमे जीव के मिथ्यात्वादि हेतु है। यह वन्ध सादि अर्थात् नवीन भी होता है तथा परम्परा से अनादि भी[1]।"

उपशम श्रेणी से पतित जीव सर्वथा नए रूप से मोहनीयादि कर्म का वन्ध करता है और जिस जीव ने उपशम श्रेणी प्राप्त ही न की हो उसका बन्ध अनादि ही कहलाता है। [१९४१]

अचलभ्राता—इस समस्त लोक के प्रत्येक आकाश प्रदेश मे पुद्गल परमाणु शुभाशुभ के भेद के विना ही भरे हुए है, अर्थात् अमुक आकाश प्रदेश मे शुभ पुद्गल तथा अन्यत्र अशुभ पुद्गल हो ऐसी किसी प्रकार की भी व्यवस्था के बिना ही केवल अव्यवस्थित रूप मे पुद्गल लोक मे खचाखच भरे पडे है। जैसे पुरुष का तेलयुक्त शरीर छोटे और वडे रजकणों का तो भेद करता है किन्तु शुभाशुभ का भेद किए विना ही अपने ससर्ग मे आने वाले पुद्गलो को ग्रहण करता है, वैसे ही जीव भी स्थूल तथा सूक्ष्म के विवेक से कर्म योग्य पुद्गलो का ग्रहण करे, यह बात तो उचित है, किन्तु ग्रहण-काल मे ही वह उनमे शुभाशुभ का विभाग कर दोनों मे से एक का ग्रहण करे और दूसरे का नही, यह कैसे सम्भव है ? [१९४२]

भगवान्—जब तक जीव ने कर्मपुद्गल का ग्रहण नही किया हो तब तक वह पुद्गल शुभ या अशुभ किसी भी विशेषण से विशिष्ट नही होता, अर्थात् वह अविशिष्ट ही होता है। किन्तु जीव उस कर्म पुद्गल का ग्रहण करते ही आहार के समान अध्यवसाय-रूप परिणाम तथा आश्रय की विशेषता के कारण उसे शुभ या अशुभ रूप मे परिणत कर देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव का जैसा शुभ या अशुभ अध्यवसाय रूप परिणाम होता है, उस के आधार पर वह ग्रहण-काल मे ही कर्म मे शुभत्व या अशुभत्व उत्पन्न कर देता है तथा कर्म के आश्रयभूत जीव का

---

1 एगपएसोगाढ सव्वपएसेहिं कम्मुणो जोग्ग।
वधइ जहुत्तहेउ साइयमणाइय वावि। पच-सग्रह *गाथा 284*

भी एक ऐसा स्वभाव विशेष है कि जिमके कारण वह उक्त रीति से कर्म का परिणमन करते हुए ही कर्म का ग्रहण करता है। पुनश्च, कर्म का भी यह स्वभाव विशेष है कि शुभ-अशुभ अध्यवसाय युक्त जीव के द्वारा शुभ-अशुभ परिणाम को प्राप्त होकर ही वह जीव से गृहीत होता है। इसी प्रकार जीव कर्म मे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश के अल्प भाग तथा अधिकाश भाग का वैचित्र्य भी ग्रहण-काल मे ही निर्मित करता है। यही बात निम्न गाथा मे कही गई है—

"जीव कर्म-पुद्गल के ग्रहण के समय कर्म प्रदेशो मे अपने अध्यवसाय के कारण सब जीवो से अनन्त गुणा रसाविभाग गुण उत्पन्न करता है[1]।"

"कर्म प्रदेशो मे सब से थोडा भाग आयु कर्म का है। उससे अधिक किन्तु परस्पर समान भाग नाम और गोत्र का है। उमसे अधिक भाग ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय का है, किन्तु इन तीनो का परस्पर भाग समान ही है। इनसे अधिक भाग मोहनीय का है। सर्वाधिक भाग वेदनीय का है। वेदनीय सुख-दुःख का कारण है, अत. उसका भाग सर्वाधिक है। शेष कर्मों का भाग उनके स्थिति वन्ध के परिमाण का है[2]।" [१९४३]

अचलभ्राता—आपने आहार का उदाहरण दिया, कृपया उसका समन्वय करे ताकि अच्छी तरह समझ मे आ जाए।

भगवान्—आहार के समान होने पर भी परिणाम और आश्रय की विशेषता के कारण उसके विभिन्न परिणाम दृष्टिगोचर होते है, जैसे कि गाय तथा सर्प को एक ही आहार देने पर भी गाय द्वारा खाया गया पदार्थ दूध रूप मे परिणत होता है तथा सप द्वारा खाया गया विष रूप मे। इस बात मे जैसे खाद्य पदार्थ मे भिन्न-भिन्न आश्रय मे जाकर तत्-तद्रूप मे परिणत होने का परिणाम स्वभाव विशेष है वैसे ही खाद्य का उपयोग करने वाले आश्रय मे भी उन वस्तुओ को तत्-तद्रूप मे परिणत करने का सामर्थ्य विशेष है। इसी प्रकार कर्म मे भी भिन्न-भिन्न शुभ या अशुभ अध्यवसाय वाले अपने आश्रय रूप जीव मे जाकर शुभ या अशुभ रूप मे परिणत हो जाने का सामर्थ्य है। आश्रय-रूप जीव मे भी भिन्न-भिन्न कर्मो का ग्रहण कर उन्हे शुभ या अशुभ रूप मे अर्थात् पुण्य या पाप रूप मे परिणत कर देने की शक्ति है। [१९४४]

---

1 गहणसमयम्मि जीवो उप्पाएइ गुणे सपच्चयओ।
सव्वजीवाणतगुणे कम्मपएसेसु सव्वेसु ॥ कर्मप्रकृति-बन्धनकरण—गाथा 29।

2 आयुगभागो थोवो नामे गोए समो तओ अहिगो।
आवरणमन्तराए सरिसो अहिगो य मोहे वि ॥
सव्वुवरि वेयणीए भागो अहियो उ कारण किन्तु।
सुहदुक्खकारणत्ता ठिई विसेसेण सेसासु ॥
—बन्धशतक गाथा 89–90; तुलना—कर्मप्रकृतिचूर्णि बन्धनकरण गाथा 28

अचलभ्राता—गाय तथा सर्प के दृष्टान्त से यह सिद्ध हुआ कि अमुक जीव मे कर्म का शुभ परिणाम तथा अमुक जीव मे कर्म का अशुभ परिणाम उत्पन्न करने की शक्ति है, किन्तु इस वात की पुष्टि के लिए कौनसा दृष्टान्त होगा कि एक ही जीव कर्म के शुभ तथा अशुभ दोनो परिणामो को उत्पन्न करने मे समर्थ है ?

भगवान्—एक ही शरीर मे अविशिष्ट अर्थात् एकरूप आहार ग्रहण किया जाता है, फिर भी उसमे से सार और असार रूप दोनों परिणाम तत्काल हो जाते है। हमारा शरीर खाए हुए भोजन को रस, रक्त तथा माँस रूप सार तत्व मे और मलमूत्र जैसे असार तत्व मे परिणत कर देता है। यह वात सर्वजन सिद्ध है। इसी प्रकार एक ही जीव गृहीत साधारण कर्म को अपने शुभाशुभ परिणाम द्वारा पुण्य तथा पाप रूप मे परिणत कर देता है। [१९४५]

अचलभ्राता—शुभ हो तो पुण्य और अशुभ हो तो पाप, यह वात तो समझ मे आ गई है, किन्तु कृपया यह वताएँ कि कर्म प्रकृतियों मे कौनसी शुभ हैं और कौन सी अशुभ ?

पुण्य-पाप प्रकृति की गणना

भगवान्—सातावेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, पुरुष वेद, रति, शुभायु, शुभनाम, शुभगोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ है। शुभायु मे देव, मनुष्य तथा तिर्यच आयु का समावेश है। शुभनाम कर्म प्रकृति मे देवद्विक अर्थात् देवगति तथा देवानुपूर्वी, यश कीर्ति, तीर्थंकर आदि ३७ प्रकृतियो का समावेश हो जाता है। शुभगोत्र का अर्थ है उच्च गोत्र। ये सव मिलकर ४६ प्रकृतियाँ शुभ होने के कारण पुण्य कहलाती हैं तथा शेष अशुभ होने से पाप कहलाती हैं। यदि मोहनीय[1] के सभी भेदों को (क्योकि वे जीव मे विपर्यास के कारण है) अशुभ अथवा पाप प्रकृति मे समाविष्ट किया जाए तो पुण्य प्रकृतियो की सख्या ४२ रह जाती है। वह इस प्रकार है—"सातावेदनीय, उच्चगोत्र, मनुष्य-तिर्यंच-देवायु, तथा नामगोत्र की निम्न ३७ प्रकृतियाँ—देवद्विक-देवगति तथा देवानुपूर्वी, मनुष्यद्विक—मनुष्यगति तथा मनुष्यानुपूर्वी, पँचेन्द्रिय जाति, पाँच शरीर—औदारिक-वैक्रिय-आहारक तैजस और कार्मण, अगोपाग त्रिक – औदारिक-वैक्रिय-आहारक। अगोपाग, प्रथम सघयण—वज्रऋषभनाराच, चतुरस्रसस्थान, शुभवर्ण, शुभरस, शुभगन्ध, शुभस्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आताप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश.कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर। ये सब ४२ प्रकृतियाँ तीर्थंकरो ने पुण्य प्रकृतियाँ वतलाई है[2]।"

---

1 किसी आचार्य के मतानुसार मोहनीय की एक भी प्रकृति शुभ नही है।

2 सायं उच्चागोय नरतिरिदेवाउयाइ तह नामे। देवदुग मणुयदुग पणिदजाई य तणुपणग ॥
अगोवगाणतिग पढम सघयणमेवसठाण। सुभवण्णाइचउक्क अगुरुलहू तह य परघाय।
ऊसास आयाव उज्जोय विहगई विय पसत्था। तस-वायर-पज्जतं पत्तेयथिर सुभं सुभग ॥
सुस्सर आएज्ज जसं निम्मिण तित्थयरमेव एयाओ।
वायाल पगईओ पुण्ण ति जिणेहि भणिआओ।

इन ४२ प्रकृतियों को छोड कर शेष ८२ कर्म प्रकृतियाँ अशुभ अर्थात् पाप प्रकृतियाँ हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन-हुण्ड ये पाँच सस्थान, अप्रशस्तविहायोगति, ऋषभनाराच-नाराच-अर्धनाराच-कीलिका-छेदवृत्त ये पाँच सहनन, तिर्यग्गति, तिर्यग् आनुपूर्वी, असातावेदनीय, नीच गोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, नरक गति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, अशुभवर्ण, अशुभगन्ध, अशुभरस, अशुभस्पर्श, केवल ज्ञानावरण केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्तानर्द्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण लोभ, मिथ्यात्व, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, सज्वलन क्रोध, सज्वलन मान, सज्वलन माया, सज्वलन लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुँवेद, नपुँसक वेद, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय। ये सब मिल कर ८२ प्रकृतियाँ है।

अचलभ्राता—मिथ्यात्व के प्रभेदों मे सम्यक्त्व भी है। उसे आप अशुभ या पाप प्रकृति कैसे कहते है? यदि यह पाप प्रकृति है तो उसे सम्यक्त्व किसलिए कहा जाता है?

भगवान्—जीव की रुचि के रूप जो सम्यक्त्व होता है वह तो शुभ होता है, किन्तु यहाँ उसका विचार नही किया गया है। यहाँ मिथ्यात्व के शुद्ध किए गए पुद्गलो को सम्यक्त्व कहा गया है और वे तो शकादि अनर्थ मे निमित्त भूत होने के कारण अशुभ या पाप ही हैं। इन पुद्गलो को उपचार से सम्यक्त्व इसलिए कहते है कि ये जीव की रुचि को आवृत्त नही करते। वस्तुत ये पुद्गल मिथ्यात्व के ही है।

उक्त पुण्य तथा पाप के सविपाक और अविपाक भेद भी है। जो प्रकृति जिस रूप मे बान्धी गई हो उसी रूप मे उस का विपाक हो तो उसे सविपाक प्रकृति कहते है, तथा यदि उसके रस को मन्द कर अथवा नीरस कर उसके प्रदेशो का उदय भोगने मे आए तो वह अविपाकी कहलाती है।

पुण्य-पाप के स्वातन्त्र्य का समर्थन

इतनी चर्चा से यह बात तो सिद्ध हो गई है कि पुण्य और पाप सकीर्ण नही प्रत्युत स्वतन्त्र है। यदि वे सकीर्ण हों तो सभी जीवो को उनका कार्य मिश्ररूप

में अनुभूत होना चाहिए—अर्थात् केवल दु ख या सुख का कभी भी अनुभव नहीं होना चाहिए, दु ख और सुख हमेशा मिश्रित रूप मे ही अनुभव मे आना चाहिए। किन्तु ऐसी वात नही है। देवो मे विशेपत. केवल सुख का अनुभव है तथा नारकादि मे विशेपत. केवल दु ख का। सकीर्ण कारण से उत्पन्न कार्य मे भी संकीर्णता ही होनी चाहिए। ऐसा नही हो सकता कि जिनका सकर हो उनमे से कोई एक ही उत्कट रूप मे कार्य मे उत्पन्न हो और दूसरे का कोई भी कार्य उत्पन्न न हो। अतः सुख के अतिशय के निमित्त को दु.ख के अतिशय के निमित्त से भिन्न ही मानना चाहिए।

अचलभ्राता—पाप-पुण्य सकीर्ण होने से चाहे एक रूप माना जाए, किन्तु जव पुण्यांश वढ जाए और पापाश की हानि हो तव सुखातिशय का अनुभव हो सकता है तथा जव पापाश की वृद्धि से पुण्याश की हानि हो तव दु.खातिशय का का अनुभव हो सकता है। इस प्रकार पुण्य-पाप को सकीर्ण मान कर भी देवो मे सुखातिशय तथा नारकादि मे दु खातिशय का अनुभव शक्य है। फिर पुण्य व पाप को स्वतन्त्र क्यो माना जाए ?

भगवान्—यदि पुण्य व पाप सर्वथा एक रूप हों तो एक की वृद्धि होने पर दूसरे की भी वृद्धि होनी चाहिए। तुम्हारे कथनानुसार ऐसा तो होता नही है, क्योंकि पाप की वृद्धि होने पर पुण्य की हानि होती है तथा पुण्य की वृद्धि के समय पाप की हानि होती है। अत पुण्य व पाप को एकरूप न मान कर भिन्न रूप ही मानना चाहिए। जैसे देवदत्त की वृद्धि होने पर यज्ञदत्त की वृद्धि नही होती, अत. वे दोनों भिन्न है, वैसे ही पाप की वृद्धि के समय पुण्य की वृद्धि नही होती, इसलिए ये दोनों भी स्वतन्त्र मानने चाहिएँ। वस्तुतः ये दोनो यद्यपि पुण्य व पाप के रूप मे भिन्न है तथापि कर्म रूप मे दोनो अभिन्न है। यदि तुम यह वात स्वीकार करते हो तो मुझे कोई आपत्ति नही है। इस प्रकार पुण्य-पाप सम्वन्धी सकीर्ण पक्ष का भी निरास हो जाता है। अत पुण्य व पाप दोनो स्वतन्त्र है, यह चौथा पक्ष ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है। इसीलिए स्वभाववाद को भी नही माना जा सकता। इस सम्वन्ध मे विशेप चर्चा अग्निभूति के साथ हो चुकी है। अत. पुण्य व पाप को स्वतन्त्र ही मानना चाहिए और तुम्हे इस विपय मे सशय नही करना चाहिए। [१९४६]

अचलभ्राता—तो फिर वेद मे पुण्य-पाप का निषेध क्यो किया गया है ?

वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान्—'ससार म केवल पुरुष (ब्रह्म) ही है तथा उससे वाह्य अन्य कुछ भी नही है।' वेद का अभिप्राय इस वात का प्रतिपादन करना नही है। यदि पुण्य-पाप

जैसी वस्तु ही न हो तो स्वर्ग के उद्देश्य से अग्निहोत्रादि बाह्य अनुष्ठान का वेद मे जो विधान है वह असम्बद्ध हो जाता है तथा लोक मे दान का फल पुण्य और हिसा का फल पाप माना जाता है, यह मान्यता भी असगत हो जाती है। अत वेद का अभिप्राय पुण्य-पाप का निषेध नही हो सकता। [१९४७]

इस प्रकार जब जन्म-मरण से मुक्त भगवान् ने उसके सशय को दूर किया, तब उसने अपने तीन सौ शिष्यो के साथ दीक्षा ले ली। [१९४८]

दसवें गणधर मेतार्य
परलोक-चर्चा

यह सुनकर कि वे सब दीक्षित हो चुके हैं, मेतार्य ने विचार किया, "मैं भी भगवान् के पास जाऊँ, उन्हे वन्दन करु॓ तथा उनकी सेवा करु॓।" तत्पश्चात् वह भगवान् के पास आ गया। [१९४९]

जाति-जरा-मरण से मुक्त भगवान् ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के कारण उसे 'मेतार्य कौण्डिन्य !' इस नाम-गोत्र से बुलाया और कहा। [१९५०]

परलोक-विषयक सन्देह

तुम्हे सशय है कि परलोक है या नही ? तुमने 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य.' इत्यादि परस्पर विरोधी वेद-वाक्य सुने हैं। अत तुम्हें संशय होना स्वाभाविक है। किन्तु तुम उन वेद-वाक्यो का यथार्थ अर्थ नही जानते, इसीलिए सन्देह मे पडे हो। मैं तुम्हे उनका सच्चा अर्थ बताऊगा, उससे तुम्हारे सशय का निवारण हो जाएगा। [१९५१]

भूत-धर्म चैतन्य का भूतों के साथ नाश

तुम्हे यह प्रतीत होता है कि गुड, धावडी आदि मद्य के अँगों या कारणों से जैसे मद-धर्म भिन्न नही होता, वैसे ही पृथ्वी आदि भूतों से यदि चैतन्य-धर्म भिन्न न हो तो परलोक मानने का कोई भी आधार नही रह जाता। कारण यह है कि भूतो के नाश के साथ चैतन्य का भी नाश हो जाता है, फिर परलोक किसलिए और किसका मानना ? जो धर्म जिससे अभिन्न हो वह उसके नाश के साथ ही नष्ट हो जाता है। जैसे पट का शुक्लत्व धर्म पट से अभिन्न है, पट का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है वैसे ही यदि भूतों का धर्म चैतन्य भूतो से अभिन्न हो तो भूतों के नाश के साथ उसका भी नाश हो जाएगा। ऐसी दशा में परलोक मानने की आवश्यकता नही रहती। [१९५२]

भूतों से उत्पन्न चैतन्य अनित्य है

यदि चैतन्य को भूतों से भिन्न माना जाए तो भी परलोक स्वीकार करने की आवश्यकता नही रहती। कारण यह है कि भूतो से उत्पन्न होने के कारण वह अनित्य है। जैसे अरणी नामक काष्ठ से उत्पन्न होने वाली अग्नि विनाशी है, वैसे ही भूतों से उत्पन्न होने वाला चैतन्य भी विनाशी होना चाहिए। अत भूतो से भिन्न होने पर भी वह नष्ट हो जाएगा। फिर परलोक किसका मानना ? [१९५३]

अद्वैत आत्मा का संसरण नहीं होता

पुनश्च, यदि प्रतिपिण्ड मे भिन्न-स्वरुप अनेक चैतन्य-धर्मों को न मानकर मात्र सकल चैतन्याश्रय-रूप एक ही सर्वव्यापी तथा निष्क्रिय ऐसी आत्मा मानी जाए जिसके विषय मे कहा गया है कि "प्रत्येक भूत मे व्यवस्थित एक ही भूतात्मा है और वह एक होकर भी एकरूप मे तथा बहुरूप मे जल मे चन्द्र-बिम्ब के समान दिखाई देती है[1]" तो भी परलोक की सिद्धि नही हो सकती। कारण यह है कि वह सर्वगत और निष्क्रिय होने से आकाश के समान प्रत्येक पिण्ड मे व्याप्त है, अत उसका ससरण सम्भव नही है। ससरण के अभाव मे परलोक-गमन कैसे सम्भव हो सकता है? [१९५४]

और भी, इस मनुष्य लोक की अपेक्षा से देव व नारक का भव परलोक कहलाता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही होता। इसलिए भी परलोक की सत्ता नही है। इस प्रकार युक्ति पूर्वक विचार करने पर तुम्हे परलोक का अभाव ज्ञात होता है, किन्तु वेद-वाक्यो मे लोक का प्रतिपादन भी है। अत तुम्हे सन्देह है कि परलोक है या नही? [१९५५]

मेतार्य—आप ने मेरी शंका का ठीक-ठीक प्रतिपादन किया है। कृपया अब उस का निवारण करे।

संशय निवारण—परलोक-सिद्धि, आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है

भगवान्—भूत (इन्द्रिय) इत्यादि से भिन्न-स्वरूप आत्मा का धर्म चैतन्य है तथा यह आत्मा जातिस्मरण आदि हेतुओ द्वारा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य सिद्ध होती है। इस विषय को विशेष चर्चा वायुभूति से की जा चुकी है। अत तुम्हे भी उसके समान आत्मा स्वीकार करनी चाहिए। [१९५६]

मेतार्य—अनेक आत्माओ के स्थान पर एक ही सर्वगत व निष्क्रिय आत्मा क्यो न मानी जाए?

आत्मा अनेक है

भगवान्—आत्म द्रव्य को एक, सर्वगत और निष्क्रिय नही माना जा सकता। कारण यह है कि उनमे घटादि के समान लक्षण भेद है। अत अनेक घटादि के सदृश आत्मा को भी अनेक मानना चाहिए। इस सम्बन्ध मे विशेष विचारणा इन्द्रभूति के साथ हो चुकी है, अत तुम भी उसकी तरह आत्मा को अनेक मान लो।

---

1 एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ ब्रह्मबिन्दूपनिषद्-११

मेतार्य—आत्मा मे लक्षण भेद कैसे है ?

भगवान्—आत्मा का लक्षण उपयोग है । राग, द्वेष, कषाय तथा विषयादि भेदो के कारण अनन्त अध्यवसाय भेद होने से वह उपयोग अनन्त प्रकार का दृग्गोचर होता है, अत उसकी आधारभूत आत्मा भी अनन्त होनी चाहिए ।

मेतार्य—अनन्त होकर भी आत्मा सर्वव्यापी क्यो नही होती ?

आत्मा देह-परिमाण है

भगवान्—आत्मा शरीर मे ही व्याप्त है, वह सर्वव्यापक नही है, क्योकि उसके गुण शरीर मे ही उपलब्ध होते है । जैसे स्पर्श का अनुभव समस्त शरीर मे होता है और अन्यत्र नही होता, इसलिए स्पर्शनेन्द्रिय केवल शरीर-व्यापी ही है, वैसे ही आत्मा को भी शरीर-व्याप्त ही मानना चाहिए ।

मेतार्य —आत्मा को निष्क्रिय किसलिए नही माना जाता ?

आत्मा सक्रिय है

भगवान्—आत्मा निष्क्रिय नही, क्योकि वह देवदत्त के समान भोक्ता है । यह सब चर्चा इन्द्रभूति से की है । अत उसके समान तुम भी आत्मा को अनन्त, असर्वगत तथा निष्क्रिय मान लो । [१९५७]

मेतार्य—प्रमाण-सिद्ध होने के कारण यह माना जा सकता है कि आत्मा अनेक है, किन्तु उसका देव-नारक रूप परलोक तो दिखाई नही देता, फिर उसे क्यो माना जाए ?

देव-नारक का अस्तित्व

भगवान्—इस लोक से भिन्न देव-नारक आदि परलोक भी तुम्हे स्वीकार करने चाहिए, क्योकि मौर्य के साथ की गई चर्चा मे देव-लोक की तथा अकम्पित के साथ की गई चर्चा मे नारक-लोक की प्रमाणत सिद्धि की गई है । अत उनके समान तुम्हे भी देव-नारक का अस्तित्व मानना चाहिए । [१९५८]

परलोक के अभाव का पूर्व पक्ष विज्ञान अनित्य होने से आत्मा अनित्य

मेतार्य—जीव तथा विज्ञान का भेद माने या अभेद, किन्तु उससे परलोक का अस्तित्व सिद्ध नही होता । यदि जीव को विज्ञानमय अर्थात् विज्ञान से अभिन्न माना जाए तो विज्ञान अनित्य होने के कारण नष्ट हो जाता है, इसलिए जीव भी नष्ट ही समझा जाएगा, ऐसी दशा मे परलोक किसका होगा ? अत अभेद पक्ष मे परलोक नही माना जा सकता । यदि जीव को विज्ञान से भिन्न माना जाए तो जीव ज्ञानी नही हो सकता । जैसे ज्ञान आकाश से भिन्न है, इसलिए आकाश अनभिज्ञ या अज्ञानी समझा जाता है, वैसे ही जीव की भी यही दशा होगी । [१९५९]

एकान्त नित्य में कर्तृत्वादि नहीं

अपि च, अनित्य-ज्ञान से भिन्न होने के कारण यदि आत्मा को एकान्त नित्य माना जाए तो आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी घटित नहीं हो सकता, फिर परलोक का तो कहना ही क्या है ? यदि नित्य मे भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व हो तो वे हमेशा होने चाहिएँ। कारण यह है कि नित्य वस्तु सदा एकरूप होती है, किन्तु वे जीव मे सर्वदा नही होते। अत जीव को सर्वथा नित्य मानने से उसमे कर्तृत्व की सिद्धि नही होती। आत्मा के कर्त्ता न होने पर भी परलोक का अस्तित्व माना जाए तो सिद्धो के लिए भी परलोक मानना पडेगा। भोक्तृत्व के अभाव मे भी परलोक की मान्यता व्यर्थ है। यदि परलोक मे आत्मा कर्म-फल न भोगे तो परलोक की सार्थकता ही क्या है ?

अज्ञानी आत्मा का संसरण नहीं

पुनश्च, जैसे अज्ञानी होने के कारण लकडी को ससरण—एक भव से दूसरे भव मे जन्म लेने की आवश्यकता नही होती, उसी प्रकार यदि आत्मा भी ज्ञान से भिन्न होने के कारण आकाश के समान अज्ञानी हो तो उसका ससरण भी घटित नही होता और आकाश के समान अमूर्त होने के कारण भी आत्मा का ससार नही माना जा सकता। जब आत्मा मे संसार का ही अभाव होगा तो परलोक की सिद्धि कैसे हो सकती है ? [१९६०]

परलोक सिद्धि—आत्मा अनित्य है, अत नित्य भी है

भगवान्—तुम ने आत्मा को विनश्वर (अनित्य) सिद्ध किया है। तुम्हारे कथन का तात्पर्य यह है कि जो उत्पत्तिशील हो उसे घटादि के समान अनित्य होना चाहिए। विज्ञान उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य है, अत विज्ञानाभिन्न आत्मा भी अनित्य माननी चाहिए। तुम शायद यह भी मानते हो कि जो पर्याय होती है, वह अनित्य होती है, जैसे स्तम्भादि की नवीनत्व, पुराणत्व आदि पर्याय। विज्ञान भी पर्याय होने के कारण अनित्य है। इसलिए यदि आत्मा भी विज्ञानमय है तो वह भी अनित्य ही होगी। इससे तुम यह परिणाम निकालते हो कि आत्मा का परलोक नही है, किन्तु तुम्हारी यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। कारण यह है कि जिन हेतुओ के आधार पर तुम विज्ञान को अनित्य सिद्ध करते हो, उनके आधार पर ही उसे नित्य सिद्ध किया जा सकता है। अर्थात् जो उत्पत्तिशील होता है या पर्याय होता है वह सर्वथा विनाशी न होकर अविनाशी भी होता है।

मेतार्य—यह कैसे सम्भव है ?

भगवान्—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वस्तु का स्वभाव है। अर्थात् किसी भी वस्तु में केवल उत्पाद नही होता। जहाँ उत्पाद होता है वहाँ ध्रौव्य भी है। अत यदि उत्पत्ति के कारण वस्तु कथचित् अनित्य कहलाती है तो ध्रौव्य के कारण

कथचित् नित्य भी कहलाएगी। अत. यह कहा जा सकता है कि विज्ञान नित्य है क्योकि वह उत्पत्तिशील है, जैसे कि घट। कथचित् नित्य-विज्ञान से अभिन्न होने के कारण आत्मा भी कथचित् नित्य होगी। फिर परलोक का अभाव कैसे होगा ? [१६६१]

अपि च, तुमने विज्ञान को विनाशी सिद्ध करने के लिए 'उत्पत्तिशील होने से' हेतु दिया है। वह हेतु प्रत्यनुमान अर्थात् विरोधी अनुमान उपस्थित होने से विरुद्ध व्यभिचारी भी है। अर्थात् विज्ञान मे तुमने उसकी उत्पत्ति के कारण अनित्यता सिद्ध की है और तुम अपने हेतु को अव्यभिचारी मानते हो, किन्तु इसके विपरीत नित्यता को सिद्ध करने वाला अन्य अव्यभिचारी हेतु भी है। इससे तुम्हारा हेतु दूषित कहलाएगा।

मेतार्य—प्रत्यनुमान कौनसा है ?

घट भी नित्यानित्य है

भगवान्—विज्ञान सर्वथा विनाशी नही हो सकता, क्योकि वह वस्तु है। जो वस्तु होती है वह घट के समान एकान्त विनाशी नही होती; क्योकि वस्तु पर्याय की अपेक्षा से विनाशी होकर भी द्रव्य की अपेक्षा से अविनाशी है।

मेतार्य—आपका दृष्टान्त घट उत्पत्ति युक्त होने से विनाशी ही है, आप उसे अविनाशी कैसे कहते है ? विनाशी घट के आधार पर आप विज्ञान को अविनाशी कैसे सिद्ध कर सकते है ? [१६६२]

भगवान्—पहले यह समझना आवश्यक है कि घट क्या है ? रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श ये गुण, सख्या, आकृति, मिट्टी-रूप द्रव्य तथा जलाहरण आदि रूप शक्ति ये सब मिल कर घट कहलाते हैं। वे रूपादि स्वय उत्पाद-विनाश-ध्रौव्यात्मक है। अत. घट को भी अविनाशी कहा जा सकता है। उसके उदाहरण से विज्ञान को भी अविनाशी सिद्ध किया जा सकता है। [१६६३]

मेतार्य—इस बात को कुछ और स्पष्ट करे तो यह समझ मे आ सकेगी।

भगवान्—मिट्टी के पिण्ड का गोल आकार तथा उसकी शक्ति ये उभय रूप पर्याय जिस समय नष्ट हो रही हो, उसी समय वह मिट्टी का पिण्ड घटाकार और घट-शक्ति इन उभय रूप पर्याय स्वरूप मे उत्पन्न होता है। इस प्रकार उसमे उत्पाद व विनाश अनुभव सिद्ध है, अत. वह अनित्य है। किन्तु पिण्ड मे विद्यमान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा मिट्टी रूपी द्रव्य का तो उस समय भी उत्पाद या विनाश कुछ नही होता, वे सदा अवस्थित है, अत उनकी अपेक्षा से घट नित्य भी है। सारांश यह है कि मिट्टी द्रव्य का एक विशेष आकार और उसकी शक्ति अनवस्थित है। अर्थात् मिट्टी द्रव्य जिस पिण्ड रूप मे था, वह अब घटाकार रूप मे परिणत हो गया, पिण्ड मे जलाहरण आदि की शक्ति नही थी, वह अब घटाकार मे आ गई। इस प्रकार

घड़े मे पूर्वावस्था का व्यय तथा अपूर्व अवस्था की उत्पत्ति होने के कारण वह विनाशी कहलाता है, किन्तु उसका रूप, रस, मिट्टी आदि वही है, अत उसे अविनाशी भी कहना चाहिए। इसी प्रकार ससार के सभी पदार्थ उत्पाद-विनाश ध्रुव स्वभाव वाले समझ लेने चाहिएँ। इससे सभी पदार्थ नित्य भी हैं और अनित्य भी। अत. 'उत्पत्ति होने से' इस हेतु द्वारा जैसे वस्तु को विनाशी सिद्ध किया जा सकता है वैसे ही अविनाशी भी सिद्ध किया जा सकता है। इसलिए विज्ञान भी उत्पत्ति-युक्त होने से अविनाशी भी है और विज्ञान से अभिन्न आत्मा भी अविनाशी सिद्ध होती है, अत. परलोक का अभाव नही है। [१९६४–६५]

मेतार्य—विज्ञान मे उत्पादादि तीनो कैसे घटित होते है ?

विज्ञान भी नित्यानित्य है

भगवान्—घट-विषयक ज्ञान घट-विज्ञान अथवा घट-चेतना कहलाता है और पट-विषयक ज्ञान पट-विज्ञान अथवा पट-चेतना। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न चेतनाओं को समझ लेना चाहिए। हम यह अनुभव करते है कि घट-चेतना का जिस समय नाश होता है उसी समय पट-चेतना उत्पन्न होती है, किन्तु जीव रूप सामान्य चेतना उन दोनो अवस्थाओ मे विद्यमान रहती है। इस प्रकार इस लोक के प्रत्यक्ष चेतन (जीवो) मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध हो जाते है। यही बात परलोक-गत जीव के विषय मे कही जा सकती है कि कोई जीव जब इस लोक मे से मनुष्य-रूप मे मर कर देव होता है तब उस जीव का मनुष्य-रूप इह लोक नष्ट होता है तथा देव-रूप परलोक उत्पन्न होता है, किन्तु सामान्य जीव अवस्थित ही है। शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा से उस जीव को इहलोक या परलोक नही कहते, किन्तु मात्र जीव कहते है। वह अविनाशी ही है। इस प्रकार इस जीव के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव युक्त होने के कारण परलोक का अभाव सिद्ध नही होता। [१९६६–६७]

मेतार्य—सभी पदार्थो को उत्पादादि त्रि-स्वभाव युक्त मानने की क्या आवश्यकता है ? केवल उत्पाद और व्यय मानने मे क्या दोष है ? यह बात अनुभव सिद्ध है कि उत्पत्ति से पूर्व घट था ही नही, फिर उसे उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान मानने का क्या उद्देश्य है ?

भगवान्—यदि घटादि सर्वथा असत् हो, द्रव्यरूप मे भी विद्यमान न हो, तो उसकी उत्पत्ति ही सम्भव नही है। यदि सर्वथा असत् की भी उत्पत्ति मानी जाएगी तो खर-विषाण भी उत्पन्न होना चाहिए। खर-विषाण कभी उत्पन्न नही होता तथा घटादि पदार्थ कदाचित् उत्पन्न होते है, अत उत्पत्ति सर्वथा असत् की नही प्रत्युत् कथचित् सत् की होती है। इसी प्रकार जो सत् है उसका सर्वथा विनाश भी नही होता। यदि सत् का सर्वथा विनाश माना जाएगा तो क्रमश: सभी वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर सर्वोच्छेद का प्रसग आ जाएगा। [१९६८]

अत अवस्थित या विद्यमान का ही किसी एक रूप मे विनाश तथा दूसरे रूप मे उत्पाद मानना चाहिए, जैसे सत्‌रूप जीव का मनुष्य-रूप मे विनाश और

देव-रूप मे उत्पाद होता है, वैसे ही समस्त द्रव्यों मे उत्पाद व विनाश घटित होते हैं। किन्तु वस्तु का सर्वथा विनाश या उच्छेद नही माना जा सकता। कारण यह है कि इसे मानने से समस्त लोक-व्यवहार का उच्छेद हो जाएगा। जैसे कि राजपुत्री की क्रीडार्थ बने हुए सोने के घडे को तोड कर राजपुत्र की क्रीडा के लिए यदि सोने का गेंद बनाया जाए तो राजपुत्री को शोक, राजपुत्र को आनन्द तथा सोने के स्वामी राजा को औदासीन्य-माध्यस्थ्य होगा। इस प्रकार यदि हम वस्तु को उत्पादादि त्रयात्मक न मानेंगे तो अनुभव सिद्ध लोक-व्यवहार विच्छिन्न हो जाएगा। अत जीव भी त्रयात्मक होने के कारण मृत्यु के पश्चात् भी कथचित् अवस्थित ही है; फलतः परलोक का अभाव मान्य नही हो सकता। [१९६९]

मेतार्य—इस तरह युक्ति से तो परलोक की सिद्धि हो जाती है, किन्तु वेद-वाक्यो का समन्वय कैसे होगा ?

वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान्—वेद का तात्पर्य किसी भी अवस्था मे परलोक का अभाव सिद्ध करना नही हो सकता। कारण यह है कि यदि परलोक जैसी कोई वस्तु न हो तो वेद का यह विधान असगत मानना पडेगा कि स्वर्ग के इच्छुक को अग्निहोत्रादि करना चाहिए। लोक मे रूढ दानादि से स्वर्गफल की प्राप्ति की मान्यता भी अयुक्त हो जाएगी। अत परलोक का अभाव वेदो को इष्ट नही है। [१९७०]

इस प्रकार जब जरा-मरण से रहित भगवान् ने मेतार्य की शका का निराकरण किया, तब उसने अपने तीन सौ शिष्यो के साथ दीक्षा ले ली। [१९७१]

ग्यारहवें गणधर प्रभास

निर्वाण-चर्चा

इन सब को दीक्षित हुए सुन कर प्रभास के मन मे भी इच्छा हुई कि मैं भी भगवान् के पास जाकर उन्हे वन्दन करूँ तथा उनकी सेवा करूँ। यह विचार कर वह भगवान् के पास आया। [१९७२]

निर्वाण-सम्बन्धी सन्देह

जन्म-जरा-मरण से मुक्त भगवान् ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होने के कारण उसे 'प्रभास कौण्डिन्य !' के नाम गोत्र से बुलाया। [१९७३]

और वे उसे कहने लगे—हे सौम्य ! तुम्हें यह सशय है कि निर्वाण है अथवा नही ? इस सशय का कारण यह है कि वेद मे एक स्थल पर कहा है कि **'जरामर्यं चैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्'**[1]। इससे तुम यह समझते हो कि जीवन-पर्यन्त जीवो की हिंसा कर यज्ञ करना चाहिए। यह दोष पूर्ण है, अत. इस क्रिया से स्वर्ग तो मिल सकता है किन्तु अपवर्ग या निर्वाण नही। अपि च, यह क्रिया मृत्यु पर्यन्त की जाने वाली है, इसलिए अपवर्ग योग्य साधना का अवकाश ही नही रहता। जब अपवर्ग योग्य साधना का अवकाश ही नही है तब उसका फल अपवर्ग कैसे मिल सकता है ? अत. तुम समझते हो कि वेद मे निर्वाण या अपवर्ग का उल्लेख नही है। इसके अतिरिक्त **'सैषा गुहा दुरवगाहा'**[2] **'द्वे ब्रह्मणी परमपरं च, तत्र परं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**[3]' इन वेद-वाक्यो के आधार पर तुम्हे यह प्रतीत होता है कि वेद भी मोक्ष (निर्वाण) का प्रतिपादन करते है, क्योकि गुहा अर्थात् मुक्ति उन्हे इष्ट है और वह ससार मे आसक्त मनुष्यो के लिए दुरवगाह अथवा दुष्प्रवेश है। पर व अपर ब्रह्म मे परब्रह्म का अर्थ भी मोक्ष है। इस प्रकार तुमने वेद-वाक्यो का जो अर्थ समझा है उसके आधार पर इस शका का होना स्वाभाविक है कि निर्वाण का अस्तित्व है या नही ? किन्तु तुम उन वाक्यो का सच्चा अर्थ नही जानते, इसीलिए सशय करते हो। मैं तुम्हे उनका सच्चा अर्थ बताऊँगा जिससे तुम्हारा सशय दूर हो जाएगा। [१९७४]

---

1 अग्निहोत्र यावज्जीवन कर्तव्य है। शतपथब्राह्मण (12.4 1.1) मे यह पाठ है—"एतद्वै जरामर्यं सत्व यदग्निहोत्र, जरया वा ह्येवास्मान् मुच्यते मृत्युना वा'

2 यह गुहा दुरवगाह है।

3 ब्रह्म दो है—पर व अपर। परब्रह्म सत्य है, अनन्त है, ब्रह्म है।

निर्वाण-विषयक मतभेद

तुम यह भी सोचते हो कि वस्तुत निर्वाण कैसा होगा ? कोई कहता है कि दीप-निर्वाण के समान जीव का नाश ही निर्वाण है। जैसे कि "जैसे दीप जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब वह पृथ्वी मे नहीं समाता, आकाश मे नहीं जाता, किसी दिशा अथवा विदिशा में भी नहीं जाता, किन्तु तेल के समाप्त हो जाने पर वह केवल शान्त हो जाता है—बुझ जाता है, वैसे ही जीव भी जब निर्वाण को प्राप्त होता है तब वह पृथ्वी या आकाश मे नहीं जाता, किसी दिशा या विदिशा मे नहीं जाता परन्तु क्लेश का नाश होने से केवल शान्ति प्राप्त करता है—समाप्त हो जाता है[1] ।"

और भी, कोई कहता है कि सत् अर्थात् विद्यमान जीव के राग, द्वेष, मद, मोह, जन्म, जरा, दु ख, रोगादि का क्षय हो जाने से जो एक विशिष्ट अवस्था उत्पन्न होती है, वही मोक्ष है। जैसे कि—

"केवलज्ञान व केवलदर्शन स्वभाव वाला, सर्व प्रकार के दु ख से रहित, राग-द्वेषादि आन्तरिक शत्रुओं को क्षीण कर देने वाला मुक्ति मे गया हुआ जीव आनन्द का अनुभव करता है[2] ।"

इस प्रकार के विरोधी मत सुन कर तुम्हें सन्देह होता है कि इन दोनों में से निर्वाण का कौन सा स्वरूप वास्तविक माना जाए ? [१९७५]

तुम यह भी मानते हो कि जीव तथा कर्म का सयोग आकाश के समान अनादि है, इसलिए जीव और आकाश के अनादि सयोग के समान जीव व कर्म के सयोग का भी नाश नहीं होता। अर्थात् कभी भी संसार का अभाव नहीं होता, फिर निर्वाण की बात कैसे की जा सकती है ?

इस प्रकार तुम अनेक विकल्पो के जाल मे फँसे हुए हो, जैसे कि निर्वाण का स्वरूप क्या माना जाए ? अथवा निर्वाण का सर्वथा अभाव स्वीकार किया जाए या नहीं ? तुम इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं कर सके, किन्तु मैं इस विषय में तुम्हारे सन्देहों का समाधान करता हूँ। तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो। [१९७६],

प्रभास—आप पहले यह स्पष्ट करे कि जीव-कर्म के अनादि सयोग का वियोग कैसे सम्भव हो सकता है ?

---

1. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिश न काञ्चित् विदिश न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिश न काञ्चित् विदिश न काञ्चित्, क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।
सौन्दरनन्द 16 28-29

2 केवलसंविद्दर्शनरूपा सर्वार्तिदु खपरिमुक्ताः ।
मोदन्ते मुक्तिगता, जीवा. क्षीणान्तरारिगणा· ।।

सन्देह-निवारण—निर्वाण-सिद्धि, जीव-कर्म का अनादि संयोग नष्ट होता है

भगवान्—यद्यपि कनक-पाषाण तथा कनक का सयोग अनादि है तथापि प्रयत्न द्वारा कनक को कनक-पाषाण से पृथक् किया जा सकता है, इसी प्रकार सम्यग् ज्ञान तथा क्रिया द्वारा जीव-कर्म के अनादि संयोग का अन्त हो सकता है तथा जीव से कर्म को पृथक् किया जा सकता है। मैंने इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण मण्डिक के साथ की गई चर्चा मे किया है। अत उसके समान तुम्हे भी मानना चाहिए कि जीव-कर्म का सम्बन्ध नष्ट हो सकता है। [१९७७]

प्रभास—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव-रूप मे जो जीव दिखाई देते है वस्तुत वही ससार है। उक्त नारकादि अवस्था से रहित शुद्ध जीव तो कभी दिखाई नही देता। अर्थात् पर्याय-रहित केवल शुद्ध जीव-द्रव्य उपलब्ध नही होता। अतः जब नारकादि-रूप ससार का नाश हो जाता है तब तद्-अभिन्न जीव का भी नाश हो जाता है, फिर मोक्ष किस का होगा ? [१९७८]

संसार-पर्याय का नाश होने पर भी जीव विद्यमान रहता है

भगवान्—नारकादि जीव-द्रव्य की पर्याये है। इन पर्यायो का नाश हो जाने से जीव-द्रव्य का भी सर्वथा नाश हो जाता है, यह धारणा अयुक्त है। जैसे अँगूठी का नाश होने पर भी सुवर्ण का सर्वथा नाश नही होता, उसी प्रकार जीव की नारकादि भिन्न-भिन्न पर्यायो का नाश होने पर भी जीव-द्रव्य का सर्वथा नाश नही होता। जैसे सुवर्ण की अँगूठी पर्याय का नाश होता है और कर्णफूल पर्याय का उत्पाद होता है किन्तु सुवर्ण स्थित रहता है; वैसे ही जीव की नारकादि पर्याय का नाश होता है, मुक्ति पर्याय का उत्पाद होता है परन्तु जीव-द्रव्य विद्यमान रहता है। [१९७९]

प्रभास—जैसे कर्म के नाश से ससार का नाश होता है वैसे ही जीव का भी नाश हो जाना चाहिए, अत मोक्ष का अभाव ही मानना चाहिए।

कर्म-नाश से संसार के समान जीव का नाश नहीं

भगवान्—ससार कर्मकृत है, अत कर्म के नाश से ससार का नाश होना सर्वथा उपयुक्त है, किन्तु जीवत्व कर्मकृत नही है, अतः कर्म के नाश से जीव का नाश किसलिए मानना चाहिए ? यदि कारण की निवृत्ति हो तो कार्य की भी निवृत्ति हो जाती है और व्यापक के निवृत्त होने पर व्याप्य भी निवृत्त हो जाता है, यह नियम है। किन्तु कर्म जीव का न तो कारण है और न व्यापक, अत कर्म की निवृत्ति पर जीव की निवृत्ति आवश्यक नही है। कर्म का चाहे अभाव हो जाए किन्तु जीव का अभाव नही होता, अत मोक्ष मानने मे क्या आपत्ति है ? [१९८०]

प्रभास—जीव का सर्वथा नाश नही होता, इसमे क्या कोई अनुमान प्रमाण है ?

जीव सर्वथा विनाशी नही

भगवान्—जीव विनाशी नही है, क्योकि उसमे आकाश के समान विकार (अवयव-विच्छेद) दिखाई नही देता। जो विनाशी होता है उसका विकार अर्थात्

अवयव- विच्छेद घटादि की मुद्गरकृत ठीकरी के समान दिखाई देता है, अत जीव के नित्य होने से मोक्ष भी नित्य मानना चाहिए। [१६८१]

प्रभास—हम मोक्ष को चाहे प्रतिक्षण विनाशी न माने, किन्तु उसका कालान्तर में तो नाश मानना ही चाहिए, क्योंकि वह कृतक है जो कृतक होता है वह घट के समान कालान्तर मे विनष्ट होता ही है, अत मोक्ष का भी किसी समय नाश होना ही चाहिए।

कृतक होने पर भी मोक्ष का नाश नहीं

भगवान्—यह ऐकान्तिक नियम नही है कि जो कृतक होता है वह विनाशी ही होता है। घट का प्रध्वंसाभाव कृतक होने पर भी नित्य है, अविनाशी है। अत कृतक होने से मोक्ष विनाशी है, यह नही कहा जा सकता। [१६८२]

प्रभास—प्रध्वसाभाव का उदाहरण नही दिया जा सकता, क्योकि वह खर-शृग के समान तुच्छ है। किसी ऐसी विद्यमान वस्तु का उदाहरण देना चाहिए जो कृतक होकर भी अविनाशी हो।

प्रध्वंसाभाव तुच्छ नही

भगवान्—घट का प्रध्वसाभाव खर-शृग के समान सर्वथा अभाव-रूप या तुच्छ-रूप नही है। कारण यह है कि घट के विनाश से विशिष्ट स्वरूप विद्यमान पुद्गल द्रव्य को ही घट-प्रध्वसाभाव कहते है। [१६८३]

मोक्ष कृतक ही नहीं है

अब तक मैंने जो स्पष्टीकरण किया है वह तुम्हारी इस बात को सच मान कर किया है कि मोक्ष कृतक है। किन्तु मैं तुम्हे एक बात यह पूछता हूँ कि जीव मे से कर्म-पुद्गलो का सयोग नष्ट हो जाने पर ऐसी क्या बात हो गई कि जिससे तुम मोक्ष को कृतक कहते हो ? तुम ही बताओ कि आकाश में सयोग सम्बन्ध से विद्यमान घट का नाश होने पर आकाश मे कौनसी नवीनता का प्रादुर्भाव होता है ? आकाश तो वैसे का वैसा ही रहता है। इसी प्रकार जीव मे से कर्म के सयोग का नाश हो जाने पर जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। इससे अधिक जीव मे कोई नवीनता नही आती। अत. मोक्ष को एकान्त कृतक नही मान सकते। [१६८४]

प्रभास—मुक्तात्मा की नित्यता का क्या प्रमाण है ?

मुक्तात्मा नित्य है

भगवान्—मुक्तात्मा नित्य है, क्योंकि वह द्रव्य होकर भी अमूर्त है। जैसे आकाश द्रव्य होकर भी अमूर्त होने के कारण नित्य है, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी नित्य है।

प्रभास—फिर तो आकाश के समान मुक्तात्मा को भी व्यापक मानना चाहिए ?

मुक्तात्मा व्यापक नहीं

भगवान्—आत्मा की व्यापकता अनुमान प्रमाण से बाधित है, अत जीवात्मा को व्यापक नही माना जा सकता। बाधा यह है—शरीर मे ही आत्मा के गुणो की उपलब्धि होने से तथा शरीर से बाहर आत्मा के गुण अनुपलब्ध होने से आत्मा शरीर-व्यापी ही है, वह सकल आकाश मे व्याप्त नही है।

प्रभास—किन्तु जीव आकाश के समान द्रव्य होकर भी अमूर्त होने के कारण बद्ध या मुक्त नही होना चाहिए। आकाश किसी भी वस्तु से बद्ध नही होता। यदि आकाश मे बन्ध नही है तो मुक्ति भी नही है, क्योकि मुक्ति बन्ध-सापेक्ष होती है। इसी प्रकार जीव भी आकाश-सदृश अमूर्त द्रव्य होने के कारण बन्ध मोक्ष से रहित होना चाहिए।

जीव में बन्ध व मोक्ष हैं

भगवान्—जीव मे बन्ध सम्भव है, क्योकि उसकी दान अथवा हिंसादि क्रिया फलयुक्त होती है। बन्ध का वियोग भी जीव मे शक्य है, क्योकि वह बन्ध सयोग-रूप होता है। जिस प्रकार सुवर्ण तथा पाषाण का अनादि-रूप सयोग भी सयोग है, इसीलिए किसी कारणवशात् उसका वियोग होता है, उसी प्रकार आत्मा के बन्ध-रूप कर्म-सयोग का भी सम्यग् ज्ञान व क्रिया द्वारा नाश होता है। वही मोक्ष है। इस तरह आकाश-सदृश मुक्तात्मा नित्य है, इसलिए मोक्ष भी नित्य सिद्ध होता है। [१९८५]

मोक्ष नित्यानित्य है

किन्तु मेरे इस कथन से तुम्हे यह नही समझना चाहिए कि मैं मोक्ष को एकान्त नित्य मानने का आग्रह रखता हूँ। कारण यह है कि जब सभी वस्तुएँ उत्पाद-विनाश-स्थिति रूप है तब मोक्ष के लिए एकान्त नित्यता का आग्रह कैसे रखा जा सकता है ? मोक्षादि सभी पदार्थों को पर्याय नय की अपेक्षा से अनित्य कहा जा सकता है। [१९८६]

प्रभास—यदि पदार्थ सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य नहीं है तो बौद्ध यह क्यो मानते है कि दीप-निर्वाण के समान मोक्ष मे जीव का भी नाश हो जाता है?

मोक्ष दीप-निर्वाण के समान नही, दीप का सर्वथा नाश नहीं

भगवान्—दीप की अग्नि का भी सर्वथा नाश नही होता। दीप भी प्रकाश-परिणाम को छोड कर अन्धकार-परिणाम को धारण करता है, जैसे कि दूध दधि रूप परिणाम को धारण करता है और घडे की ठीकरियाँ बनती है तथा ठीकरियो

की धूल । ये सभी विकार प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, अत दीप के समान जीव का भी सर्वथा नाश नही माना जा सकता । [१९८७]

प्रभास—यदि दीप का सर्वथा नाश नही होता तो वह बुझने के उपरान्त साक्षात् दिखाई क्यो नही देता ?

भगवान्—बुझने के बाद वह अन्धकार परिणाम को प्राप्त करता है और यह प्रत्यक्ष ही है । अत यह तो नही कहा जा सकता कि वह दिखाई नही देता । फिर भी बुझने के बाद दीप दीप के रूप मे क्यो दिखाई नही देता? इस का समाधान यह है कि दीपक उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर परिणाम को धारण करता है, अत विद्यमान होकर भी वह दृष्टिगोचर नही होता । जैसे काले बादल बिखर जाने के बाद अपने सूक्ष्म परिणामो के कारण विद्यमान होते हुए भी आकाश मे दृग्गोचर नही होते तथा जैसे हवा के कारण उड जाने वाला अजन (सुरमा) विद्यमान होकर भी अपनी सूक्ष्म रज के कारण दिखाई नही देता, वैसे ही दीप भी बुझने के पश्चात् अस्ति-रूप होते हुए भी सूक्ष्म परिणाम के कारण दृष्टिगोचर नही होता । अर्थात् वह असत् होने के कारण नही, अपितु सूक्ष्म होने के कारण हमारे देखने मे नही आता, इसलिए दीप का सर्वथा नाश नही माना जा सकता । फलत. उसके दृष्टान्त से निर्वाण मे जीव का सर्वथा अभाव सिद्ध नही किया जा सकता । [१९८८]

प्रभास—पहले दीप आँखो से दिखाई देता था किन्तु बुझने के बाद वह सूक्ष्मतादि के कारण दिखाई नही देता, यह बात आपने कही है, किन्तु वह सूक्ष्म क्योकर हो जाता है ?

पुद्गल के स्वभाव का निरूपण

भगवान्—पुद्गल का ऐसा स्वभाव है कि वह विचित्र परिणाम धारण करता है । इसीलिए सुवर्णपत्र, नमक, सूँठ, हरड, चित्रक, (एरण्ड), गुड ये सभी पुद्गल-स्कध प्रथम चक्षुरादि इन्द्रियो से ग्राह्य होते है, किन्तु अन्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव-रूप सामग्री मिलने से वे ऐसे बन जाते है कि तत्-तद् इन्द्रिय ग्राह्य न रह कर अन्य इन्द्रिय से ग्राह्य हो सकते हैं अथवा वे किसी अवस्था मे इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य भी बन जाते है । जैसे कि यदि सोने का पत्र बनाया हो तो वह सोना चक्षु इन्द्रियों से गृहीत किया जाता है, किन्तु यदि उसे शुद्धि के उद्देश्य से भट्टी मे डाला जाए और वह राख के साथ मिल जाए तो वह आँखो से दिखाई नही देता किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा उसका ज्ञान हो सकता है । तदुपरान्त यदि पुन प्रयोग द्वारा सुवर्ण को भस्म से पृथक् किया जाए तो वह पुन. आँखो से दिखाई देने लगता है । इसी प्रकार नमक, सोंठ, हरड, एरण्ड, गुड ये सब पहले तो आँखो द्वारा उपलब्ध होते है, किन्तु यदि इन्हे सूप मे मिला दिया जाए अथवा उनका चूर्ण बनाया जाए तो वे क्वाथ, चूर्ण, अवलेह आदि परिणामान्तर को प्राप्त करते हैं, अत वे केवल आँखो

से गृहीत नही होते, परन्तु जीभ उनका ग्रहण कर सकती है। कस्तूरी अथवा कपूर के सन्मुख रखे हुए पुद्गल आँखो से दृष्टिगोचर होते है, किन्तु यदि वायु उन्हे अन्यत्र ले जाए तो उनका ग्रहण आँख के स्थान पर नाक से हो सकता है. यदि उसमे व्यवधान बढ जाए तो सूक्ष्म हो जाने के कारण वे नाक से भी गृहीत नही होते। नाक अधिक से अधिक नव-योजन तक के प्रदेश से आने वाली गन्ध को जान सकता है। इसी तरह नमक चक्षुर्ग्राह्य है परन्तु पानी मे मिला देने के पश्चात् वह रसनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाता है, चक्षुर्ग्राह्य नही रहता। उसी पानी को यदि उबाला जाए तो नमक पुन आँखो से दिखाई देनेलगता है। इस प्रकार पुद्गलो का स्वभाव ही ऐसा है कि वे देश कालादि की सामग्री के भेद से विचित्र परिणाम प्राप्त करते है। इसीलिए दीपक पहले चक्षुर्ग्राह्य होता है परन्तु बुझ जाने के बाद वह आँख से दिखाई नही देता, इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। [१९८९]

अपि च, वायु स्पर्शनेन्द्रिय से ही ग्राह्य है, रस जीभ से ही, गन्ध नाक से ही, रूप चक्षु से ही तथा शब्द श्रोत्र से ही। इस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थ किसी एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने पर भी परिणामान्तर को प्राप्त कर अन्य इन्द्रियो द्वारा गृहीत होने की योग्यता वाले बन जाते हैं, उसी प्रकार दीपाग्नि भी पहले आँखो से उपलब्ध थी, किन्तु बुझ जाने पर उसकी गन्ध आती है, अत वह घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य बन जाती है, ऐसा मानना चाहिए। अत यह नही माना जा सकता कि दीप का सर्वथा नाश हो जाता है। [१९९०]

इस प्रकार दीप जब निर्वाण प्राप्त करता है तब वह परिणामान्तर को प्राप्त होता है, सर्वथा नष्ट नही होता, उसी प्रकार जीव भी जब परिनिर्वाण प्राप्त करता है तब वह सर्वथा नष्ट नही हो जाता। वह तो निराबाध—आत्यन्तिक सुख-रूप परिणामान्तर को प्राप्त करता है। अत दु ख-क्षय से युक्त जीव का विशेषावस्था को ही निर्वाण मानना चाहिए। [१९९१]

प्रभास —यदि आत्मा की दु ख-क्षय वाली अवस्था ही मोक्ष है और उसमे शब्दादि विषयो का उपभोग नही है तो फिर मुक्तात्मा को सुख कहाँ से प्राप्त होता है? दु ख का अभाव ही सुख नही कहलाता?

विषय-भोग के अभाव में भी मुक्त को सुख होता है

भगवान्—मुक्त जीव को परम मुनि के समान अकृत्रिम, मिथ्याभिमान से रहित स्वाभाविक प्रकृष्ट सुख होता है, क्योकि प्रकृष्ट ज्ञान की प्राप्ति के बाद उसमें जन्म, जरा, व्याधि, मरण, इष्ट-वियोग, अरति, शोक, क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, काम, क्रोध, मद, शाठ्य, तृष्णा, राग-द्वेष, चिन्ता, औत्सुक्य आदि समस्त बाधाओ का अभाव होता है। काष्ठादि जड पदार्थो में भी जन्मादि की बाधा नही होती, किन्तु उन्हे सुखी नही कहा जा सकता, क्योकि उनमे ज्ञान का अभाव है। मुक्तात्मा मे ज्ञान भी है और बाधा-विरह भी, अत उसमे सुख भी है।

प्रभास—यह कैसे ज्ञात होगा कि मुक्तात्मा परम ज्ञानी है और उसमें जन्म-जरादि कोई भी बाधा नहीं है ?

भगवान्—ज्ञान के आवरण का सर्वथा अभाव होने से मुक्तात्मा परम ज्ञानी हैं। आवरण का अभाव इसलिए है कि मुक्तात्मा में ज्ञानावरण के हेतुओं का ही अभाव है। मुक्तात्मा मे जन्म-जरादि बाधा का भी अभाव है, क्योंकि बाधा के हेतु-भूत वेदनीय आदि समस्त कर्मो का मुक्तात्मा मे अभाव होता है। इसी वस्तु को अनुमान प्रमाण से हम निम्न प्रकारेण कह सकते है—मुक्तात्मा चन्द्र के समान स्वाभाविक स्वप्रकाश से प्रकाशित है, क्योंकि उसमे प्रकाश के समस्त आवरणों का अभाव हो गया है। कहा भी है—

"स्वाभाविक भावशुद्धि सहित जीव चन्द्र के समान है, चन्द्रिका के समान उसका विज्ञान है तथा बादलों के सदृश उसका आवरण है[1]।" तथा मुक्तात्मा ज्वरापगम से नीरोग हुए व्यक्ति के समान अनाबाध सुख वाला है क्योंकि उसमे बाधा के समस्त हेतुओं का अभाव है। कहा भी है—"बाधा के अभाव तथा सर्वज्ञता के कारण मुक्त जीव परमसुखी होता है। बाधा का अभाव ही स्वच्छ ज्ञाता का परम सुख होता है[2]।" [१९९२]

प्रभास—आप मुक्तात्मा को परम ज्ञानी कहते हैं, किन्तु वस्तुत वह अज्ञानी है, क्योंकि आकाश के समान उसमें भी करण (ज्ञान साधन इन्द्रिया) का अभाव है।

इन्द्रियों के अभाव में भी मुक्त ज्ञानी है

भगवान्—करणों अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के अभाव के कारण यदि तुम मुक्त जीव को अज्ञानी सिद्ध करते हो तो उसी हेतु से आकाश के दृष्टान्त से मुक्तात्मा अजीव भी सिद्ध होगी। ऐसी स्थिति में तुम्हारे द्वारा दिया गया हेतु 'ज्ञानेन्द्रिय का अभाव' विरुद्ध हो जाएगा, अर्थात् वह सद्धेतु नहीं रहेगा। विरुद्ध हो जाने का कारण यह है कि इस हेतु से मुक्तात्मा के तुम्हें अभीष्ट जीव-स्वरूप के सर्वथा विरुद्ध अजीवत्व की सिद्धि होगी। मुक्तात्मा को अज्ञानी मान कर भी तुम उसे जीव तो मानते ही हो, किन्तु 'करण का अभाव' हेतु मुक्तात्मा को अजीव सिद्ध करेगा।

प्रभास—उक्त हेतु विरुद्ध नहीं है। कारण यह है कि मैं मुक्तात्मा को जीव ही मानने का आग्रह नहीं करता। मुझे इसमे कोई आपत्ति नहीं कि उक्त हेतु से

---

1. स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया।
चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवत्॥ योगदृष्टिसमुच्चय 181

2. स व्याबाधाभावात् सर्वज्ञत्वाच्च भवति परमसुखी।
व्याबाधाभावोऽत्र स्वच्छस्य ज्ञस्य परमसुखम्॥ तत्त्वार्थ-भाष्य-टीका पृ० 318 (द्वितीय भाग)

मुक्तात्मा अजीव सिद्ध होती है, किन्तु यदि आप उसी हेतु से मुक्तात्मा को अजीव मानते है तो आपका सिद्धान्त अवश्यमेव दूषित हो जाता है, क्योंकि आप मुक्तात्मा को अजीव न मान कर जीव ही स्वीकार करते हैं। फलतः यह आपत्ति मेरे सिद्धान्त पर लागू न होकर आपके सिद्धान्त पर ही लागू होती है।

भगवान्—केवल करणाभाव के कारण तुम आत्मा में आकाश के समान अज्ञान सिद्ध करते हो, इसलिए मैंने तुम्हारी बात पर उक्त आपत्ति की है कि मुक्तात्मा अजीव भी सिद्ध होगी। वस्तुतः मुक्तात्मा अज्ञानी भी नहीं है और अजीव भी नहीं है। [१९९३]

प्रभास—पहले यह बताएँ कि मुक्तावस्था मे जीव अजीव क्यों नहीं बन जाता ? आकाश मे करण का अभाव है, इसलिए वह अजीव है। इसी प्रकार मुक्त मे भी करणाभाव हो जाता है, अतः यह बात माननी चाहिए कि वह भी अजीव हो जाता है।

मुक्तात्मा अजीव नहीं बनता

भगवान्—मुक्तावस्था में जीव अजीव रूप नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु की स्वाभाविक जाति अत्यन्त विपरीत जाति-रूप मे परिणत नहीं हो सकती। जीव मे जीवत्व, द्रव्यत्व तथा अमूर्तत्व के समान स्वाभाविक जाति है, इसलिए जैसे जीव कभी भी द्रव्य के स्थान पर अद्रव्य तथा अमूर्त के स्थान पर मूर्त नहीं हो सकता उसी प्रकार जीव के स्थान पर अजीव भी नहीं हो सकता। जैसे आकाश की अजीव जाति स्वाभाविक है, इसलिए वह कभी भी अत्यन्त विपरीत-रूप जीवत्व जाति मे परिणत नहीं हो सकती, वैसे ही जीव की स्वाभाविक जीवत्व जाति अत्यन्त विपरीत स्वरूप अजीवत्व जाति मे परिणत नहीं हो सकती।

प्रभास—यदि मुक्तात्मा कभी भी अजीव नहीं बनता तो आपने यह बात कैसे प्रतिपादित की कि करणाभाव से मुक्तात्मा अजीव भी बन जाएगा ?

भगवान्—मैं तुम्हे यह बता ही चुका हूँ कि मेरा यह हेतु स्वतन्त्र हेतु नहीं है, अर्थात् मैंने स्वतन्त्र हेतु का प्रयोग कर मुक्तात्मा को अजीव सिद्ध नहीं किया है किन्तु जो लोग करणों के अभाव के कारण मुक्त जीवो को अज्ञानी मानते है, उन्हे उसी आधार पर मुक्त जीवो को अजीव भी मानना चाहिए, यह प्रसंगापादन (अनिष्टापादन) मैंने किया है। वस्तुतः इस हेतु से अर्थात् 'करण के अभाव से मुक्तात्मा अजीव सिद्ध नहीं होती है।

प्रभास—यह कैसे ?

भगवान्—उक्त हेतु मे व्याप्ति (प्रतिबन्ध) का अभाव है, अतः इस से साध्य सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रभास—आप यह किसलिए कहते है कि व्याप्ति का अभाव है ?

भगवान्—व्याप्ति के नियामक दो सम्बन्ध हैं कार्य-कारण भाव तथा व्याप्य-व्यापक भाव। इन दोनो मे से प्रस्तुत हेतु (साध्य) मे एक भी सम्बन्ध घटित नही होता, इसलिए प्रतिबन्ध का अभाव है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यदि जीवत्व करणो या इन्द्रियो का कार्य हो, जैसे कि धूम अग्नि का कार्य है तो अग्नि के अभाव मे धूम के अभाव के समान, करणो के अभाव मे जीवत्व का भी अभाव हो जाए। किन्तु जीवत्व जीव का अनादि-निधन पारिणामिक भाव होने से नित्य है, इसलिए वह किसी का भी कार्य नही बन सकता, अत करणो का अभाव होने पर भी जीवत्व का अभाव नही माना जा सकता।

अपि च, यदि जीवत्व करणो का व्याप्य हो जैसे कि शिशपा वृक्षत्व का व्याप्य है, तो व्यापक वृक्षत्व के अभाव मे शिशपा के समान करणो के अभाव मे जीवत्व का भी अभाव हो जाएगा, किन्तु जीवत्व तथा करणो मे व्याप्य-व्यापक भाव ही नहीं है, क्योंकि दोनो अत्यन्त विलक्षण है। करण मूर्त या पौद्गलिक है जब कि जीव अमूर्त होने के कारण उनसे अत्यन्त विलक्षण है, अत. करणाभाव मे भी जीवत्व का अभाव नही होता। फलत मुक्तावस्था मे भी जीवत्व है ही। [१९९४]

प्रभास—मुक्तात्मा मे जीवत्व चाहे मान लिया जाए किन्तु आकाश के समान करण-हीन होने के कारण उसे ज्ञानी कैसे माना जा सकता है?

इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान है

भगवान्—इन्द्रियादि करण मूर्त होने के कारण घटादि के समान उपलब्धि क्रिया (ज्ञान-क्रिया) का कर्ता नही बन सकते। वे केवल ज्ञान-क्रिया के द्वार है, साधन है। उपलब्धि का कर्त्ता तो जीव ही है[1]।' [१९९५]

ज्ञान का अन्वयव्यतिरेक आत्मा के साथ है, इन्द्रियों के साथ नही। कारण यह है कि इन्द्रियो का व्यापार बन्द हो जाने पर भी स्मरणादि ज्ञान होते है तथा इन्द्रियो के व्यापार के अस्तित्व मे भी अन्यमनस्क आत्मा को ज्ञान नही होता। अतः यह नही माना जा सकता कि इन्द्रियो के होने पर ही ज्ञान होता है तथा मुक्तात्मा मे इन्द्रियो का अभाव होने से वह अज्ञानी (ज्ञानाभावयुक्त) है। करणों से भिन्न आत्मा ही ज्ञान प्राप्त करती है। जैसे घर के झरोखे से देवदत्त देखता है वैसे ही आत्मा इन्द्रियरूपी झरोखो से ज्ञान प्राप्त करती है। घर का ध्वस होने पर देवदत्त के ज्ञान का विस्तार बढ जाता है। इसी प्रकार शरीर का नाश हो जाने पर इन्द्रिय-रहित आत्मा ही निर्बाध रूप से समस्त वस्तुओ का ज्ञान करने मे समर्थ होती है[2]। [१९९६]

1-2. इस भावार्थ वाली गाथाएं पहले भी आई हैं—1657-1660.

अपि च, यह कहना विरुद्ध है कि मुक्तात्मा मे ज्ञान का अभाव है। कारण यह है कि ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है। जैसे परमाणु कभी भी रूपादि से रहित नही होता, वैसे ही आत्मा भी ज्ञानरहित नही हो सकती। अत यह कहना परस्पर विरुद्ध है कि 'आत्मा है' और 'वह ज्ञानरहित है।' स्वरूप के बिना स्वरूपवान् की स्थिति सम्भव नही है। मैं तुम्हे पहले ही यह समझा चुका हूँ कि जीव[1] कभी भी विलक्षण जाति के परिणाम को प्राप्त नही करता। अर्थात् यदि जीव ज्ञान-रहित हो जाए तो वह जड बन जाएगा। जीव व जड परस्पर अत्यन्त विलक्षण जाति वाले द्रव्य हैं, अत जीव कभी भी जड नही बन सकता। अर्थात् जीव मे कभी भी ज्ञान का अभाव नही होता। [१९९७]

प्रभास—आप यह कैसे कहते है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है ?

आत्मा ज्ञान स्वरूप है

भगवान्—यह बात सब को स्वानुभव से ज्ञात है कि हमारी आत्मा ज्ञान स्वरूप है, अर्थात् स्वात्मा की ज्ञान-स्वरूपता स्वसवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध ही है। हमारा यह अनुभव है कि इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाने पर भी आत्मा इन्द्रियो द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण कर सकती है तथा इन्द्रिय-व्यापार की उपस्थिति मे भी अन्यमनस्कता के कारण उसे ज्ञान नही होता। इसके अतिरिक्त कभी-कभी आँखो से अदृष्ट तथा कानों से अश्रुत अर्थ का भी स्फुरण हो जाता है। इन सब कारणो के आधार पर हम यह निर्णय कर ही लेते है कि हमारी आत्मा ज्ञान स्वरूप है। तुम्हे भी यह अनुभव होता ही होगा। अत आश्चर्य है कि तुम आत्मा की ज्ञान-स्वरूपता मे सन्देह करते हो।

जैसे हमारी आत्मा ज्ञान स्वरूप है वैसे ही परदेह मे विद्यमान आत्मा भी उसी प्रकार की है, यह बात तुम अनुमान से जान सकते हो। इस अनुमान का रूप यह होगा—परदेह-गत आत्मा भी ज्ञान स्वरूप ही है, क्योकि उसमे प्रवृत्ति-निवृत्ति है। यदि परदेह-गत आत्मा ज्ञान-स्वभाव न हो तो वह स्वात्मा के समान इष्ट मे प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति नही कर सकती, अत उसे ज्ञान स्वरूप ही मानना चाहिए। [१९९८]

पुनश्च, मुक्तात्मा को अज्ञानी कह कर तुम महान् विपर्यास करते हो। देह युक्त अवस्था मे जब तक जीव वीतराग नही हो जाता तब तक उसके ज्ञान पर आवरण होते हैं, अत वह सब कुछ नही जान सकता, किन्तु देह का नाश होने पर उस आत्मा के सभी आवरण दूर हो जाते है, अत वह शुद्धतर होकर स्वच्छ आकाश मे विद्यमान सूर्य के समान अपने सम्पूर्ण ज्ञान-स्वरूप मे प्रकाशित होती है। इन्द्रियाँ प्रकाश या ज्ञान-स्वरूप नही है जिससे कि उनके अभाव मे आत्मा मे ज्ञान

---

1 गाथा 1994

का अभाव हो जाए, अर्थात् यदि इन्द्रियाँ प्रकाश रूप होती तो उनके अभाव मे आत्मा अज्ञानी वन जाती, किन्तु वस्तुत इन्द्रियाँ प्रकाश रूप नही है, अत उनके अभाव मे आत्मा मे ज्ञान का अभाव नही होता। [१९९९]

जैसे प्रकाशमान प्रदीप को छिद्र युक्त आवरण से ढक देने पर वह अपना प्रकाश उन छिद्रो द्वारा फेलाने के कारण उसे किञ्चिन्मात्र ही फैला सकता है, वैसे ही प्रकाश-स्वरूप आत्मा भी आवरणो का क्षयोपशम होने पर इन्द्रियरूप छिद्रो द्वारा अपना प्रकाश अत्यन्त अल्प हो फैला सकती है। [२०००]

किन्तु मुक्तात्मा मे आवरणो का सर्वथा अभाव होता है, अत वह अपने सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित होती है। अर्थात् ससार मे जो कुछ है, वह उसे जान सकती है—वह सर्वज्ञ वन जाती है। जैसे घर मे बैठ कर खिडकी, दरवाजे से देखने वाला मनुष्य वहुत कम देख सकता है, किन्तु घर का ध्वस होने पर या घर से वाहर आने पर उसके ज्ञान का विस्तार अधिक हो जाता है, अथवा जैसे प्रदीप पर पडे हुए छिद्र युक्त आवरण को दूर करने देने पर वह अपने पूर्ण रूप मे प्रकाशित होता है, वैसे ही आत्मा भी अपने समस्त आवरणो के दूर हो जाने के कारण सम्पूर्ण रूपेण प्रकाशित होती है। इस प्रकार यह वात सिद्ध हो जाती है कि मुक्त आत्मा ज्ञानी है। [२००१]

प्रभास—आत्मा ज्ञान स्वरूप है अत. मुक्तात्मा सर्वज्ञ है, यह वात तो समझ मे आ गई, किन्तु आप का यह कथन कि मुक्तात्मा का सुख निराबाध होता है, युक्त नही है। कारण यह है कि पुण्य से सुख होता है और पाप से दु ख। मुक्तात्मा के सर्व कर्मो का नाश हो जाता है, अत. उसमे सुख-दु ख दोनो मे से कुछ भी नही होता। इसलिए मुक्तात्मा मे आकाश के समान सुख अथवा दु ख कुछ भी नही होना चाहिए। [२००२]

अन्य प्रकार से भी मुक्तात्मा सुख-दु ख विहीन सिद्ध होती है। सुख या दु.ख की उपलब्धि का आधार देह है, मुक्त मे देह या इन्द्रियाँ कुछ भी नही होती, अतः उसमे भो आकाश के सदृश सुख-दु ख का अभाव हाना चाहिए। [२००३]

पुण्य के अभाव मे भी मुक्त सुखी है, पुण्य का फल सुख नहीं है

भगवान्—तुम पुण्य के फल को सुख कहते हो, यह तुम्हारा महान् भ्रम है। वस्तुत पुण्य का फल भी दु ख ही है। कारण यह है कि वह कर्म के उदय से होता है, अर्थात् वह कर्म-जन्य है। जो कर्म-जन्य होता है वह पाप के फल के समान सुख नही हो सकता, केवल दुःख रूप होता है।

प्रभास—फिर तो पाप के फल के विषय मे मैं भी विरोधी अनुमान उपस्थित कर सकता हूँ कि पाप का फल भी वस्तुत सुख रूप ही है, क्योकि वह कर्म के उदय

से होता है। जो कर्म के उदय से सम्पन्न हो वह पुण्य के फल के समान सुख रूप ही होता है। पाप का फल भी कर्मोदयजन्य होने के कारण सुख रूप होना चाहिए।

अपि च, पुण्य के फल का सवेदन जीव को अनुकूल प्रतीत होता है, अत वह सुख रूप है। फिर भी आप उसे दु ख रूप कहते हैं। इससे आप की यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध भी है। जो बात स्वसवेदन-प्रत्यक्ष से सुख रूप प्रतीत होती है उसे आप दु ख रूप मानते है, अतएव आपका कथन प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के कारण अयुक्त है। [२००४]

भगवान्--सौम्य ! तुम जिसे सुख का प्रत्यक्ष कहते हो वह अभ्रान्त अथवा यथार्थ प्रत्यक्ष नही है किन्तु भ्रान्त या अयथार्थ प्रत्यक्ष है। इसलिए मैं तुम्हारे द्वारा मान्य प्रत्यक्ष सुख को दु ख रूप बताता हूँ। इस मे प्रत्यक्ष विरोध नही है। तुम जिसे प्रत्यक्ष सुख कहते हो वह सुख नही किन्तु दु ख ही है। सच्ची बात तो यह है कि ससार मे ग्रस्त जीव को कही भी वास्तविक सुख नही मिल सकता। तुम जिसे सुख मानते हो वह व्याधि के प्रतिकार के समान है। किसी मनुष्य के दाद हो गया हो और मीठी खुजली होती हो, तो उसे खुजलाते हुए जिस सुख का अनुभव होता है वह वस्तुत सुख न होकर सुखाभास अथवा दु ख है। अविवेक के कारण जीव सुखाभास को भी सुख समझ लेता है। सब जानते है कि खुजलाने से खुजली बढती ही है, अत जिसका परिणाम दु ख रूप हो उसे सुख न समझ कर दु ख ही मानना चाहिए। इसी प्रकार ससार के सभी पदार्थों के विषय मे भी यह बात कही जा सकती है। मनुष्य मे एक लालसा (औत्सुक्य, वासना) होती है, उसकी तृप्ति या प्रतिकार के लिए वह काम-भोग भोगता है। वस्तुत उसका भोग केवल लालसा का प्रतिकार ही है। उसमे यथार्थरूपेण दु ख होता है, किन्तु मूढतावश मनुष्य उसे सुख मान लेता है। इसीलिए जो सुख रूप नही है, वह अयथार्थत सुख रूप प्रतीत होता है। जैसे कि "जो कामावेशी पुरुष होता है वह प्रेत के समान नग्न होकर शब्द करती हुई उपस्थित स्त्री का आलिंगन कर अपने समस्त अँगो मे अत्यन्त क्लान्ति प्राप्त करके भी मानो वह सुखी हो इस प्रकार मिथ्या रति (शान्ति, आराम) का अनुभव करता है[1]।"

राज्य मे सुख है, यह बात भी मूढमति ही मानते है, किन्तु अनुभवी राजा का तो वचन है कि "जब तक व्यक्ति राजा नही बनता, तब तक ही उत्सुकता होती है, केवल इस उत्सुकता की ही पूर्ति राज्य की प्रतिष्ठा द्वारा होती है। परन्तु तदुपरान्त प्राप्त राज्य की सार-सम्भाल की चिन्ता ही दु ख दिया करती है। इस

---

1 नग्न प्रेत इवाविष्ट. क्वणन्तीमुपगृह्यताम्।
गाढायासितसर्वाङ्ग स सुखी रमते किल॥

प्रकार राज्य उस छत्र के समान है जिसका दण्ड हाथ मे पकडना पडता है और जो परिणाम-स्वरूप श्रम कम करने के स्थान पर उसे वढाता है[1] ।"

ससार के काम-भोगों मे छद्मस्थ (रागी) को सुख प्रतीत होता है। वैराग्य-युक्त पुरुष त उनके विषय मे यह सोचता है कि—"अपनी सभी इच्छाओ को पूर्ण करने वाले वैभवो का उपभोग किया, इससे क्या ? अपने धन से प्रियजनो को सन्तुष्ट किया, इससे क्या ? अपने शत्रुओ के मस्तक के ऊपर पग रखा, इससे क्या ? इस देहधारी का शरीर कल्प पर्यन्त रहे, इस से भी क्या[2] ?"

"इस प्रकार सभी साधन-साध्य कोई भी वस्तु सत् नही है। यह केवल स्वप्नजाल के समान परमार्थ-शून्य है। हे मनुष्यो ! यदि तुम मे समझ है तो तुम एकान्त शान्ति करने वाले सर्वथा निरावाध-रूप ब्रह्म की अभिलापा करो[3] ।" अत पुण्य के फल को तत्वत दु ख ही मानना चाहिए। [२००५]

मेरे इस कथन के समर्थन मे अनुमान भी उपस्थित किया जा सकता है। विषयजन्य सुख दु ख ही है, क्योकि वह दु ख के प्रतिकार के रूप मे है। जो वस्तु दु ख के प्रतिकार रूप मे हो वह कुष्ठादि रोग के प्रतिकार रूप क्वाथ-पानादि चिकित्सा के समान दु ख रूप ही होती है।

प्रभास—यदि यह वात है तो सव लोग इसे सुख क्यो कहते है ?

भगवान्—सुख रूप न होने पर भी लोग इसे उपचार से सुख कहते है तथा उपचार किसी भी स्थान मे विद्यमान पारमार्थिक सुख के विना घट नही सकता। [२००६]

अतः मुक्त जीव के सुख को पारमार्थिक या सच्चा सुख मानना चाहिए तथा विषयजन्य सुख को औपचारिक सुख मानना चाहिए। कारण यह है कि विशिष्ट ज्ञानी तथा वाधारहित मुनि के सुख के समान मुक्त के सुख की उत्पत्ति भी सर्व दु.ख के क्षय द्वारा होने से स्वाभाविक है, अर्थात् इस सुख की उत्पत्ति वाह्य वस्तु के

---

1. औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा, क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापगमनाय यथा श्रमाय, राज्य स्वहस्तगतदण्डमिवातपत्रम् ॥

अभिज्ञानशाकुन्तल 5 6.

2 मुक्ताः श्रिय सकलकामदुघास्तत किम् ?
सप्रीणिता प्रणयिन स्वधनैस्तत किम् ? ॥
दत्त पद शिरसि विद्विषता तत किम् ?
कल्प स्थित तनुभृता तनुभिस्तत किम् ? ॥

3 इत्थ न किञ्चिदपि साधनसाध्यजात स्वप्नेन्द्रजालसदृश परमार्थशून्यम् ।
अत्यन्तनिर्वृतिकर यदपेतबाध तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनास्ति ॥

संसर्ग से निरपेक्ष है। इसलिए मात्र व्याधि के प्रतिकार रूप में उत्पन्न होने वाले ससार के सुखो के समान मुक्त का सुख प्रतिकार रूप मे नही, किन्तु निष्प्रतिकार रूप मे उत्पन्न होता है। अत वह मुख्य सुख है तथा प्रतिकार रूप सांसारिक सुख औपचारिक है। अर्थात् वस्तुत वह दु ख ही है। कहा भी है—

"जिसने मद तथा मदन पर विजय प्राप्त की है, जो मन-वचन-काय के समस्त विकारो से शून्य है, जो परवस्तु की आकाक्षा स रहित है, ऐसे सयमी महापुरुष के लिए यही मोक्ष है[1]।" [२००७]

अथवा अन्य प्रकार से भी मुक्त में ज्ञान के समान सुख की सिद्धि हो सकती है। वह इस प्रकार होगी—जीव स्वभावतः अनन्त ज्ञानमय है, किन्तु उसके उस ज्ञान का मतिज्ञानावरणादि से उपघात होता है, जैसे बादल सूर्य के प्रकाश का उपघात करते है। आवरण रूप बादलो मे छिद्र हो तो वे सूर्य के प्रकाश के उपकारी बनते है, उसी प्रकार आत्मा के सहज प्रकाश ज्ञान पर भी इन्द्रिय रूपी छिद्र अनुग्रह करते है, क्योंकि उन छिद्रो के द्वारा आत्मा का प्रकाश स्वरूप रूप मे प्रकाशित होता है किन्तु ज्ञानावरण का सर्वथाभाव होने पर सूर्य के प्रकाश के समान ज्ञान अपने सम्पूर्ण शुद्ध रूप से प्रकाशित होता है। [२००८]

इसी प्रकार आत्मा स्वरूपत स्वाभाविक अनन्त सुखमय भी है। उसके उस सुख का पाप-कर्म द्वारा उपघात होता है तथा पुण्य-कर्म उस सुख का अनुग्रह या उपकार करने वाला है, किन्तु जब सर्व कर्म का नाश हो जाता है तब प्रकृष्ट ज्ञान के समान सकल, परिपूर्ण, निरुपचरित तथा निरुपम स्वाभाविक अनन्त सुख सिद्ध मे प्रकट होता है। [२००९]

प्रभास—ससार मे सुख पुण्य-रूप कारण से उत्पन्न होता है, वह स्वाभाविक नही है। मोक्ष मे पुण्य कर्म है ही नही। अत कारण के अभाव से सुख रूप कार्य का सिद्ध में अभाव ही मानना चाहिए।

भगवान्—मैं ने सुख को स्वाभाविक सिद्ध किया है। फिर भी तुम्हारा उपर्युक्त बात पर आग्रह हो तो मैं कहूँगा कि तुम इस विषय में भी भूल करते हो। सकल कर्म का क्षय ही सिद्ध के सुख का कारण है, अत तुम यह नही कह सकते कि इसमे कारण का अभाव। जैसे जीव सकल कर्मो के क्षय होने से सिद्धत्व परिणाम को प्राप्त करता है वैसे ही वह ससार मे अनुपलब्ध तथा विषयजन्य सुख से सर्वथा विलक्षण निरुपम सुख सकल कर्म क्षय के कारण प्राप्त करता है। [२०१०]

---

1 निर्जितमदमदनाना वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्ष सुविहितानाम्॥ प्रशमरति 238.

प्रभास—किन्तु देह के बिना सुख की उपलब्धि नही होती, देह ही सुख का आधार है। सिद्ध मे देह नही होता, अत. उसे सुख का अनुभव नही हो सकता। आपने मेरी इस आपत्ति का अब तक उत्तर नही दिया है।

देह के बिना भी सुख का अनुभव

भगवान्—मैं तुम्हें समझा चुका हूँ कि लोकरूढि से तुम जिस पुण्य के फल को सात (सुख) समझ रहे हो वह वस्तुत दु:ख ही है। पाप का फल तो असात या दु:ख है ही। अत शरीर से जिसकी उपलब्धि होती है वह तो केवल दु:ख ही है। संसार के अभाव में यह दु:ख नही होता, अत सच्चा सुख सिद्ध को ही मिलता है। अर्थात् यह बात फलित होती है कि शरीर-इन्द्रिय आदि साधनों से जो उपलब्ध होता है वह दु:ख ही है तथा सुख की प्राप्ति के लिए शरीरादि का अभाव आवश्यक है। परिणामत. सिद्ध ही शरीर आदि के अभाव के कारण सुख की उपलब्धि कर सकते हैं। [२०११]

अथवा, तुमने जो आपत्ति उपस्थित की है वह एक अपेक्षा से ठीक भी है। जो लोग संसाराभिनन्दी अथवा मोहमूढ हैं वे परमार्थ को नही देख सकते, अत. उन्हें जो विषयजन्य सुख शरीरेन्द्रिय द्वारा उपलब्ध होता है, उसे ही वे सुख मान लेते हैं। उनके मतानुसार विषयातीत सुख सम्भव ही नही है क्योंकि उन्हे स्वप्न में भी ऐसे सुख का अनुभव नही होता। तुम्हारी यह आपत्ति कि, सिद्ध मे शरीरेन्द्रिय के अभाव के कारण सुख भी नही होता, उक्त मत की अपेक्षा से घटित हो जाती है। किन्तु मैं तो सिद्ध के सुख को सासारिक सुख की सीमा को पार करने वाला धर्मान्तर रूप अत्यन्त विलक्षण सुख मानता हूँ। उसके अनुभव के लिए सासारिक सुख के अनुभव के समान शरीरादि की अपेक्षा ही नही है। [२०१२]

प्रभास—आपके मानने से क्या होता है? इसे प्रमाण से सिद्ध करना चाहिए।

सिद्ध का सुख व ज्ञान नित्य है

भगवान्—मैं प्रमाण पहले[1] ही बता चुका हूँ कि मुक्तात्मा में प्रकृष्ट सुख है, क्योंकि वह मुनि के समान प्रकृष्ट ज्ञानी होकर बाधा रहित है।

प्रभास—सिद्ध के सुख व ज्ञान चेतन-धर्म होने के कारण रागादि के समान अनित्य होने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त वे तपस्यादि से साध्य होने के कारण कृतक है, इसलिए भी वे घटादि के समान अनित्य होने चाहिएँ। अपूर्व-रूप मे उत्पन्न होने के कारण भी वे अनित्य ही समझे जाने चाहिएँ किन्तु आप उन्हे नित्य मानते है, यह अयुक्त है।

---

1 गाथा 2007

भगवान्—यदि ज्ञान व सुख का सिद्ध मे नाश होता हो तो उन्हे अनित्य माना जा सकता है। ज्ञान का नाश ज्ञानावरण के उदय से होता है तथा सुख का नाश असात वेदनीयादि के उदय से होने वाली बाधा से होता है, किन्तु सिद्ध मे सहज ज्ञान तथा सुख के नाश के उक्त दोनों कारणो का अभाव है, अत. उनका नाश नही होता; फिर उन्हें अनित्य कैसे माना जाए ?

यह नियम भी ठीक नही है कि जो चेतन-धर्म हो उसे रागादि के समान अनित्य ही होना चाहिए, क्योकि द्रव्यत्व, अमूर्तत्व आदि चेतन-धर्म होने पर भी वे नित्य है।

तुम्हारा यह कथन भी असंगत है कि कृतक होने से तथा अपूर्व उत्पन्न होने से सिद्ध के ज्ञान व सुख अनित्य है।

प्रध्वंसाभाव कृतक है और अपूर्व उत्पन्न होता है, परन्तु वह अनित्य न होकर नित्य है। इसके अतिरिक्त सिद्ध के ज्ञान व सुख स्वाभाविक है, अत. उन्हे कृतकादि रूप नही माना जा सकता, इसलिए ये हेतु ही असिद्ध हैं। आवरण के कारण उनका जो तिरोभाव था वह आवरण के दूर हो जाने से निवृत्त हो जाता है। फिर यह कैसे कह सकते हैं कि ज्ञान और सुख सर्वथा नवीन उत्पन्न हुए है। बादलो से ढका हुआ सूर्य बादलो के हट जाने से उसके प्रकट होने पर कृतक अथवा अपूर्वोत्पन्न नही कहलाता, वैसे ही आवरण और बाधा का अभाव होने पर सिद्ध के स्वाभाविक ज्ञान व सुख प्रकट होते है, उन्हे कृतक या अपूर्वोत्पन्न नही कह सकते।

सुख व ज्ञान अनित्य भी है

अपि च, मैं तो सभी पदार्थो को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त मानता हूँ, अर्थात् नित्यानित्य मानता हूँ। अत मेरे मत मे ज्ञान व सुख नित्य भी है और अनित्य भी। यदि तुम आविर्भाव रूप विशिष्ट पर्याय की अपेक्षा से सुख और ज्ञान को कृतक होने से अनित्य मानो तो यह बात युक्त ही है। प्रत्येक क्षण मे पर्याय रूप से ज्ञेय का विनाश होने के कारण ज्ञान का भी नाश होता है तथा सुख का भी प्रत्येक क्षण नवीन परिणाम उत्पन्न होता है। इस आधार पर ज्ञान और सुख को यदि तुम अनित्य मानो तो इसमे कोई नवीनता नही है। इस तरह तुम उसी बात को सिद्ध करते हो जो मुझे भी इष्ट है। [२०१३-१४]

प्रभास—आपकी युक्तियो से मैं यह तो समझ गया हूँ कि निर्वाण है, उसमे जीव विद्यमान रहता है तथा निर्वाणावस्था मे जीव को निरुपम सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु इस बात को वेद के आधार पर कैसे सिद्ध किया जाए और वेद-वाक्यो की असगति कैसे दूर हो ? कृपा कर यह भी आप बताएँ।

वेद-वाक्यों का समन्वय

भगवान्—यदि मोक्ष न हो, मोक्ष में जीव का नाश हो जाता हो तथा मोक्ष में निरुपम सुख का अभाव हो तो निम्न वेद-वाक्य असगत हो जाता है—**"न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीर वा वसन्त प्रियाप्रिये न स्पृशत ।"** अतः इस वाक्य का तात्पर्य मोक्ष का अस्तित्व, मोक्ष मे जीव का अस्तित्व तथा निरुपम सुख का अस्तित्व प्रतिपादित करना है । इसलिए **'मतिरपि न प्रज्ञायते'** इस वाक्य का आधार लेकर मोक्षावस्था में जीव का सर्वथा अभाव नही माना जा सकता । [२०१५]

प्रभास—**'मतिरपि न प्रज्ञायते'** इस वाक्य में जो यह कहा गया है कि जीव का मोक्ष मे नाश हो जाता है, उसी का समर्थन आप द्वारा कथित उक्त वेद-वाक्य के **'अशरीर वा वसन्तम्'** इत्यादि अंश से होता है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—उक्त वाक्य मे 'अशरीर' शब्द का अर्थ है कि जब शरीर सर्वथा नष्ट हो जाता है तब जीव भी खर-विषाण के समान असत् ही है, क्योंकि वह भी नष्ट है । अर्थात् अशरीर शब्द खर-विषाण के समान नष्ट जीव के लिए प्रयुक्त हुआ है । अत. वेद मे कहा गया है कि अशरीर (नष्ट रूप जीव) को प्रिय या अप्रिय अर्थात् सुख या दु.ख स्पर्श नही करते । इस प्रकार उक्त दोनो वेद-वाक्यो की सगति हो जाती है । अतः यह स्वीकार करना चाहिए कि मोक्ष मे जीव का नाश ही वेद सम्मत है । **'मतिरपि न प्रज्ञायते'** का अर्थ यही समझना चाहिए कि मोक्ष मे जीव का तथा सुख-दु ख का अभाव है । फलत: यह सिद्ध होता है कि वेद मे दीप-निर्वाण के सदृश मोक्ष प्रतिपादित है । [२०१६]

भगवान्—तुम वेद-वाक्य का वास्तविक अर्थ नही जानते । इसीलिये तुम्हारा यह मत है कि वेद के अभिप्रायानुसार मोक्ष मे जीव का नाश हो जाता है और सुख-दु.ख भी नही होता । मैं तुम्हे उस वेद-वाक्य का यथार्थ अर्थ बताता हूँ तुम उसे सुनो । वेद मे 'अशरीर' शब्द 'अधन' शब्द के समान विद्यमान मे निषेध का द्योतक है । अर्थात् जैसे विद्यमान देवदत्त के विषय मे 'अधन' शब्द का प्रयोग कर यह बताया जाता है कि देवदत्त के पास धन नही, अथवा विद्यमान देवदत्त मे 'अधन' शब्द से धन का निषेध सूचित होता है वैसे ही विद्यमान जीव के लिए 'अशरीर' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि उस जीव का शरीर नहीं है । 'अशरीर' शब्द का अर्थ है बिना शरीर का जीव । यदि खर-विषाण के समान देवदत्त का सर्वथा अभाव हो तो उसके लिए 'अधन' शब्द का प्रयोग नही हो सकता । इसी प्रकार यदि जीव का भी सर्वथा अभाव हो तो उसके लिए भी 'अशरीर' शब्द का प्रयोग न हो । [२०१७]

प्रभास—'अशरीर' शब्द मे नञ्-निषेध पर्युदास अर्थ के लिए है । अत. उसका अर्थ होगा कि 'कोई ऐसा पदार्थ जिसका शरीर नही है ।' किन्तु आप यह कैसे कहते है कि वह पदार्थ जीव ही है ?

भगवान्—जहाँ पर्युदास नञ्-निषेध अभिप्रेत होता है वहाँ अत्यन्त विलक्षण-नही परन्तु तत्सदृश अन्य पदार्थ समझना चाहिए। व्याकरण का नियम है कि **"नञ् इव न युक्त अन्य सदृगाधिकरणे लोके तथा ह्यर्थगति"**—लोक मे नञ् तथा इव शब्द का जिसके साथ योग हो उस शब्द से भिन्न रूप तत्सदृश अर्थ समझना चाहिए। जैसे अब्राह्मण शब्द का अर्थ है बाह्मण से भिन्न-स्वरूप किन्तु ब्राह्मण सदृश क्षत्रियादि, परन्तु अभाव-रूप खरशृग नही, वैसे ही प्रस्तुत मे प्रथम वाक्य मे प्रयुक्त 'सशरीर' शब्द के अर्थ से अन्य रूप परन्तु तत्सदृश अर्थ ही समझना चाहिए। अर्थात् शब्द का अर्थ है सशरीर सदृश जीव पदार्थ, सर्वथा तुच्छ खर-शृग रूप अभाव नही। सशरीर (जीव तथा अशरीर) जीव इन दोनो का सादृश्य उपयोगमूलक है। ससारा-वस्था मे जीव और शरीर क्षीर-नीर के समान मिले हुए है, इसलिए अशरीर जीव को सशरीर जीव-सदृश कहने मे सशरीर बाधक नही बनता।

इस प्रकार 'अशरीर वा' इत्यादि वाक्य मे अशरीर का अर्थ शरीर-रहित जीव ही है। उस वाक्य का अर्थ यह होगा—'अशरीर जीव जो लोकाग्र मे निवास करता है' इत्यादि। [२०१८]

पुनश्च, उक्त वाक्य मे 'वसन्त शब्द का प्रयोग भी मोक्ष मे जीव की सत्ता सिद्ध करता है, नाश नही। यदि मुक्तावस्था मे जीव सर्वथा विनष्ट हो जाता हो तो उसके निवास का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। फिर वेद मे यह क्यो कहा गया कि, 'अशरीर वा वसन्तम्' ?

और भी, 'अशरीर वा वसन्त' मे 'वा' शब्द के प्रयोग से यह फलित होता है कि अकेले मुक्त को ही नही किन्तु सशरी जीव को भी सुख-दुख स्पर्श नही करते।

प्रभास—ऐसा सदेह कौन है जिसे सुख-दुख स्पर्श नही करते ?

भगवान्—वीतराग मुनि। उसके चार घाती कर्म नष्ट हो चुके हैं, किन्तु अभी वे शरीर धारण किए हुए है। ऐसे जीवन मुक्त वीतराग को भी सुख-दुख का स्पर्श नही होता, क्योकि उन्हे न कुछ इष्ट है और न कुछ अनिष्ट। [२०१९]

अथवा, 'अशरीर वा वसन्तम्' इस वेद-वाक्य का पदच्छेद निम्न प्रकार से भी हो सकता है—'अशरीर वाव सन्तम्'। इसमे 'वाव' शब्द 'वा' के अर्थ मे ही निपात है। 'सन्तम्' का अर्थ है 'भवन्तम्'। अब इस वाक्याश का अर्थ यह होगा कि जब जीव अशरीर बन जाता है तब उसे तथा वीतराग सशरीर जीव को भी प्रिया-प्रिय का स्पर्श नही होता।

उक्त वाक्य का पदच्छेद इस रीति से भी हो सकता है—'अशरीर वा अव सन्तम्' इसमे 'अव' शब्द 'अव्' धातु का आज्ञार्थक रूप है। 'अव्' धातु के कई अर्थ हैं—रक्षण, गति, प्रीति आदि। गति अर्थ वाले धातु ज्ञानार्थक भी बन जाते है। इस नियमानुसार 'अव्' धातु ज्ञानार्थक भी है। अत 'अव' का अर्थ होगा 'जानो'।

समस्त वाक्यांश का अर्थ होगा—हे शिष्य ! तुम यह समझो कि मुक्ति अवस्था मे 'अशरीरम्' रूप 'सन्तम्' विद्यमान जीव को अथवा 'सन्तम्' ज्ञानादि से विशिष्ट-रूपेण विद्यमान जीव को प्रियाप्रिय का स्पर्श नही होता । [२०२०]

प्रभास—आपने स्वेष्ट अर्थों को प्रतिपादित करने के लिए उक्त वेद-वाक्य का अनेक प्रकार से पदच्छेद किया, किन्तु इसका पदच्छेद ऐसे ढग से भी हो सकता है जिससे मेरे मत की पुष्टि हो । जैसे कि 'अशरीर वा अवसन्तम्' इसका अर्थ यह होगा कि ऐसा अशरीरी जो कही भी नही रहता अर्थात् जो सर्वथा है ही नही । इस पदच्छेद से इस मत की पुष्टि होती है कि मुक्तावस्था मे जीव का सर्वथा नाश हो जाता है ।

भगवान्—तुम्हारे द्वारा किया गया पदच्छेद असगत है । कारण यह है कि मैं पहले बता चुका हूँ कि 'अशरीर' शब्द से जीव की विद्यमानता सिद्ध होती है । अत ऐसा पदच्छेद नही हो सकता जो इस शब्द के अर्थ के साथ सगत न हो ।

फिर उक्त वाक्य मे आगे जाकर कहा गया है कि 'प्रियाप्रिय का स्पर्श नही होता' । स्पर्श की बात तभी घटित हो सकती है जब जीव को सत् या विद्यमान माना जाए । यदि जीव वन्ध्यापुत्र के समान सर्वथा असत् हो तो जैसे यह कहना निरर्थक है कि "वन्ध्यापुत्र को प्रियाप्रिय किसी का भी अनुभव नही होता' वैसे ही यह कहना भी व्यर्थ होगा कि अशरीर को प्रियाप्रिय का स्पर्श नही होता । जिसमे कभी प्रियाप्रिय की प्राप्ति होती हो अथवा ऐसी प्राप्ति सम्भव हो उसी में उसका निषेध किया जा सकता है, जो जिसमे सम्भव ही न हो उसका निषेध नही किया जाता । जीव मे सशरीरावस्था मे प्रियाप्रिय की प्राप्ति होती है, अत. मुक्तावस्था मे उनका निषेध युक्तियुक्त है । 'अशरीर' शब्द से मुक्तावस्था मे विद्यमान स्वरूप जीव का ज्ञान होता है । अत 'अवसन्तम्' पदच्छेद नही हो सकता । [२०२१]

प्रभास—यह बात वेदाभिमत भी है कि मुक्तावस्था मे जीव विद्यमान होता है । अत चाहे उसकी सत्ता मान ली जाए, परन्तु वेद के उक्त वाक्य मे यह भी कहा है कि मुक्त जीव को प्रियाप्रिय दोनो का ही स्पर्श नही होता । अत वेद मे आपके इस मत का विरोध है कि मुक्त जीव को परम सुख प्राप्त होता है । मुक्त को हम सुखी या दु खी नही मान सकते ।

भगवान्—यह बात तो मैं भी स्वीकार करता हूँ कि मुक्त मे पुण्यकृत सुख और पापकृत दु ख नही है । वेद मे जिस प्रियाप्रिय का निषेध है वह उस सासारिक सुख और दु.ख का है जो पुण्य व पाप से होते हैं । ये सासारिक सुख-दु ख वीतराग तथा वीतदोष मुक्त पुरुष का स्पर्श नही कर सकते क्योकि वे पूर्ण ज्ञानी है और उनमे कोई भी बाधा नही है । वेद मे यही बात कही गई है । इससे यह कैसे फलित हो सकता है कि मुक्त मे स्वाभाविक निरुपम विषयातीत सुख का भी अभाव है ?

मुक्त पुरुष वीतराग होता है, अत पुण्यजनित सुख उसके लिए प्रिय नही होता। वह वीतद्वेष भी होता है, फलत पापजनित दुख उसके लिए अप्रिय नही होता। इस प्रकार उसमे प्रियाप्रिय दोनो का ही अभाव है। किन्तु मुक्त पुरुष मे जो सुख स्वाभाविक है, अकर्मजन्य है, निरुपम है, निष्प्रतिकार रूप है, अनन्त है और इसीलिए जो पूर्वोक्त पुण्यजन्य सुख से अत्यन्त विलक्षण है, उसका अभाव उक्त वेद-वाक्य से फलित नही होता। अत तुम्हे यह स्वीकार करना चाहिए कि मोक्ष है, मोक्ष मे जीव है और उसे सुख भी है। ये तीनो बाते वेदसम्मत भी है।

प्रभास—अब केवल एक शका और है। वह यह है कि यदि वेद को उक्त तीनो बाते इष्ट हैं तो फिर यह विधान क्यो किया गया कि **'जरामर्यं वैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्''**—वृद्धावस्था मे मरणपर्यन्त भी स्वर्गदायक अग्निहोत्र करना चाहिए। इससे तो केवल स्वर्ग की प्राप्ति हो सकेगी, मोक्ष की आशा केवल दुराशा रहेगी। अत मन मे यह विचार होता है कि मोक्ष की सत्ता ही नही होगी, अन्यथा वेद मे मोक्षोपाय का अनुष्ठान करने का विधान न कर स्वर्गोपाय का विधान ही क्यो किया जाता ?

भगवान्—तुम इस वेद-वाक्य का अर्थ भी ठीक नही समझे। इस वाक्य मे 'वा' शब्द भी है, उस ओर तुमने ध्यान नही दिया। यह 'वा' शब्द सूचित करता है कि यावज्जीवन अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिए तथा साथ ही मोक्षाभिलाषी जीव को मोक्ष के निमित्तभूत अनुष्ठान भी करने चाहिएँ। इस प्रकार युक्ति से तथा वेद-पदो से मोक्ष सिद्ध होता है। तुम्हे इस विषय मे सशय नही करना चाहिए। [२०२२–२३]

जरा-मरण से रहित भगवान् ने जब इस प्रकार उसके सशय का निवारण किया तब प्रभास ने अपने ३०० शिष्यो के साथ दीक्षा अगीकार की। [२०२४]

टिप्पणियाँ

(१)

पृ० 3 प० 2. जीव के अस्तित्व की चर्चा—प्रथम गणधर इन्द्रभूति के साथ हुए विवाद मे जीव के अस्तित्व का प्रश्न मुख्य है। इन्द्रभूति द्वारा व्यक्त किया गया दृष्टिबिन्दु भारतीय दर्शनो मे चार्वाक अथवा भौतिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। चार्वाक पक्ष जब यह कहता है कि आत्मा का अभाव है, तब उसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि आत्मा का सर्वथा अस्तित्व ही नही है। उसका तात्पर्य केवल यह है कि आत्मा चार भूतो के समान स्वतन्त्र द्रव्य नही है अथवा स्वतन्त्र तत्व नही है। अर्थात् चार्वाक पक्ष की मान्यता है कि भूतो के विशिष्ट समुदाय से जो वस्तु निर्मित होती है वह आत्मा कहलाती है। इस समुदाय के नाश के साथ ही आत्मा नामक वस्तु भी नष्ट हो जाती है। साराश यह है कि आत्मा एक भौतिक पदार्थ है, भूतव्यतिरिक्त कोई स्वतन्त्र तत्व नही है। चार्वाक को उसका सर्वथा अभाव अभीष्ट नही है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए न्यायवार्तिककार उद्योतकर ने कहा है कि, "सामान्यत आत्मा के अस्तित्व के विषय मे विवाद ही नही है, यदि विवाद है तो वह विशेष विषयक है। अर्थात् कोई शरीर को ही आत्मा मानता है, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय को तथा कोई मन को ही आत्मा स्वीकार करता है, कोई सघात को आत्मा की सज्ञा देता है तथा कोई इन सबसे भिन्न स्वतन्त्र आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है।" (न्याय वा०पृ० 336)

प्रस्तुत चर्चा मे यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि आत्मा भौतिक नही प्रत्युत स्वतन्त्र तत्व है। समस्त चर्चा इसी विषय से सम्बन्ध रखती है कि आत्मा स्वतन्त्र तत्व है या नहीं ? अन्त मे यह सिद्ध किया गया है कि आत्म तत्व स्वतन्त्र है, केवल भौतिक नही। यहाँ पर प्रतिपादित की गई युक्तियाँ भारतीय दर्शनो मे साधारण हैं। किसी ग्रन्थ मे उनका विस्तार है तथा किसी मे सक्षेप। ब्राह्मण-बौद्ध-जैन किसी भी दर्शन का ग्रन्थ देखने से ज्ञात होगा कि उनमे इन युक्तियो द्वारा ही आत्मा का स्वातन्त्र्य सिद्ध किया गया है।

चार्वाक व बौद्ध ये दोनो इतनी बातो मे सहमत हैं कि आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य तथा नित्य द्रव्य नहीं है, अर्थात् शाश्वत द्रव्य नही है। अथवा दोनो के मत मे आत्मा उत्पन्न होने वाली है। इन दोनो मतो मे मतभेद यह है कि बौद्ध तो यह मानते है कि बुद्धि, आत्मा, ज्ञान या विज्ञान नामक एक स्वतन्त्र वस्तु है और चार्वाक कहते हैं कि आत्मा चार या पाँच भूतो से उत्पन्न होने वाली केवल एक परतन्त्र वस्तु है। बौद्ध अनेक कारणो से ज्ञान को उत्पन्न तो मानते हैं और इस अपेक्षा से ज्ञान को परतन्त्र भी कहते हैं, किन्तु ज्ञान के कारणो मे ज्ञान और ज्ञानेतर दोनो प्रकार के कारणो को स्वीकार करते है। जबकि चार्वाक ज्ञान निष्पत्ति मे केवल भूतो को अर्थात् ज्ञानेतर कारणो को ही मानते है। तात्पर्य यह है कि बौद्धो के अनुसार ज्ञान

जैसी एक मूल तत्वभूत वस्तु है जो अनित्य है, परन्तु चार्वाक उसे मूल तत्व के रूप मे नही मानते, वे केवल भूतो को ही मूल तत्वो मे स्थान देते हैं।

बौद्ध ज्ञान, विज्ञान तथा आत्मा इन सबको एक ही वस्तु मानते हैं; आत्मा और ज्ञान मे नाम-मात्र का अन्तर है, वस्तु भेद नही। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक तथा मीमासक आत्मा और ज्ञान को भिन्न-भिन्न वस्तु मानते है। नैयायिकादि सम्मत ज्ञान गुण ही बौद्ध मत मे आत्मा है।

साख्य मत मे आत्मा या पुरुष स्वतन्त्र तत्व है तथा बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न होने वाला विकार है जिसमे ज्ञान, सुख, दु ख आदि वृत्तियां आविर्भूत होती हैं। बौद्ध आत्मा और ज्ञान को एक ही मानते हैं अत उनके मतानुसार आत्मा या ज्ञान भी अनित्य है। अन्य दार्शनिको के मत मे आत्मा या पुरुष नित्य है तथा बुद्धि या ज्ञान अनित्य।

शाकर वेदान्त के अनुसार आत्मा चित्स्वरूप है, कूटस्थ नित्य है, ज्ञान उसका गुण या धर्म नही अपितु अन्तःकरण की एक वृत्ति है जो अनित्य है।

पृ० 3 प० 3 **वैशाख सुदि एकादशी**—श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार इस दिन भगवान् महावीर का गणधरो से समागम हुआ; किन्तु दिगम्बर मान्यता के अनुसार केवलज्ञान की प्राप्ति के 66 दिन बाद गणधरो का समागम हुआ। अतः वे उक्त तिथि को नही मानते। इसके लिए कषायपाहुड टीका पृ० 76 देखना चाहिए। भगवान् महावीर की आयु 72 वर्ष की थी तथा दूसरी मान्यतानुसार 71 वर्ष 3 मास व 25 दिन थी। इस प्रकार भगवान् महावीर की आयु सम्बन्धी दो मान्यताओ का उल्लेख कर कषायपाहुड की टीका मे वीरसेन ने इस बात का उत्तर देते हुए कि इन दोनो मे से कौन सी ठीक है, बताया है कि, इस विषय मे उन्हे उपदेश नही मिला अत मौन रहना ही उचित है, (पृ० 81 देखें)। दिगम्बरो के अनुसार वैशाख शुक्ल एकादशी के स्थान पर श्रावण कृष्ण प्रतिपदा तीर्थोत्पत्ति की तिथि स्वीकार की जाती है।—षट्खडागम धवला पृ० 63

पृ० 3 प० 4 **महसेन वन**—श्वेताम्बरो की मान्यता है कि गणधरो का समागम महसेन वन मे हुआ था और वही तीर्थ प्रवर्तन हुआ था। दिगम्बर मानते हैं कि यह समागम राजगृह के निकटस्थ विपुलाचल पर्वत पर हुआ था और तीर्थ की प्रवर्तना भी वही हुई थी। कषायपाहुड टीका पृ० 73 देखे।

पृ० 3 प०11 **सन्देह**—अर्थात् सशय। एक ओर का निर्णय कराने वाले साधक प्रमाण तथा बाधक प्रमाण के अभाव मे वस्तु के अस्तित्व का या निषेध का निर्णय न होता हो, तो अस्तित्व और नास्तित्व जैसी दोनो कोटि को स्पर्श करने वाला जो ज्ञान होता है उसे सशय कहते है। जैसे कि जीव है या नही? यह साँप है या नही? अथवा यह साँप है या रस्सी?

पृ० 3 प०12 **सिद्धि** प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा वस्तु का निर्णय करना।

पृ०3 प०12. **प्रमाण**—जिससे वस्तु का सम्यग् ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं। चार्वाक मतानुसार केवल प्रत्यक्ष (इन्द्रियो द्वारा होने वाला ज्ञान) ही प्रमाण है। बौद्ध तथा कुछ वैशेषिक

आचार्य प्रत्यक्ष व अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं। साधन (हेतु) लिंग द्वारा साध्य का ज्ञान करना अनुमान है। जैसे कि दूर मे पटरी पर धुआ देख कर गाडी के आने का ज्ञान करना अनुमान है। साख्य, कुछ वैशेषिक तथा प्राचीन बौद्ध तीन प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम। आप्त पुरुष के वचन अथवा शास्त्र को आगम कहते हैं। नैयायिकों तथा प्राचीन जैनागमों ने इन तीन प्रमाणो के अतिरिक्त उपमान को भी प्रमाण माना है। सादृश्य से ज्ञान करने को उपमान कहते हैं। जैसे कि गवय (रोझ) गाय के समान होता है। प्रभाकर आदि मीमासक पूर्वोक्त प्रमाणो के अतिरिक्त अर्थापत्ति को तथा कुमारिल आदि मीमासक अर्थापत्ति और अभाव को प्रमाण मानते है। कुछ लोग अर्थापत्ति का अथ यह करते हैं कि एक प्रमाण सिद्ध अर्थ की उपस्थिति के आधार पर अन्य परोक्ष अर्थ की कल्पना की जाए। जैसे कि देवदत्त मोटा है, परन्तु वह दिन के समय भोजन नही करता। इस आधार पर उसके रात्रि भोजन की कल्पना करना अर्थापत्ति है। मीमासको का कथन है कि अनुमान मे दृष्टान्त होता है, किन्तु अर्थापत्ति मे नही।

मीमासक यह भी मानते है कि जहाँ पूर्वोक्त प्रत्यक्षादि पाँचो प्रमाणो की उत्पत्ति न हो वहाँ अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। घटादि वस्तु के ज्ञान के अभाव को अभाव प्रमाण कहते हैं अथवा घटादि से भिन्न भूतल आदि वस्तु के ज्ञान को। अर्थात् केवल भूतल का ज्ञान होने से प्रमाता समझे कि यहाँ घडा नही है।

जैन दार्शनिको ने केवल दो प्रमाण माने है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। अनुमानादि सभी प्रत्येक्षतर प्रमाणों का समावेश परोक्ष मे होता है।

पृ० 3 प० 15. **जीव प्रत्यक्ष नहीं**—'आत्मा प्रत्यक्ष नही है' यह मत केवल चार्वाकों का ही नहीं है अपितु प्राचीन नैयायिक तथा वैशेषिक भी आत्मा को अप्रत्यक्ष मानते थे। यही कारण है कि न्यायसूत्र (1 1 10) मे इच्छा, द्वेषादि को आत्मा के लिंग कहे गये है। उसके उत्थान मे भाष्यकार ने स्पष्टत कहा है कि आत्मा प्रत्यक्ष नही है किन्तु उसका ज्ञान आगम के अतिरिक्त अनुमान से भी हो सकता है। वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी आत्म-निरूपण के प्रसग मे (भाष्य पृ० 360) कहा है कि, आत्मा सूक्ष्म होने के कारण अप्रत्यक्ष है, किन्तु उसका कारण द्वारा अनुमान किया जा सकता है। ऐसा होने पर भी प्राचीन नैयायिक-वैशेषिको ने योगिज्ञान द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष ही माना है।[1] अर्थात् आत्मा साधारण मनुष्य को प्रत्यक्ष नही है किन्तु योगियो को प्रत्यक्ष है। तर्क के क्षेत्र मे योगिप्रत्यक्ष तथा आगम मे भेद नही रहता, अत नैयायिक वैशेषिको ने आत्मा को अनुमान से सिद्ध करना उचित समझा। किन्तु तर्क के विकास ने आगे जाकर यह सिद्ध किया कि आत्मा साधारण मनुष्य को भी प्रत्यक्ष है तथा चार्वाकों को छोड कर सभी दार्शनिक यह मानने लगे कि अहप्रत्यय के आधार मे आत्मा प्रत्यक्ष है। विशेष विवरण के लिए देखें—प्रमाणमीमासा टि० पृ० 136

1. न्यायभाष्य 1 1.3; वैशेषिक सूत्र 9 1 11

पृ०3 प०29. **परमाणु**—इस कथन की तुलना ईश्वरकृष्ण के प्रकृति सम्बन्धी कथन से करें—'सौक्ष्म्यात् तदनुलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धे' सा० का० 8

पृ०3 प०29 **अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है**—न्यायसूत्र मे कहा गया है कि अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है—1 1 5 तथा उसके भाष्य मे स्पष्टीकरण किया गया है कि प्रस्तुत मे लिग और लिगी के सम्बन्ध तथा दर्शन लिग इनको प्रत्यक्ष समझना। लिगलिगी के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष हुआ हो तो भविष्य मे स्मरण होता है। इस स्मरण-सहकृत लिग के प्रत्यक्ष होने पर परोक्ष अर्थ का अनुमान होता है। आचार्य जिनभद्र ने यहाँ इसी बात का उल्लेख किया है।

पृ०4 प०2 **लिग**—साध्य के साथ जिस वस्तु का अविनाभाव सम्बन्ध हो, अर्थात् जो वस्तु साध्य के अभाव मे कभी भी सम्भव न हो उसे लिग अथवा साधन कहते हैं। इसी से यह अनुमान किया जाता है कि यदि लिग उपस्थित हो तो साध्य वस्तु अवश्यमेव होनी चाहिए।

पृ०4 प०3. **लिगी**--अर्थात् साध्य। जिस वस्तु को साधन या लिग द्वारा सिद्ध किया जाए उसे साध्य कहते हैं।

पृ०4 प०4 **अविनाभाव**—अर्थात् व्याप्ति। इसका शब्दार्थ यह है कि उसके विना न होना। साधन का साध्य के बिना न होना यह उसका अविनाभाव है।

इसी सम्बन्ध के कारण ही जहाँ साधन होता है वहाँ साध्य का अनुमान किया जा सकता है। कुछ पदार्थो मे सहभाव का नियम होता है और कुछ मे क्रमभाव का। जहाँ सह-भाव होता है वहाँ दोनो एक काल मे रहते हैं और जहाँ क्रमभाव होता है वहाँ वे पदार्थ कालक्रम मे नियत होते हैं। इस प्रकार अविनाभाव दोनो प्रकार का हो सकता है—सहभावी तथा क्रमभावी। देखें प्रमाणमीमासा 1 2 10

पृ०4 प०5. **स्मरण**—अर्थात् स्मृति। वस्तु का अनुभव होने के वाद वह अनुभव सस्कार रूप मे स्थिर रहता है। इस सस्कार का जब किसी निमित्त के कारण प्रवोध होता है अर्थात् जब वह सस्कार जागता है तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे स्मृति या स्मरण कहते हैं।

पृ०4 प०10 **सूर्य की गति**—सर्वथा अप्रत्यक्ष होकर भी जो अनुमान-गम्य है, उसके उदाहरण के रूप मे सूर्य की गति का उल्लेख प्राचीन काल से किया जाता रहा है। बौद्धो के उपायहृदय मे, न्याय-भाष्य मे तथा शाबर-भाष्य मे यह उपलब्ध है, किन्तु न्यायवार्तिककार (पृ० 47) ने इस का विरोध किया है। इस विरोध को दृष्टि सन्मुख रख कर ही इस गाथा का पूर्वपक्ष दिया गया है।

पृ०4 प०16 **सामान्यतोदृष्ट अनुमान**—वस्तु के दो रूप है—सामान्य तथा विशेष। साध्य वस्तु के सामान्य तथा विशेष दोनो रूप नही, किन्तु किसी समय केवल सामान्य रूप ही दृष्ट (प्रत्यक्ष) हो तो वैसी वस्तु जिसमे साध्य हो, उस अनुमान को सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहते हैं। इस से विपरीत, पूर्ववत् तथा शेषवत् अनुमान मे साध्य वस्तु के कभी दोनो रूप ही प्रत्यक्ष होते हैं। अनुमान के उक्त तीन प्रकार के इतिहास के विषय मे प्रमाणमीमासा टिप्पणी पृ० 139 तथा न्यायावतार-वार्तिक-वृत्ति प्रस्तावना पृ० 71 व साख्य कारिका 6 देखें।

पृ०4 पं०27. आगम —शास्त्र के वचन को आगम कहते हैं। मीमांसक मानते हैं कि आगम अपौरुषेय है अर्थात् वे किसी पुरुष द्वारा कथित नहीं है। नैयायिकादि उसे ईश्वरकृत मानते हैं तथा जैन व बौद्ध उसे वीतराग पुरुष द्वारा प्रणीत मानते हैं।

पृ०4 पं०27 आगम-प्रमाण अनुमान से पृथक् नहीं है—इस मत का समर्थन प्रशस्तपाद (पृ० 576) ने किया है तथा दिग्नाग आदि बौद्ध विद्वानों ने भी यही कहा है—प्रमाण-वार्तिक-स्वोपज्ञवृत्ति पृ० 416, हेतुबिन्दु टीका पृ० 2-4; न्यायसूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में है—2 1 49-51

पृ०4 प०30 दृष्टार्थ विषयक आगम—आगम के दो भेदों के लिए न्याय सू० 1 1 8. देखें।

पृ०5 प०11 अविसंवादी—विसंवाद अर्थात् पूर्वापर विरोध। जिसमें यह विरोध न हो उसे अविसंवादी कहते हैं।

पृ०5 प०12 आप्त—जिसका वचन प्रमाण रूप माना जाए उसे आप्त कहते हैं। माता-पिता आदि लौकिक आप्त हैं तथा रागद्वेष से रहित पुरुष अलौकिक आप्त है।

पृ०5 प०22 विज्ञानघन—यहाँ पर उद्धृत किए गए पाठ का पूरा सन्दर्भ यह है—"स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्राप्त उदकमेवानुविलीयेत न ह्यास्योद्ग्रहणायैव स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैव वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्य। बृहदारण्यकोपनिषद् 2 4 12

उक्त अवतरण में पदच्छेद शांकर-भाष्य के अनुसार किया गया है। इसी भाष्य के अनुसार इसका भावार्थ यह है—जैसे नमक का एक टुकड़ा पानी में डाला जाए तो वह पानी में विलीन हो जाता है—नमक पानी का ही एक विकार है, भूमि तथा तेज के सम्पर्क से जल नमक रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु इसी नमक को जब उसकी योनि (जल) में डाला जाता है तब उसका अन्य सम्पर्क-जन्य काठिन्य नष्ट हो जाता है। इसी को नमक का पानी में विलय कहते हैं। विलय होने के पश्चात् कोई व्यक्ति नमक के टुकड़े को पकड़ नहीं सकता, किन्तु पानी किसी भी जगह से लिया जाए वह खारा ही होगा। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि नमक के टुकड़े का सर्वथा अभाव नहीं हुआ, किन्तु वह पानी में मिल गया, अपने मूल रूप में आ गया, अब वह टुकड़े के रूप में नहीं है। इसी प्रकार हे मैत्रेयी! यह महान् भूत है (परमात्मा है) वह अनन्त है, अपार है। इसी महान् भूत में अर्थात् परमात्मा से अविद्या के कारण तुम पानी में से नमक के टुकड़े के समान मर्त्यरूप बन गई हो, किन्तु जब तुम्हारे इस मर्त्यरूप का विलय अनन्त एवं अपार महान् भूत परमात्मा विज्ञानघन में हो जाता है तब केवल यही एक अनन्त और अपार महान भूत रह जाता है, अन्य कुछ नहीं रहता। किन्तु परमात्मा मर्त्यभाव को कैसे प्राप्त करता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, जैसे स्वच्छ जल में फेन और बुद्बुद् है वैसे ही परमात्मा में कार्य, कारण, विषयाकार रूप में परिणत स्वरूप नाम और रूपात्मक भूत है। इन भूतों में पानी में नमक के टुकड़े के समान मर्त्य की उत्पत्ति सम्भव है। किन्तु शास्त्र-श्रवण द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कर जब मर्त्यजीव अपने ब्रह्मभाव (परमात्म भाव) को समझ

लेता है तब कार्य-कारण विषयाकार मे परिणत नाम-रूपात्मक भूत भी जल मे फेन व बुद्बुद् के समान नष्ट हो जाते हैं तथा तदनन्तर मर्त्य भी परमात्मा मे लीन हो जाता है। केवल अनन्त अपार प्रज्ञानघन विद्यमान रहता है। इस अवस्था मे जीव की कोई विशेष सज्ञा नही रहती है। कारण यह है कि 'मैं अमुक हूँ तथा अमुक का पुत्र पिता आदि हूँ' ये सज्ञाए अविद्याकृत हैं और अविद्या का समूल नाश हो चुका है।

अद्वैतवादी शकराचार्य ने उक्त अवतरण का इस प्रकार यह अर्थ किया है। उनके मत मे भूत आविद्यक होने के कारण मायिक हैं। अपि च, उन्होने परम महान् भूत का अर्थ परमात्मा या ब्रह्म किया है। नाश का अर्थ सर्वथा अभाव नही, किन्तु स्वयोनिरूप मे विलीन हो जाना किया है। इसके अतिरिक्त 'विज्ञानघन' शब्द से नवीन वाक्य का आरम्भ नही किया, किन्तु वह पूर्व वाक्य का उपात्य पद है, जबकि प्रस्तुत अवतरण मे इसी पद से वाक्य शुरू होता है। शंकर के मत मे जीव विज्ञानघन से उत्पन्न होकर उसी मे लीन हो जाता है, ऐसा अर्थ है; जबकि प्रस्तुत अवतरण मे इन्द्रभूति के विचारानुसार भूतो से विज्ञानघन उत्पन्न होता है और भूतो के नाश के पश्चात् उसका भी नाश हो जाता है।

नैयायिक लोग उपनिषद् के इस वाक्य को पूर्वपक्ष के रूप मे समझते है और उसका अर्थ वही करते हैं जो इन्द्रभूति ने किया है—

"यद्विज्ञानघनादिवेदवचन तत् पूर्वपक्षे स्थितम् ।
पौर्वापर्यविमर्शशून्यहृदयै सोऽर्थो गृहीतस्तदा ।। न्यायमञ्जरी पृ० ४७२

पृ०5 प०23 **भूत**—पृथ्वी, जल, अग्नि (तेज) और वायु ये चार अथवा पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश ये पाँच भूत माने गए हैं।

पृ०6 प०1 **रूप**—पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार महाभूत तथा इनके कारण जो कुछ है वह सब बौद्ध मत मे रूप कहलाता है। अभिधम्म सग्रह परिच्छेद 6 देखें।

पृ०6 प०1. **पुद्गल**—जैन तथा अन्य दार्शनिक जिसे जीव कहते है उसे बौद्ध पुद्गल कहते हैं। कथावस्तु 1 156 पृष्ठ 26, मिलिन्द प्रश्न पृ० 27,95,301 आदि देखें, तथा पुग्गलपञ्जत्ति जिसमे जीवो के विविध रूप से भेद पुद्गल के नाम से किए गए हैं भी देखें। तत्वार्थ० 5 23

जैन मत मे पुद्गल का सामान्य अर्थ जड परमाणु पदार्थ है, किन्तु भगवती मे (8 3 20 2) पुद्गल शब्द जीव के अर्थ मे भी प्रयुक्त है।

पृ०6 प०4 **सशरीर आत्मा**—इस अवतरण का छादोग्य उपनिषद् मे जो पाठ है वह सम्पूर्ण सन्दर्भ सहित यह है—"मघवन्मर्त्यं वा इद शरीरमात्त मृत्युना तदस्याशरीरस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीर प्रियाभ्या न वै सशरीरस्य सत प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीर वाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत ।" 8 12 1

इसमे 'वाव सन्त' यह पदच्छेद आचार्य जिनभद्र के सम्मुख भी था। गाथा 2020 देखे। इस अवतरण के जिनभद्र सम्मत अर्थ के लिए गा० 2015–2023 देखे। आचार्य शकर

को इस अवतरण का वही अर्थ मान्य है जो प्रस्तुत मे किया गया है। उनका कथन है कि धर्म तथा अधर्मकृत सुख और दुःख ससारी जीव के होते है किन्तु मुक्त के नही। मुक्त को निरतिशय सुख (आनन्द) की प्राप्ति होती है। नैयायिको को भी इस अवतरण का यही अर्थ इष्ट है—न्यायमञ्जरी पृ० 509

पृ०6 प०7 स्वर्ग का इच्छुक—इसका मूल मुद्रित प्रति के अनुसार मैत्रायणी उपनिषद् मे नही किन्तु मैत्रायणी सहिता (1.8 7) मे है। प्रस्तुत मे 'उपनिषद् महावाक्य कोष' के आधार पर उल्लेख किया गया है। यह वाक्य तैत्तिरीय ब्राह्मण मे भी है—2.1, तथा तैत्तिरीय सहिता मे भी—1.5.9 1.

पृ०6 प०7 अग्निहोत्र—एक प्रकार का यज्ञ।

पृ०6 प०8. आत्मा अकर्ता—साख्य-सम्मत पुरुष-निरूपण के लिए साख्यका० 17-19 देखें।

पृ०7 प०6 जीव प्रत्यक्ष है—जीव तथा ज्ञान का अभेद मान कर यहाँ जीव को प्रत्यक्ष कहा है, क्योंकि ज्ञान प्रत्यक्ष है। इस विषय मे दार्शनिको के विविध मत है।

नैयायिक-वैशेषिक ज्ञान और जीव का भेद मानते है। उनके मतानुसार ज्ञान का प्रत्यक्ष होने पर भी आत्मा का प्रत्यक्ष नही हो सकता। साख्ययोग मत मे भी ज्ञान और पुरुष का भेद है, अर्थात् यह सम्भव है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष होने पर भी पुरुष अप्रत्यक्ष रहे। वेदान्त मे आत्मा को चिन्मय अर्थात् विज्ञानमय माना गया है, अत विज्ञान का प्रत्यक्ष यही आत्मा का भी प्रत्यक्ष है। गुण-गुणी का भेद मान कर भी न्यायमजरीकार जयन्त ने आत्म-प्रत्यक्ष सिद्ध किया है—न्यायमजरी पृ० 433

ज्ञान के प्रत्यक्ष के विषय मे भी दार्शनिको मे ऐकमत्य नही है। जैन, बौद्ध, प्रभाकर, वेदान्त-दर्शन ज्ञान को स्वप्रकाश (स्वसविदित) स्वप्रत्यक्ष मानते हैं, अर्थात् उनकी मान्यतानुसार ज्ञान स्वयमेव अपना प्रत्यक्ष करता है, ज्ञान का ज्ञान करने के लिए अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नही है। इसके विपरीत नैयायिक-वैशेषिक ज्ञान को स्वप्रत्यक्ष नही मानते, किन्तु एक ज्ञान का दूसरे ज्ञान से प्रत्यक्ष मानते है। साख्ययोग मत मे पुरुष द्वारा सभी बुद्धिवृत्तियाँ प्रतिभासित होती है। किन्तु कुमारिल और उसके अनुयायी तो ज्ञान को परोक्ष ही मानते है, अर्थात् वे अनुमान व अर्थापत्ति से ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। उनके मत मे ज्ञान का प्रत्यक्ष है ही नही। इस विषय मे विशेष विवरण के लिये देखें—प्रमाणमीमासा टि० पृ० 13

पृ०7 प०10 स्वसवेदन—स्व का ज्ञान स्वयमेव ही करना स्वसवेदन है। यह भी प्रत्यक्ष ज्ञान का ही एक प्रकार है।

पृ०7 प०10 स्वसंविदित—जिसका ज्ञान स्वयमेव हुआ हो वह स्वसविदित है।

पृ०7 प०15 प्रत्यक्षेतर—प्रत्यक्ष से इतर अर्थात् भिन्न अनुमानादि।

पृ०7 प०24 बाधक—किसी भी वस्तु के विरोध मे जो प्रमाण उपस्थित किया जाता है उसे बाधक प्रमाण कहते है।

पृ०8 प०12 **अहंप्रत्यय**--अहप्रत्यय द्वारा आत्मा की सिद्धि करने की पद्धति अति-प्राचीन है। न्याय-भाष्य (3 1 15) मे भी त्रैकालिक अहप्रत्यय के प्रतिसधान के आधार पर आचार्य जिनभद्र के समान ही आत्म-सिद्धि की गई है। प्रशस्तपाद भाष्य (पृ० 360) मे तथा न्याय-मजरी (पृ० 429) मे भी अहप्रत्यय को आत्म-विषयक बताया गया है। न्यायवार्तिक (पृ० 341) मे तो अहप्रत्यय को प्रत्यक्ष कहा है।

पृ०8 प०15 **अहप्रत्यय देह विषयक नहीं है**—इसके लिए न्यायसूत्र की आत्म-परीक्षा (3 1 1.) तथा प्रशस्तपाद भाष्य का आत्म-प्रकरण (पृ० 360) देखें। विशेष के लिए आत्म-तत्वविवेक (पृ० 366) तथा न्यायावतारवार्तिक की तुलनात्मक टिप्पणी पृ० 206—208 देखें।

पृ०8 प०21 **संशयकर्ता जीव ही है**—आचार्य जिनभद्र की इन गाथाओ मे दी गई युक्तियो के साथ आचार्य शकर की उक्ति की तुलना करने योग्य है। आचार्य शकर ने कहा है कि, सभी लोगो को आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति है, 'मैं नही हूँ' ऐसी प्रतीति किसी को नही होती। यदि लोगो को अपना अस्तित्व अज्ञात हो तो उन्हे यह प्रतीति होनी चाहिए कि 'मैं नही हूँ'—ब्रह्मसूत्र शकर-भाष्य 1 1 1

पृ०9 प०4 **अननुरूप**—इस युक्ति के साथ न्यायसूत्र (3 2 54) की युक्ति की तुलना करने योग्य है। उसमे कहा है कि, शरीर के गुणो मे तथा आत्मा के गुणो मे वैधर्म्य है।

पृ०9 प०4 **गुण-गुणी भाव**—यह इस का गुण है और यह इसका गुणी है, ऐसी व्यवस्था।

पृ०9 प०13 **पक्ष**—साध्य—जिसे सिद्ध करना हो उस धर्म से जो विशिष्ट हो उसे पक्ष कहते हैं। अथवा उस साध्य को भी पक्ष कहते है। उसकी प्रतीति पहले से ही नही होनी चाहिए, अर्थात् वह पहले से ही ज्ञात न होना चाहिए। दूसरे शब्दो मे जिस विषय मे सन्देह विपरीत ज्ञान अथवा अनध्यवसाय हो वह साध्य बनता है। जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से बाधित न हो, वही साध्य हो सकता है। पुनः जो हमे अनिष्ट हो, वह भी साध्य नही हो सकता। देखे **--प्रमाणनयतत्वालोक** 3 14-17

पृ०9 प०13 **पक्षाभास—**पक्ष के उक्त लक्षण से जो विपरीत हो उसे पक्षाभास कहते हैं। विशेष विवरण के लिये देखें—प्रमाणमीमासा भा० टि० पृ० 88

पृ०9 प०26. **स्वाभ्युपगम**—जो हमे स्वीकार हो।

पृ०10 प०7 **विपक्षवृत्ति**—जिसका साध्य मे अभाव हो उसे विपक्ष कहते हैं। उसमे जो हेतु हो वह विपक्षवृत्ति कहलाता है।

पृ०10 प०11 **गुणो के प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष**—प्रशस्तपाद (पृ० 553) ने बुद्धि (सुखादि आत्म) गुणो का प्रत्यक्ष आत्मा और मन के सन्निकर्ष से माना है। किन्तु जिसके गुण प्रत्यक्ष हो और वह वस्तु भी प्रत्यक्ष हो यह नियम प्रशस्तपाद को मान्य नही है। कारण यह है कि उसके मतानुसार आकाश का गुण शब्द और वायु का गुण स्पर्श प्रत्यक्ष होने पर भी आकाश व वायु अप्रत्यक्ष हैं—(पृ० 508, 249), अत आचार्य जिनभद्र ने गुणगुणी के भेदाभेद की चर्चा की है और अपना मन्तव्य सिद्ध किया है।

पृ॰10 प॰23 शब्द पौद्गलिक है—न्याय-वैशेषिक मत मे शब्द यह नित्य आकाश का गुण है। किन्तु साख्य के मत मे शब्द (तन्मात्रा) से आकाश नामक भूत उत्पन्न होता है और उसका गुण शब्द है। वैयाकरण भर्तृहरि के मत मे शब्द ब्रह्म है और यह विश्व उसी का प्रपच है—वाक्यपदीय 1.1। मीमासक वर्ण को शब्द मानते है और उसकी अनेक अवस्थाए स्वीकार करते हैं (शास्त्रदी॰ पृ॰261,263)। वे उसे नित्य भी मानते हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान् शब्द को अनित्य मानते हैं। मीमासक मत मे शब्द द्रव्य होकर भी पौद्गलिक नही है, जबकि जैन मतानुसार वह पौद्गलिक है। मीमासक मत मे शब्द व्यापक है, किन्तु जैनमतानुसार शब्द लोक मे सर्वत्र गमन की शक्ति वाला है।

पृ॰10 प॰19 गुण-गुणी का भेदाभेद—न्याय-वैशेषिक गुण-गुणी का भेद स्वीकार करते है। बौद्ध मत मे गुणी (द्रव्य) जैसा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है, केवल गुणो की सत्ता है। जैन व मीमासक गुण-गुणी का भेदाभेद मानते हैं। साख्यमत मे दोनो का अभेद है।

पृ॰11 प॰18 गुण कभी भी गुणी के बिना नहीं होते—यह युक्ति प्रशस्तपाद ने भी दी है (पृ॰ 360)। सुख-दुःखादि गुण है, अत गुणी का अनुमान करना चाहिए। वे शरीर और इन्द्रियो के गुण तो है नही, अत आत्म-द्रव्य मानना चाहिए। इसी प्रकार न्यायसूत्र मे भी पारिशेष्य से आत्मसिद्धि की गई है (3 2.40), न्यायभाष्य भी देखे 1 1.5

पृ॰11 प॰26 गाथा 1561—इस गाथा का पूर्वपक्ष न्यायसूत्र मे भी है। न्यायसूत्र 3 2 47 से।

पृ॰11 प॰32 गाथा 1562—गाथागत युक्ति प्रशस्तपाद (पृ॰ 360) मे है।

पृ॰12 प॰18 गाथा 1563—आ॰ जिनभद्र ने निर्युक्ति का अनुसरण कर जिस प्रकार वाद का उपक्रम किया है तदनुसार इस गाथा मे दी गई युक्ति ठीक है।

पृ॰13 प॰5 गाथा 1564—प्रशस्तपाद ने भी यह युक्ति दी है (पृ॰ 360)। विशेष के लिये देखें—व्योमवती पृ॰ 404

पृ॰13 प॰26 गाथा 1567—ऐसी ही युक्तियो के लिए देखें—प्रशस्तपाद पृ॰360, व्योमवती पृ॰ 391

पृ॰14 प॰ 6 आत्मा को केवल जैन ही ससारी अवस्था मे कथचित् मूर्त मानते है।

पृ॰14 प॰27 ईश्वर—न्याय-वैशेषिक ईश्वर को जगत्कर्ता के रूप मे मानते है। जैनो के समान बौद्ध, साख्ययोग तथा मीमासक ईश्वर को जगत्कर्ता नही मानते। ईश्वरकर्तृत्व सिद्धि के लिए न्यायवार्तिक 457, आत्मतत्वविवेक 377 देखें, निराकरण के लिए मीमासा श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेप परिहार 42 से, तत्वसग्रह 46 से, आप्तपरीक्षा करिका 8, अष्टसहस्री पृ॰ 268, स्यादवादरत्नाकर पृ॰ 406 देखें। वेदान्त मे आचार्य शकर ने ईश्वर को जगत् का अधिष्ठाता और उपादानकारण रूप सिद्ध किया है। ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य 2.2.37-41

पृ॰15 प॰9 गाथा 1571–72—न्यायवार्तिक (3 1 1) मे भी ऐसी युक्तियाँ है पृ॰ 306.

पृ॰ 15प॰31 विपर्यय—जो वस्तु जिस रूप मे न हो, उसमे उस रूप का ज्ञान करना।

पृ०16 पं०7 **प्रतिपक्षी**—विरोधी।

पृ०16 प०28 **खर-विषाण नहीं है**—इसी बात को शश-विषाण के उदाहरण द्वारा न्यायवार्तिक (पृ० 340) मे कहा गया है।

पृ०17 प०12 **समवाय**— गुण-गुणी का, द्रव्य-कर्म का द्रव्य-सामान्य का, द्रव्य-विशेष का जो सम्बन्ध है, उसे नैयायिक समवाय कहते है।

पृ०19 प०2 गाथा 1575—व्योमवती पृ०407—'अहशब्दो बाह्यबाधितैं–(शब्दोह्यबाधितैं) कपदत्वादवश्य वाच्यमपेक्षते।"—न्यायवार्तिक पृ० 337, तत्वसग्रह पृ० ˄1.

पृ०20 प०11 गाथा 1578 आप्त वचन की प्रमाणता के लिए न्यायवार्तिककार ने तीन कारण बताए हैं—1 वस्तु का साक्षात्कार, 2. भूतदया, 3 जैसा ज्ञान किया हो वैसा ही कथन करने की इच्छा—न्यायवा० 2.1.69.

पृ०20 प०22 **उपयोग लक्षण**—ज्ञान तथा दर्शन को उपयोग कहते है, वे जिसके लक्षण हो उसे उपयोगलक्षण कहा जाता है।

पृ०21 प०2. **विकल्पशून्य**—भेदरहित।

पृ०21 प०5. **जिसका मूल**—यहाँ वटवृक्ष के साथ ससार की तुलना करके रूपक का वर्णन किया है। जैसे वटवृक्षो के मूल ऊँचे होते हैं और वे जमीन की ओर नीचे फैलते है, वैसे ही ससार भी एक ही ईश्वर का प्रपच है। वह ईश्वर ऊपर है अर्थात् उच्चदशा मे है, किन्तु उससे उत्पन्न होने वाले जीव निम्न अर्थात् पतितावस्था मे है।

पृ०21 प०6. **छन्द**—वेद को छन्द कहते हैं।

पृ०21 प०9 **जो कांपता है**—शकराचार्य की व्याख्या के अनुसार आत्मा व्यापक हैं, अत उसमे कम्पन या चलन घटित नही होता, फलत वह स्वतः अचल होकर भी चलित के समान प्रतीत होता है, इसका यह अर्थ समझना चाहिए। दूर का अर्थ देशकृत दूर नहीं है, किन्तु अविद्वान् पुरुष के लिए करोडो वर्षो तक उसकी प्राप्ति सम्भव नही है, इस अर्थ मे दूर का प्रयोग समझना चाहिए। विद्वान् पुरुष के लिए आत्मा निकट है, क्योकि उसे वह साक्षात् दिखाई देती है। नाम-रूपात्मक जगत् मर्यादित है, किन्तु आत्मा व्यापक है, अत. वह उस के भी बाहर है। तथा आत्मा निरतिशयरूपेण सूक्ष्म होने के कारण सभी वस्तुओ के अन्तर मे है।

पृ०21 प०13 **जीव अनेक है**—'आत्मा अनेक हैं' यह मत न्याय-वैशेपिक, साख्य-योग, मीमासक, जैन तथा बौद्धो का है। इससे विपरीत शाकर-वेदान्त आत्मा को एक मानता है।

पृ०22 प०6 **गाथा** 1582 आत्मा अनेक है, इस विषय की युक्तियाँ साख्यकारिका 18 मे देखें।

पृ०23 प०14 **जीव सर्वव्यापी नहीं है**—उपनिषदो मे आत्मा के परिमाण के विषय मे भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं—कौषीतकी उपनिषद् मे आत्मा को शरीरव्यापी वर्णित किया गया

है। उसमे बताया गया है कि जैसे तलवार अपनी म्यान मे व्याप्त है वैसे ही प्रज्ञात्मा शरीर मे नख और रोम पर्यन्त व्याप्त है (4 20)। बृहदारण्यक के अनुसार आत्मा चाँवल अथवा यव के कण जितनी है—5.6 1। विविध उपनिषदो मे आत्मा को अँगुष्ठ प्रमाण बताया गया है—कठोप 2.2.12; श्वेता० 3 13 5 8–9, किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् मे उसे बालिस्त जितनी बतायी गयी है। अनेक बार आत्मा को उपनिषदो मे व्यापक रूप मे प्रतिपादित किया गया है–मुण्डको० 1 1 6। इस प्रकार के विरोधी मन्तव्य सन्मुख उपस्थित होने के कारण कुछ ऋषि तो उक्त सभी परिमाण वाली आत्मा का ध्यान करने की प्रेरणा करते है और कुछ उसे अणु से भी अणु तथा महान् से भी महान् मानने की बात करते हैं—मैत्र्युपनिषद् 6 38, कठो० 1 2 20, छान्दो० 3 14 3। न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग, मीमासा ये सभी दर्शन तथा शकराचार्य आत्मा को व्यापक मानते हैं। इसके विपरीत जैन तथा रामानुजादि वेदान्त के अन्य आचार्य जीव को क्रमश देह-परिमाण तथा अणु-परिमाण मानते है।

पृ०23 प०16. उपलब्धि—ज्ञान द्वारा प्राप्ति अथवा ग्रहण।

पृ०24 प०24 गाथा 1593–96 उपनिषद् के वाक्य का यहाँ जो अर्थ किया गया है वह बौद्ध प्रक्रिया का अनुसरण करके किया गया है। जैन द्रव्य-पर्याय उभयवादी हैं, अत वे इस प्रक्रिया को पर्यायाश्रित घटित कर लेते है। इस प्रकार जैन वाक्य का युक्त अर्थ करने का प्रयत्न करते हैं।

पृ०26 प०19 अन्वय-व्यतिरेक—किसी एक वस्तु की सत्ता के आधार पर अन्य वस्तु की सत्ता हो तो कहा जाता है कि वहाँ अन्वय है, तथा एक वस्तु की सत्ता के अभाव मे अन्य वस्तु की असत्ता हो तो वहाँ व्यतिरेक माना जाता है।

पृ०26 प०21. विज्ञान भूत-धर्म नहीं—चार्वाक की मान्यता है कि विज्ञान भूत-धर्म है। बौद्धो ने इसका खण्डन किया है—प्रमाण-वार्तिक अ० पृ० 67–112, देखे—न्यायावतार वा० टि० पृ० 206 विशेषत द्रष्टव्य है।

पृ०27 प०3 अस्तमिते आदित्ये—यह वाक्य बृहदा० 4 3 6 मे है।

पृ०27 प०22. पद का क्या अर्थ है—इसकी चर्चा के लिए न्यायसूत्र 2 2 60 मे। देखे—न्यायमजरी पृ० 297

कोई पद का अर्थ व्यक्ति, कोई जाति तथा कोई आकृति मानता था। इन तीनो पक्षो का निरास कर न्यायसूत्र मे गौणमुख्य भाव से इन तीनो को पद का वाच्यार्थ माना गया है। मीमासको ने आकृति और जाति को एक ही मानकर जाति को पदार्थ माना है किन्तु बौद्धो ने अन्यापोह (अन्यव्यावृत्ति) को शब्दार्थ माना है। जैन मत मे वस्तु सामान्य विशेषात्मक होने से वही वाच्य है।

इस गाथा मे जो तीन विकल्प किए गए है वे शब्द-ब्रह्मवादी वैयाकरण, विज्ञानाद्वैत-वादी योगाचार बौद्ध तथा अन्य वस्तुवादी दार्शनिको की अपेक्षा से किए गए प्रतीत होते है। कारण यह है कि शब्दब्रह्मवादी के मत मे बाह्य विश्व भी शब्द का ही प्रपञ्च होने से शब्दात्मक है। अत शब्द का अर्थ शब्द ही होता है। विज्ञानाद्वैतवादी के मत मे आन्तर-बाह्य सब कुछ

विज्ञान ही है, अत उनके अनुसार विज्ञान ही शब्दार्थ बनता है तथा मीमासकादि अन्य वस्तुवादी दार्शनिको के मत मे वस्तुए ही शब्दार्थ बनती हैं। पदो के दो भेद किए जाते है—नाम पद तथा आख्यात पद। नाम पद के चार भेद हैं—जातिशब्द, गुणशब्द, द्रव्यशब्द, क्रिया-शब्द। इन भेदो को ध्यान मे रख कर प्रस्तुत मे शब्द का अर्थ जाति, द्रव्य, क्रिया अथवा गुण है, ये विकल्प किए गए है—न्यायमजरी पृ० 297

(२)

पृ०29 प०2 **कर्म के अस्तित्व की चर्चा**—कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया होता है, किन्तु यहाँ इस विषय की चर्चा नही है। कारण यह है कि क्रिया तो सबको प्रत्यक्ष है। किन्तु इस क्रिया के कारण आत्मा मे वासना, सस्कार अथवा पौद्गलिक कर्म के नाम से विख्यात जिस पदार्थ का ससर्ग होता है, उसके सम्बन्ध मे अग्निभूति को सशय है। वह पदार्थ अतीन्द्रिय है, अत उसकी सत्ता के विषय मे सन्देह का अवकाश भी है।

भारतीय दर्शनो मे केवल चार्वाक ने कर्म का अस्तित्व स्वीकार नही किया, शेष सभी दर्शनो मे वह स्वीकृत है। अत यह समझ लेना चाहिए कि यहाँ अग्निभूति द्वारा उपस्थित की गई शका चार्वाक मत के अनुसार है।

पृ०30 प०2 **पुरुष**—इस वाक्य का तात्पर्य पहले कहा जा चुका है। उसके अनुसार ससार मे केवल पुरुष ही है, उससे भिन्न कोई भी वस्तु नही है, अत कर्म के अस्तित्व का भी अवकाश नही रहता। इससे यदि वेद के अन्य वाक्यो के आधार पर कर्म का अस्तित्व सूचित होता हो तो कर्म के सम्बन्ध मे सन्देह होना स्वाभाविक है।

पृ०30 प०12 **कर्म का फल**—जयन्त ने कर्म की सिद्धि के लिए जो युक्तियाँ दी है वे यहाँ उद्धृत की जाती है—

तथा च केचिज्जायन्ते लोभमात्रपरायणा ।
द्रव्यसग्रहणैकाग्रमनसो मूषिकादय ॥
मनोभवमया केचित् सन्ति पारावतादय ।
कूजत्प्रियतमा चञ्चुचुम्बनासक्तचेतसः ॥
केचित् क्रोधप्रधानाश्च भवन्ति भुजगादय ।
ज्वलद्विषानलज्वालाजालपल्लविताननाः ॥
जगतो यच्च वैचित्र्य सुखदु खादिभेदत ।
कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदय ॥
अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित् ।
क्वचित् फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित् ॥
तदेतद् दुर्घट दृष्टात् कारणात् व्यभिचारिण ।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किंचन कारणम् ॥

अदृष्टो भूतधर्मस्तु जगद्वैचित्र्यकारणम् ।
यदि कश्चिदुपेयेत को दोष कर्मकल्पने ॥
संज्ञामात्रे विवादश्च तथा सत्यावयोर्भवेत् ।
भूतवद् भूतधर्मस्य न चादृश्यत्वसम्भव. ॥
दृष्टश्च साध्वीसुतयोर्यमयोस्तुल्यजन्मनो. ।
विशेषो वीर्यविज्ञानसौभाग्यारोग्यसम्पदाम् ॥
स्वाभाविकत्वं कार्याणामधुनैव निराकृतम् ।
तस्मात् कर्मभ्य एवैष विचित्रजगदुद्भव. ॥

—न्यायमजरी पृ० 48 ।

पृ०32 प०6 **अन्तराल गति**—मृतजीव को जब तक नए शरीर की प्राप्ति न हुई हो तब तक की गति को 'अन्तराल गति' कहते हैं। स्थूल शरीर मृत्यु के समय ही अलग हो जाता है, अत· उस समय जीव कार्मण शरीर अथवा आत्म-सम्बद्ध कर्म की सहायता से गति करता है। बौद्ध कार्मण शरीर को 'अन्तराभव शरीर' कहते हैं, वह भी जैनो के समान मूर्त है—प्रमाणवार्तिक 1.85 (मनोरथ)।

पृ०32 पं०20. **योग**—अर्थात् व्यापार वह तीन प्रकार का है—मन से, वचन से, शरीर से। यहाँ कार्मण नामक शरीर का व्यापार विवक्षित है।

पृ०35 प०10 **न चाहने पर भी अदृष्ट फल**—गीता मे फल की आसक्ति छोडने की जो बात कही है उसका तात्पर्य भी यही है कि इन्द्रियो का जो सुखादि रूप फल है उसकी आसक्ति नही रखनी चाहिए। किन्तु जो दानादि हमारे कर्त्तव्य हैं उनका आचरण अनासक्त भाव से यदि कोई करे तो उसे उसका फल मोक्ष सुख मिलता ही है।

गीता के मतानुसार ब्राह्मण आदि जातियों के कर्त्तव्य स्वाभाविक माने गए हैं; (18 42)। जिस जाति का जो स्वाभाविक कर्त्तव्य है उसे उस कर्त्तव्य को छोडना नही चाहिए। किन्तु जैन दृष्टि से जातिगत स्वाभाविक कर्त्तव्य कोई नही है। सदनुष्ठानो की जो भी सूची है, वह सर्वसाधारण है। गीता ने ब्राह्मणो के शम आदि जो कर्त्तव्य गिनाए हैं उनका आचरण शूद्र भी कर सकते हैं और उससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, यह जैन मान्यता है।

पृ 36 पं 29 **कर्म मूर्त है**—यहाँ मूर्त का अर्थ है रूप, रसादि से युक्त। इसी प्रकार की युक्तियो के लिए देखें—अष्टसहस्री का० 98.

पृ० 37 प० 2. **उपादान कारण**—घट मिट्टी मे उत्पन्न होता है, अत मिट्टी घडे का कारण है। इसी प्रकार कुम्हार घट को दण्ड, चक्रादि द्वारा उत्पन्न करता है, अत· दण्डादि भी घट के कारण हैं। इन दोनों प्रकार के कारणो का अन्तर बताने के लिए मिट्टी को उपादान कारण कहते हैं तथा दण्डादि को निमित्त कारण। कार्य निष्पत्ति किसी एक मे न होकर दोनों मे होती है।

पृ० 40 पं० 9 **धर्म-अधर्म**—अग्निभूति ने नैयायिक-वैशेपिक, साख्य-योग की परिभापा का उपयोग कर यह पूर्वपक्ष रखा है। कारण यह है कि वे शुभाशुभ कर्म को धर्म-अधर्म की सज्ञा देते हैं।

पृ० 42 प० 16 **ईश्वरादि कारण नहीं**—इसके विस्तारार्थ के लिये देखें स्याद्वाद-मजरी का० 6.

पृ० 44 प० 4 **स्वभाववाद**—वस्तु के स्वभाव को ही कार्य-निष्पत्ति मे कारण मानना स्वभाववाद है। यह वाद अत्यन्त प्राचीन है। उपनिपदो मे भी इसका उल्लेख है। इसी वाद का आश्रय ले कर गीता मे जाति-भेद के आधार पर कर्त्तव्य-भेदो का प्रतिपादन किया गया है (18 41)। अन्त मे यह भी सूचित किया है कि—

"यदहकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैप व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वा नियोक्ष्यति ॥१८।५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय[1] निबद्ध स्वेन कर्मणा।
कर्तु नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।" १८।६०॥

गीता मे इस स्वभाववाद का समर्थन अन्य अनेक स्थलो मे भी है—
कार्यते ह्यवश. कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणै ।३।५।
सदृश चेष्टते स्वस्याः प्रकृते ज्ञानवानपि।
प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रह॰ किं करिष्यति ॥३।३३॥
न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु।
न कर्मफलसंयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ।५।१४।

पृ० 47 प० 1. **विधिवाद**—'विधिर्विधायक' न्यायसूत्र 2.1 63

पृ० 47 प० 2 **अर्थवाद**—'स्तुतिर्निन्दा परकृति पुराकल्प इत्यर्थवाद' न्यायसूत्र 2 1 64.

पृ० 47 प० 4 **अनुवाद**—'विधिविहितस्यानुवचनमनुवाद' न्यायसूत्र 2.1 65.

(३)

पृ०49 प०2 **जीव-शरीर**—जीव और शरीर एक ही हैं, यह वाद भी चार्वाको का ही है। प्राचीन ग्रन्थो मे इस वाद का उल्लेख 'तज्जीव तच्छरीरवाद' के नाम से उपलब्ध होता है। इस वाद मे चार्वाको का यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है कि, शरीर भूत-निष्पन्न है, अतः चेतना भी भूतो के समुदाय से निष्पन्न होती है। यहाँ यह सिद्ध किया गया है कि भूत चैतन्य का उपादान कारण नही है किन्तु आत्मा (चेतन) यह एक स्वतन्त्र तत्व है तथा चैतन्य उसका धर्म है।

पृ०49 प० 17 **समवसरण**—भगवान् की व्याख्यान-सभा को समवसरण कहते है। ऐसा माना जाता है कि उसमे देव भी उपस्थित रहते थे।

पृ० 49 प० 24 गाथा 1650 —इसका मूल चार्वाक के इस सूत्र मे है कि 'पृथ्वी-अप्-तेजो-वायुरिति तत्वानि । तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसज्ञा ।' यह सूत्र चार्वाको के 'तत्वोपप्लवसिंह' नामक ग्रन्थ मे है (पृ० 1) । न्यायकुमुदचन्द्र पृ० 341 देखें । चार्वाको का सूत्र-ग्रन्थ मे यह सूत्र भी उपलब्ध होता है कि 'तेभ्यश्चैतन्यम्' न्यायकुमुदचन्द्र पृ० 342 देखें ।

चार्वाको के इस मत के निरास के लिए निम्न ग्रन्थ देखे—न्यायसूत्र 301 से; न्यायमजरी पृ० 437, व्योमवती 391, श्लोकवार्तिक—आत्मवाद; प्रमाणवार्तिक 1 37 से; तत्वसग्रह कारिका 1857–1964; ब्रह्मसूत्र शाकर-भाष्य 3 3 53, धर्म सग्रहणी गा० 36 से; अस्टसहस्री पृ० 63; तत्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ० 26, प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० 110; न्यायकुमुदचन्द्र पृ० 341, स्याद्वादरत्नाकर पृ० 1080, न्यायावतारवार्तिक वृत्ति पृ० 45 ।

गाथागत मद्याग से मद का उदाहरण भी चार्वाक के सूत्र मे दिया हुआ है 'मदशक्तिवद् विज्ञानम्' यह सूत्राश न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० 342) मे उद्धृत है, किन्तु शाकर भाष्य मे (3 3 53) यह सूत्र अपने पूरे रूप मे इस प्रकार है—"तेभ्यश्चैतन्य मदशक्तिवद् विज्ञान चैतन्यविशिष्ट काय पुरुष.' इस युक्ति का खण्डन आचार्य समन्तभद्र ने भी किया है—युक्त्यनुशासन 35 ।

पृ०53 प०10 गाथा 1657–60 यही युक्ति प्रशस्तपाद ने (पृ० 360) भी दी है। अपि च न्यायसूत्र 3 1 1–3 देखें ।

पृ० 55 प० 6 गाथा 1661—इसके साथ न्यायसूत्र 3 1.19 की तुलना करें ।

पृ० 55 पं० 18 प्रतिज्ञा—जिस वाक्य मे स्वेष्ट साध्य का निर्देश हो उसे प्रतिज्ञा कहते है । प्रतिज्ञा असिद्ध होती है, अत उसका अश भी असिद्ध होता है । अतएव जो प्रतिज्ञा का अश हो उसे हेतु नही बनाया जा सकता । कारण यह है कि हेतु असिद्ध होता है। वायुभूति का यहाँ यही आशय है ।

पृ० 55 प० 30 आगम—तुलना करें–योगदर्शन कारिका 101.

पृ० 56 पं० 3 गाथा 1662—इस युक्ति के लिए देखें न्यायसूत्र 3.1.22.

पृ० 56 प० 29. गाथा 1663—न्यायभाष्य 3 1 25.

पृ० 59 प० 1 विज्ञान क्षण के संस्कार—इसके लिए देखे—

प्रतिक्षणविनाशे हि भावाना भावसन्तते ।
तथोत्पत्ते. सहेतुत्वादाश्रयोऽयुक्तमन्यथा ।।प्रमाणवार्तिक १ ६९

बौद्धों का निम्न श्लोक सर्वत्र प्रसिद्ध है—

यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना ।
फल तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा ।।

विशेष विवरण के लिये देखें बोधिचर्यावतार पञ्जिका पृ० 472.

पृ० 59 प० 24. एक ज्ञान—बौद्धो के इस सिद्धान्त का मूल इस कारिका मे है—

'विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वय यथा ।
एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वय तथा ॥

सर्वार्थ सिद्धि (1 12) मे उद्धृत है ।

पृ०59 प० 24 'क्षणिका' —क्षणिका' सर्वसस्कारा अस्थिराणा कुत. क्रिया ।
भूतिर्येषा क्रिया सैव कारक सैव चोच्यते ॥
—बोधिचर्यावतार पजिका मे उद्धृत पृ० 376.

पृ० 60 प० 31. प्रसिद्ध धर्मी—अनुमान की प्रतिज्ञा का आकार यह है—'पर्वत धूम वाला है' । इसमे जो पर्वत है उसे पक्ष या धर्मी कहते हैं । कारण यह है कि उसमे वह्नि रूप धर्म को सिद्ध करना है । इसमे वह्नि रूप धर्म अप्रसिद्ध होता है, अत वह साध्य बनता है, किन्तु पर्वत तो प्रसिद्ध ही होना चाहिए । इसीलिए कहा जाता है कि पक्ष प्रसिद्ध धर्मी होता है ।

पृ० 63 प० 3. क्षयोपशम—कर्म का क्षय और उपशम होना 'क्षयोपशम' है । अर्थात् कर्म के अमुक अश का प्रदेशोदय द्वारा क्षय हो तथा जो कर्म सत्ता मे हो उसके उदय को रोका जाए अर्थात् उपशम किया जाए ।

पृ० 63 प 16 गाथा 1682—तुलना—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥
साख्यकारिका 7

(४)

पृ० 67 प० 1 गणधर व्यक्त—दिगम्बर परम्परा मे शुचिदत्त नाम भी उपलब्ध होता है—हरिवशपुराण 3.42

पृ० 67 प० 2 शून्यवाद—यह चर्चा वेद-वाक्य का आधार ले कर शुरू की गई है किन्तु सारी चर्चा मे पूर्व पक्ष के रूप मे माध्यमिक बौद्धो की युक्तियो का प्रयोग किया गया है । बौद्ध जब 'शून्य' शब्द का प्रयोग करते है तब उसका अर्थ 'सर्वथा अभाव' नही समझना चाहिए, किन्तु सभी वस्तुएँ स्वभाव-शून्य हैं अर्थात् किसी भी वस्तु मे उसकी आत्मा नही (द्रव्य नही) यही अर्थ समझना चाहिए । आनन्द ने भगवान् बुद्ध से पूछा कि, आप बार-बार यह कहते हैं कि लोक शून्य है, इस शून्य का अर्थ क्या समझना चाहिए ? इसके उत्तर मे भगवान् बुद्ध ने कहा कि—

"यस्मा च खो आनन्द सुञ्ञ अत्तेन वा अत्तनियेन वा तस्मा सुञ्ञो लोको ति वुच्चति । किं च आनन्द सुञ्ञ अत्तेन वा अत्तनियेन वा ? चक्खु खो आनन्द सुञ्ञ अत्तेन वा अत्तनियेन वा. रूप रूप—विञ्ञाण ।"—इत्यादि संयुक्तनिकाय 35.85

साराश यह है कि आँख आदि इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियों के विषय रूपादि तथा उनसे होने वाले विज्ञान और अन्य सब पदार्थों मे उनकी आत्मा जैसी या आत्मीय (स्वभाव) जैसी कोई वस्तु नही है। इसी अर्थ को सन्मुख रख लोक को शून्य कहा गया है। बौद्ध सभी पदार्थों को क्षणिक मानते है, अत उनके अनुसार कोई भी वस्तु निरपेक्ष (स्वभाव) से नही होती, अर्थात् नित्य नही होती। प्रत्येक वस्तु सामग्री से उत्पन्न होने के कारण सापेक्ष है, अर्थात् कृतक है और अनित्य है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व स्वभाव के कारण नही किन्तु उसके उत्पादक कारणो पर आश्रित है। दूसरे शब्दो मे वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है, किसी न किसी कारण की अपेक्षा रख कर उत्पन्न हुई है। बौद्ध 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' को ही 'शून्य' कहते है। जैसे कि—

स यदि स्वभावत स्याद् भावो न स्यात् प्रतीत्यसमुद्भूत ।
यश्च प्रतीत्य भवति ग्राह्रो ननु शून्यता सैव ॥

य शून्यता प्रतीत्यसमुत्पाद मध्यमा प्रतिपदमेकार्थम् ।
निजगाद प्रणमामि त मप्रतिमसम्बुद्धमिति ॥

—विग्रहव्यावर्तनी, बोधिचर्यावतार पृ० 3०6

यहाँ दिए गए शून्यवाद के पूर्वपक्ष का आधार मध्यमकावतार ज्ञात होता है। उपनिषदो मे भी शून्य शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। वहाँ भी उसका अर्थ 'सर्वथा अभाव' घटित नही होता। जैसे कि—

सर्वदा सर्वशून्योऽह सर्वात्मानन्दवानहम् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहमात्माकाशोऽस्मि नित्यदा ।३।२७।।
शून्यात्मा सूक्ष्मरूपात्मा विश्वात्मा विश्वहीनक ।
देवात्मा देवहीनात्मा मेयात्मा मेयवर्जित: ।४।४३।।

तेजोविन्दु उपनिषद्

भावाभावविहीनोऽस्मि भासाहीनोऽस्मि भास्म्यहम् ।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥

मैत्रेय्युपनिषद् 3 5

पृ० 67 प० 12. **स्वप्नोपमम्**—इसके समर्थन के लिए देखें—

दृश्यते जगति यद्यद्यज्जगति वीक्ष्यते ।
वर्तते जगति यद्यत्सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ।।५५।।

इद प्रपञ्च यत्किचिद्यद्यज्जगति विद्यते ।
दृश्यरूपं च दृग्रूप सर्व शशविषाणवत् ।।७५।।

भूमिरापोऽनलो वायु ख मनो वुद्धिरेव च ।
अहकारश्च तेजश्च लोक भुवनमण्डलम् ।।७६।।

तेजोविन्दूपनिषद् अ० 5

पूर्वोक्त अवतरण उपनिषद् मे से है। माध्यमिक कारिका तथा वृत्ति मे भी इसी अर्थ का द्योतक अवतरण है—

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगर यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थान तथा भङ्ग उदाहृत. ।।मूलमाध्यमिक का० 7 34
फेनपिण्डोपम रूप वेदना बुद्बुदोपमा।
मरीचिसदृशी सज्ञा सस्कारा कदलीनिभा॰।
मायोपम च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना ।।माध्यमिक-वृत्ति प० 41

न्यायसूत्र मे इस प्रकार का पूर्वपक्ष भी है—

'स्वप्नविषयाभिमानवदय प्रमाणप्रमेयाभिमान । मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा।' न्यायसूत्र 4 2 31–32

पृ०67 प०26 तुलना—

यथैव गन्धर्वपुर मरीचिका यथैव माया सुपिन यथैव।
स्वभावशून्या तु निमित्तभावना तथोपमान् जानथ सर्वभावान्।।
माध्यमिक-वृत्ति पृ० 178

पृ० 68 प० 10 **सापेक्ष**—इस वाद का पूर्वपक्ष न्यायसूत्र मे भी है और उसका वहाँ निराकरण भी किया है। न्यायसूत्र 4.1.39–40 देखें।

इस वाद का मूल नागार्जुन की निम्न कारिका मे है—

योऽपेक्ष्य सिध्यते भाव तमेवापेक्ष्य सिध्यति।
यदि योऽपेक्षितव्य स सिध्यता कमपेक्ष्य क ।।
योऽपेक्ष्य सिध्यते भाव सोऽसिद्धोऽपेक्षते कथम्।
अथाप्यपेक्षते सिद्धस्त्वपेक्षाऽस्य न विद्यते ।।
मूल माध्यमिक कारिका 10.10 11.

सापेक्ष वस्तु का अभाव उपनिषद् मे भी वर्णित उपलब्ध होता है—

अक्षरोच्चारण नास्ति गुरुशिष्यादि नास्त्यपि।
एकाभावे द्वितीय न द्वितीयेऽपि न चैकता ।।२१।।
बन्धत्वमपि चेन्मोक्षो बन्धाभावे क्व मोक्षता।
मरण यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च ।।२४।।
त्वमित्यपि भवेच्चाह त्व नो चेदहमेव न।
इद यदि तदेवास्ति तदभावादिद न च ।।२५।।
अस्तीति चेन्नास्ति तदा नास्ति चेदस्ति किचन।
कार्यं चेत् कारण किञ्चित् कार्याभावे न कारणम् ।।२६।।
द्वैत यदि तदाद्वैतं द्वैताभावेऽद्वय न च।
दृश्य यदि दृगप्यस्ति दृश्याभावे दृगेव न ।।२७।।
अन्तर्यदि बहि सत्यमन्ताभावे बहिर्न च।
पूर्णत्वमस्ति चेत्किञ्चिदपूर्णत्व प्रसज्यते ।।२८।।

तस्मादेतत्क्वचिन्नास्ति त्वं चाहं वा इमे इदम् ।
नास्ति दृष्टान्तिक सत्ये नास्ति दार्ष्टान्तिक ह्यजे ।।२९।।

इत्यादि विचार तेजोबिन्दूपनिषद् के पाँचवें अध्याय मे मिलते हैं । उसमे निष्प्रपञ्च ब्रह्म की सिद्धि के लिए जिस प्रकार के विचार हैं उसी प्रकार के विचार नागार्जुन के भी हैं । भेद केवल यह है कि एक को ब्रह्म की सिद्धि करनी है और दूसरे को शून्य की ।

पृ० 68 प० 9 ह्रस्व-दीर्घत्व—न्यायवार्तिक मे भी यही उदाहरण है—न्यायवार्तिक 4.1 39.

पृ० 68 प० 10 स्वत —यह नागार्जुन की युक्ति है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्या नाप्यहेतुत. ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन ।।१।१।।
न स्वतो जायते भाव परतो नैव जायते ।
न स्वत परतश्चैव जायते जायते कुत. ।।२१।१३।।मूलमा०

पृ० 71 प० 6 उत्पत्ति—यह चर्चा माध्यमिक वृत्ति 1.4 मे है । तुलना करें—

उत्पद्यमानमुत्पादो यदि चोत्पादयत्ययम् ।
उत्पादयेत् तमुत्पाद उत्पाद. कतम. पुन ।।१८।।
अन्य उत्पादयत्येन यद्युत्पादोऽनवस्थिति. ।
अथानुत्पाद उत्पन्न सर्वमुत्पद्यते तथा ।।१९।।
सतश्च तावदुत्पत्तिरसतश्च न युज्यते ।
न सतश्चासतश्चेति पूर्वमेवोपपादितम् ।।२०।।मूलमा०का० 7

पृ० 71 प० 25 गाथा 1695—तुलना करें—

हेतोश्च प्रत्ययाना च सामग्र्या जायते यदि ।
फलमस्ति च सामग्र्या सामग्र्या जायते कथम् ।१।
हेतोश्च प्रत्ययाना च सामग्र्या जायते यदि ।
फल नास्ति च सामग्र्यां सामग्र्या जायते कथम् ।।२।।
हेतोश्च प्रत्ययाना च सामग्र्यामस्ति चेत् फलम् ।
गृह्यते ननु सामग्र्या सामग्र्या च न गृह्यते ।।३।।
हेतोश्च प्रत्ययाना च सामग्र्या नास्ति चेत् फलम् ।
हेतव. प्रत्ययाश्च स्युरहेतुप्रत्ययै समा ।।४।।मूलमा०का० 20
हेतुप्रत्ययसामग्र्या पृथग्भावेऽपि मद्वचो न यदि ।
ननु शून्यत्व सिद्ध भावानामस्वभावत ।।विग्रहव्यावर्तनी 21

पृ० 74 प० 8 गाथा 1702—इसके साथ न्यायसूत्र 'स्मृतिसकल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमान' (4.2 34) तथा उसके भाष्य की तुलना करने योग्य है ।

पृ० 74 प० 11 गाथा 1703 स्वप्न के विषय मे प्रशस्तपाद पृ० 548 देखें ।

पृ० 75 प० 2 **त्रि अवयव वाला वाक्य**—यहाँ वाक्य का अर्थ अनुमान वाक्य है। उसके तीन अवयव हैं--प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण ।

पृ० 75 प० 3 **पाँच अवयव वाला वाक्य**—उपर्युक्त तीन तथा उपनय और निगमन ये दो और मिला कर पाँच अवयव है—

1. पर्वत मे वह्नि है—इसे प्रतिज्ञा कहते है। अत इसमे साध्य वस्तु का निर्देश किया जाता है।

2 क्योकि उसमे धुआँ है—यह हेतु है। साध्य को सिद्ध करने वाले साधन का निर्देश हेतु कहलाता है। साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति (अविनाभाव) हो वही साधन हो सकता है—अर्थात् जो वस्तु साध्य के अभाव मे कभी भी उपलब्ध न होती हो, जो साध्य के होने पर ही हो, उसे साधन कहते हैं। उसको देख कर अनुमान हो सकता है कि साध्य अवश्य होना चाहिए।

3 जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है—जैसे कि रसोई घर मे। जहाँ अग्नि नही होती वहाँ धुआँ भी नही होता, जैसे कि पानी के कुण्ड मे। इस प्रकार जो व्याप्ति दर्शन का स्थान हो उसे दृष्टान्त कहते हैं। उसका निर्देश करना उदाहरण है। प्रस्तुत मे रसोई घर साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है, क्योकि उसमे अन्वय व्याप्ति अर्थात् साधन के सद्भाव मे साध्य का सद्भाव बताया गया है। कुण्ड वैधर्म्य दृष्टान्त है, क्योकि इसमे व्यतिरेक व्याप्ति अर्थात् साध्य के अभाव के कारण साधन का भी अभाव बताया गया है।

4 पर्वत मे धुआँ है—इस प्रकार पक्ष मे साधन का उपसहार करना उपनय कहलाता है।

5. अत. पर्वत मे अग्नि है—इस प्रकार साध्य का उपसहार निगमन कहलाता है।

पृ० 70 प० 1—**सापेक्ष नहीं**—न्यायसूत्र 4 1 40 देखे।

पृ० 76 प० 23 **सापेक्ष**--आचार्य समन्तभद्र ने इन दोनो एकान्तो का निराकरण किया है कि, सब कुछ सापेक्ष ही है अथवा निरपेक्ष ही है। आप्तमीमासा का० 73-75

पृ० 77 प० 33--**अग्निर्दहति**--पूरा श्लोक यह है--

इदमेव न वेत्येतत् कस्य पर्यनुयोज्यताम्।
अग्निर्दहति नाकाश कोऽत्र पर्यनुयुज्यताम्॥

प्रमाणवार्तिकालकार पृ० 43

पृ० 79 प० 5 **व्यवहार और निश्चय**—आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार और निश्चय का जिस प्रकार पृथक्करण किया है उसके लिए न्यायावतारवार्तिक वृत्ति प्रस्तावना पृ० 139 देखें।

पृ० 84 प० 7 परमाणु—न्यायभाष्य (4 2 16) मे परमाणु को निरवयव कहा है, किन्तु बौद्धो ने इस लक्षण मे त्रुटि बताई है और कहा है—

पट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडशता ।
षण्णा समानदेशत्वात् पिण्ड. स्यादणुमात्रक ॥

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का० 12

इसके उत्तर के लिए व्योमवती पृ० 225 देखें ।

पृ० 84 प० 7 द्व्यणुकादि—दो परमाणुओ के स्कध को द्व्यणुक कहते हैं । किन्तु त्र्यणुक की रचना के विषय मे दार्शनिको मे ऐक्य नही है । कुछ तीन परमाणुओ के स्कध को त्र्यणुक कहते हैं जबकि अन्य दार्शनिको का मत है कि तीन द्व्यणुको से एक त्र्यणुक स्कन्ध बनता है ।

पृ० 84 प० 30 मूर्त.—इससे मिलता हुआ श्लोक वाचक उमास्वाति ने उद्धृत किया है—

कारणमेव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्याश्च भवति परमाणु ।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥तत्त्वार्थ-भाष्य 5 25

पृ० 85 प० 25 अदर्शन अभाव साधक नहीं होता—इस बात का समर्थन आचार्य धर्मकीर्ति ने निम्न शब्दो मे किया है—

"विप्रकृष्टविपयानुपलब्धि· प्रत्यक्षानुमाननिवृत्तिलक्षणा संशयहेतु प्रमाण-निवृत्तावपि अर्थाभावासिद्धेरिति" न्यायबिन्दु पृ० 59—60

पृ० 87 प० 4 सद्हेतु—हेतु सपक्षवृत्ति हो या न हो, अर्थात् वह चाहे सभी पक्षो मे रहे या न रहे, केवल इसी बात से वह सद्हेतु अथवा असद्हेतु नही बन जाता, किन्तु यदि उसकी वृत्ति विपक्ष मे हो तो वह अवश्यमेव असद्हेतु हो जाता है । इसका कारण यह है कि विपक्ष मे साध्य का अभाव होता है । इसलिए यदि साध्य के अभाव वाले स्थान मे भी हेतु विद्यमान हो तो वह साध्य का सद्भाव सिद्ध करने मे कैसे समर्थ हो सकता है ?

पृ० 88 प० 20 वायु का अस्तित्व—वायु-साधक युक्तियो के लिए व्योमवती पृ० 27? देखें ।

पृ० 88 प० 25 आकाश साधक अनुमान—न्याय वैशेषिक इस अनुमान से आकाश की सिद्धि करते हैं कि शब्द गुण-गुणी के बिना सम्भव नही हैं और शब्द पृथ्वी आदि किसी भी द्रव्य का गुण नही हो सकता, अत उसे आकाश का गुण मानना चाहिए—व्योमवती पृ०322 । परन्तु जैन तो शब्द को गुण नही मानते, अत उक्त अनुमान के स्थान मे आचार्य ने यहाँ जैन-सम्मत आकाश के अवगाहदान की योग्यता रूप गुण का उपयोग किया है और कहा है कि पृथ्वी आदि मूर्त द्रव्यो का कोई आधार होना चाहिए, जो आधार है वही द्रव्य आकाश है, इत्यादि ।

पृ० 91 प० 4 शस्त्रोपहत--किस जीव का घात कौन से शस्त्र से होता है, इसके परिचय के लिए आचाराग का प्रथम अध्ययन देखे।

पृ० 92 प०2 पाँच समिति—1. ईर्या समिति—ऐसी सावधानी से चलना कि किसी जीव को क्लेश न हो। 2. भाषा समिति—सत्य, हितकारी, परिमित, असदिग्ध वचन का व्यवहार। 3 एषणा समिति—जीवन-यात्रार्थ आवश्यक भोजन के लिए सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति। 4 आदान-भाण्डमात्रनिक्षेपण समिति--पात्रादि वस्तु के लेने, रखने आदि मे सावधानी। 5 उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति—मलमूत्रादि को योग्य स्थान मे त्यागने की सावधानी।

पृ० 93 प० 2 तीन गुप्ति--मन, वचन, काय ये तीन गुप्ति है। गुप्ति अर्थात् असत् प्रवृत्ति से निवृत्ति।

(५)

पृ० 94 पं०2. इस भव तथा पर-भव का सादृश्य—इस चर्चा मे पूर्व पक्ष यह है कि मनुष्य मर कर मनुष्य ही होता है तथा पशु मर कर पशु ही होता है। अब तक यह ज्ञात नही हो सका कि यह पूर्वपक्ष किसका है, किन्तु उक्त पूर्वपक्ष के आधार पर 'कार्य-कारण सदृश ही होता है या नही' इस विषय पर जो चर्चा की गई है वह बहुत महत्वपूर्ण है।

चार्वाक असत् कार्यवादी हैं, तो भी वे कार्य को सदृश और विसदृश मानते हैं। चैतन्य जैसे कार्यों को वे कारण से विसदृश मानते हैं तथा भौतिक कार्यो को सदृश। चार्वाको ने एक ही भूत न मानकर चार या पाँच भूत स्वीकार किए हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनके मत मे सर्वथा विसदृश कार्य का सिद्धान्त मान्य नही है।

वेदान्त और साख्य दोनो सत्कार्यवादी हैं, अतः वे स्वीकार करते हैं कि कार्य-कारण सदृश होता है। वेदान्त के मतानुसार कार्य की समस्त विलक्षणता का समन्वय ब्रह्म मे है तथा साख्य के मतानुसार प्रकृति मे। कोई भी कार्य वेदान्त मत मे ब्रह्म से तथा साख्य मत मे प्रकृति से-सर्वथा विलक्षण नही है। ब्रह्म के एक होने पर भी उसके कार्यों मे जो विलक्षणता दृग्गोचर होती है उसका कारण वेदान्त के अनुसार अविद्या है। प्रकृति के एक होने पर भी उसके कार्यों मे जो विलक्षणता है उसका कारण साख्य मत मे प्रकृति के गुणो का वैषम्य माना गया है।

नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध ये तीनो असत् कार्यवादी हैं, अत उनके मतानुसार कार्य कारण से विलक्षण भी हो सकता है। कारण सदृश कार्य होता है, इस विषय मे इन तीनो को कोई आपत्ति या विवाद नही है। जैन भी इन सब के समान कार्य को कारण से सदृश और विसदृश मानते हैं।

पृ० 102 प० 9 मनुष्य नाम कर्म—नाम-कर्म की प्रकृति जिस से जीव मर कर मनुष्य बनता है।

पृ० 102 प० 9. **मनुष्य गोत्र कर्म**—गोत्र कर्म के मूल भेद दो हैं—उच्च और नीच। इन मूल भेदो के अनेक उपभेद समझ लेने चाहिएँ। जैसे कि मनुष्य व देव उच्च मे और नरक व तिर्यच नीच मे।

(६)

पृ० 103 प० 2 **वन्ध-मोक्ष चर्चा**—इस प्रकरण मे मुख्य रूपेण यह चर्चा है कि वन्ध-मोक्ष सम्भव है या नही ?

भारतीय दर्शनो मे केवल चार्वाक दर्शन ही ऐसा है कि जिसमे जीव के वन्ध-मोक्ष को स्वीकार नही किया गया है। अन्य दर्शनो मे इसे स्वीकृत किया गया है। साङ्ख्यो ने वन्ध-मोक्ष माना तो है किन्तु पुरुष के स्थान पर उन्होने इसे प्रकृति मे माना है। किन्तु यह केवल परिभाषा का भेद है, क्योंकि साङ्ख्य यह मानता है कि अन्त मे प्रकृति और पुरुष का विवेक होना ही मोक्ष है, अर्थात् तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष की जो एकता समझ ली गई थी, उसका स्थान विवेक ग्रहण कर लेता है और यही मोक्ष है। अन्य दर्शनो मे भी यही वात मान्य है। अन्य दर्शन चेतन, अचेतन के विवेक को (चेतन अचेतन के वन्ध के अभाव को) ही मोक्ष कहते है। तत्वज्ञान प्रकृति का धर्म हो या पुरुष का, किन्तु सभी यह मानते है कि वह अत्यन्त आवश्यक है। अत साङ्ख्य तथा अन्य दर्शनो मे इस विषय मे परिभाषा का ही भेद है।

पृ० 103 प० 9 **'स एष विगुण.'**—यह वाक्य कहाँ का है, इसकी शोध नही हो सकी। किन्तु इसमे सशय नही कि, इस पर साङ्ख्य मत का प्रभाव है। कारण यह है कि साङ्ख्यो के मत मे आत्मा मे वन्ध, मोक्ष, ससार कुछ भी नहीं माना गया, किन्तु प्रकृति मे ये सव स्वीकार किए गए है। इस वाक्य के साथ श्वेताश्वतर के इस वाक्य की तुलना करने योग्य है :

"कर्माध्यक्ष. सर्वभूताधिवास साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" ६ ११

पृ० 108 प० 2. **अभव्य**—भव्य और अभव्य जीव के दो स्वाभाविक प्रकार हैं। अन्य दर्शनो मे अभव्य शब्द का प्रयोग हुआ हो तो उसका अर्थ 'दुर्भव्य' के समान समझना चाहिए। जीव के ये दो भेद किसलिए किए गए है, इसका कुछ भी कारण नही वताया जा सकता। अतः आचार्य सिद्धसेन ने इस विषय को आगमगम्य अर्थात् अहेतुवादान्तर्गत गिना है।

पृ० 109 प० 2 **गाथा 1827**—इस गाथा मे इस आक्षेप का उत्तर दिया गया है कि, भव्यो के मोक्ष जाने मे ससार खाली हो जाएगा। उत्तर मे वताया गया है कि, जीव अनन्त हैं, अत. ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होगी। 'किसी भी समय ससार की समाप्ति होगी या नहीं' ऐसे प्रश्न के उत्तर मे योगभाष्यकार ने कहा है कि, यह प्रश्न अवचनीय है और लिखा है कि यह नहीं वताया जा सकता कि ससार का अन्त है या नही, किन्तु कुशल का ससार क्रमश समाप्त होता है तथा अकुशल का ससार समाप्त नहीं होता, यह वात कही जा सकती है। समस्त ससार के विषय मे समान निर्णय नही दिया जा सकता। योग-भाष्य की टीका भास्वती मे एक प्राचीन वाक्य उद्धृत किया गया है—'इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः'। इसका

अर्थ है कि, अधुना के समान कभी भी ससार का अत्यन्त उच्छेद नही होता। इसके साथ जैन मान्यता की तुलना करने योग्य है। जैन मान्यता है कि, किसी भी तीर्थंकर से पूछा जाए, उत्तर एक ही प्राप्त होगा कि, भव्यो का अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध हुआ है। जीव अनन्त है और उनका अनन्तवा भाग ही सिद्ध है। भास्वती ने उपनिषद् का निम्न मार्मिक वाक्य भी उद्धृत किया है—'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' एक अन्य श्लोक भी उद्धृत किया है, वह यह है—

अतएव हि विद्वत्सु मुच्यमानेषु सर्वदा।
ब्रह्माण्डजीवलोकानामनन्तत्वादशून्यता॥
योगभाष्य 4 33 देखें।

पृ० 111 प० 19. गाथा 1839—इसमे मोक्ष को कृतक मानने की जो बात कही गई है, उसका कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है।

बौद्ध सभी वस्तुओ को क्षणिक मानते हैं अर्थात् सस्कृत (कृतक) मानते है। किन्तु उन्होने भी निर्वाण को असस्कृत ही माना है। राजा मिलिन्द ने प्रश्न किया था कि, क्या कोई ऐसी वस्तु है जो कर्मजन्य न हो, हेतुजन्य न हो तथा ऋतुजन्य न हो। इसके उत्तर मे भदन्त नागसेन ने बताया था कि, आकाश और निर्वाण ये दो ऐसी वस्तुएँ हैं जो कर्म, हेतु, अथवा ऋतु से उत्पन्न नही होती हैं। यह सुन कर राजा मिलिन्द ने तत्काल ही प्रश्न किया कि, ऐसी अवस्था मे भगवान् ने मोक्ष मार्ग का उपदेश क्यो दिया? उसके अनेक कारणो की चर्चा किसलिए की? नागसेन ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि, मोक्ष का साक्षात्कार करना तथा उसे उत्पन्न करना ये दोनो भिन्न-भिन्न बाते है। भगवान् ने जो कुछ कारण बताए है वे मोक्ष का साक्षात्कार करने के कारण हैं। भगवान् ने मोक्ष को उत्पन्न करने के कारणो की चर्चा नही की है। इस बात के समर्थन के लिए दृष्टान्त दिया गया है कि, कोई भी मनुष्य अपने प्राकृतिक बल से हिमालय तक पहुँच तो सकता है, किन्तु वह अपने उसी बल से हिमालय को उखाड कर अन्यत्र नही रख सकता। एक मनुष्य नौका का आश्रय लेकर सामने के तीर पर पहुँच तो सकता है किन्तु उस तीर को उखाड कर वह किसी भी प्रकार अपने समीप नही ला सकता। उसी प्रकार भगवान् निर्वाण के साक्षात्कार का मार्ग दिखा सकते हैं किन्तु निर्वाण को उत्पन्न करने के हेतु नही बता सकते। कारण यह है कि निर्वाण असस्कृत है, जो सस्कृत हो वह उत्पन्न हो सकता है, किन्तु असस्कृत वस्तु उत्पन्न हो ही नही सकती।

विशेष स्पष्टीकरण करते हुए भदन्त नागसेन ने बताया है कि, निर्वाण के असस्कृत होने के कारण उसे उत्पन्न, अनुत्पन्न, उत्पाद्य, अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न (वर्तमान), चक्षुर्विज्ञेय श्रोत्र विज्ञेय, घ्राण विज्ञेय, जिव्हा विज्ञेय, स्पर्श विज्ञेय जैसे किसी भी शब्द से वर्णित नही किया जा सकता। फिर भी 'निर्वाण नही है' यह नही कहा जा सकता। कारण यह है कि वह मनोविज्ञान का विषय बनता है। विशुद्ध स्वरूप मन द्वारा उसका ग्रहण हो सकता है। जैसे वायु दिखाई नही देती है, उसके सस्थान का पता नही चलता है, हाथ मे पकडी नही जाती है, फिर भी उसकी सत्ता है। इसी प्रकार निर्वाण भी है—मिलिन्द प्रश्न 4 7 12–15, पृ०263 इस प्रकार असस्कृत निर्वाण सभी बौद्ध सम्प्रदायो को इष्ट है।

वेदान्त मत मे भी मोक्ष अथवा निर्वाण उत्पन्न किए जाने वाला नही है, किन्तु उस का साक्षात्कार किया जाना है। आत्मा के शुद्धस्वरूप सम्बन्धी अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान को दूर कर उसके शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करना ही मोक्ष है। अत वेदान्त मत मे भी निर्वाण के कारणो की जो चर्चा है वह ज्ञापक कारणो की है, उत्पादक कारणो की नही है।

अन्य दर्शनो को भी यही मान्यता स्वीकृत है, क्योकि यह बात सर्वसम्मत है कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप आवृत्त हो गया है। वैदिक दर्शन आत्मा मे विकार स्वीकार नही करते। वैदिको मे केवल कुमारिल-सम्मत मीमासा पक्ष ही एक ऐसा पक्ष है जिस के मत मे आत्मा परिणामी नित्य होने के कारण विकार-युक्त सम्भव है। जैन दर्शन भी आत्मा को परिणामी नित्य मानता है, अत इस मत मे मोक्ष या निर्वाण कृतक भी है और अकृतक भी। पर्याय दृष्टि से उसे कृतक कहा जा सकता है, क्योकि विकार को नष्ट कर शुद्धावस्था को उत्पन्न किया गया है। किन्तु द्रव्य दृष्टि से आत्मा और उसकी शुद्धावस्था भिन्न नही हैं, अतः उसे अकृतक भी कहते है। कारण यह है कि आत्मा तो विद्यमान थी ही, उसे किसी ने उत्पन्न नही किया।

पृ० 112 प० 23 **सौगत**—महायानी बौद्ध मानते हैं कि, बुद्ध बार-बार इस ससार मे जीवो के उद्धार के लिए आते है और निर्माणकाय को धारण करते हैं। इसके साथ गीता का अवतारवाद का सिद्धान्त तुलनीय है।

पृ० 113 प० 26 **लोक के अग्रभाग मे**—मुक्त लोक के अग्रभाग मे स्थिर होते हैं। जैनो का यह सिद्धान्त स्पष्ट है, तथापि अनेक लेखक जैन मुक्ति के विषय मे लिखते हुए लिख देते है कि सिद्ध के जीव सतत गमनशील हैं। इस भ्रम का मूल सर्वदर्शन सग्रह मे है।

आत्मा को व्यापक मानने वाले साख्य, न्याय-वैशेषिकादि दर्शनो के मत मे मुक्तावस्था के समय लोकाग्र पर्यन्त गमन कर वहाँ स्थिर रहने का प्रश्न ही नही रहता। वे व्यापक होने के कारण सर्वत्र हैं। आत्मा से केवल शरीर का सम्बन्ध दूर हो जाता है।

भक्तिमार्गीय सम्प्रदायो के मत मे मुक्त जीव वैकुण्ठ अथवा विष्णुधाम मे विष्णु के निकट रहते हैं।

हीनयानी बौद्ध जैनो के समान निर्वाण का कोई निश्चित स्थान नही मानते। देखें मिलिन्द 4 8 93 पृ० 320 किन्तु महायानी बौद्ध तुषित-स्वर्ग, सुखावती-स्वर्ग जैसे स्थानो की कल्पना करते हैं जहाँ बुद्ध विराजते हैं तथा अवसर आने पर निर्माणकाय धारण कर अवतार लेते हैं।

सिद्धो के निवास स्थान के वर्णन के लिए देखें—महावीरस्वामी नो अन्तिम उपदेश पृ० 251, अथवा उत्तराध्ययन 36, 57–62

पृ० 114 प० 16 **आत्मा सक्रिय है**—जिन दर्शनो मे आत्मा को व्यापक माना गया है, उनमे परिस्पन्दात्मक क्रिया नही मानी गई है, किन्तु जैन दर्शन के मतानुसार आत्मा सकोच और विकासशील है, अत उसमे परिस्पन्दात्मक क्रिया का कोई विरोध नही है।

पृ० 114 पं० 31. 'लाउय' यह गाथा आवश्यक निर्युक्ति की है—गाथा 957.

पृ०114 प०27 प्रयत्न—न्याय-वैशेषिको ने आत्मा मे प्रयत्न नाम का एक गुण माना है और वह कर्म (क्रिया) से भिन्न है, क्योंकि वह गुण है।

पृ० 115 प० 31. नित्य सत्व—यह आ० धर्मकीर्ति की कारिका है। इसका पूरा रूप यह है—

नित्य सत्वमसत्व वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातश्च भावाना कादाचित्कस्य सम्भव ।। प्रमाणवार्तिक 3 34.

(७)

पृ० 121 प० 2. देव-चर्चा—चार्वाक को छोड कर शेष सभी भारतीय दर्शनो ने देवो का अस्तित्व स्वीकार किया है। अत देवो के अस्तित्व के विषय का सन्देह चार्वाको का समझना चाहिए।

पृ० 122 प० 9 देव प्रत्यक्ष है—यह कथन भी आगमाश्रित ही समझना चाहिए। कारण यह है कि सूर्य तथा चन्द्रादि ज्योतिष्को को देव मान कर यहाँ यह प्रतिपादन किया गया है कि देव प्रत्यक्ष हैं। किन्तु इस बात मे सन्देह का अवकाश है ही कि सूर्य-चन्द्रादि को देव मानना या नही। शास्त्र में उन्हे देव माना गया है, इस बात को स्वीकार करके ही उन्हे प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इस प्रकार यहाँ आगमाश्रय है। इस आगमाश्रय को आगे अनुमान द्वारा प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

पृ० 122 प० 12 समवसरण मे देव कथावत्थु नामक बौद्ध ग्रन्थ मे भी यह बताया गया है कि इस लोक मे देवागमन होता है।

(८)

पृ० 128 प० 2. नारक-चर्चा—इस चर्चा मे भी यह समझ लेना चाहिए कि नारको के अस्तित्व के सम्बन्ध का सन्देह चार्वाको का ही पक्ष है, अन्य भारतीय दर्शनो ने देवो के समान नारक भी माने ही हैं।

पृ० 129 प० 1. सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष हैं—सर्वज्ञ-साधक अनुमान मे भी यही बात कही गई है कि सर्वज्ञ को अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ सर्वज्ञ-प्रत्यक्ष से नारको का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। वस्तुत सर्वज्ञत्व व नारक ये दोनो साधारण लोगो के लिए परोक्ष ही हैं।

पृ० 129 प० 19 इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है—अन्य दार्शनिक इन्द्रिय ज्ञान को लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं, जबकि जैन उसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कहते हैं। यहाँ उसकी परोक्षता का समर्थन किया गया है। प्रत्यक्ष शब्द मे जो 'अक्ष' शब्द है, उसका अर्थ जैनो के अनुसार आत्मा है, जो केवल आत्म सापेक्ष हो उसे वह प्रत्यक्ष कहते है। अन्य दार्शनिक 'अक्ष' शब्द का अर्थ इन्द्रिय करते हैं तथा जो इन्द्रियजन्य हो उसे वे प्रत्यक्ष या लौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

(६)

पृ० 134 प० 16 पुण्य-पाप सम्बन्धी मतभेद—जिस प्रकार के मतभेद प्रस्तुत में वर्णित किए गए हैं उनमे स्वभाववाद तथा पाप-पुण्य को पृथक् मानने वाले तो सर्वविदित है, किन्तु केवल पुण्य अथवा केवल पाप या पुण्य-पाप का सकर (मिश्रण) ये पक्ष किसके हैं, यह बात ज्ञात नही हो सकी। यहाँ पुण्य-पाप विषयक जो विकल्प हैं, वे वस्तुत किसी की मान्यता रूप है या केवल विकल्प हैं, इस बात का परिचय प्राप्त करने का भी कोई साधन उपलब्ध नही हुआ। केवल इनमे एकाश मे मिलती हुई वस्तु साख्य-कारिका की व्याख्या में सत्वादि गुणो के वर्णन के प्रसग मे दृग्गोचर होती है, उसका निर्देश करना आवश्यक है। माठर ने पूर्वपक्ष रखा है कि, सत्व, रज, तम इन तीनो को पृथक् क्यो माना जाए? केवल एक ही गुण क्यो न स्वीकार किया जाए? सा० का० 13 का उत्थान देखें।

पृ० 143 प० 25 योग—मन, वचन, काय के व्यापार को 'योग' कहते है।

पृ० 143 पं० 27. मिथ्यात्व—अतत्व को तत्व समझना अथवा वस्तु का यथार्थ श्रद्धान न करना 'मिथ्यात्व' है।

पृ० 143 प० 27 अविरति—पाप-प्रवृत्ति मे निवृत्त न होना 'अविरति' है। अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य (मिथ्याचार) व परिग्रह मे प्रवृत्ति करना।

पृ० 143 प० 27. प्रमाद—आत्म-विस्मरण 'प्रमाद' है। अर्थात् कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का ज्ञान न रखना।

पृ० 143 प० 28. कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारो को कषाय कहते हैं।

पृ० 144 प० 10 अध्यवसाय—आत्मा के शुभाशुभ भाव(परिणाम) 'अध्यवसाय' है।

पृ० 144 पं० 22 लेश्या—कषायानुरजित योग के परिणाम को 'लेश्या' कहते हैं। उसके छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल। ये उत्तरोत्तर विशुद्ध है। प्रथम तीन अशुभ तथा शेष तीन शुभ लेश्याएँ है।

पृ० 144 प० 22. ध्यान—चार हैं—आर्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल। प्रथम दो अशुभ तथा अन्तिम दो शुभ हैं। अप्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर वह कैसे दूर हो इसकी सतत चिन्ता करना, दुख दूर करने की चिन्ता करना, प्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर उसे स्थिर रखने की चिन्ता करना, अप्राप्त की प्राप्ति के लिए सकल्प करना आर्तध्यान है। हिंसा, असत्य, चोरी तथा विषय सरक्षण के लिए सतत चिन्ता करना रौद्र ध्यान है। वीतराग की आज्ञा के विषय मे विचार, दोषों के स्वरूप तथा उन से मुक्त होने के उपाय का विचार, कर्म विपाक की विचारणा, तथा लोकस्वरूप का विचार धर्म ध्यान है। पूर्वश्रुत के ज्ञाता तथा केवली का ध्यान शुक्ल ध्यान कहलाता है। इसका विशेष विवरण तत्वार्थ सूत्र 9.27 मे देखें।

पृ० 144 प० 31. सम्यङ् मिथ्यात्व—दर्शन मोहनीय कर्म के तीन भेद है—1 मिथ्यात्व मोहनीय—जिसके उदय से तत्वो की यथार्थ श्रद्धा न हो, 2 सम्यङ् मिथ्यात्व

अथवा मिश्र मोहनीय --जिसके उदय के समय यथार्थ श्रद्धा अथवा अश्रद्धा न हो किन्तु डोलायमान स्थिति रहे, 3 सम्यक्त्व मोहनीय--जिसका उदय यथार्थ श्रद्धा का निमित्त तो बने किन्तु औपशमिक अथवा क्षायिक प्रकार की श्रद्धा न होने दे।

पृ० 145 पं० 9 सक्रम--एक कर्म प्रकृति के परमाणु अन्य सजातीय कमप्रकृति रूप मे परिणत हो जाए, इसे सक्रम या सक्रमण कहते हैं। जैसे कि सुख-वेदनीय कर्म परमाणु दुख वेदनीय रूप हो जाए तो उसे सक्रमण कहेगे।

पृ० 145 प० 20 ध्रुवबधिनी--जो कर्म प्रकृति अपने बन्ध का कारण विद्यमान होने पर अवश्यमेव बन्ध को प्राप्त हो, उसे ध्रुवबधिनी कहते हैं।

पृ० 145 प० 22 अध्रुवबधिनी--जो कर्म प्रकृति अपने बन्ध का कारण विद्यमान होने पर बद्ध भी हो सके और बद्ध न भी हो, उसे अध्रुवबन्धिनी कहते है।

पृ० 146 प० 2 तेल लगा कर--यही दृष्टान्त भगवती सूत्र मे भी दिया है--भगवती सार पृ० 436, शतक 1, उद्देश 6

पृ० 146 प० 4. कर्मवर्गणा--समान जातीय पुद्गलो के समुदाय को 'वर्गणा' कहते हैं। जैसे कि स्वतन्त्र एक-एक पृथक् परमाणु जो ससार मे हैं वे प्रथम वर्गणा कहलाते है। इसी प्रकार दो परमाणुओ के मिलने से जो स्कन्ध बनते है उनकी दूसरी वर्गणा, तीन परमाणुओ के मिलने से जितने स्कन्ध बनते है उन सबकी तीसरी वर्गणा, चार परमाणुओ से बने हुए स्कन्धो की चौथी वर्गणा, इस प्रकार एकाधिक परमाणु वाले स्कन्धो की गिनती करते-करते अन्तिम सख्या तक की वर्गणाओ की गिनती कर लेनी चाहिए। ये सब सख्यात वर्गणाएँ हैं। तत्पश्चात् असख्यात अणु वाली वर्गणाओ की गिनती करे तो वे असख्यात वर्गणाएँ होगी। तदनन्तर अनन्त अणु वाली वर्गणाएँ अनन्त होगी तथा अनन्तानन्त अणुओ द्वारा निर्मित स्कन्धो की वर्गणाएँ अनन्तानन्त होगी। उसमे अब यह विचार करना शेष है कि, जीव कौनसी वर्गणाओ को ग्रहण कर सकते हैं। सभी वर्गणाओ मे सबसे स्थूल वर्गणा औदारिक वर्गणा कहलाती है, जिसे ग्रहण कर जीव अपने औदारिक शरीर की रचना करता है। यह वर्गणा यद्यपि स्थूल कही जाती है तथापि इस वर्गणा मे समाविष्ट स्कन्ध अन्य वैक्रिय शरीर योग्य वर्गणा की अपेक्षा अल्प परमाणुओ से निर्मित होते है। अर्थात् जीव द्वारा ग्रहण योग्य न्यूनतम परमाणुओ वाले स्कन्धो की जो वर्गणा है, वह औदारिक वर्गणा है। उसके स्कन्धो मे अनन्तानन्त परमाणुओ के बने हुए स्कन्ध भी होते है, किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओ से बने हुए स्कन्धो वाली वर्गणाएँ तो अनन्तानन्त भेद वाली है। उनमे से कौनसी वर्गणा औदारिक योग्य है, इसका स्पष्टीकरण शास्त्र मे किया गया है और कहा गया है कि, जिस वर्गणा के स्कन्ध अभव्य जीवो की राशि से अनन्तगुणे तथा सिद्ध जीवो की राशि के अनन्तवे भाग जितने परमाणुओ से बने हुए हो वह औदारिक योग्य वर्गणा है। यह सख्या भी न्यूनतम परमाणुओ के स्कन्धो से निर्मित औदारिक वर्गणा की समझनी चाहिए। उसमे एक-एक परमाणु बढा कर बने हुए स्कन्धो की जो अनेक वर्गणाएँ औदारिक शरीर के योग्य है, उनकी सख्या अनन्त है।

औदारिक शरीर योग्य वर्गणा के पश्चात् अनन्त ऐसी वर्गणाएँ हैं जो वैक्रिय शरीर के अयोग्य हैं तथा उनके बाद की वर्गणाएँ वैक्रिय शरीर के योग्य हैं। इस प्रकार बीच वाली अग्रहण योग्य वर्गणाओं को निकाल कर जो ग्रहण योग्य वर्गणाएँ हैं वे ये हैं—औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तेजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनो वर्गणा तथा कर्म वर्गणा। इससे ज्ञात होता है कि कर्म वर्गणा सबसे सूक्ष्म परिणामी परमाणुओं की बनी हुई होती है, अत वह सर्वाधिक सूक्ष्म है, किन्तु उसके स्कन्धो मे परमाणुओ की सख्या सर्वाधिक है। इसके विशेष विवरण के लिए देखें—विशेषा० गाथा 635–639 तथा पचम कर्मग्रन्थ गाथा 75–76

पृ० 146 प० 13 **उपशम श्रेणी**—जिस श्रेणी मे मोहनीय कर्म का क्षय नही किन्तु उपशम किया जाता है उसे उपशम श्रेणी कहते हैं। उसका क्रम यह है—सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम होता है; तत्पश्चात् मिथ्यात्व, सम्यड्-मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व का, फिर नपुसक वेद का; फिर स्त्री वेद का, तदनन्तर हास्य, रति, अरति, शोक, भय व जुगुप्सा का, फिर पुरुष वेद का, फिर अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण क्रोध का, तदुपरान्त सज्वलन क्रोध का, फिर अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान का, फिर सज्वलन मान का; बाद मे अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण माया का; फिर सज्वलन माया का, तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण लोभ का, तथा अन्त मे सज्वलन लोभ का उपशम होता है।

पृ० 147 प० 4, **प्रकृति**—कर्म के स्वभाव को प्रकृति कहते है, जैसे कि ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव है कि वह ज्ञान का आवरण करता है।

पृ8 147 प० 5 **स्थिति**—कर्म का आत्मा के साथ जितने समय तक सम्बन्ध बना रहता है उसे उसकी स्थिति कहते हैं।

पृ० 147 प० 5 **अनुभाग**—कर्म की तीव्र-मन्द भाव द्वारा विपाक देने की शक्ति को को अनुभाग कहते हैं।

पृ० 147 प० 5. **प्रदेश**—कर्म के जितने परमाणु आत्मा के साथ सम्बद्ध हो वे उसका प्रदेश कहलाते है।

पृ० 147 प० 8. **रसाविभाग**—कर्म के विपाक की मन्दतम मात्रा को रसाविभाग कहते है। यह मात्रा कर्म के जो उत्तरोत्तर मन्दतर आदि प्रकार हैं उन्हे मापने मे मापदण्ड का काम देती है।

(१०)

पृ० 152 प० 2 **परलोक-चर्चा**—इस वाद मे कोई नई बात नही है, अधिकतर पूर्वकथित की पुनरावृत्ति है।

पृ० 158 पं० 4. **सोने के घड़े को**—इसके साथ आ० समन्तभद्र की निम्नकारिका तुलनीय है—

'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।। आप्तमीमांसा 59.

(११)

पृ० 159 पं० 2. **निर्वाण-चर्चा**—निर्वाण के अस्तित्व की शंका का आधार मीमांसा-दर्शन की यह मान्यता है कि वैदिक कर्मकाण्ड जीवन-पर्यन्त करना आवश्यक है। इस प्रकार की शका न्याय-दर्शन मे भी पूर्वपक्ष के रूप मे उपलब्ध होती है—न्यायसूत्र 4.1.59 का भाष्य तथा अन्य टीकाएँ देखें।

पृ० 160 पं० 3. **दीप-निर्वाण**—सौन्दरनन्द के श्लोक से मिलती हुई गाथा माध्यमिक वृत्ति में उद्धृत है। वह यह है—

'अथ पडितु कश्चि मार्गते कुतोऽयम्मागतु कुत्र याति वा ।
विदिशो दिश सर्वि मार्गतो नागतिर्नास्य गतिश्च लभ्यति ।।

मा०वृ०पृ० 216.

चतुःशतक की वृत्ति (पृ० 59) मे कहा गया है कि, निर्वाण यह नाममात्र है, प्रतिज्ञा-मात्र है, व्यवहार मात्र है, सवृत्ति मात्र है। और चतु'शतक (221) मे तो कहा है—

'स्कन्धा. सन्ति न निर्वाणे पुद्गलस्य न सम्भवः ।
यत्र दृष्टं न निर्वाणं निर्वाण तत्र किं भवेत् ।।'

बोधिचर्यावतार पजिका मे लिखा है—निर्वाणं उपशमः पुनरनुत्पत्तिधर्मकतया आत्यन्तिकसमुच्छेद इत्यर्थ (पृ० 350)। यह भी दीप-निर्वाण पक्ष का समर्थन है। पुनश्च बोधिचर्यावतार (9 35) मे जो यह कहा है कि—

'यदा न भावो नाभावो मतेः सतिष्ठते पुरः ।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ।।

वह भी दीप-निर्वाण पक्ष का ही समर्थन है। उसकी व्याख्या मे लिखा है—

'बुद्धि. प्रशाम्यति उपशाम्यति सर्वविकल्पोपशमात् निरिन्धनवह्निवत् निर्वृ ति-(निवृत्ति ?) मुपयातीत्यर्थ ।' पृ० 418.

फिर भी यह नही कहा जा सकता कि, शून्यवादी के मत में निर्वाण सर्वथा अभाव रूप है, क्योंकि वह परमार्थ तत्व तो है ही, जिसका वर्णन बोधिचर्यावतार पजिका मे इस प्रकार है—

"वोधिः बुद्धत्वमेकानेकस्वभावविविक्त अनुत्पन्नानिरुद्ध अनुच्छेदमशाश्वत' सर्वप्रपञ्चविनिर्मुक्त आकाशप्रतिसम धर्मकायाख्य परमार्थतत्वमुच्यते। एतदेव च प्रज्ञापारमिता-शून्यता-तथता-भूतकोटिधर्मधात्वादिशब्देन सवृतिमुपादाय अभि-धीयते।" पृ० 421.

नागसेन ने मिलिन्द प्रश्न (पृ० 72) मे निर्वाण को निरोध रूप कहा है। फिर भी उन्होंने उसे सर्वथा अभाव रूप नही किन्तु 'अस्तिधर्म' कहा है (पृ० 265)। यह भी कहा है कि, निर्वाण सुख है (पृ० 72)। यही नही, उसे 'एकान्त सुख' कहा गया है (पृ० 306)। उसमे दु ख का लेश भी नही है। नागसेन ने यह स्वीकार किया है कि, अस्ति होते हुए भी निर्वाण का रूप, सस्थान, वय, प्रमाण यह सब कुछ नही बताया जा सकता (पृ० 309)।

पृ० 160 पं० 11. **मोक्ष**—यह पक्ष जैनो को मान्य है।

पृ० 161 प० 28. **व्यापक**—जिसका विस्तार अधिक हो उसे व्यापक कहते हैं तथा जिसका विस्तार न्यून हो उसे व्याप्य कहते हैं। जैसे कि वृक्षत्व और आम्रत्व। वृक्षत्व विस्तृत है, व्यापक है और आम्रत्व वृक्षत्व से व्याप्त है। ऐसी स्थिति मे जहाँ वृक्षत्व न हो वहाँ आम्रत्व भी नही होता, किन्तु जहाँ आम्रत्व हो वहाँ वृक्षत्व अवश्य होगा। अतः आम्रत्व को हेतु बना कर वृक्षत्व को साध्य बनाया जा सकता है। किन्तु इससे विपरीत साध्य साधन भाव नही बन सकता।

पृ० 162 पं० 9. **प्रध्वंसाभाव**—प्रध्वंस अर्थात् विनाश। घट का विनाश होने पर उसका जो अभाव हुआ वह प्रध्वसाभाव कहलाता है। अर्थात् ठीकरियाँ घट का प्रध्वसाभाव हैं।

पृ० 165 पं० 24. **आत्मा की**—यह शंका नैयायिक-वैशेषिक मत के अनुसार है। उनके मत मे मोक्ष मे आत्मा मे सुख या ज्ञान नही है।

पृ० 167 प० 25. **स्वतन्त्र हेतु**—जिस साधन या हेतु द्वारा स्वेष्ट वस्तु की सिद्धि की जाए वह स्वतन्त्र-साधन है, परन्तु जिस हेतु द्वारा स्वेष्ट वस्तु की सिद्धि नही किन्तु परवादी के अनिष्ट पर केवल आपत्ति की जाए वह प्रसग-हेतु कहलाता है।

वृद्धि पत्र

(1) आचार्य जिनभद्र की कृतियो मे एक चूर्णि की वृद्धि करनी चाहिये। यह चूर्णि अनुयोगद्वार के शरीर-पद पर है। इसका अक्षरश उद्धरण जिनदास की चूर्णि तथा हरिभद्र की वृत्ति मे हुआ है।

(2) विशेषावश्यक भाष्य की टीकाओ मे मलयगिरिकृत टीका की भी गणना करनी चाहिये। इसका उल्लेख स्वय मलयगिरि ने प्रज्ञापना की टीका मे किया है। सम्भव है इस टीका की प्रति मिल जाए।

(3) सामान्यत: निर्युक्तिकार के रूप मे ये भद्रबाहु ज्ञात हैं, उनका समय मुनि श्री पुण्यविजय जी के लेख के आधार पर प्रस्तावना मे प्रथम सूचित किया जा चुका है, किन्तु निर्युक्ति नाम के व्याख्या ग्रन्थो की रचना बहुत पहले से चली आ रही है। इसके प्रमाण के लिए यहाँ श्री अगस्त्यसिंह की चूर्णि का निर्देश किया जा सकता है। इस चूर्णि का अब तक नाम भी ज्ञात न था, किन्तु जैसलमेर के भण्डार से यह दो वर्ष पूर्व उक्त मुनिश्री को मिली है। यह चूर्णि दशवैकालिक सूत्र पर है। इसमे दशवैकालिक पर लिखी गई एक वृत्ति का भी निर्देश है। इस चूर्णि में व्याख्यात की गई गाथाएँ जिनदास की चूर्णि मे भी उसी रूप मे हैं। हरि-भद्रीय वृत्तियों मे इन गाथाओ के अतिरिक्त अन्य निर्युक्ति गाथाएँ भी हैं। अगस्त्यसिंह का समय माथुरी वाचना तथा वालभी वाचना के अन्तरकाल मे कहा है। अगस्त्यसिंह द्वारा स्वीकृत किया गया सूत्र-पाठ श्री देवर्द्धिगणि द्वारा स्थिर किए गए सूत्र-पाठ से भिन्न ही है, इससे यह कल्पना की जा सकती है कि वह सूत्र-पाठ माथुरी या नागार्जुनीय वाचना सम्मत होगा। अत: हम कह सकते हैं कि अगस्त्यसिंह की चूर्णि मे वर्णित निर्युक्ति भाग प्राचीन है। हाँ, नवीन रचित निर्युक्ति मे प्राचीन निर्युक्ति समाविष्ट हो जाती है। इसलिए जैसे चूर्णि ग्रन्थो की रचना-परम्परा जिनदास से पहले से चली आ रही है, उसी प्रकार निर्युक्ति के विषय मे भी यही बात है। यह देख कर यह विचार भी उत्पन्न होता है कि चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु द्वारा निर्युक्तियो की रचना की परम्परा मे कुछ तथ्य तो अवश्य होना चाहिए।

(4) जीतकल्प की चूर्णि के कर्ता के रूप मे वृहत्क्षेत्रसमास वृत्ति के रचयिता विक्रम की 12वी शताब्दी मे विद्यमान सिद्धसेनसूरि का उल्लेख सम्भावना के रूप मे प्रस्तावना पृ० 46 पर किया गया है, किन्तु जीतकल्प एक आगमिक ग्रन्थ है। अत प्रतीत होता है कि उसकी चूर्णि का कर्ता कोई आगमिक होना चाहिए। ऐसे एक आगमिक सिद्धसेन क्षमाश्रमण का निर्देश पचकल्प चूर्णि तथा हरिभद्रीय वृत्ति मे उपलब्ध होता है। सम्भव है कि जीतकल्प चूर्णि के कर्ता यही क्षमाश्रमण सिद्धसेन हो। यह सकेत एक विकल्प के रूप मे है।

(5) क्षेत्रसमास वृत्ति के कर्ता के रूप मे हरिभद्र का निर्देश तथा उनका समय 1185 प्रस्तावना मे सूचित किया गया है, किन्तु जैसलमेर की ताडपत्रीय प्रति मे जो अब तक प्राप्त

इस वृत्ति की प्रतियों में सबसे प्राचीन है, 1185 का निर्देश नही है; केवल 85 सूचक अक्षर स्पष्ट हैं। अतः 'जैन साहित्य नो इतिहास' के आधार पर निर्दिष्ट 1185 के समय पर पुनः विचार होना चाहिये।

(6) प्रस्तावना मे कहा गया है कि आचार्य हेमचन्द्र मलधारी के हस्ताक्षर की प्रति खम्भात के भण्डार मे है, किन्तु इस प्रति की प्रशस्ति मे प्रयुक्त विशेषणो को देखकर यह अनुमान होता है कि शायद वह प्रति मलधारी के हाथों की न हो। हाँ, यह सम्भव है कि उन्होने किसी और से वह प्रति अपने सामने लिखाई हो तथा उस लिखने वाले ने उन विशेषणो का प्रयोग किया हो। अतः हस्तलिपि के प्रश्न पर भी पुनः विचार होना चाहिये।

—सुखलाल

विशेषावश्यकभाष्यान्तर्गत

गणधरवाद की गाथाएँ

विशेषावश्यक भाष्य की व्याख्या करते हुये मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने गणधरवाद मे जिन गाथाओ की व्याख्या की है, अथवा जिन गाथाओ को उद्धृत किया है उन्ही का प्रस्तुत पाठ मे समावेश किया गया है; क्योकि इस पुस्तक मे मुद्रित गुजराती अनुवाद उक्त व्याख्या के आधार पर ही किया गया है।

निम्नाकित गाथाओ की पाठ-शुद्धि के लिये मैंने तीन प्रतियो का आधार लिया है—

1. मु० = विशेषावश्यक भाष्य की मलधारीकृत व्याख्या।
2. को० = विशेषावश्यक भाष्य की कोट्याचार्यकृत व्याख्या।
3. ता० = जेसलमेर स्थित ताडपत्र पर लिखी हुई विशेषावश्यक भाष्य की प्रति के आधार से पू० मुनि श्री पुण्यविजय जी महाराज द्वारा प० अमृतलाल द्वारा की गई प्रतिलिपि

सामान्यतया ताडपत्रीय प्रति प्राचीन और शुद्ध होने से उसी के पाठ को मैंने प्रधानता दी है। जहाँ रचना भेद या अर्थ भेद के कारण पाठान्तर हैं उनको मैंने टिप्पणी मे प्रदान किये हैं किन्तु सामान्यतया वर्णविकार के कारण जो पाठान्तर हैं, उनको मैंने छोड़ दिए हैं।

[१]

जीवे तुह संदेहो पच्चक्खं जण्ण घेप्पति घडो व्व।
अच्चतापच्चक्खं च णत्थि लोए खपुप्फं व ॥१५४९॥

ण य सोऽणुमाणगम्मो जम्हा पच्चक्खपुव्वयं तं पि।
पुव्वोवलद्धसम्बंधसरणतो लिंगलिंगीणं ॥१५५०॥

ण य जीवलिंगसंबंधदरिसिणमभू जतो पुणो सरतो।
तल्लिंगदरिसणातो जीवो संपच्चओ होज्जा ॥१५५१॥

णागमगम्मो वि ततो भिज्जति जं णागमोऽणुमाणातो।
ण य कासइ पच्चक्खो जीवो [1]जस्सागमो वयणं ॥१५५२॥

---

1. कस्सा० ता०।

जं चागमा विरुद्धा परोप्परमतो वि संसओ जुत्तो !
सव्वप्पमाणविसयातीतो जीवो त्ति ते[1] वुद्धी ॥१५५३॥

गोतम ! पच्चक्खोच्चिय जीवो ज संसयातिविण्णाणं ।
पच्चक्खं च ण सज्झं जध सुहदुक्खं[2] सदेहम्मि ॥१५५४॥

कतवं करेमि काहं चाहमहंपच्चयादिमातो य ।
अप्पा सप्पच्चक्खो [3]तिकालकज्जोवदेसातो ॥१५५५॥

किह[4] पडिवण्णमह ति य किमत्थि त्ति ससओ किध णु ?।
सइ ससयम्मि वाऽयं [5]कस्साहंपच्चओ जुत्तो ॥१५५६॥

जति णत्थि संसयि च्चिय किमत्थि णत्थि त्ति संसओ कस्स ?।
ससइते व सरूवे गोतम ! किमसंसयं होज्जा ॥१५५७॥

गुणपच्चक्खत्तणतो गुणी वि जीवो घडो व्व पच्चक्खो ।
घडओ वि घेप्पति गुणी गुणमेत्तग्गहणतो जम्हा ॥१५५८॥

अण्णोण्णो व्व गुणी होज्ज गुणेहिं जति णाम सोऽणण्णो ।
णणु गुणमेतग्गहणे घेप्पति जीवो गुणी सक्ख ॥१५५९॥

अध अण्णो तो एवं गुणिणो न घडातयो वि पच्चक्खा ।
गुणमेत्तग्गहणातो जीवम्मि कतो वियारोऽयं ?॥१५६०॥

अध मण्णसि अत्थि गुणी ण तु देहत्थतरं तओ किंतु ।
देहे णाणातिगुणा सो च्चिय तार्ण[6] गुणी जुत्तो ॥१५६१॥

णाणादयो न देहस्स [7]मुत्तिमत्तातितो घडस्सेव ।
तम्हा णाणातिगुणा जस्स स देहाधियो जीवो ॥१५६२॥

इय तुह देसेणाय पच्चक्खो सव्वधा-मह जीवो ।
अविहतणाणत्तणतो तुह विण्णाण व पडिवज्ज[8] ॥१५६३॥

एव चिय परदेहेऽणुमाणतो गेण्ह जीवमत्थि त्ति ।
अणुवित्ति-णिवित्तीतो विण्णाणमय सरूवे व्व[9] ॥१५६४॥

---

1. तो–मु० । 2. दुक्खा–मु० । 3. कज्जोवएसाओ–को० । 4 कह को० मु० । 5 अस्मा०-को० । 6. तेंसि मु० को० । 7. देहस्सऽमु–को० । 8. पडिवज्जा–मु० । 9. सरूव्व व ता० ।

जं[1] च ण लिंगेहिं समं मण्णसि लिंगी जतो पुरा गहितो ।
संगं ससेण व समं ण लिंगतो तोऽणुमेयो सो ।।१५६५।।

[2]सोऽणेगतो जम्हा लिंगेहिं समं ण-दिट्ठपुव्वो वि ।
गहलिंगदरिसणातो गहोऽणुमेयो सरीरम्मि ।।१५६६।।

[3]देहस्सत्थि विधाता पतिणियताकारतो घडस्सेव ।
अक्खाण च करणतो दण्डातीण कुलालो व्व ।।१५६७।।

[4]अत्थिंदियविसयाण आदाणादेयभावतोऽवस्सं ।
कम्मार इवादाता लोए [5]सदास-लोहाण ।।१५६८।।

भोत्ता देहादीण भोज्जत्तणतो णरो व्व भत्तस्स ।
सघातातित्तणतो अत्थि य अत्थि [6]घरस्सेव ।।१५६९।।[7]

[8]जो कत्तादि स जीवो सज्झविरुद्धो त्ति ते मती होज्जा ।
मुत्तातिपसगातो तण्णो ससारिणोऽ[9]दोसो ।।१५७०।।

अत्थि च्चिय ते जीवो ससयतो सोम्म ! थाणुपुरिसो व्व ।
जं सदिद्धं गोतम ! त तत्थण्णत्थ वत्थि धुवं ।।१५७१।।

[10]एवं णाम विसाणं खरस्स पत्तं ण तं खरे चेव ।
अण्णत्थ तदत्थि च्चिय एवं विवरीतगाहे वि ।।१५७२।।

अत्थि अजीवविवक्खो पडिसेधातो घडोऽघडस्सेव ।
णत्थि घडोत्ति [11]व जीवत्थित्तपरो णत्थिसद्दोऽ[12]यं ।।१५७३।।

असतो णत्थि णिसेधो संजोगातिपडिसेधतो सिद्धं ।
संजोगातिचतुक्कं पि सिद्धमत्थतरे णियतं ।।१५७४।।

जीवोत्ति सत्थयमित सुद्धत्तणतो घडाभिधाण व ।
जेणत्थेण सयत्थ सो जीवो अधमती होज्ज ।।१५७५।।

---

1. यहाँ ता॰ प्रति मे प्रश्नकर्त्ता के अर्थ वाला 'चोदक' शब्द का सक्षिप्त रूप 'चो॰ दिया हुआ है । इसी प्रकार 'आ॰' शब्द आचार्य का वाचक है, वह भी आचार्य के कथन के आरम्भ मे ता॰ प्रति मे दिया हुआ है । 2. आ॰—ता॰ । 3 देखें गाथा 1667 । 4. देखें गाथा 1668 । 5. सडास को॰ मु॰ । 6 घडस्सेव ता॰ । 7. देखें गाथा 1669 । 8. देखें, गाथा 1670 । 9. णो दोसो मु॰ । 10 चो॰ ता॰ । 11 य ता॰ । 12. सद्दो य ता॰ ।

अत्थो देहो च्चिय से तं णो पज्जायवयणभेतातो ।
णाणादिगुणो य जतो भणितो जीवो ण देहोत्ति ॥१५७६॥

जीवोऽत्थि वयो सच्च मव्वयणातोऽवसेसवयणं व ।
सव्वण्णुवयणतो वा अणुमतसव्वण्णु वयणं व[1] ॥१५७७॥

भयरागमोहदोसाभावतो[2] सच्चमणतिवार्ति च ।
सव्व चिय मे वयणं जाणयमज्झत्थवयणं व ॥१५७८॥

[3]किध सव्वण्णु त्ति मती जेणाह सव्वसंसयच्छेत्ता[4] ।
पुच्छसु व जं ण याणसि जेण व ते पच्चश्रो होज्जा ॥१५७९॥

एवमुवयोगलिंग गोतम ! सव्वप्पमाणसंसिद्धं ।
ससारीतरथावरतसातिभेतं मुणे जीवं ॥१५८०॥

[5]जति पुण सो एगोच्चिय हवेज्ज वोमं व सव्वपिण्डेसु ।
[6]गोतम ! [7]तमेगलिंगं पिण्डेसु तधा ण जीवो य ॥१५८१॥

णाणा जीवा कुम्भातयो व्व भुवि लक्खणातिभेदातो ।
सुह-दुक्ख-वध-मोक्खाभावो य जतो तदेगत्ते ॥१५८२॥

जेणोवयोगलिंगो जीवो भिण्णो य सो पतिसरीरं ।
उवयोगो उक्करिसावगरिसतो तेण तेऽणता ॥१५८३॥

[8]एगत्ते सव्वगतत्ततो ण [9]सोक्खादयो णभस्सेव ।
कत्ता भोत्ता मंता ण य ससारी जधाऽऽगास ॥१५८४॥

एगत्ते णत्थि सुही वहूवधातो त्ति देसणिरुयो व्व ।
वहुतरवद्धत्तणतो ण य मुक्को देसमुक्को व्व ॥१५८५॥

जीवो तणुमेत्तत्थो जध कुम्भो तग्गुणोवलंभातो ।
अधवाऽणुवलभातो भिण्णम्मि घडे पडस्सेव ॥१५८६॥

तम्हा कत्ता भोत्ता बंधो मोक्खो सुहं च दुक्खं च ।
ससरण च वहुत्ता सव्वगतत्तेसु जुत्ताइं ॥१५८७॥

गोतम ! वेदपदाण [illegible]माण नत्थ च तं न याणासि ।
ज विण्णाणघणो [illegible] चय भू [illegible]हितो समुत्थाय ॥१५८८॥

---

1. वा ता० । 2. भावाश्रो को० मु० । 3. कह को० मु० । 4. —च्छेई को० मु० ।
5. चो० ता० । 6. श्रा० ता० । 7. तदेग—को० मु० । 9. एगते ता० ।
9. मोक्खा को०मु० ।

मण्णसि मज्जगेसु व मंतभावो भूतसमुदयब्भूतो ।
विण्णाणमेत्तमाता भूतेऽणुविणस्सति स भूयो ।।१५८९।।

अत्थि ण य पेच्चसण्णा जं पुव्वभवेऽभिधाणममुओ त्ति ।
ज भणित न भवातो भवंतरं जाति जीवो त्ति ।।१५९०।।

गोतम ! पतत्थमेत मण्णतो णत्थि मण्णसे जीवं ।
वक्कतरेसु य पुणो[1] भणितो जीवो जमत्थि त्ति ।।१५९१।।

अग्गिहवणातिकिरियाफलं तो संसयं कुणसि जीवे ।
मा कुरु ण पदत्थोऽय इमं पदत्थ णिसामेहि ।।१५९२।।

विण्णाणातोऽणण्णो विण्णाणघणो त्ति सव्वसो[2] वाऽवि ।
स भवति भूतेहिंतो घडविण्णाणादिभावेणं ।।१५९३।।

ताइं चिय भूताइं सोऽणुविणस्सइ विणस्समाणाइं ।
अत्थतरोवयोगे कमसो विण्णेयभावेणं ।।१५९४।।

पुव्वावरविण्णाणोवयोगतो विगमसभवसभावो ।
विण्णाणसततीए विण्णाणघणोऽयमविणासी ।।१५९५।।

ण य णाणसण्णाऽवतिट्ठते सपतोवयोगातो ।
विण्णाणघणाभिक्खो जीवोऽय वेदपत[3]विहितो ।।१५९६।।

एव पि भूतधम्मो णाण तब्भावभावतो बुद्धी ।
तण्णो तदभावम्मि वि ज णाण वेतसमयम्मि ।।१५९७।।

अत्थमिते आतिच्चे चदे सतासु अग्गिवायासु ।
किं जोतिरय पुरिसो ? अप्पज्जोति त्ति णिद्दिट्ठो ।।१५९८।।

तदभावे भावातो भावे चा[4]ऽभावओ ण तद्धम्मो ।
जध घडभावाभावे विवज्जयातो पडो भिन्नो ।।१५९९।।

एसि वेतपदाण ण तमत्थ वियसि अधव सव्वेसिं ।
अत्थो किं होज्ज सुती विण्णाण वत्थुभेतो वा ।।१६००।।

जाती दव्व किरिया गुणोऽधवा ससओ स[5] चायुत्तो ।।
अयमेवेति ण वाऽय ण वत्थुधम्मो जतो जुत्तो ।।१६०१।।

---

1. पुण ता० । 2 सव्वओ वावि मु० । 3 वेयपयभिहिओ मु० को० ।
4 वाभा० ता० । 5. ससओ तवाजुत्तो मु० को० ।

सव्वं चिय सव्वमयं सपरपज्जायतो जतो णियतं ।
सव्वमसव्वमय [1]पि य विचित्तरूव विवक्खातो ॥१६०२॥

सामण्णविसेसमयो तेण पतत्थो विवक्खया जुत्तो ।
वत्थुस्स विस्सरूवो पज्जायावेक्खता सव्वो ॥१६०३॥

*छिण्णम्मि संसयम्मी जिरणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो पंचहिं सह खण्डियसएहिं ॥१६०४॥

एव कम्मादीसु वि ज सामण्ण तय समायोज्जं ।
जो पुण एत्थ विसेसो समासतो त पवक्खामि ॥१६०५॥

---

[२]

तं पव्वइतं सोतुं वितिश्रो श्रागच्छति श्रमरिसेणं ।
वच्चामि णमाणेमि परायिणित्ताण तं समण ॥१६०६॥

छलितो छलातिणा सो मण्णे माइंदजालतो वावि[2] ।
को जाणति किध[3] वत्त एत्ताहे वट्टमाणी[4] से ॥१६०७॥

सो पक्खंतरमेगं पि जाति जति मे ततो मि तस्सेव ।
सीसत्तं होज्ज गतो वोत्तु पत्तो जिणसगासं[5] ॥१६०८॥

*श्राभट्ठो य जिणेणं जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसीणं ॥१६०९॥

*किं मण्णे श्रत्थि कम्म उदाहु णत्थि त्ति संसयो तुज्झं ।
वेतपताणय श्रत्थ ण याणसे[6] तेसिमो श्रत्थं ॥१६१०॥

कम्मे तुह संदेहो मण्णसि तं णाणगोयरातीतं ।
तुह तमणुमाणसाधणमणुभूतिमयं फलं जस्स ॥१६११॥

श्रत्थि सुह-दुक्खहेतू कज्जातो वीयमकुरस्सेव ।
सो दिट्ठो चेव मती वभिचारातो ण त जुत्त ॥१६१२॥

---

1. चिय–ता० । 2. वाइ ता० । 3. कह मु० को० । 4. वट्टमाणी से को० ।
5 सगासे को० मु० । 6 याणसी–मु० को० ।

* चिह्नाकित गाथाएँ निर्युक्ति की हैं ।

जो तुल्लसाधणाण फले विसेसो ण सो विणा हेतुं ।
कज्जत्तणातो गोतम ! घडो व्व हेतू य सो[1] कम्मं ।।१६१३।।

बालसरीरं देहंतरपुव्वं इंदियातिमत्तातो ।
जध बालदेहपुव्वो जुवदेहो पुव्वमिह कम्मं ।।१६१४।।

किरियाफलभावातो दाणादीणं फलं किसीए व्व ।
[2]तं चिय दाणादिफलं मणप्पसादाति जति बुद्धी ।।१६१५।।

किरियासामण्णातो जं फलमस्सावि तं मतं कम्मं ।
तस्स परिणामरूवं सुह-दुक्खफलं जतो भुज्जो ।।१६१६।।

होज्ज मणोवित्तीए दाणातिकिये व जति फलं बुद्धी ।
तं ण णिमित्तत्तातो पिण्डो व्व घडस्स विण्णेयो ।।१६१७।।

[3]एवं पि दिट्ठफलता [4]किंया ण कम्मफला पसत्ता ते ।
सा [5]तम्मत्तफलं च्चिय जध मसफलो पसुविणासो ।।१६१८।।

पायं च जीवलोओ वट्टति [6]दिट्ठप्फलासु किरियासु ।
[7]अद्दिट्ठफलासु पुणो वट्टति णासंखभागो वि ।।१६१९।।

सोम्म ! जतो च्चिय जीवा पायं दिट्ठप्फलासु वट्टन्ति ।
[7]अद्दिट्ठफलाओ [8]वि हु ताओ पडिवज्ज तेणेव ।।१६२०।।

इधरा अदिट्ठरहिता सव्वे मुच्चेज्ज ते अपयत्तेण[9] ।
[10]अद्दिट्ठारम्भो चेव [11]किलेसबहुलो भवेज्जाहि ।।१६२१।।

जमणिट्ठभोगभाजो बहुतरया जं च णेह मतिपुव्वं ।
अद्दिट्ठाणिट्ठफलं कोइ वि किरियं समारभते[12] ।।१६२२।।

तेण पडिवज्ज किरिया अदिट्ठेगतियप्फला सव्वा ।
दिट्ठाणेगतफला सा वि अदिट्ठाणुभावेण[13] ।।१६२३।।

अधव फलातो कम्मं कज्जत्तणातो पसाहितं पुव्वं ।
परमाणवो घडस्स व किरियाण तयं फलं भिन्नं ।।१६२४।।

---

1. से को० । 2 दाणादिफल त चिय ता० । 3. चो० ता० । 4. किरिया–मु० को० । 5. तम्मेत्त मु० । 6 दिट्ठफलासु मु० । 7 अदिट्ठ–मु० । 8 वि य ताओ मु० । 9. त्तेण ता० । 10 अदिट्ठा० मु० । 11 केम०मु० । 12 समारभइ मु० को० । 13 –भावेण मु० को० ।

[1]आह णणु मुत्तमेवं[2] मुत्तं चिय कज्जमुत्तिमत्ताओ ।
इध जह मुत्तत्तणतो घडस्स परमाणवो मुत्ता ।।१६२५।।

तध सुहसंवित्तीतो संबंधे वेतणुब्भवातो य ।
वज्झबलाधाणातो परिणामातो य विण्णेय ।।१६२६।।

आहार इवाणल इव घडो व्व णेहादिकतबलाधाणो ।
खीरमिवोदाहरणाइं कम्मरूवित्तगमगाइ ।।१६२७।।

अध मतमसिद्धमेत परिणामातो त्ति सो वि कज्जाओ ।
सिद्धो परिणामो से दधिपरिमाणातिव पयस्स ।।१६२८।।

अब्भातिविगाराणं जध वइचित्त विणा वि कम्मेण ।
तध जति संसारीण हवेज्ज को णाम तो दोसो ?।।१६२९।।

कम्मम्मि व को भेतो जध वज्झक्खधचित्तता सिद्धा ।
तध कम्मपुग्गलाण वि विचित्तता जीवसहिताण ।।१६३०।।

वज्झाण चित्तता जति पडिवण्णा कम्मणो विसेसेण ।
जीवाणुगतस्स मता भत्तीण व सिप्पिणत्थाणं ।।१६३१।।

तो जति तणुमेत्त च्चिय हवेज्ज का कम्मकप्पणा णाम ।
कम्मं पि णणु तणु च्चिय सण्हतरब्भतरा णवर ।।१६३२।।

को तीय विणा दोसो थूलातो सव्वधा विप्पमुक्कस्स ।
देहग्गहणाभावो ततो य ससारवोच्छित्ती ।।१६३३।।

सव्वविमोक्खावत्ती णिक्कारणतो व्व सव्वससारो ।
भवमुक्काण च पुणो संसरणमतो अणासासो ।।१६३४।।

मुत्तस्सामुत्तिमता जीवेण कधं हवेज्ज सबधो ?।
सोम्म ! घडस्स व णभसा जध वा दव्वस्स किरियाए ।।१६३५।।

अधवा पच्चक्ख चियं जीवोवणिबंधण जध सरीरं ।
चेट्ठइ[3] कम्मयमेव भवतरे जीवसजुत्त ।।१६३६।।

मुत्तेणामुत्तिमतो उवघाताणुग्गहा कध होज्ज[4] ।
जध विण्णाणादीण मदिरापाणोसधादीहिं ।।१६३७।।

---

1. चो० ता० । 2. आ० ता० । 3. चिट्ठइ को० मु० । 4. होज्जा मु० को० ।

अधवा णोगतोऽयं संसारी सव्वहा[1] असुत्तो त्ति ।
जमणातिकम्मसंततिपरिणामावण्णरूवो सो ॥१६३८॥

+संताणोऽणातीओ परोप्पर हेतुहेउभावातो ।
देहस्स[2] य कम्मस्स य गोतम ! बीयकुरयाण व ॥१६३९॥

कम्मे चासति गोतम ! जमग्गिहोत्तादि सग्गकामस्स ।
वेतविहित विहण्णति दाणातिफलं च लोयम्मि ॥१६४०॥

कम्ममणिच्छतो वा सुद्धं चिय जीवमीस[3]राइं वा ।
मण्णसि देहातीणं जं कत्तारं ण सो जुत्तो ॥१६४१॥

उवकरणाभावातो णिच्चेट्ठामुत्तातादितो वा वि ।
ईसरदेहारम्भे वि तुल्लता वाऽणवत्था वा ॥१६४२॥

अधव सभावं मण्णसि[4] विण्णाणघणादिवेदवक्कातो ।
तध[5] बहुदोसं गोतम ! ताण च पत्ताणमयमत्थो ॥१६४३॥

*छिण्णम्मि संसयम्मी[6] जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो पंचहिं [7]सह खंडियसतेहिं ॥१६४४॥

---

[३]

*ते पव्वइते सोतुं ततियो आगच्छति जिणसगासे ।
वच्चामि ण[8] वदामी वदित्ता पज्जुवासामि ॥१६४५॥

सीसत्तेणोवगता सपदमिदग्गिभूतिणो जस्स ।
तिभुवणकतप्पणामो स महाभागोऽभिगमणिज्जो ॥१६४६॥

[9]तदभिगमणवंदणोवासणाइणा होज्ज पूतपावोऽहं ।
वोच्छिण्णसंसओ वा वोत्तुं पत्तो जिणसगासं[10] ॥१६४७॥

---

1. सव्वतो ता० । 2. जीवस्स य ता० । 3. जीवमीसरासि वा (?) ता० ।
4. –वेयवुत्ताओ मु० को० । 5. तो को० । तह मु० । 6 समयम्मि वि ता० । ससयम्मि मु० । 7 पंचहिं अ खं–ता० । 8 णं (नहीं है) मु० । 9 तदधिगमवंदणणमसणादिणा होज्ज ता० । 10 सगासे मु० को० ।

+यह गाथा आगे भी आती है—गद्यांक 1665.

*आभट्ठो य जिणेणं जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णु सव्वदरिसी णं ।।१६४८।।

*तज्जीवतस्सरीरं ति [1]संसओ ण वि य पुच्छसे किंचि ।
वेतपताण य अत्थं ण याणसे[2] तेसिमो अत्थो ।।१६४९।।

वसुधातिभूतसमुदयसंभूता चेतण त्ति ते संका ।
पत्तेयमदिट्ठा वि हु मज्जंगमदो व्व समुदाये ।।१६५०।।

जध मज्जगेसु मदो वीसुमदिट्ठो वि समुदये होतुं ।
कालतरे विणस्सति तध भूतगणम्मि चेतण्णं ।।१६५१।।

पत्तेयमभावातो ण रेणुतेल्ल व समुदये चेता ।
मज्जगेसुं तु मतो वीसुं पि ण सव्वसो णत्थि ।।१६५२।।

भमि-धणि-वितण्हतादी पत्तेयं पि हु जधा मतंगेसु ।
तध जति भूतेसु भवे चेता तो[3] समुदए होज्जा ।।१६५३।।

जति वा सव्वाभावो वीसुं तो किं तदंगणियमोऽयं ।
तस्समुदयणियमो वा अण्णेसु वि तो भवेज्जाहि ।।१६५४।।

भूताणं पत्तेय पि चेतणा समुदये दरिसणातो ।
जध मज्जगेसु मदो मति त्ति हेतू ण सिद्धोऽय ।।१६५५।।

णणु पच्चक्खविरोधो गोतम ! त णाणुमाणभावातो ।
तुह पच्चक्खविरोधो पत्तेय भूतचेत त्ति ।।१६५६।।

भूतिदियोवलद्धाणुसरतो तेहिं भिण्णरूवस्स ।
चेता पचगवक्खोवलद्धपुरिसस्स वा सरतो ।।१६५७।।

तदुवरमे वि सरणतो तव्वावारेवि णोवलंभातो ।
इंदियभिण्णस्स मती पचगवक्खाणुभविणो व्व ।।१६५८।।

उवलब्भण्णेण विगाग्गहणतो तदधिओ धुवं अत्थि ।
पुव्वावरवादायणगहणविगारादिपुरिसो व्व ।।१६५९।।

सव्विंदियोवलद्धाणुसरणतो तदधियोणुमन्तव्वो ।
जध पचभिण्णविण्णाणपुरिसविण्णाणसंपण्णो ।।१६६०।।

---

1 मण्णमे ण ता० । 2. याणसी मु० को० । 3. ता-टा० ।

विण्णाणंतरपुव्वं बालण्णाणमिह णाणभावातो ।
जध बालणाणपुव्वं जुवणाणं तं च देहधिय ॥१६६१॥

पढमो[1]त्थणाभिलासो अण्णाहाराभिलासपुव्वोऽयं ।
[2]जध सपताभिलासोऽणुभूतितो सो य देहधियो ॥१६६२॥

बालशरीर देहंतरपुव्वं इंदियातिमत्तातो ।
जुवदेहो बालातिव स जस्स देहो स देहि त्ति ॥१६६३॥

अण्णसुहदुक्खपुव्व सुहाति बालस्स संपतसुहं व ।
अणुभूतिमयत्तणतो अणुभूतिमयो य जीवो त्ति ॥१६६४॥

[3]संताणोणातीओ परोप्परं हेतुहेतुभावातो ।
देहस्स य कम्मस्स य गोतम ! बीयकुराणं व ॥१६६५॥

तो कम्मसरीराणं कत्तारं करणकज्जभावातो ।
पडिवज्ज तदब्भधिय दडघडाण कुलाल व ॥१६६६॥

[4]अत्थि सरीरविधाता पतिणियताकारतो घडस्सेव ।
अक्खाण च करणतो दण्डातीण कुलालो व्व ॥१६६७॥

[5]अत्थिदियविसयाण आदाणादेयभावतोऽवस्सं ।
कम्मार इवादाता लोए सडासलोहाण ॥१६६८॥

[6]भोत्ता देहातीण भोज्जत्तणतो णरो व्व भत्तस्स ।
सघातातित्तणतो अत्थी य अत्थी [7]घरस्सेव ॥१६६९॥

[8]जो कत्तात्ति स जीवो सज्झविरुद्धो त्ति ते मती होज्जा ।
मुत्तातिपसगातो त णो ससारिणो[9]ऽदोसो ॥१६७०॥

जातिस्सरो ण विगत्तो सरणातो बालजातिसरणो व्व ।
जध वा सदेसवत्त[10] णरो सरतो विदेसम्मि ॥१६७१॥

---

1. पढमो थणा० को० मु० । 2. जह बालाहिलासपुव्वो जुवाहिलासो स देहहिओ को० । 3. यह गाथा क्रमाक 1639 पर आ चुकी है । 4. यह गाथा क्रमाक 1567 पर आ गई है । वहा 'देहस्सत्थि विधाता' ऐसा पाठान्तर है । 5. यह गाथा क्रमाक 1568 पर पहले आ गई है । 6. यह गाथा पुनः आई है, देखें क्रमाक 1569 । 7. घडस्सेव–ता० । 8. यह गाथा क्रमाक 1570 पर पहले आ चुकी है । 9. –णो दोसो मु० ता० । 10. सदेहवत्त ता० ।

अध मण्णसि खणिओ वि हु सुमरति विण्णाणसंततिगुणातो ।
तहवि सरीरादण्णो सिद्धो विण्णाणसंताणो ॥१६७२॥

ण य सव्वधेव खणियं णाणं पुव्वोवलद्धसरणातो ।
खणिओ ण सरति भूतं जध जम्माणंतरविणट्ठो ॥१६७३॥

जस्सेगमेगवंथणमेगतेण खणियं च विण्णाणं ।
सव्वखणियविण्णाण तस्साजुत्तं कदाचिदवि ॥१६७४॥

जं सविसयणियत्तं चिय जम्माणंतरहतं च तं कध णु ।
णाहिति सुवहुअविण्णाणविसय [1]खणभंगतादीणि ॥१६७५॥

[2]गेण्हेज्ज सव्वभंगं जति य मती सविसयाणुमाणातो ।
त पि ण जतोऽणुमाण जुत्तं सत्ताइसिद्धीओ ॥१६७६॥

जाणेज्ज वासणातो[4] सा वि हु [5]वासेन्तवासणिज्जाणं ।
जुत्ता[6] समेच्च दोण्ह ण तु जम्माणंतरहतस्स ॥१६७७॥

बहुविण्णाणप्पभवो जुगवमणेगत्थताऽधवेगस्स ।
विण्णाणावत्था वा पडुच्चवित्तीविघातो वा ॥१६७८॥

विण्णाणखणविणासे दोसा इच्चादयो पसज्जंति ।
ण तु ठितसंभूतच्चुतविण्णाणमयम्मि जीवम्मि ॥१६७९॥

तस्स विचित्तावरणक्खयोवसमजाइं चित्तरूवाइं ।
खणियाणि य कालंतरवित्तीणि य मइविधाणाइं ॥१६८०॥

णिच्चो संताणो सि सव्वावरणपरिसंखये जं च ।
केवलमुदित केवलभावेणाणंतमविकप्प ॥१६८१॥

सो जति देहादण्णो तो पविसंतो[7] विणिस्सरंतो वा ।
कीस ण दीसति गोतम ! दुविधाणुवलद्धिदो सा[8] य ॥१६८२॥

असतो खरसिंगस्स व सतो वि दूरादिभावतोऽभिहिता ।
सुहमामुत्तत्तणतो कम्माणुगतस्स जीवस्स ॥१६८३॥

देहाणण्णे व जिए जमग्गिहोत्तादिसग्गकामस्स ।
वेतविहितं विहण्णति दाणादिफल च लोयम्मि ॥१६८४॥

---

1. –स्वयभ–मु० । 2 गिण्हिज्ज मु० । 3. –सिद्धीय–ता० । 4. वासणाओ को० । वासणा उ म० । 5. वासितवा–को० मु० । 6 जुत्तो–ता० । 7. –सतो व निस्स–मु० । सतो व नीसरंतो को० । 8. मात ता० ।

विण्णाणघणादीणं वेदपताण [1]पदत्थमविदतो ।
देहाणण्ण मण्णसि ताण च पताणमयमत्थो ।।१६८५।।

*छिण्णम्मि संसयम्मी जिणेण जरमरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइतो पचहि सह खडियसएहि ।।१६८६।।

---

[४]

*ते पव्वइते सोतुं वियत्तो आगच्छति जिणसगास ।
वच्चामि ण वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ।।१६८७।।

*[2]आभट्ठो य जिणेणं जातिजरामरणविप्पमुक्केणं ।
णामेण य गोत्तेण य-सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ।।१६८८।।

*किं मण्णे[3] पंचभूता अत्थि व णत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थ ण याणसी तेसिमो अत्थो ।।१६८९।।

भूतेसु तुज्झ सका सुविणय-मायोवमाइं होज्ज त्ति ।
ण वियारिज्जताइं भयन्ति ज सव्वधा जुत्ति ।।१६९०।।

भूतातिसंसयातो जीवातिसु का कध त्ति ते बुद्धी ।
तं सव्वसुण्णसंकी मण्णसि मायोवम लोय ।।१६९१।।

जध किर ण सतो परतो णोभयतो णावि अण्णतो सिद्धी ।
भावाणमवेक्खातो वियत्त ! जध दीह-[4]हस्साण ।।१६९२।।

अत्थित्त-घडेकाणेकता य सव्वेकदादिदोसातो ।
सव्वेऽणभिलप्पा वा सुण्णा वा सव्वधा भावा ।।१६९३।।

जाताजातोभयतो ण जायमाण च जायते जम्हा ।
अणवत्थाभावोभयदोसातो सुण्णता तम्हा ।।१६९४।।

हेतू-पच्चयसामग्गिवीसु भावेसु णो य जं कज्ज ।
दीसति सामग्गिमय सव्वाभावे ण सामग्गी ।।१६९५।।

---

1. तमत्थ-मु० को० । 2. देखें, गाथा 1609 । 3. किं मण्णे अत्थि भूया उदाहु नत्थि को० मु० । 4. दीह-हुस्साण ता० ।

परभागादरिसरणतो सव्वाराभागसुहुमतातो य ।
उभयाणुवलभातो सव्वाण्णुवलद्धितो सुण्णं ।।१६९६।।

मा [1]कुण वियत्त ! ससयमसति ण ससयसमुब्भवो जुत्तो ।
खकुसुम-खरसिंगेसु व जुत्तो सो थाणु-पुरिसेसु ।।१६९७।।

को वा विसेसहेतू सव्वाभावे वि थाणु-पुरिसेसु ।
सका ण खपुप्फादिसु विवज्जयो वा कधण्ण भवे ।।१६९८।।

पच्चक्खतोणुमाणादागमतो वा पसिद्धिरत्थाणं ।
सव्वप्पमाणविसयाभावे किध ससग्रो जुत्तो ।।१६९९।।

जं ससयादयो णाणपज्जया त च णेयसम्बद्धं ।
सव्वण्णेयाभावे ण संसयो तेण ते जुत्तो ।।१७००।।

संति च्चिय ते भावा ससयतो सोम्म ! थाणुपुरिसो व्व ।
अथ दिट्ठंतमसिद्धं मण्णसि णणु संसयाभावो ।।१७०१।।

[2]सव्वाभावे वि मती सदेहो सिमिणए व्व णो त च ।
ज सरणातिनिमित्तो सिमिणो ण तु सव्वधाभावो ।।१७०२।।

अणुभूतदिट्ठचिंतितसुतपयतिविकारदेवताणूया[3] ।
सिमिणस्स निमित्ताइ पुण्ण पाव च णाभावो ।।१७०३।।

विण्णाणमयत्तणतो घडविण्णाण व सिमिणग्रो भावो ।
अधवा विहितणिमित्तो घडो व्व णेमित्तियत्तातो ।।१७०४।।

सव्वाभावे च कतो सिमिणोऽसिमिणो त्ति सच्चमलियं ति ।
गधव्वपुर पाडलिपुत्तं [4]तच्चोवयारो त्ति ।।१७०५।।

कज्ज ति कारण ति य सज्झमिणं साधणं ति कत्त त्ति ।
वत्ता वयण वच्च परपक्खोऽयं सपक्खोऽय ।।१७०६।।

किंचेह थिरदवोसिणचलताऽरूवित्तणाइ णियताइं ।
सद्दादयो य गज्झा सोत्तादीयाइ गहणाइं ।।१७०७।।

समता विवज्जग्रो वा सव्वागहणं च किण्ण सुण्णम्मि ।
किं सुण्णता व सम्म सग्गाहो किं व मिच्छत्त ।।१७०८।।

---

1. कुरु को० मु० । 2. चो० ता० । 3. –ताणूगा ता० । 4. तत्थोव –को० मु० ।

किध सपरोभयबुद्धी कधं च तेसिं परोप्परमसिद्धी ।
अध परमतीए भण्णति सपरमतिविसेसणं कत्तो ॥१७०९॥

जुगवं कमेण वा ते विण्णाणं होज्ज [1]दीहहस्सेसु ।
जति जुगव कावेक्खा कमेण पुव्वम्मि काऽवेक्खा ॥१७१०॥

आतिमविण्णाणं वा ज बालस्सेह तस्स काऽवेक्खा ।
तुल्लेसु वि[2] कावेक्खा परोप्परं लोयणाद्दुगे व्व ॥१७११॥

किं [3]हस्सातो दीहे दीहातो चेव किण्ण दीहम्मि ।
कीस व ण खपुप्फातो किण्ण खपुप्फे खपुप्फातो ॥१७१२॥

किं वाऽवेक्खाए च्चिय होज्ज मती वा सभाव एवाय ।
सो [4]भावो त्ति सभावो वंझापुत्तो ण सो जुत्तो ॥१७१३॥

होज्जावेक्खातो वा विण्णाण वाभिधाणमेत्त वा ।
दीह ति व [5]हस्स ति व ण तु सत्ता सेसधम्मा वा ॥१७१४॥

इधरा हस्साभावे सव्वविणासो हवेज्ज दीहस्स ।
ण य सो तम्हा सत्तादयोऽणवेक्खा घडादीण ॥१९१५॥

जाऽवि अवेक्खऽवेक्खणमवेक्खयावेक्खणिज्जमणवेक्खा ।
सा ण मता सव्वेसु वि सतेसु ण सुण्णता णाम ॥१७१६॥

किंचि सतो तध परतो तदुभयतो किंचि णिच्चसिद्ध पि ।
जलदो घडओ पुरिसो [6]णभ च ववहारतो णेय ॥१७१७॥

णिच्छयतो पुण बाहिरणिमित्तमेत्तोवयोगतो सव्व ।
होति सतो जमभावो ण सिज्झति णिमित्तभावे वि ॥१७१८॥

अत्थित्तघडेकाणेगता य पज्जायमेत्तचिंतेय ।
अत्थि घडे पडिवण्णे इधरा सा किं ण खरसिंगे ॥१७१९॥

घडसुण्णअण्णताए वि सुण्णता का घडाधिया सोम्म ! ।
एकत्ते घडओ च्चिय ण सुण्णता णाम घडधम्मो ॥१७२०॥

विण्णाणवयणवादीणमेगता तो तदत्थिता सिद्धा ।
अण्णत्ते अण्णाणी णिव्वयणो वा कध वादी ॥१७२१॥

---

1 दीहहुस्सेसु ता० । 2. व मु० को० । 3 हुस्सा–ता० । 4 सा भावो ता० ।
5. हुस्स ता० । 6. तह मु०, नह को० ।

घडसत्ता घडधम्मो[1] ततोऽणण्णो पडादितो भिण्णो ।
अत्थि त्ति तेण भणिते को घड एवेति णियमोऽयं ॥१७२२॥

जं वा जदत्थि तं तं घडो त्ति सव्वघडतापसंगो को ।
भणिते घडोत्थि[2] व कधं सव्वत्थितावरोधो त्ति ॥१७२३॥

अत्थि त्ति तेण भणिते घडोऽघडो वा घडो तु अत्थेव ।
चूतोऽचूतो व्व दुमो चूतो तु जधा दुमो णियमा ॥१७२४॥

किं तं जातं ति मती जाताजातोभयं पि जमजातं[3] ।
अध जातं पि ण जातं किं ण खपुप्फे वियारोऽयं ॥१७२५॥

जति सव्वधा ण जातं किं जम्माणतरं तदुवलम्भो ।
पुव्वं वाऽणुवलम्भो पुणो वि कालांतरहतस्स ॥१७२६॥

जध सव्वधा ण जातं जातं सुण्णवयणं तधा भावा ।
अध जातं पि ण जातं पभासिता[4] सुण्णता केण ?॥१७२७॥

जायति जातमजातं जाताजातमध जायमाणं च ।
कज्जमिह विवक्खयाए ण जायए सव्वधा किंचि ॥१७२८॥

रूवि त्ति जाति जातो कुंभो सठाणतो पुणरजातो ।
जाताजातो दोहि वि तस्समय जायमाणो त्ति ॥१७२९॥

पुव्वकतो तु घडतया परपज्जाएहि तदुभएहि च ।
जायतो य पडतया ण जायते सव्वधा कुंभो ॥१७३०॥

वोमातिणिच्चं जातं ण जायते तेण सव्वधा सोम्म ! ।
इय दव्वतया सव्वं भयणीज्ज पज्जवगतीय[5] ॥१७३१॥

दीसति सामग्गीमयं सव्वमिहत्थि ण य सा णणु विरुद्धं ।
घेप्पति व ण पच्चक्खं किं [6]कच्छभरोमसामग्गी ॥१७३२॥

सामग्गिमयो वत्ता वयण चत्थि जति तो कतो सुण्णं ।
अध णत्थि केण भणितं वयणाभावे सुतं केण ? ॥१७३३॥

जेण चेव ण वत्ता वयणं वा तो ण सति वयणिज्जा ।
भावा तो सुण्णमिदं वयमिण[7] सच्चमलियं वा ॥१७३४॥

---

1. -धम्मा ता० । 2. घडो त्ति ता० को० । 3. जदजायं को० मु० । 4. पयासिया मु० । 5 पज्जवगईए मु० को० । 6 कच्छपरोम-मु० । 7. वयणमिद मु० को० ।

जति सच्चं णाभावो अधालियं ण प्पमाणमेत ति ।
अब्भुवगतं ति व मती णाभावे [1]जुज्जए तं पि ।।१७३५।।

सिकतासु किण्ण तेल्ल सामग्गीतो तिलेसु व[2] किमत्थि ।
किं व ण सव्वं सिज्झइ सामग्गीतो खपुप्फाणं ।।१७३६।।

सव्वं सामग्गिमय णेगतोय जतोऽणुरप्पदेसो ।
अध सो वि सप्पदेसो जत्थावत्था स परमाणू ।।१७३७।।

दीसति सामग्गिमय ण याणवो संति णणु विरुद्धमिद[3] ।
किं वाणूणमभावे निप्फण्णमिण खपुप्फेहि ।।१७३८।।

देसस्साराभागो घेप्पति ण य सो त्थि[4] णणु विरुद्धमितं ।
सव्वाभावे वि ण सो घेप्पति किं खरविसाणस्स ।।१७३९।।

परभागादरिसणतो णाराभागो वि किमणुमाणं ते ।[5]
आराभागग्गहणे किं व ण परभागससिद्धी ? ।।१७४०।।

सव्वाभावे वि कतो आरा-पर-मज्झभागणाणत्ता ।
अध परमती य भण्णति स-परमइविसेसण कत्तो ।।१७४१।।

आर-पर-मज्झभागा पडिवण्णा जति ण सुण्णता णाम ।
अप्पडिवण्णेसु वि का विकप्पणा खरविसाणस्स ।।१७४२।।

सव्वाभावे चाराभागो किं दीसते ण [6]परभागो ।
सव्वागहण व ण किं किं वा ण विवज्जओ होति ? ।।१७४३।।

परभागदरिसण वा फलिहादीण ति ते धुवं संति ।
जति वा ते वि ण सता परभागादरिसणमहेऊ ।।१७४४।।

सव्वादरिसणतो च्चिय ण भण्णते कीस भणति तं णाम ।
पुव्वब्भुवगतहाणि[7] पच्चक्खविरोधता चेव ।।१७४५।।

णत्थि पर-मज्झभागा अप्पच्चक्खत्ततो मती होज्ज ।
णणु अक्खत्थावत्ती अप्पच्चक्खत्तहाणी वा ।।१७४६।।

---

1. जुत्तमेत्त पि ता०, जुत्तमेंय ति मु० । 2. वि० मु० को० । 3 –मित ता०; –मिण को० । 4. सो त्ति णणु मु० को० । 5. ति–मु० ता० । 6. परिभागो ता० । 7. –हाणी मु० को० । 8. विरोहओ मु० को० ।

अत्थि अपच्चक्खं पि हु जध भवंतो संसयातिविण्णाणं ।
अध णत्थि सुण्णता का कास व केणोवलद्धा वा ॥१७४७॥

पच्चक्खेसु ण जुत्तो तुह भूमि-जलाणलेसु संदेहो ।
अणिलागासेसु भवे सो वि ण [1]कज्जोणुमाणातो ॥१७४८॥

अत्थि [2]अदेस्सापादितफरिसातीणं गुणी गुणत्तणतो ।
रूवस्स घडो व्व गुणी जो तेसिं सोऽणिलो णाम ॥१७४९॥

अत्थि वसुधातिभाणं तोयस्स घडोव्व मुत्तिमत्तातो ।
जं भूताणं भाणं तं वोम वत्त ! सुव्वत्तं ॥१७५०॥

एव पच्चक्खादिप्पमाणसिद्धाइं सोम्म ! पडिवज्ज ।
जीवसरीराधारोवयोगधम्माइं भूताइं ॥१७५१॥

किध सज्जीवाइं मती तल्लिंगातोऽणिलावसाणाइं ।
वोम विमुत्तिभावादाधारो चेव ण सजीवं ॥१७५२॥

जम्म-जरा-जीवण-मरण-रोहणा-हारदोहलामयतो ।
रोग-तिगिच्छातीहि य णारि व्व सचेतणा तरवो ॥१७५३॥

[3]छिक्कपरोइया [4]छिक्कमत्तसंकोयतो कुलिंगो व्व ।
आसयसंचारातो वियत्त ! वल्लीवितागाई ॥१७५४॥

सम्मादयो य सावप्पवोधसंकोयणादितोऽभिमया[5] ।
वउलातओ य सद्दातिविसय [6]कालोवलम्भातो ॥१७५५॥

मसकुरोव्व सामाणजातिरूवंकुरोवलम्भातो ।
तरुगण-विद्दुम-लवणो-वलादयो सासयावत्था ॥१७५६॥

भूमिक्खतसाभावियसम्भवतो दद्दुरो व्व जलमुत्त ।
अहवा मच्छो व्व सभाववोमसम्भूतपातातो ॥१७५७॥

अपरप्पेरिततिरियाणियमितदिग्गमणतोऽणिलो गो व्व ।
अणलो आहारातो विद्धि-विकारोवलम्भातो ॥१७५८॥

तणवोऽणब्भातिविकारमुत्तजातित्ततोऽणिलंताइं ।
सत्थासत्थहताओ णिज्जीवसजीवरूवाओ ॥१७५९॥

---

1. ण जुत्तोऽणुमाणाओ को० मु० । 2. अदिस्सा–मु०, अद्दिसा–को० । 3. छिक्कपरो को० मु० । 4. मेत्त को० मु० । 5. –भिमतो ता० । 6. –कालाव –ता० ।

सिज्झन्ति सोम्म ! बहुसो जीवा णवसत्तसंभवो ण वि य ।
परिमितदेसो लोगो ण संति चेगिंदिया जेसिं ।।१७६०।।

तेसिं भवविच्छित्ती पावति णेट्ठा य सा जतो तेणं ।
सिद्धमणंता जीवा भूताधारा य तेऽवस्स ।।१७६१।।

एवमहिंसऽभावो जीवघण ति ण य तं जतोऽभिहितं ।
सत्थोवहतमजीवं ण य जीवघण त्ति तो हिंसा ।।१७६२।।

ण य घायउ[1] त्ति हिंसो णाघातेतो त्ति णिच्छितमहिंसो ।
ण विरलजीवमहिंसो ण य जीवघणो त्ति तो हिंसो[2] ।।१७६३।।

अहणंतो वि हु हिंसो दुट्ठतणओ मतो अहिमरो व्व ।
बाधेतो[3] वि ण हिंसो सुद्धत्तणतो जधा वेज्जो ।।१७६४।।

पचसमितो तिगुत्तो णाणी अविहिंसओ ण विवरीतो ।
होतु व सपत्ती से मा वा जीवोवरोधेण ।।१७६५।।

असुभो जो परिणामो सा हिंसा सो तु बाहिरणिमित्त ।
को वि अवेक्खेज्ज ण वा जम्हाऽणेगंतिय बज्झं ।।१७६६।।

असुभपरिणामहेऊ[4] जीवाबाधो त्ति तो मत हिंसा ।
जस्स तु ण सो णिमित्त संतो वि ण तस्स सा हिंसा ।।१७६७।।

सद्दातयो रतिफला ण वीतमोहस्स भावसुद्धीतो ।
जध तध जीवाबाधो ण सुद्धमणसो वि हिंसाए ।।१७६८।।

*छिण्णम्मि संसयम्मि जिणेण जरामरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइतो पंचहिं सह खंडियसतेहिं ।।१७६९ ।

---

1. घातइ त्ति ता० । 2. हिंसा ता० । 3 बाहितो न वि मु० को० । 4 हेउ ता० ।

[५]

*ते पव्वइते सोतुं सुधम्मो[1] आगच्छती[2] जिणसगासं ।
वच्चामि ण वदामि[3] वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१७७०॥

*आभट्ठो य जिणेण जाति-जरा-मरणविप्पमुक्केणं ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१७७१॥

*किं मण्णे जारिसो इधभवम्मि सो तारिसो परभवे वि ।
वेतपताण य अत्थ ण याणसी तेसिमो अत्थो ॥१७७२॥

कारणसरिसं कज्जं बीयस्सेवंकुरो[4] त्ति मण्णतो ।
इधभवसरिसं सव्व जमवेसि परे वि [5]तदजुत्तं ॥१७७३॥

जाति सरो [6]सगातो भूतणओ [7]सरिसवाणुलित्तातो ।
सजायति गोलोमाऽविलोमसंजोगतो दुव्वा ॥१७७४॥

[8]इति रुक्खायुव्वेते जोणिविधाणे य विसरिसेहिंतो ।
दीसति जम्हा जम्मं सुधम्म ! [9]तं णायमेगतो ॥१७७५॥

अधव जतो च्चिय बीयाणुरूवजम्मं मतं ततो चेव ।
[10]जीव गेण्ह भवातो भवतरे चित्तपरिणामं ॥१७७६॥

जेण भवंकुरबीयं कम्मं चित्तं च तं जतोऽभिहितं ।
[11]हेतु विचित्तत्तणओ [12]भवकुरविचित्तया तेण ॥१७७७॥

जति पडिवण्ण कम्म हेतुविचित्तत्ततो विचित्तं च ।
तो तप्फल पि चित्त [13]पवज्ज ससारिणा सोम्म ! ॥१७७८॥

चित्त ससारित्तं विचित्तकम्मफलभावतो हेतू ।
इध चित्त चित्ताण कम्माण फल व लोगम्मि ॥१७७९॥

चित्ता कम्मपरिणती पोग्गलपरिणामतो जधा बज्झा ।
कम्माण चित्तता पुण तद्धेतुविचित्तभावातो ॥१७८०॥

---

1 सुहुम मु०, सुहम्म को० । 2. आगच्छइ को० मु० । 3. वदामी मु० । 4. –कुरोव्व ता० । 5. तमजुत्त मु० को० । 6. सिगाओ–मु० को० । 7. सासवाणु–मु० को० । 8. जति ता० । 9 तो मु० । 10 जीयं ता० । 11. वियत्तत्तणतो ता० । 12 वियत्तता ता० । 13. पव्वज्ज ता० । 14. बज्झं ता० ।

अधवा इधभवसरिसो परलोगो वि जति सम्मतो तेण ।
कम्मफल पि इधभवसरिसं पडिवज्ज परलोगे ।।१७८१।।

किं भणितमिधं मणुया णाणागतिकम्मकारिणो सति ।
जति ते तप्फलभाजो परे वि तो सरिसता जुत्ता ।।१७८२।।

अध इध सफलं कम्मं ण परे तो सव्वधा ण सरिसत्त ।
अकतागमकतणासो[1] कम्माभावोऽधवा पत्तो ।।१७८३।।

कम्माभावे वि[2] कतो भवंतरं सरिसता व तदभावे ।
णिक्कारणतो य भवो जति तो णासो वि तध चेव ।।१७८४।।

कम्माभावे वि मती को दोसो होज्ज जति सभावोऽयं ।
जध कारणाणुरूव घडातिकज्जं सभावेण ।।१७८५।।

होज्ज सभावो वत्थुं णिक्कारणता व वत्थुधम्मो वा ।
जति वत्थु णत्थि तओऽणुवलद्धीतो खपुप्फ व ।।१७८६।।

अच्चंतमणुवलद्धो वि अध तओ अत्थि णत्थि किं कम्म ।
हेतू व तदत्थित्ते जो णणु कम्मस्स वि स एव ।।१७८७।।

कम्मस्स वाभिहाण हेतु[3]सभावो त्ति होतु को दोसो ।
णिच्च व सो सभावो सरिसो एत्थ च को हेतू ।।१७८८।।

सो मुत्तोऽमुत्तो वा जति मुत्तो तो ण सव्वधा सरिसो ।
परिणामतो पयं पि व ण देहहेतू जति अमुत्तो ।।१७८९।।

उवकरणाभावातो ण य भवति सुधम्म ! सो अमुत्तो त्ति[4] ।
कज्जस्स मुत्तिमत्ता सुहसवितातितो चेव ।।१७९०।।

अधवाऽकारणतो च्चिय सभावतो तो वि[5] सरिसता कत्तो ।
किमकारणतो ण भवे विसरिसता किं व विच्छित्ती ।।१७९१।।

अध[6] वि सभावो धम्मो वत्थुस्स ण सो वि सरिसओ णिच्च ।
उप्पात्त-ट्ठिति-भगा चित्ता ज वत्थुपज्जाया ।।१७९२।।

कम्मस्स वि परिणामो सुधम्म ! धम्मो स पोग्गलमयस्स ।
हेतू चित्तो जगतो होति सभावो त्ति को दोसो ।।१७९३।।

---

1. –णामा मु० । 2. य कतो मु० को० । 3 होज्ज सभावो मु० को० । 4 अमुत्तो वि को० मु० । 5. तो व ता० । 6. अहव मु० ।

अधवा सव्वं वत्थुं पतिक्खणं चिय सुधम्म ! धम्मेहिं ।
संभवति वेति केहिं य[1] केहि य[1] तदवत्थमच्चंतं ॥१७९४॥

तं अप्पणो वि सरिसं ण पुव्वधम्मेहिं पच्छिमिल्लाण ।
सकलस्स तिभुवणस्स य सरिसं सामण्णधम्मेहिं ॥१७९५॥

को सव्वधेव सरिसोऽसरिसो वा इधभवे परभवे वा ।
सरिसासरिसं सव्वं णिच्चाणिच्चातिरूव च ॥१७९६॥

जध णियएहिं वि सरिसो ण जुवा भुविवालवुड्ढधम्मेहिं ।
जगतो वि[2] समो सत्तादिएहिं तध परभवे जीवो ॥१७९७॥

मणुओ देवीभूतो सरिसो सत्तादिएहिं जगतो वि ।
देवादीहि विसरिसो णिच्चाणिच्चो वि एमेय ॥१७९८॥

उक्करिसावकरिसता ण समाणाए वि होति[3] जातीए ।
सरिस्सगाहे जम्मा दाणातिफल विथा तम्हा[4] ॥१७९९॥

जं च सियालो वइ[5] एस जायते वेतविहितमिच्चादि ।
सग्गीयं[6] जण्णफल तमसम्वद्ध सरिसताए ॥१८००॥

*छिण्णम्मि संसयम्मिं जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो पर्चहिं सह खडियसएहिं ॥१८०१॥

---

[६]

*ते पव्वइते सोतुं मडिओ आगच्छती जिणसगास ।
वच्चामि ण वदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१८०२॥

*आभट्ठो य जिणेण जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१८०३॥

*किं मण्णे वंध-मोक्खा सति त्ति संसयो तुज्झं ।
वेतपताणं य अत्थं ण याणसी तेसिमो अत्थो ॥१८०४॥

---

1. वि मु० को० । 2. य ता० । 3. वि जेण जातीए मु० को० । 4. जम्हा ता० ।
5. दव एम ता० । 6 सग्गीय ज च फल मु० को० ।

तं मण्णसि जति बंधो जोगो जीवस्स कम्मणा समयं ।
पुव्वं पच्छा जीवो कम्मं व समं व तें होज्जा ॥१८०५॥

ण हि पुव्वमहेतूतो खरसिंगं वातसंभवो जुत्तो ।
णिक्कारणजातस्स य णिक्कारणतो च्चिय विणासो ॥१८०६॥

अधवाणाति च्चिय सो णिक्कारणतो ण कम्मजोगो से ।
[1]अह णिक्कारणतो सो मुक्कस्स वि होहिति स भुज्जो ॥१८०७॥

होज्ज [2]व स णिच्चमुक्को बंधाभावम्मि को व से मोक्खो ।
ण हि मुक्कव्ववदेसो बंधाभावे मतो णभसो ॥१८०८॥

ण य कम्मस्स वि पुव्वं कत्तुरभावे समुब्भवो जुत्तो ।
णिक्कारणतो सो वि य तध जुगवुप्पत्तिभावो[3] य ॥१८०९॥

ण हि कत्ता कज्जं ति य जुगवुप्पत्तीय [4]जीवकम्माणं ।
जुत्तो ववदेसोऽयं जध लोए गोविसाणाण ॥१८१०॥

होज्जाणातीयो वा संबंधो तध वि ण घडते मोक्खो ।
जोऽणाती सोऽणंतो जीव-णभाण व संबधो ॥१८११॥

इय जुत्तीय ण घडते सुव्वति य सुतीसु[5] बधमोक्खो[6]त्ति ।
तेण तुह ससग्रोऽयं ण य कज्जो य जधा सुणसु ॥१८१२॥

सताणोऽणातीग्रो परोप्परं हेतुहेतुभावातो ।
देहस्स य कम्मस्स य मडिय ! बीयंकुराणं व ॥१८१३॥

ग्रत्थि स देहो जो कम्मकारण जो य कज्जमण्णस्स ।
कम्म च देहकारणमत्थि य जं कज्जमण्णस्स ॥१८१४॥

कत्ता जीवो कम्मस्स करणतो जध घडस्स घडकारो ।
एव चिय देहस्स वि कम्मकरणसभवातो त्ति ॥१८१५॥

कम्मं करणमसिद्धं व ते मती कज्जतो[7] य तं सिद्धं ।
किरियाफलदो य पुणो पडिवज्ज तमग्गिभूति व्व ॥१८१६॥

ज संताणोणाती तेणाणतोऽवि णायमेगतो ।
दीसति सतो वि जतो कत्थ[8]ति बीयकुरादीणं ॥१८१७॥

---

1. ग्रवि ता० । 2 होज्ज स मु० । 3 –भावे य मु० को० । 4. कम्मजीवाण ता० । 5. सुतीए को० 6. मोक्खा त्ति मु० । 7 कज्जतो तय सिद्ध मु० को० । 8 कत्थइ मु० को० । 9. –कुराइण मु० को०, –दीण व ता० ।

अण्णतरमणिव्वत्तितकज्जं बीयंकुराण जं विहितं ।
तत्थ हतो संताणो कुक्कुडि-अण्डातियाणं च ।।१८१८।।

जधवेह कंचणोवलसंजोगोऽणातिसततिगतो वि ।
वोच्छिज्जति सोवायं तध जोगो जीवकम्माणं ।।१८१९।।

तो किं जीवणभाणं व[1] जोगो अध कंचणोवलाणं व ।
जीवस्स य कम्मस्स य भण्णति दुविधो वि ण विरुद्धो ।।१८२०।।

पढमोऽ[2]भव्वाणं चिय भव्वाणं कंचणोवलाणं व ।
जीवत्ते सामण्णे भव्वोऽभव्वो त्ति को भेतो ।।१८२१।।

होतु व[3] जति कम्मकतो ण विरोधो णारगातिभेदो व्व ।
भणध य भव्वाऽभव्वा सभावतो तेण सदेहो ।।१८२२।।

दव्वातित्ते तुल्ले जीवणभाणं सभावतो भेतो ।
जीवाजीवातिगतो जध तध भव्वेतरविसेसो ।।१८२३।।

एवं पि भव्वभावो जीवत्त पि व सभावजातीतो ।
पावति णिच्चो तम्मि य तदवत्थे णत्थि [4]णिव्वाणं ।।१८२४।।

जध घडपुव्वाभावोऽणातिसभावो वि सनिधणो एवं ।
जति भव्वत्ताभावो भवेज्ज किरियाय को दोसो ।।१८२५।।

अणुदाहरणमभावो खरसिग पि व मती ण त जम्हा ।
भावो च्चिय स विसिट्ठो कुम्भाणुप्पत्तिमेत्तेण ।।१८२६।।

[5]एव भव्वुच्छेतो कोट्ठागारस्स वावचयतो त्ति ।
तं णाणतत्तणतोऽणागतकालवराणं व ।।१८२७।।

जं चातीताणागतकाला तुल्ला जतो य संसिद्धो ।
एक्को अणतभागो भव्वाणमतीतकालेणं ।।१८२८।।

एस्सेण तत्तियो च्चिय जुत्तो जं तो वि सव्वभव्वाणं ।
जुत्तो ण समुच्छेदो होज्ज मती [6]किध मत सिद्ध ।।१८२९।।

भव्वाणमणतत्तणमणतभागो व किध व मुक्को सि ।
कालादओ व्व मंडिय ! मह वयणातो [7]व पडिवज्ज ।।१८३०।।

---

1 व अह जोगो कंचणो—मु० को० । 2 पढमो वामव्वाण भव्वाणं मु० को । 3. होतु जति मु० । 4. णेव्वाण ता० । 5 चो० ता० । 6. कहमिण सिद्ध मु० को० । 7. य ता० ।

सव्वभूतमिणं गेण्हसु मह वयणातोऽवसेसवयणं व ।
सव्वणुतादितो वा [1]जाणयमज्झत्थवयणं व ।।१८३१।।

भणसि किध सव्वण्णू सव्वेसिं सव्वसंसयच्छेत्ता ।
दिट्ठताभावम्मि वि पुच्छसु जो ससयो जस्स ।।१८३२।।

[2]भव्वा वि ण सिज्झिस्सति केइ कालेण जति वि सव्वेण ।
णणु ते वि अभव्वच्चिय किं वा भव्वत्तणं तेसिं ।।१८३३।।

[3]भण्णति भव्वो जोग्गो ण य जोगत्तेण[4] सिज्झते सव्वो ।
जध जोग्गम्मि वि दलिते [5]सव्वत्थ ण कीरते पडिमा ।।१८३४।।

जध वा स एव पासाण-कणगजोगो वियोगजोग्गो वि ।
ण विजुज्जति सव्वो च्चिय स विउज्जति जस्स सपत्ती ।।१८३५।।

किं पुण जा संपत्ती सा जोगस्स[6] एव ण तु [7]अजोग्गस्स ।
तध जो मोक्खो णियमा सो भव्वाण ण इतरेसिं ।।१८३६।।

[8]कतकादिमत्तणातो मोक्खो णिच्चो ण होति कुंभो व्व ।
णो पद्धसाभावो भुवि तद्धम्मा वि जं णिच्चो ।।१८३७।।

अणुदाहरणमभावो एसो वि मती ण त जतो णियओ[9] ।
कुम्भविणासविसिट्ठो भावो च्चिय पोग्गलमयोऽयं[10] ।।१८३८।।

[11]किं वेगतेण कत्त पोग्गलमेत्तविलयम्मि जीवस्स ।
किं णिव्वत्तितमधियं णभसो घडमेत्तविलयम्मि ।।१८३९।।

सोऽणवराधो व्व पुणो ण बज्झते बंधकारणाभावा ।
जोगो[12] य बधहेतू ण य सो[13] तस्सासरीरो त्ति ।।१८४०।।

ण पुणो तस्स पसूती बीजाभावादिहंकुरस्सेव ।
बीय च तस्स कम्मं ण य तस्स तयं ततो णिच्चो ।।१८४१।।

दव्वामुत्तत्तणातो णभं व्व णिच्चो मतो स दव्वतया ।
सव्वगतत्तावत्ती मति त्ति तं णाणुमाणातो ।।१८४२।।

---

1. जाणसु को० । 2 चो० ता० । 3. आ० ता० । 4. जोग्गो तेण ता० । 5. सव्वत्थि मु० । 6 जोग्गस्स ता० । 7. अजोगस्स ता० । 8 चो० ता० । 9 णियत ता० । 10. पमो य मु० । 11 अधवा किं ता० । 12. जोगा मु० को० । 13 ण य ते मु० को०

को वा णिच्चग्गाहो सव्व च्चिय वि भवभंगथितिमतियं ।
पज्जायंतरमेत्तप्पणा[1] दणिच्चातिववदेसो ॥१८४३॥

मुत्तस्स कोऽवकासो सोम्म ! तिलोगसिहरं मती किध से ।
कम्मलघुतातवागतिपरिणामादीहि भणितमिदं ॥१८४४॥

किं सक्किरियमरूवं मंडिय ! भुवि चेतणं च किमरूवं ।
जध से[2] विसेसधम्मो चेतण्णं तध मता किरिया ॥१८४५॥

कत्तादित्तणतो वा सक्किरियोऽयं मतो कुलालो व्व ।
[3]देहप्फदणातो वा पच्चक्ख जतपुरिसो व्व ॥१८४६॥

[3]देहप्फदणहेतू होज्ज पयत्तो त्ति सो वि णाकिरिए ।
होज्जादिट्ठो व्व मती [4]तदरूवित्ते णणु समाणं ॥१८४७॥

रूवित्तम्मि स देहो वच्चो तप्फंदणे पुणो हेतू ।
पतिणियतपरिप्फदणमचेतणाणं ण वि य जुत्तं ॥१८४८॥

होतु किरिया भवत्थस्स कम्मरहितस्स किं णिमित्ता सा ।
णणु तग्गतिपरिणामो[5] जध सिद्धत्तं तधा सा वि ॥१८४९॥

किं सिद्धालयपरतो ण गती धम्मत्थिकायविरहातो ।
सो गतिउवग्गहकरो लोगम्मि जमत्थि णालोए ॥१८५०॥

लोगस्स त्थि विवक्खो सुद्धत्तणतो घडस्स अघडो व्व ।
स घडाति च्चिय मती ण णिसेधातो तदणुरूवो ॥१८५१॥

तम्हा धम्माऽधम्मा लोगपरिच्छेतकारिणो जुत्ता ।
इधरागासे तुल्ले लोगोऽलोगोत्ति को भेतो ॥१८५२॥

लोगविभागाभावे पडिघाताभावतोऽणवत्थातो ।
सववहाराभावो सवधाभावतो होज्जा ॥१८५३॥

णिरणुग्गहत्तणातो ण गती परतो जलादिव झसस्स ।
जो गमणाणुग्गहिया[6] सो धम्मो लोगपरिमाणो ॥१८५४॥

अत्थि परिमाणकारी लोगस्स पमेयभावतोऽवस्सं ।
णाणं पि व णेयस्सालोगत्थित्ते य सोऽवस्सं ॥१८५५॥

---

1. –प्पणा हि णिच्चा–ता० । 2 सो ता० । 3. देहप्फडण ता० । 4. तदरूवत्ते मु० को० । 5 परिणामा को० मु० । 6 –ग्गहितो ता० ।

पडरणं पसत्तमेव थारणातो त च रणो जत्तो छट्ठी ।
इध कत्तिलक्खरणेय कत्तुरणत्थतरं थाए ॥१८५६॥

रणभरिणच्चत्तरणश्रो वा थारणविरणासपतरणं रण जुत्तं से ।
तध कम्माभावातो पुरणक्किरियाभावतो वा वि ॥१८५७॥

रिणच्चत्थारणतो वा वोमातीरण पडरण पसज्जेज्जा ।
अध रण सतसरणेगतो थारणातोऽवस्सपडरण ति ॥१८५८॥

भवतो सिद्धो त्ति मती तेरणातिमसिद्धसभवो जुत्तो ।
कालारणातित्तरणतो पढमशरीर व तदजुत्त ॥१८५९॥

परिमियदेसेऽरणता किध माता मुत्तिविरहितत्तातो ।
[1]रणेयम्मि च णाणाइ दिट्ठीश्रो चेगरूवम्मि ॥१८६०॥

ण ह वइ ससरीरस्स प्पियऽप्पियावहतिरेवमादीरणं ।
चेतपदारण च तुम रण सदत्थ मुरणसि तो सका ॥१८६१॥

तुह वंधे मोक्खम्मि य सद य रण कज्जा जतो फुडो चेव ।
ससरीरेतरभावो रणरणु जो सो वध-मोक्खो त्ति ॥१८६२॥

*छिण्णम्मि संसयम्मि जिरणेरण जरमररणविप्पमुक्केरण ।
सो समरणो पव्वइतो [3]अद्धुट्ठेहि सह खडियसतेहिं ॥१८६३॥

---

[७]

*ते पव्वइते सोतुं मोरिश्रो आगच्छती जिणसगासं ।
वच्चामि रण वदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१८६४॥

*आभट्ठो य जिरणेरणं जाइ-जरा-मररणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१८६५॥

*किं मण्णे अत्थि देवा उदाहु णत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वेतपतारण य अत्थ रण यारणसी तेसिमो अत्थो ॥१८६६॥

तं मण्णसि णेरइया परतता दुक्खसंपउत्ता[4] य ।
रण तरति इहागतु सद्धेया सुव्वमारणा वि ॥१८६७॥

---

1 णियम्मि मु० । 2. प्पियाप्पिय मु० । 3 अद्धुट्ठेहिं को०, अद्धुट्ठेहिं मु० ।
4. सपतत्ता ता० ।

सच्छंदचारिणो पुण देवा दिव्वप्पभावजुत्ता य ।
ज ण कताइ वि दरिसणमुवेंति तो संसतो तेसु ॥१८६८॥

मा कुरु संसयमेते [1]सुदूरं मणुयादिभिण्णजातीए ।
पेच्छसु पच्चक्ख चिय चतुव्विधे देवसंघाते ॥१८६९॥

पुव्व पि ण सदेहो जुत्तो जं जोतिसा सपच्चक्खं ।
दीसति तक्कता वि य उवघाताऽणुग्गहा जगतो ॥१८७०॥

आलयमेत्त च मती पुरं व तव्वासिणो तध वि सिद्धा ।
जे ते देव त्ति मता ण य निलया णिच्चपरिसुण्णा ॥१८७१॥

को जाणति व किमेतं ति [2]होज्ज णिस्संसय विमाणाइ ।
रतणमयणभोगमणादिह जध विज्जाधरादीण ॥१८७२॥

होज्ज मती माएय तधावि तक्कारिणो सुरा जे ते ।
ण य मायादिविकारा पुर व णिच्चोवलभातो ॥१८७३॥

जति णारगा पवण्णा पकिट्ठपावफलभोतिणो तेणं ।
सुबहुगपुण्णफलभुजो पवज्जितव्वा सुरगणा वि ॥१८७४॥

संकतदिव्वपेम्मा विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तव्वा ।
अणधीणमणुअकज्जा णरभवमसुह ण एंति सुरा ॥१८७५॥

णवरि जिण जम्म-दिक्खा-केवल-[3]णिव्वाणमहणियोगेणं ।
भत्तीय सोम्म ! संसयवोच्छेतत्थ व एज्जण्हु[4] ॥१८७६॥

पुव्वाणुरागतो वा समयणिबद्धा तवोगुणातो वा ।
णरगणपीडाऽणुग्गह कदप्पादीहि वा केइ ॥१८७७॥

जातिस्सरकधणातो कासति पच्चक्खदरिसणातो य ।
विज्जामतोवायणसिद्धीतो गहविकारा तो ॥१८७८॥

उक्किट्ठपुण्णसंचयफलभावातोभिधाणसिद्धीतो ।
सव्वागमसिद्धीतो य संति देव त्ति सद्धेयं ॥१८७९॥

दव त्ति सत्थयमित सुद्धत्तणतो घडाभिधाण व ।
अध व मती मणुओ च्चिय देवो गुण-रिद्धिसपण्णो ॥१८८०॥

---

1 दूरं ता० । 2 भोज्ज ता० । 3 णेव्वाण ता० 4. एज्जहण्हा मु०; एज्जण्हा को० ।

त ण यतो तच्चत्थे सिद्धे उवयारतो मता सिद्धी ।
तच्चत्थसिहे सिद्धे माणवसिघोवयारो व्व ॥१८८१॥

देवाभावे विफल[1] जमग्गिहोत्तादियाण किरियाणं ।
सग्गीय जण्णाण य दाणातिफल च तदयुत्त ॥१८८२॥

जम-सोम-सूर-सुरगुरु-सारज्जादीणि जयति जण्णेहिं ।
मतावाहणमेव य इदादीण विधा सव्वं ॥१८८३॥

*छिण्णम्मि संसयम्मि जिणेण जरमरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइतो अद्धुट्ठेहि सह खडियसतेहि ॥१८८४॥

---

[८]

*ते पव्वइते सोतु अकपिओ आगच्छती जिणसगासं ।
वच्चामि ण वदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१८८५॥

*आभट्ठो य जिणेण जाइ-जरा-मरण-विप्पमुक्केण ।
नामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१८८६॥

*किं मण्णे णेरइया अत्थि णत्थि त्ति ससयो तुज्झं ।
वेतपताण य अत्थ न याणसी तेसिमो अत्थो ॥१८८७॥

त मण्णसि पच्चक्खा देवा चदातयो तधण्णे वि ।
विज्जामंतोवायणफलाइसिद्धीए गम्मति ॥१८८८॥

ते पुण सुतिमेत्तफला णेरइय त्ति किध ते गहेतव्वा ।
सक्खमणुमाणतो वाऽणुवलभा भिण्णजातीया ॥१८८९॥

मह पच्चक्खत्तणतो जीवाईय व्व[2] णारए गेण्ह ।
किं जं सप्पच्चक्ख त पच्चक्ख णवरि एक्कं ॥१८९०॥

जं कासति पच्चक्खं पच्चक्ख त पि घेप्पते लोए ।
अधवा जमिंदियाण पच्चक्खं किं तदेव पच्चक्ख ॥१८९१॥

जध सीहातिदरिसण सिद्धं ण य सव्वपच्चक्खं ।
उवयारमेत्ततो त पच्चक्खमणिंदियं तच्चं[3] ॥१८९२॥

---

1. व फल ता० । 2. जीवादीए य ता० । 3 तत्थ म० ।

मुत्तातिभावतो णोवलद्धिमंतिंदियाइं कुंभो व्व ।
उवलभद्दारािण तु[1] ताइं जीवो तदुवलद्धा ।।१८९३।।

तदुवरमे वि सरणातो तव्वावारे वि णोवलभातो ।
इंदियभिण्णो णाता पचगवक्खोवलद्धा वा ।।१८९४।।

जो पुण अणिंदियो च्चिय जीवो सव्वा[2]पिधाणविगमातो ।
सो सुवहुअ विजाणति अवणीतघरो जधा दट्ठा ।।१८९५।।

ण हि पच्चक्ख धम्मतरेण तद्धम्ममेत्तगहणातो ।
कतकत्ततो.व सिद्धी कुभाणिच्चत्तमेत्तस्स ।।१८९६।।

पुव्वोवलद्धसंबध[3]सरणातो वाणलो व्व धूमातो ।
अधव णिमित्ततरतो णिमित्तमक्खस्स करणाइं ।।१८९७।।

केवलमणोधिरहितस्स सव्वमणुमाणमेत्तय जम्हा ।
णारगसब्भावम्मि य तदत्थि ज तेण ते सति ।।१८९८।।

पावफलस्स पकिट्ठरस भोइणो कम्मतोऽवसेस व्व ।
सति धुव तेभिमता णेरइया अध मती होज्जा ।।१८९९।।

अच्चत्थदुक्खिता जे तिरिय-णरा णारग त्ति तेऽभिमता ।
त ण जतो सुरसोक्खप्पगरिसंसरिस ण त दुक्ख ।।१९००।।

सच्चं चेतमकंपिय ! मह वयणातोऽवसेसवयण व ।
सव्वण्णुत्तणतो वा अणुमतसव्वण्णवयण व ।।१९०१।।

[4]भयरागदोसमोहाभावतो सच्चमणतिवाइं[5] च ।
सव्व च्चिय मे वयण जाणयमज्झत्थवयणं वा ।।१९०२।।

[6]किध सव्वण्णु त्ति मती पच्चक्ख सव्वसंसयच्छेत्ता ।
[7]भयरागदोसरहितो तल्लिगाभावतो सोम्म ! ।।१९०३।।

*छिण्णम्मि संसयम्मि जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तीहिं [8]समं खंडियनतेहिं ।।१९०४।।

---

1. -णणि ताइ मु० । 2. सव्वप्पिहाण-मु० को० । 3 सम्बद्धमर ता० । 4 यह गाथा गाथाक 1578 पर पहले आ चुकी है । 5. -णतिवात च ता० । 6 ता० मे यह गाथा ऊपर की गाथा से पहले है । 7 भयरोग-मु० । 8 तिहि ओ सह ख-मु०; तिहिं च सह ख-को० ।

[९]

*ते पव्वइते सोतु अयलभाता आगच्छती जिणसगास ।
वच्चामि ण वदामि वदित्ता पज्जुवासामि ।।१९०५।।

*आभट्ठो य जिणेण जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ।।१९०६।।

*किं मण्णे पुण्ण-पाव अत्थि व णत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थ ण याणसी तेसिमो अत्थो ।।१९०७।।

मण्णसि पुण्ण पाव साधारणमधव दो वि भिण्णाइ ।
होज्ज ण वा कम्म चिय सभावतो भवपपचोऽय ।।१९०८।।

पुण्णुक्करिसे[1] सुभता तरतमजोगावकरिसतो हाणी ।
तस्सेव खये मोक्खो [2]पत्थाहारोवमाणातो ।।१९०९।।

पावुक्करिसेऽधमता तरतमजोगावकरिसतो सुभता ।
तस्सेव खये मोक्खो [3]अपत्थभत्तोवमाणातो ।।१९१०।।

साधारणवण्णादि व अध साधारणमधेगमत्ताए ।
उक्करिसावकरिसतो तस्सेव य पुण्णपावक्खा ।।१९११।।

एव चिय दो भिण्णाइ होज्ज होज्ज व सभावतो चेव ।
भवमभूती भण्णति ण सभावतो जतोऽभिमतो ।।१९१२।।

[5]होज्ज सभावो वत्थु णिक्कारणता व वत्थुधम्मो वा ।
जति वत्थु णत्थि तओऽणुवलद्धीतो खपुप्फ व ।।१९१३।।

अच्चतमणुवलद्धो वि अध तओ अत्थि णत्थि किं कम्म ।
हेतू व तदत्थिते जो णणु कम्मस्स वि स एव ।।१९१४।।

कम्मस्स वाभिधाण होज्ज सभावो त्ति होतु को दोसो ।
पतिणियताकारातो ण य सो कत्ता घडस्सेव ।।१९१५।।

मुत्तोऽमुत्तो व तओ जति मुत्तो[6] तोऽभिधाणतो भिण्णो ।
[7]कम्मं ति सहावो त्ति य जति वाऽमुत्तो ण कत्ता तो ।।१९१६।।

---

1 –क्करिसे मु० । 2 पच्छा ता० । 3 अपच्छ–ता० । 4. –भिमत ता० । 5 यह गाथांक 1786 पर पहले भी आ चुकी है । 6 मुत्ता तो ता० । 7. कम्म त्ति म० को० ।

देहाणं वोमं पि व जुत्ता कज्जातितो य मुत्तिमता ।
अध सो णिक्कारणया[1] तो खरसंगादयो होतु ।।१९१७।।

अध वत्थुणो स धम्मो परिणामो तो स [2]जीवकम्माणं ।
पुण्णेतराभिधाणो[3] कारणकज्जाणुमेयो सो ।।१९१८।।

किरियाणं कारणतो देहातीणं च कज्जभावातो ।
कम्म मदभिहित ति य पडिवज्ज तमग्गिभूति व्व ।।१९१९।।

त चिय देहादीण किरियाण पि य सुभासुभत्तातो ।
पडिवज्ज पुण्णपाव सभावतो भिण्णजातीय ।।१९२०।।

सुह-दुक्खाणं कारणमणुरूव कज्जभावतोऽवस्स ।
परमाणवो घडस्स व कारणमिह पुण्णपावाइ ।।१९२१।।

सुह-दुक्खकारण जति कम्म कज्जस्स तदणुरूव च ।
पत्तमरूव[4] त पि हु अध रूविं णाणुरूवं तो ।।१९२२।।

ण हि सव्वधाणुरूवं भिण्ण वा कारण अध मत ते ।
किं कज्ज-कारणत्तणमधवा वत्थुत्तण तस्स ।।१९२३।।

सव्व तुल्लातुल्ल जति तो कज्जाणुरूवता केयं ।
जं सोम्म ! सपज्जायो कज्जं[5] परप जयो सेसो । १९२४।।

किं जध मुत्तममुत्तस्स कारण तध सुहातिण कम्मं ।
दिट्ठ सुहातिकारणमण्णाति जधेह तध कम्मं ।।१९२५।।

होतू तय च्चिय किं कम्मणा ण जं तुल्लसाधणाणं पि ।
फलभेतो सोऽवस्स सकारणो कारण कम्म ।।१९२६।।

ए .ो च्चिय त मुत्त मुत्तवलाधाणतो जधा कुंभो ।
देहातिकज्जमुत्तातितो य[6] भणिते पुणो भवति ।।१९२७।।

तो किं देहादीणं मुत्तत्तणतो तय हवइ[7] मुत्त ।
अध सुख-दुक्खातीणं कारणभावादरूव ति ।।१९२८।।

ण सुहातीणं हेतू कम्म च्चिय किंतु ताण जीवो वि ।
होति समवायिकारणमितर कम्म ति को दोसो ।।१९२९।।

---

1 णिक्कारणतो ता० । 2. स कम्मजीवाण मु० को० । 3. –धाणे ता० । 4. –रूवत्तं पि ता० । 5. पज्जं–ता० । 6 –तितो व्व मु० को० । 7. हवतु ता० ।

इय रूवित्ते सुह-दुक्खकारणत्ते य [1]कम्मणो सिद्धे ।
पुण्णावकरिसमेत्तेण दुक्खबहुलत्तणमजुत्त ।।१९३०।।

कम्मप्पकरिसजणितं तदवस्स पगरिसाणुभूतीतो ।
सोक्खप्पगरिभूती जध पुण्णप्पगरिसप्पभवा ।।१९३१।।

तध बज्झसाधणप्पगरिसगभावादिहण्णधा ण तय ।
विवरीतबज्झसाधणबलप्पकरिस अवेक्खेज्जा ।।१९३२।।

देहो णावचयकतो पुण्णुक्करिसे व मुत्तिमत्तातो ।
होज्ज [2]व स हीणतरओ कधमसुभतरो महल्लो य ।।१९३३।।

एतं चिय विवरीत जोएज्जा सव्वपावपक्खे वि ।
ण य साधारणरूव कम्म तक्कारणाभावा ।।१९३४।।

कम्म जोगणिमित्त सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि ।
होज्ज ण तूभयरूवो कम्म वि तओ तदणुरूवं ।।१९३५।।

णणु मण-वइ-काययोगा सुभासुभा वि समयम्मि दीसति ।
दव्वम्मि मीसभावो भवेज्ज ण तु भावकरणम्मि ।।१९३६।।

झाण सुभमसुभं वा ण तु मीस जं च झाणविरमे वि ।
लेसा सुभासुभा वा सुभमसुभ वा तओ कम्म ।।१९३७।।

पुव्वगहितं च कम्म परिणामवसेण मीसत णेज्जा ।
इतरेतरभाव वा सम्मा-मिच्छाइ ण तु गहणे ।।१९३८।।

मोत्तूण आउअ खलु दसणमोहं चरित्तमोह च ।
सेसाण पगडीण उत्तरविधिसंकमो भज्जो ।।१९३९।।

सोभणवण्णातिगुण सुभाणुभाव ज तय पुण्णं ।
विवरीतमतो पाव ण बातर णातिसुहुमं च ।। १९४०।।

गेण्हति तज्जोग्गं चिय रेणु पुरिसो जधा कतब्भगो ।
एगक्खेत्तो गाढ जीवो सव्वप्पदेसेहि ।।१९४१।।

[3]अविसिट्ठपोग्गलघणे लोए थूलतणुकम्मपविभागो ।
जुज्जेज्ज गहणकाले सुभासुभविवेचणं कत्तो ।।१९४२।।

---

1 कम्मुणो ता० । 2 व्व को० । 3 चो० ता० ।

[1]अविसिट्ठं चिय त सो परिणामाऽऽसयसभावतो खिप्प ।
कुरुते सुभमसुभ वा गहणे जीवो जधाऽऽहार ॥१६४३॥

परिणामाऽऽसयवसतो धेणूये जधा पयो विसमहिस्स ।
तुल्लो वि तदाहारो तध पुण्णापुण्णपरिणामो ॥१६४४॥

जध वेगसरीरम्मि वि सारासारपरिणामतामेति ।
अविसिट्ठो [2]आहारो तध कम्मसुभासुभविभागो ॥१६४५॥

सात सम्मं हास पुरिस-रति-सुभायु-णाम-गोत्ताइ ।
पुण्ण सेसं पाव णेय सविवागमविवागं ॥१६४६॥

असति वहि पुण्णपावे जमग्गिहोत्तादि सग्गकामस्स ।
तदसंवद्ध सव्व दाणातिफलं च लोगम्मि १६४७॥

छिण्णम्मि संसयम्मि जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तिहिं तु सह खडियसनेहिं ॥१६४८॥

[१०]

ते पव्वइते सोतु मेतज्जो आगच्छती जिणसगास ।
वच्चामि ण वंदामि वदित्ता पज्जुवासामि ॥१६४९॥

आभट्ठो य जिणेण जाति-जरा-मरणविप्पमुक्केण ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी ण ॥१६५०॥

किं मण्णे परलोगो [3]अत्थि ण अत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वेतपत्ताण य अत्थं ण याणसी तेसिमो अत्थो ॥१६५१॥

मण्णसि जति चेतण्ण मज्जगमतो व्व भूतधम्मो त्ति ।
तो णत्थि परो[4] लोगो तण्णासे जेण तण्णासो ॥१६५२॥

अध वि तयत्थतरता ण य णिच्चत्तणमओ वि तदवत्थं ।
अणलस्स व अरणीओ भिण्णस्स विणासधम्मस्स ॥१६५३॥

अध एगो सव्वगओ णिक्किरिओ तह वि णत्थि परलोगो ।
ससरणाभावाओ वोमस्स व सव्वपिंडेसु ॥१६५४॥

---

1 आ० ता० । 2. वाहारो मु० को० । 3. अत्थि णत्थि मु० को० । 4 परलोगा मु०।

इध लोगातो व परो सुरादिलोगो ण सो वि पच्चक्खो ।
एवं पि ण परलोगो सुव्वति य सुतीसु तो सका ॥१९५५॥

भूतिंदियातिरित्तस्स चेतणा सो य दव्वतो णिच्चो ।
जातिस्सरणातीहिं पडिवज्जसु वायुभूति व्व ॥१९५६॥

ण य एगो सव्वगतो णिक्किरियो लक्खणातिभेतातो ।
कुंभातओ व्व बहवो पडिवज्ज तमिंदभूति व्व ॥१९५७॥

इधलोगातो य परो सोम्म ! सुरा णारगा य परलोगो ।
पडिवज्ज मोरियाकंपिय व्व विहितप्पमाणातो ॥१९५८॥

जीवो विण्णाणमयो तं चाणिच्चं ति तो ण परलोगो ।
अध विण्णाणादण्णो तो अणभिण्णो जधागासं ॥१९५९॥

एत्तो च्चिय ण स कत्ता भोत्ता य अतो वि णत्थि परलोगो ।
जं च ण संसारी सो अण्णाणामुत्तिओ खं व ॥१९६०॥

मण्णसि विणासि चेतो उप्पत्तिमदादितो जधा कुंभो ।
णणु एतं चिय साधणमविणासित्ते वि से सोम्म ! ॥१९६१॥

अधवा वत्थुत्तणतो विणासि चेतो ण होति कुंभो व्व ।
उप्पत्तिमतातित्तं कधमविणासी घडो बुद्धी ॥१९६२॥

रूव-रस-गंध-फासा संखा संठाण-दव्व-सत्तीओ ।
कुंभो त्ति जतो ताओ पसूति-विच्छित्ति-धुवधम्मा ॥१९६३॥

इध पिंडो पिंडागार-सत्ति-पज्जाय-विलयसमकालं ।
उपज्जति कुंभागार-सत्तिपज्जायरूवेण ॥१९६४॥

रूवातिदव्वताए ण जाति ण य वेति तेण सो णिच्चो ।
एवं उप्पात-व्वय-धुवस्सहावं मतं सव्वं ॥१९६५॥

घडचेतणया णासो पडचेतणया समुब्भवो समयं ।
संताणेणावत्था तधेह-परलोगजीवाणं ॥१९६६॥

मणुएहलोगणासो सुरातिपरलोगसंभवो समयं ।
जीवतयाऽवत्थाण णेहभवो णेव[1] परलोगो ॥१९६७॥

---

1 णेय ता० मु० ।

असतो णत्थि पसूति होज्ज व जति होतु खरविसाणस्स ।
ण य सव्वधा विणासो सव्वुच्छेदप्पसंगातो ॥१९६८॥

तोऽवत्थितस्स केणवि विलयो धम्मेण भवणमण्णेणं ।
[1]वत्थुच्छेतो ण मतो [2]संववहारावरोधातो ॥१९६९॥

असति व परम्मि लोए जमग्गिहोत्तादि सग्गकामस्स ।
तदसवद्ध सव्वं दाणातिफल च[3] परलोए ॥१९७०॥

*छिण्णम्मि ससयम्मि जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइतो तिहिं तु सह खडियसतेहिं ॥१९७१॥

---

[११]

*ते पव्वइते सोतुं पभासो आगच्छई जिणसगासं ।
वच्चामि ण वदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥१९७२॥

*आभट्ठो य जिणेणं जाति-जरा-मरणविप्पमुक्केणं ।
णामेण य गोत्तेण य सव्वण्णू सव्वदरिसी णं ॥१९७३॥

*किं मण्णे णेव्वाणं अत्थि णत्थि त्ति ससयो तुज्झ ।
वेतपताण य अत्थ न याणसी तेसिमो अत्थो ॥१९७४॥

मण्णसि किं दीवस्स व णासो णेव्वाणमस्स जीवस्स ।
दुक्खक्खयादिरूवा किं होज्ज व से सतोऽवत्था ॥१९७५॥

अधवाऽणातित्तणातो खस्स व किं कम्म-जीवजोगस्स ।
अविजोगातो ण भवे ससाराभाव एव त्ति ॥१९७६॥

पडिवज्ज मंडिओ इव विजोगमिह [4]जीवकम्मजोगस्स ।
तमणातिणो वि कचण-धातूण व णाणकिरियाहिं ॥१९७७॥

ज णारगातिभावो संसारो णारगातिभिण्णो य ।
को [5]जीवो [6]तो मण्णसि तण्णासे जीवणासो त्ति ॥१९७८॥

ण हि णारगातिपज्जायमेत्तणासम्मि सव्वधा णासो ।
जीवद्दव्वस्स मतो मुद्दाणासे व हेमस्स ॥१९७९॥

---

1 सव्वुच्छे –मु० । 2. सववहारोव–मु० को० । 3. च लोअम्मि मु० को० ।
4. कम्मजीवजोगस्स मु० को० । 5 जीवा ता० 6 तं मु० को० ।

कम्मकतो संसारो तण्णासे तस्स जुज्जते णासो ।
जीवत्तमकम्मकतं तण्णासे तस्स को णासो ॥१९८०॥

ण विकाराणुवलंभादागासं पिव विणासधम्मो सो ।
इध णासिणो विकारो दीसति कुंभस्स वाऽवयवा ॥१९८१॥

कालंतरणासी वा घडो व्व कतकादितो मती होज्जा ।
णो पद्धंसाभावो भुवि तद्धम्मा वि जं णिच्चो ॥१९८२॥

अणुदाहरणमभावो खरसिगं पिव मती ण तं जम्हा ।
कुंभविणासविसिट्ठो भावो च्चिय पोग्गलमयो सो ॥१९८३॥

[1]किं वेगतेण कतं पोग्गलमेत्तविलयम्मि जीवस्स ।
किं णिव्वत्तितमधियं णभसो घडमेत्तविलयम्मि ॥१९८४॥

दव्वामुत्तत्तणतो मुत्तो णिच्चो णभं व दव्वतया ।
णणु विभुतातिपसंगो एवं सति णाणुमाणातो ॥१९८५॥

[2]को वा णिच्चग्गाहो सव्व चिय विभवभंगठितिमइयं ।
पज्जायंतरमेत्तप्पणादणिच्चातिववदेसो ॥१९८६॥

ण य सव्वधा विणासोऽणलस्स परिणामतो पयस्सेव ।
कुंभस्स कवालाण व तधाविकारोवलभातो ॥१९८७॥

जति सव्वधा ण णासोऽणलस्स किं दीसते ण सो सक्खं ।
परिणामसुहुमयातो जलदविकारजणरयो व्व ॥१९८८॥

होतूणमिंदियंतरगज्झा पुणरिंदियतरग्गहणं ।
खधा एति ण एति य पोग्गलपरिणामता चित्ता ॥१९८९॥

एगेगिंदियगज्झा जध वायव्वादयो तहग्गेया ।
होतु चक्खुग्गज्झा [3]घाणातिग्गज्झतामेति ॥१९९०॥

जध दीवो णिव्वाणो परिणामतरमितो तधा जीवो ।
भण्णति परिणेव्वाणो पत्तोऽणावाहपरिणाम ॥१९९१॥

मुत्तस्स पर सोक्ख णाणाणावाधतो जधा मुणिणो ।
तद्धम्मा पुण विरहादावरणाऽऽबाधहेऊण ॥१९९२॥

---

1. इस गाथा की पुनरावृत्ति हुई है गाथाक 1239 । 2. इस गाथा की भी पुनरावृत्ति हुई है गाथांक 1843 । 3 घाणिंदियगज्झ–मु० को० ।

मुत्तोकरणाभावादण्णाणी ख व णणु विरुद्धोऽयं ।
जमजीवता वि पावति एत्तो च्चिय भणति त णाम ॥१९९३॥

दव्वामुत्तत्तसभावजातितो तस्स दूरविवरीत ।
ण हि जच्चंतरगमणं जुत्त णभसो व जीवत्तं ॥१९९४॥

मुत्तातिभावतो णोवलद्धिमंतिदियाइं कुभो व्व ।
उवलभद्दाराणि उ ताइ जीवो तदुवलद्धा ॥१९९५॥

तदुवरमे वि सरणतो तव्वावारे वि णोवलभातो ।
इंदियभिण्णो [1]ण:ता पचगवक्खोवलद्धा वा ॥१९९६॥

णाणरहितो ण जीवो सरूवतोऽणु व्व मुत्तिभावेणं ।
ज तेण विरुद्धमित अत्थि य सो णाणरहितो य ॥१९९७॥

किध सो णाणसरूवो णणु पच्चक्खाणुभूतितो [2]णियए ।
परदेहम्मि वि गज्झो स पवित्तिणिवित्तिलिगातो ॥१९९८॥

सव्वावरणावगमे सो सुद्धतरो हवेज्ज सूरो व्व ।
तम्मयभावाभावादण्णाणित्त ण जुत्त से ॥१९९९॥

एव पयासमइओ जीवो छिद्दावरभासयत्तातो ।
किंचिम्मत्त भासति छिद्दावरणप्पदीवो व्व ॥२०००॥

सुबहुअतर वियाणाति मुत्तो सव्वप्पिहाणविगमातो ।
अवणीतघरो व्व णरो विगतावरणो[3] पदीवो व्व ॥२००१॥

पुण्णापुण्णकताइ ज सुह-दुक्खाइं तेण तण्णासे ।
तण्णासो [4]तो मुत्तो णिस्सुह-दुक्खो जधागास ॥२००२॥

अधवा णिस्सुह-दुक्खो णभ व देहिंदियादि[5]भावातो ।
आहारो देहो च्चिय ज सुह-दुक्खोवलद्धीण ॥२००३॥

पुण्णफलं दुक्ख चिय कम्मोतयतो फल व पावस्स ।
णणु पावफले वि सम पच्चक्खविरोधिता चेव[6] ॥२००४॥

जत्तो च्चिय पच्चक्ख सोम्म ! सुह णत्थि दुक्खमेवेत ।
तप्पडिकारविमत्त तो पुण्णफल ति दुक्ख ति ॥२००५॥

---

1 अण्य मु० को०, देखें गाथा 1894 । 2 वियए को० । 3 विगयावरणप्पईवो मु०को० ।
4. तन्नासाओ मुत्तो मु० को० । 5. —य दभावा—मु० को० । 6. चेव मु० को० ।

विसयसुहं दुक्ख च्चिय दुक्खपडिगारतो तिगिच्छ व्व ।
तं सुहमुवयारातो [1]ण योवयारो विणा तच्चं ॥२००६॥

तम्हा जं मुत्तसुहं तं तच्चं दुक्खसखएऽवस्सं ।
मुणिणोऽणाबाधस्स व णिप्पडिकारप्पसूतीतो ॥२००७॥

जध वा णाणमयोऽयं जीवो णाणोवघाती चावरणं ।
करणमणुग्गहकारिं सव्वावरणक्खए सुद्धी ॥२००८॥

तध सोक्खमयो जीवो पाव तस्सोवघातय[2] णेयं ।
पुण्णमणुग्गहकारिं सोक्खं सव्वक्खए सयलं ॥२००९॥

[3]जध वा कम्मक्खयतो सो सिद्धतादिपरिणतिं लभति ।
तध संसारातीतं पावति तत्तो च्चिय सुहं पि[4] ॥२०१०॥

सातासातं दुक्खं तव्विरहम्मि य सुहं जतो तेण ।
देहिंदिएसु दुक्खं सोक्खं देहिंदियाभावे ॥२०११॥

जो वा देहिंदियजं सुहमिच्छति तं पडुच्च दोसोऽयं ।
संसारातीतमितं धम्मंतरमेव सिद्धिसुहं ॥२०१२॥

कधमणुमेयं[5] ति मती णाणाणाबाधतो त्ति णणु भणितं ।
तदणिच्चं णाणं पि य चेतणधम्मो त्ति रागो व्व ॥२०१३॥

कतकातिभावतो वा णावरणाबाधकारणाभावा ।
उप्पातट्ठितिभंगस्स भावतो वा ण दोसोऽयं ॥२०१४॥

ण हु वइ[6] ससरीरस्स प्पियप्पियावहतिरेवमादि च जं ।
तदमोक्खो णासम्मि व सोक्खाभावम्मि व ण जुत्तं ॥२०१५॥

णट्ठो असरीरो च्चिय सुह-दुक्खाइं पियप्पियाइं च ।
ताइं ण फुसंति णट्ठं फुडमसरीरं ति को दोसो ॥२०१६॥

वेतपताण [7]य अत्थं ण सुट्ठु जाणसि इमाण तं सुणसु ।
असरीरव्ववदेसो अधणो व्व सतो णिसेधातो ॥२०१७॥

ण णिसेधतो य अण्णम्मि तव्विहे चेव पच्चओ जेण ।
तेणासरीरग्गहणे जुत्तो जीवो ण खरसिंगं ॥२०१८॥

---

1. ण य उवयारो मु० को० । 2. –घाइयं मु० को० । 3. अहवा कम्म–को० । 4 सुहं ति मु० को० । 5. कह नणु मेयं मु० । 6 वे ता० । 7. –ाण उमत्थं ता० ।

जं च [1]वसंतं तं संतमाह वासद्दतो सदेहं पि ।
ण फुसेज्ज वीतरागं जोगिणमिट्ठेत्तरविसेसा[2] ॥२०१६॥

वावेति वा णिवातो वासद्दत्थो भवतमिह संत ।
[3]बुज्झाऽवत्ति व संतं णाणातिविसिट्ठमधवाह ॥२०२०॥

ण वसंतं अवसंतं ति वा मती णासरीरगहणातो ।
फुसणाविसेसणं पि य जतो मतं संतविसय ति ॥२०२१॥

एवं पि होज्ज मुत्तो णिस्सुह-दुक्खत्तणं तु तदवत्थ ।
तं णो पियप्पियाइं जम्हा पुण्णेयरकयाइं ॥२०२२॥

णाणाऽवाधत्तणतो ण फुसंति वीतरागदोसस्स ।
तस्सप्पियमप्पियं वा मुत्तसुहं को पसगोऽत्थ ॥२०२३॥

*छिण्णम्मि संसयम्मि जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वइतो तिहि तु सह खंडियसतेहिं ॥२०२४॥

गणधरा सम्मत्ता[4] ।

---

1. वसंतं सतं तमाह मु०, वसत सत तथाह को० । 2. विसेसो ता० । 3. बज्झा ता० । 4. ता० ।

टीका के अवतरणों की सूची

शब्द-सूची

आ

इ-ई

उ

ऋ

क

त-द

ध

न

य-र-ल

व

श-ष

स

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

—अद्यावधि प्रकाशित ग्रन्थ—

1.	कल्पसूत्र सचित्र	(मूल, हिन्दी एव अग्रेजी अनुवाद तथा 36 बहुरगी चित्रो सहित) सम्पादक एव हिन्दी अनुवादक: महोपाध्याय विनयसागर, अग्रेजी अनुवादक डा० मुकुन्द लाठ	200-00
2	राजस्थान का जैन साहित्य	(राजस्थानी विद्वानो द्वारा रचित प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श, राजस्थानी, हिन्दी भाषा के ग्रथो पर विविध विद्वानो के वैशिष्ट्य पूर्ण एव सारगर्भित 36 लेखो का सग्रह)	30 00
3.	प्राकृत स्वय शिक्षक	लेखक—डा० प्रेमसुमन जैन	15-00
4	आगम तीर्थ	(आगमिक प्राकृत गाथाओ का हिन्दी पद्यानुवाद) अनु० डा० हरिराम आचार्य	10-00
5	स्मरण कला	(अवधान कला सम्बन्धित प० धीरज-लाल टो० शाह लिखित गुजराती पुस्तक का हिन्दी अनुवाद) अनु० मोहन मुनि शार्दू ल	15 00
6	जैनागम दिग्दर्शन	(45 जैनागमो का सक्षिप्त परिचय) सजिल्द ले० डा० मुनि श्री नगराजजी सामान्य	20-00 16-00
7	जैन कहानियाँ	ले० उपाध्याय महेन्द्र मुनि	4-00
8	जाति स्मरण ज्ञान	ले० उपाध्याय महेन्द्र मुनि	3-00
9.	हाफ ए टैल (अर्धकथानक)	(कवि बनारसीदास रचित स्वात्मकथा अर्धकथानक का अग्रेजी भाषा मे अनुवाद, आलोचनात्मक अध्ययन एव रेखा चित्रो सहित) सम्पादक एव अनुवादक डा० मुकुन्द लाठ	150-00
10	गणधरवाद	(दलसुखभाई मालवणिया लिखित गुजराती गणधरवाद का हिन्दी अनुवाद) अनु० प्रो० पृथ्वीराज जैन सम्पादक—महोपाध्याय विनयसागर	50-00

—०—

— मुद्रणाधीन ग्रन्थ —

1	जैन इन्सक्रिप्सन आफ द राजस्थान	(राजस्थान के प्राचीन, ऐतिहासिक एव वैशिष्ट्य पूर्ण जैन शिलालेखो, मूर्तिलेखो का परिचयात्मक वर्णन) ले० रामवल्लभ सोमानी
2	एग्जेक्ट सायन्स फ्राम जैन सोर्सेज पार्ट I, वेसिक मेथेमेटिक्स	ले० लक्ष्मीचन्द जैन
3	उपमिति भव प्रपचा कथा	(महर्षि सिद्धर्षि रचित ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद स० एव अनु० महोपाध्याय विनयसागर तथा अनु० लालचन्द जैन
4	अपभ्रश और हिन्दी	डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन
5	बौद्ध एव गीता के आचार दर्शन के सदर्भ मे जैन आचार दर्शन का तुलनात्मक एव समालोचनात्मक अध्ययन	डॉ० सागरमल जैन

सम्पादनाधीन ग्रन्थ

1	ऋषिभाषित सूत्र	(हिन्दू, बौद्ध और जैन सर्वज्ञ ऋषियो के सारगर्भित उद्बोधन, मूल हिन्दी एव अग्रेजी अनुवाद) अनु० महोपाध्याय विनयसागर, कलानाथ शास्त्री
2	नीतिवाक्यामृत	(आचार्य सोमदेव रचित राजनीति के सिद्धान्तो का हिन्दी व अग्रेजी मे अनुवाद) अनु० डॉ० एस० के० गुप्ता डा० बी० आर० मेहता
4	गाथा सप्तशती	(हाल कवि रचित सप्तशती का हिन्दी व अग्रेजी अनुवाद) अनु० डॉ० हरिराम आचार्य; डी० सी० शर्मा

4. एग्जेक्ट सायन्स फ्रोम जैन पार्ट–II कोस्मोलोजी एण्ड एस्टोनोमी सोर्सेज — ले० लक्ष्मीचन्द जैन ,,

5 पार्ट–III सिस्टमथियरी — ,,

6 पार्ट–IV सेट थियरी

7 पार्ट-V थियरी आफ अल्टीमेट पार्टीकल्स — ,,

8 त्रिलोकसार — नेमिचन्द्राचार्य रचित ग्रन्थ का हिन्दी एव अग्रेजी अनुवाद)
अनु० लक्ष्मीचन्द जैन

9 जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास — (स्व० मोहनलाल दलीचन्द देशाई लिखित 'जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास' गुजराती का हिन्दी अनुवाद)
अनु० कस्तूरचन्द बाठिया

10 एपीटोमी आफ जैनिज्म — स्व० पूरणचन्द्र नाहर

11 मथुरा के जैन शिलालेख — ,, ,, ,,

12. स्टडीज् आफ जैनिज्म — ड० टी० जी० कलघटगी

13 धातुपरीक्षा — (ठक्कुर फेरु रचित ग्रन्थ का हिन्दी एवं अग्रेजी अनुवाद)
अनु० डॉ० धर्मेन्द्रकुमार

14 प्रतिष्ठा लेख संग्रह द्वितीय भाग — महोपाध्याय विनयसागर

15 श्रीवल्लभीय राजस्थानी सस्कृत शब्दकोष — ,, ,,

16 प्राकृत काव्य मजरी

17. प्राकृत शब्द सोपान

18 प्राकृत सज्ञा एव सर्वनाम प्रकरण — डॉ० उदयचन्द जैन

19 वज्जालग्ग मे जीवन मूल्य — भाग–1 डॉ० कमलचन्द सोगाणी

20 ,, ,, ,, — भाग– ,, ,,

21 वाक्पतिराज की लोकानुभूति — ,, ,,

22 भगवान महावीर: जीवन और उपदेश

23. जन दर्शन को रूपरेखा डा० कमलचन्द सोगाणी

24. जैन सघ की परम्परा और विकास

25. जैन कला की भूमिका

26. प्राकृत साहित्य : एक परिचय

27 अपभ्र श साहित्य : एक परिचय

28 सस्कृत का जैन साहित्य

29 राजस्थानी जैन साहित्य

30 राजस्थान के प्रमुख जैन ग्रन्थ भण्डार

31. जैन धर्म और समाज

---

1. एक हजार रुपये से अधिक प्रकाशन खरीदने पर 40%कमीशन और सस्थान के प्रकाशनों का पूरा सेट खरीदने पर 30%दिया जाता है ।

2. डाक-व्यय एवं पैकिग व्यय पृथक् से होगा ।

प्राप्ति स्थान :

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान.
यति श्यामलालजी का उपासरा,
मोतीसिंह भोमियो का रास्ता, जयपुर-3
पिन कोड–302 003